प्रस्थानत्रयी-शाङ्करभाष्य में प्रकाश विमर्श

Prasthānatrayī-Śāṅkarabhāṣya mein Prakāśa Vimarśa

पीएच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

शोधार्थी

भोला नाथ

शोध-निर्देशक

प्रो. राम नाथ झा

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

2017

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली - ११००६७

Special Centre for Sanskrit Studies

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY

NEW DELHI-110067

DECLARATION

I declare that the Thesis entitled **"प्रस्थानत्रयी-शाङ्करभाष्य में प्रकाश विमर्श"** submitted by me for the award of degree of Doctor of Philosophy is an original research work and has not been previously submitted for any other degree or diploma is any other institution/University.

(BHOLA NATH)

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली - ११००६७

Special Centre for Sanskrit Studies

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY

NEW DELHI-110067

CERTIFICATE

The Thesis entitled "**प्रस्थानत्रयी-शाङ्करभाष्य में प्रकाश विमर्श**" submitted by **BHOLA NATH** to **Special Centre for Sanskrit Studies, Jawaharlal Nehru University, New Delhi-110067** for the award of degree of **Doctor of Philosophy** is an original research work and has not been submitted so far, is part or full, for any other degree or diploma in any University. This may be placed before the examiners for evaluation.

Prof. Girish Nath Jha

(Chairperson)

PROF. GIRISH NATH JHA
Chairperson
Special Centre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067, INDIA

05/05/2017

Prof. Ram Nath Jha

(Supervisor)

Dr. Ram Nath Jha
Professor
Special Cetre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

तमसो मा ज्योतिर्गमय

समर्पणम्

वात्सल्यप्रतिमूर्तयोः
मातृ पितृ चरणयो
समर्पयामि

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठभूमि

प्रथम अध्याय : प्रस्थानत्रयी का परिचय तथा अद्वैतवेदान्त की परम्परा

1.1- प्रस्थानत्रयी **1**

क- ब्रह्मसूत्र

ख- श्रीमद्भगवद्गीता

ग- उपनिषद्

1.2- आचार्य शंकर का व्यक्तित्व एवं कृतित्व **11**

1.3- अद्वैतवेदान्त परंपरा के प्रमुख आचार्य **23**

द्वितीय अध्याय : प्रस्थानत्रयी शांकरभाष्य में आधिभौतिक प्रकाश का स्वरूप

2.1- आधिभौतिक अग्नि का विवेचन **41**

2.2- सूर्य का प्रकाशात्मक रूप **55**

2.3- लोक का ज्योतिमय स्वरूप **67**

2.4- वायु की प्रकाशरूपता का प्रतिपादन **74**

2.5- जगत् का स्वरूप **78**

2.6- आकाश का भौतिक स्वरूप **93**

2.7- चन्द्रज्योति का विवेचन **97**

2.8- जल रूप ज्योति का उल्लेख **100**

2.9- विद्युत् का स्वरूप **101**

2.10- दिशाओं का ज्योतिर्मयत्व प्रतिपादन **102**

2.11- दिन और रात्रि का वर्णन **104**

2.12- शुक्लमार्ग और कृष्णमार्ग **106**

2.13- संवत्सर एवं वाक् के प्रकाश का वर्णन **106**

2.14- शांकरवेदान्त में सत्तात्रय **107**

तृतीय अध्याय : प्रस्थानत्रयी शांकरभाष्य में आधिदैविक प्रकाश का निरूपण

3.1- देवताओं के स्वरूप का प्रतिपादन **112**

3.2- इन्द्रिय देवताओं का वर्णन **132**

3.3- मुख्यप्राण का देवत्व प्रतिपादन **147**

3.4- त्रिदेव का निरूपण **150**

3.5- सूर्य का आधिदैवत रूप **154**

3.6- मन का आधिदैवत रूप **158**

3.7- अग्नि का देवत्व प्रतिपादन **161**

3.8- वायु का देवत्व प्रतिपादन **163**

3.9- इन्द्र देवता का उल्लेख **164**

3.10- विद्यादेवी का स्वरूप **165**

3.11- ब्रह्म का अधिदैवत रूप **166**

3.12- देवयानमार्ग के अभिमानी देवता **167**

3.13- शुक्लमार्ग के अभिमानी देवता **167**

3.14- कृष्णमार्ग के अभिमानी देवता **169**

3.15- चेतन तत्त्व की देव रूप में कल्पना **170**

3.16- जीवात्मा का देवत्व प्रतिपादन **170**

3.17- आत्मा का देवत्व प्रतिपादन **170**

3.18- महाभूतों के अधिष्ठातृ देवता **172**

3.19- विभिन्न देवताओं के रूप में परमात्मा का वर्णन **175**

3.20- वर्णानुसार देवताओं का वर्गीकरण **178**

3.21- सोमदेवता का उल्लेख **180**

3.22- स्वरादिवर्णों की देवात्मकता **180**

3.23- वाक् का अधिदैवत् रूप **180**

3.24- काम देवता का उल्लेख **181**

3.25- रूप का अधिष्ठातृ देवता **181**

3.26- तमस् का अधिष्ठातृ देवता **182**

3.27- वीर्य का अधिष्ठातृ देवता **182**

3.28- मृत्यु के देवता यम **182**

3.29- आदर्शनिष्ठ पुरुष का ब्राह्मणत्व प्रतिपादन **182**

3.30- छायामय पुरुष का ब्राह्मणत्व प्रतिपादन **183**

चतुर्थ अध्याय : प्रस्थानत्रयी शांकरभाष्य में आध्यात्मिक प्रकाश विमर्श

4.1- विद्या एवं अविद्या की अवधारणा **185**

4.2- अद्वैतवेदान्त में अध्यास निरूपण **199**

4.3- सात्त्विक ज्ञान **211**

4.4- ईश्वरीय स्वप्न रूप जगत् **213**

4.5- अन्तर्ज्ञान का प्रकाश **214**

4.6- मन का ज्योतिर्मय स्वरूप **220**

4.7- प्राण का स्वरूप प्रतिपादन **235**

4.8- चक्षु इन्द्रिय और आदित्य **255**

4.9- विज्ञानमय कोश **258**

4.10- वाक् का ज्योति स्वरूप **259**

4.11- हृदय और नाड़ियों का उल्लेख **261**

4.12- आध्यात्मिक तत्त्वों का अपने अधिदैवत रूप में अन्तर्भाव **264**

4.13- पंचकोशों का परस्पर कार्य-कारण भाव **265**

पञ्चम अध्याय : प्रस्थानत्रयी शांकरभाष्य में प्रकाश का मौलिक स्वरूप

5.1- जगत् के मौलिक कारण का निरूपण **270**

5.2- भौतिक पदार्थों में आत्मा की उपस्थिति **276**

5.3- प्राण ब्रह्म की सर्व कारणता **278**

5.4- कार्य-कारणवाद **281**

5.5- ब्रह्म का स्वरूप प्रतिपादन **288**

5.6- जीवात्मा का स्वरूप निरूपण **336**

5.7- त्रिगुणात्मक प्रकृति का स्वरूप **355**

5.8- चेतन रूप प्रकाश की चार अवस्थायें **361**

षष्ठ अध्याय : प्रकाश के विभिन्न रूपों का समीक्षात्मक अध्ययन (निष्कर्ष)

संदर्भग्रन्थ सूची

संकेताक्षरसूची

अ.को.	-	अमरकोश
अथ.सं	-	अथर्वसंहिता
अद्वै.वे.ऐ.वि	-	अद्वैतवेदान्त का ऐतिहासिक विवेचन
अष्टा.	-	अष्टाध्यायी
ईशा.उ.	-	ईशावास्य-उपनिषद्
ऋ.सं.	-	ऋक्-संहिता
ऐ.आ.	-	ऐतरेय आरण्यक
ऐ.उ.	-	ऐतरेय उपनिषद्
ऐ.ब्रा.	-	ऐतरेय ब्राह्मण
कठ.उ.	-	कठ-उपनिषद्
केन.उ.	-	केन-उपनिषद्
कै.द.	-	कैवल्य दर्शनम
कौ.उ.	-	कौषीतकि उपनिषद्
गी.रसा.	-	गीतारसामृत

गी.रह.	-	गीतारहस्य
च.चि .	-	चरकचिकित्सास्थान
छा.उ .	-	छान्दोग्य उपनिषद्
त.ज्ञा.	-	तत्त्वज्ञान
त.भा .	-	तर्कभाषा
त.वि.	-	तन्त्रविज्ञान
त.सं.	-	तर्कसंग्रह
तै.आ.	-	तैत्तिरीय आरण्यक
तै.उ.	-	तैत्तिरीय उपनिषद्
ना.सू .	-	नासदीय सूक्त
नृ.उ.	-	नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत्
पं.पा.वि.	-	पंचपादिका विवरण
प्र.हृ.	-	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
प्रश्न.उ.	-	प्रश्न-उपनिषद्
बृ.उ.	-	बृहदारण्यक उपनिषद्
ब्र.सू.	-	ब्रह्मसूत्र
भग.गी.	-	भगवद्गीता
भा.टी.	-	भामती टीका
भा.द.इति.	-	भारतीय दर्शन का इतिहास

भा.द.	-	भारतीय दर्शन
मनु.	-	मनुस्मृति
महा.भा.शा.	-	महाभारत शांतिपर्व
मा.उ.	-	माण्डूक्य उपनिषद्
मा.खो.	-	मानव की निरन्तर खोज
मु.उ.	-	मुण्डक-उपनिषद्
यजु.सं.	-	यजु:संहिता
यो.वा.	-	योगवासिष्ठ
यो.सू.	-	योगसूत्र
रा.च.मा.	-	रामचरित मानस
लंका.सू.	-	लंकावतारसूत्र
वि.चू.	-	विवेकचूड़ामणि
वि.पु.	-	विष्णु पुराण
वि.प्र.सं.	-	विवरण प्रमेय संग्रह
वे.द.	-	वेदान्त दर्शन
वे.परि.	-	वेदान्तपरिभाषा
वे.सा.	-	वेदान्तसार
वे.सि.मु.स.अ.	-वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली का समीक्षात्मक अध्ययन	
वै.सू.	-	वैशेषिक सूत्र

शां.भा.	-	शांकरभाष्य
शु.य.वा.सं.	-	शुक्लयजुर्वेद वाजसनेयी संहिता
श्वे.उ.	-	श्वेताश्वतर उपनिषद्
षड्.ब्रा.	-	षड्विंष ब्राह्मण
सं.सा.इ.	-	संस्कृत साहित्य का इतिहास
संक्षे.शा.	-	संक्षेप शारीरक
सां.का.	-	सांख्यकारिका
सां.त.कौ.	-	सांख्यतत्त्वकौमुदी
सां.द.	-	सांख्यदर्शन
सा.सं.टी.	-	साधक संजीवनी टीका
सुबा.उ.	-	सुबालोपनिषद्

पृष्ठभूमि

प्रकाश का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। आज प्रकाश का अध्ययन कई क्षेत्रों में हो रहा है, जैसे- भौतिक विज्ञान, रासायनिक विज्ञान, जीव विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, आयुर्वेद, पर्यावरण विज्ञान, ज्योतिष, खगोल शास्त्र, भूगोल आदि। व्यवहार में प्रकाश का अनुभव हम विभिन्न रूपों में करते हैं जैसे- सूर्य का प्रकाश, जो कि पृथ्वी पर जीवन का आधार है। सूर्य का प्रकाश पृथ्वी पर विद्यमान् वनस्पतियों और जीवों के लिये प्राणदायक तत्त्व है। इसी प्रकार अग्नि, विद्युत्, दीपक का प्रकाश, चन्द्रमा और नक्षत्रों का प्रकाश आदि का अनुभव हम अपने दैनिक जीवन में करते है।

भौतिक विज्ञान में सूर्य के प्रकाश पर विस्तृत अध्ययन हुआ है, जिसके आधार पर प्रकाश के विभिन्न गुणों की खोज हुई है, जैसे- परावर्तन और अपवर्तन के नियम, प्रकाश की तरंग और कण प्रकृति, प्रकाश विद्युत् प्रभाव, प्रकाश की गति, सूर्य के प्रकाश में दृश्य और अदृश्य विकिरणों का होना, विद्युत् चुम्बकीय विकिरण, वर्ण विक्षेपण, प्रकाश प्रकीर्णन, प्रकाश तरंगों का व्यतिकरण, प्रकाश तरंगों का ध्रुवीकरण आदि।

भारतीय दर्शन में भी अनेक प्रसंगों में प्रकाश शब्द का प्रयोग किया गया है। वैशेषिक दर्शन में इसे तेज कहा गया है। उष्ण स्पर्श से युक्त बताते हुए नित्य और अनित्य के आधार पर इसके दो भेद किये गये हैं। नित्य तेज परमाणु रूप और अनित्य तेज कार्य रूप होता है। कार्य रूप तेज शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार का होता है। शरीर रूप तेज आदित्यलोक वासियों का होता है। इन्द्रिय रूप तेज नेत्र के कृष्णतारा के अग्र भाग में होता है। विषय रूप तेज पुन: चार प्रकार का बताया गया है, भौम, दिव्य, औदर्य, आकरज रूप। भौम तेज अग्नि के रूप में, दिव्य तेज विद्युत् आदि को कहते हैं, औदर्य तेज उदर की अग्नि है, जो भोजन इत्यादि को पचाने में सहायक होता है। आकरज

तेज ज्वलनशील पदार्थों जैसे कोयला, डीजल, पेट्रोल तथा सुवर्ण आदि को कहते हैं।[1] तेज के ये सभी भेद पंचमहाभूतों से सम्बन्धित होने के कारण आधिभौतिक कहे जाते हैं।

इस आधिभौतिक प्रकाश के लिये प्रस्थानत्रयी में विविध नामों का प्रयोग किया गया है, जैसे- ज्योति, आदित्य, सूर्य, नक्षत्र, अग्नि, इन्द्रिय आदि। विभिन्न सन्दर्भों में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त प्रकाश के नामों से प्रकाश के विभिन्न गुणों का ज्ञान होता है। माध्यमिक दर्शन में शून्य को चतुष्कोटिविनिर्मुक्त विशुद्ध प्रज्ञा रूप माना गया है।[2] प्रज्ञा का अर्थ है बुद्धि या ज्ञान ।[3] इस प्रज्ञा को ही प्रतिभा कहा जाता है, जो कि प्रकाश रूप है।[4]

'*अनुज्ञा-परिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत्*'[5] इस सूत्र के भाष्य में आचार्य शंकर ने ज्योति शब्द से अग्नि अर्थ लिया है। जिस प्रकार अग्नि सर्वव्यापक होते हुए भी स्थान विशेष के संयोग से उसका ग्रहण और परिहार किया जाता है। उसी प्रकार आत्मा का भी शरीर विशेष के संयोग से ग्रहण और परिहार किया जाता है। इस मन्त्र के भाष्य में आचार्य शंकर ने अग्नि को सर्वव्यापक तत्त्व बताया है। यह अग्नि भी आश्रय भेद से तीन प्रकार की बतायी गयी है- दावाग्नि, वाड़वाग्नि और जठराग्नि। दावाग्नि अरणियों से उत्पन्न अग्नि को कहा जाता है। समुंद्र की अग्नि को वाड़वाग्नि कहा जाता है। सम्भवत: समुद्र शब्द जल का वाचक है। यद्यपि अग्नि की उत्पत्ति जल से नहीं देखी जाती है, फिर भी अग्नि को जल से उत्पन्न माना गया है।[6] अग्नि का धर्म है जलाना। यह ज्वलन रूप धर्म जहाँ भी होगा वह सभी अग्नि का रूप माना जा सकता है। विद्युत् में भी ज्वलन रूप धर्म होता है। विद्युत् की उत्पत्ति जल से देखी जाती है, जैसे अन्तरिक्षीय विद्युत् की उत्पत्ति बादलों से होती है। बादल भी जल का रूप है। अग्नि का तीसरा रूप जठराग्नि है। जठराग्नि अर्थात् पेट की अग्नि, जो भोजन को पचाने का कार्य करती है।

यदि इस द्वन्द्वात्मक संसार की क्रमिकता पर विश्वास किया जाय तो अज्ञान भी ज्ञान है और ज्ञान भी एक प्रकार का अज्ञान है; क्योंकि वर्तमान ज्ञान जिसे हम प्रकाश समझते हैं।

---

[1] त.सं.तेजस् प्रकरण
[2] लंका.सू.,पृ.74
[3] सर्वव्यवहारहेतुर्बुद्धि-ज्ञानम्। -त.सं.58
[4] प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता (इति रुद्र:)
[5] ब्र.सू., 2.3.48
[6] बृ.उ.1.2.2

एक सीमा के बाद अज्ञान की श्रेणी में आ जाता है। किन्तु प्रकाश की एक ऐसी भी अवस्था है, जो इस भौतिक जगत् के प्रकाश से सर्वथा पृथक् है। प्रकाश होते हुए भी उसे प्रकाश शब्द से सम्बोधित नहीं किया जा सकता है, जिसे उपनिषदों में ब्रह्म, आत्मा, परावाक् आदि नामों से संकेत किया गया है। वह प्रकाश नित्यप्रकाश होते हुए भी प्रकाश शब्द से रहित है।

'*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*'[7] के सिद्धांत पर यद्यपि सब कुछ ब्रह्ममय है, तथापि अज्ञान के धरातल पर व्यवहारिक सत्ता का उतना ही महत्त्व है, जितना अभेद अर्थात् अद्वैत के धरातल पर पारमार्थिक सत्ता का महत्त्व है। जब तक ब्रह्म अज्ञान से आबद्ध होकर जीवात्मा बना रहता है, तब तक यह संसार ही उसके लिये उपादेय है। इस संसार को अपना साधन बनाकर ही साध्य ब्रह्म का अनुभव किया जा सकता है।[8] इस दृष्टि से भी संसार का विश्लेषण आवश्यक प्रतीत होता है; क्योंकि इन जागतिक वस्तुओं की वास्तविक प्रकाशरूपता का विश्लेषण करके ही नित्यप्रकाशमान् कारण स्वरूप ब्रह्म को अनुभव किया जा सकता है।

आध्यात्मिक प्रकाश और आधिभौतिक प्रकाश का तुलनात्मक अध्ययन करने पर अनेक तथ्य सामने उभर कर आये, जो हमारे शोध विषय को और अधिक सार्थकता प्रदान करते हैं, जैसे:

ब्रह्म तत्त्व स्वयं प्रकाश है और वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है, अग्नि का प्रकाश, सूर्य का प्रकाश, चन्द्र का प्रकाश भी स्वयं प्रकाशमान् हैं और वस्तुओं को भी प्रकाशित करते है।

अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं, आवरणशक्ति और विक्षेपशक्ति, भौतिक प्रकाश भी दो प्रकार से व्यवहार करता है: प्रथम कण प्रकृति और द्वितीय तरंग प्रकृति।

अज्ञान वस्तु के स्वरूप का आवरण करने वाला होता है, दूसरी ओर प्रकाश का विरोधी तत्त्व तमस् वस्तुओं के स्वरूप को आवृत्त करने वाला होता है।

---

[7] छा.उ.3.14.1

[8] मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन्। -कठ.उ.2.1.11

सात्त्विक ज्ञान तामसिक ज्ञान से और प्रकाश तमस् से इस प्रकार मिला हुआ है, कि इन्हें किसी भी विभाजक रेखा द्वारा पृथक् नहीं किया जा सकता।

ज्ञान वस्तु स्वरूप को उद्घाटित करता है, आधिभौतिक प्रकाश में भी वस्तु के स्वरूप को उद्घाटित करने का गुण देखा जाता है।

सात्त्विक ज्ञान और भौतिक प्रकाश दोनों ही ब्रह्म ज्ञान से पृथक् होने के कारण त्रिगुणात्मक हैं।

सूर्य के प्रकाश में दृश्य और अदृश्य विकिरण मिलाकर कुल 15 प्रकार के विकिरण होते हैं। जैसे, कॉस्मिक किरणें, गामा किरणें, एक्सरे किरणे, पराबैगनी, बैगनी, जामुनी, नील, हरित, पीत, नारंगी, लाल, अवरक्त किरणें, माइक्रोबेव, रेडियो बेव तथा लांग रेडियोबेव। इन किरणों की विशेषता यह है कि ये सभी तरंगदैर्ध्य के बढ़ते क्रम में व्यवस्थित हैं। इसी प्रकार प्रकृति पर्यन्त तत्त्वों में भी क्रमिकता देखी जाती है। ये सभी सूक्ष्मता से स्थूलता के क्रम में व्यवस्थित है।

नित्यप्रकाश स्वरूप ब्रह्म आनन्द स्वरूप है, इधर आधिभौतिक प्रकाश भी आनन्दवर्धक होता है।

प्रकाश के विविध रंग शरीर को प्रभावित करते हैं और पोषण करते हैं। दूसरी ओर चित् स्वरूप ब्रह्म भी शरीर का पोषक होता है, जिससे रहित होने पर शरीर में क्षय होने लगता है।

व्यवहारिक जगत् में प्रकाश की गति सर्वाधिक है। सूक्ष्म जगत् में ब्रह्म की गति सर्वाधिक है।

सिनेमाघर इत्यादि में विद्युत् प्रकाश का प्रक्षेपण काल्पनिक जगत् का आभास कराता है। दूसरी ओर दर्शन में जगत् को ब्रह्म का विवर्त और प्रक्षेपण माना गया है: *'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतुः स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति'।*[9]

[9] प्र.ह्र.1,2

प्रश्नोपनिषद् में यह उल्लेख मिलता है कि सूर्य चक्षु का उपकार करता है; क्योंकि बिना प्रकाश के चक्षु रूप का ग्रहण नहीं कर सकती है। यह प्रकाश सूर्य से प्राप्त होता है। भौतिक विज्ञान में यह सिद्ध है कि सूर्य का प्रकाश जब किसी वस्तु पर पड़ता है तो परावर्तित होकर आँख पर पड़ता है, जिससे वस्तुएँ दिखायी देती हैं।

प्रकाश के आधिभौतिक और आध्यात्मिक रूपों के अतिरिक्त प्रकाश के आधिदैविक रूप की भी चर्चा मिलती है। प्रकाश का यह रूप आधिभौतिक और आध्यात्मिक के मध्य की स्थिति है। वैदिक संस्कृति में प्रत्येक वस्तु के अधिष्ठातृ देवता का उल्लेख मिलता है, जो उस वस्तु का धारक पोषक होता है। शास्त्रों में अधिष्ठातृ देवताओं का उल्लेख मानवाकृति के रूप में हुआ है। अधिष्ठातृ देवता शरीर युक्त, चेतन तथा प्रकाशक गुणों से युक्त होते हैं। इस अधिष्ठातृ देवता का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि एक वृक्ष से कौन सा तत्त्व निकल जाता है कि वृक्ष सूख जाता है। सर्वव्यापी आत्मा हो नहीं सकता है; क्योंकि वह न तो कहीं जा सकता है न हि मृत हो सकता है। जड़ वृक्ष वहीं का वहीं पड़ा रहता है। इससे अनुमान होता है कि प्रत्येक वृक्ष में उसका अधिष्ठातृ देवता होता है। जिसके मृत हो जाने पर वृक्ष सूख जाता है।

प्रकाश के अतिरिक्त प्रस्थानत्रयी में और भी अन्य विषयों का प्रतिपादन किया गया है, जैसे- जीवात्मा, परमात्मा, अज्ञान, पंचमहाभूत, मन, जगत्, आदि। इन विषयों पर अद्यावधि अनेक शोधकार्य भी हुए हैं। विज्ञान में आधिभौतिक प्रकाश पर अद्यावधि अति विस्तृत कार्य किया जा चुका है। किन्तु सीमित समयावधि को ध्यान में रखते हुए केवल प्रस्थानत्रयी शांकरभाष्य में वर्णित आधिभौतिक प्रकाश, आधिदैविक प्रकाश एवं अध्यात्मिक प्रकाश का विश्लेषण किया गया है। शोधार्थी द्वारा चयनित शोधकार्य का यह क्षेत्र प्रस्थानत्रयी के शांकरभाष्य तथा उसके तत्संबन्धी अंशों तक सीमित किया गया है।

प्रस्तुत शोधकार्य के द्वारा प्रकाश की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान करना है। जैसे सूर्य का प्रकाश एक विद्युत् चुम्बकीय विकिरण है, जो त्रि-आयामी होता है, इत्यादि सूर्य के प्रकाश की वास्तविक प्रकृति है, जिसके आधार पर अनेक प्रयोग सफल होते हैं। लेकिन आध्यात्मिक प्रकाश, जो विद्युत् चुम्बकीय विकिरण नहीं है। लेकिन फिर भी प्रकाश है। फिर इस आध्यात्मिक प्रकाश का स्वरूप क्या है? इसकी विशेषतायें क्या है? आदि की जानकारी प्राप्त करना तथा प्रकाश के विभिन्न रूपों जैसे, प्राणरूप प्रकाश, आत्मारूप

प्रकाश, ब्रह्मरूप प्रकाश, कारण रूप प्रकाश आदि की जानकारी प्राप्त करना प्रस्तुत शोधकार्य का उद्देश्य है।

आधिभौतिक प्रकाश, आधिदैविक प्रकाश और आध्यात्मिक प्रकाश के तुलनात्मक अध्ययन से प्रयोगात्मक विज्ञान के लिए अनुमान दिया जा सकता है, जो कि गुणों की समानताओं पर आधारित होता है। जैसे, एक तरफ जल है, दूसरी तरफ दूध है। दोनों में द्रवत्व की समानता है। जल को हमने ठोस बर्फ बनते देखा। इस आधार पर हमने दिया कि जल भी द्रव है और दूध भी द्रव है। जल यदि ठोस बन सकता है, तो दूध भी ठोस रूप धारण कर सकता है। इसी प्रकार प्रकाश के गुणों के समानता के आधार पर आध्यात्मिक प्रकाश के प्रयोगात्मक अध्ययन के लिये अनुमान दिया जा सकेगा।

आधिभौतिक प्रकाश, आधिदैविक प्रकाश और आध्यात्मिक प्रकाश एक दूसरे से किस प्रकार सम्बन्धित है और प्रकाश का मौलिक रूप इन त्रिविध प्रकाशों के मूल में किस प्रकार स्थित है? जैसे, छान्दोग्योपनिषद् शांकरभाष्य में कहा गया है कि पुरुष जब नाड़ी मार्ग से ऊर्ध्वलोकों में गमन करता है। तब वह आदित्य रश्मियों से प्रेरित होता है। नाड़ी में तेज होता है। नाड़ी का वह तेज कभी नीलवर्ण, कभी श्वेतवर्ण, कभी पीतवर्ण तथा कभी लोहितवर्ण की हो जाती है। श्रुति के अनुसार नाड़ी के तेज में वर्ण परिवर्तन सूर्य रश्मि के संयोग से होता है; क्योंकि नील, पीत, श्वेत तथा लोहित वर्ण सूर्य रश्मि में भी पाये जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि नाड़ी तेज के वर्णों में परिवर्तन सूर्य रश्मियों के संयोग से होता है। इस सूर्य रश्मि से ही पुरुष को ऊर्ध्वलोकों में गमन की प्रेरणा मिलती है। अज्ञानी पुरुष को अपने कर्म के अनुसार अधोलोक में जाने की प्रेरणा मिलती है, तो ज्ञानी पुरुष को ऊर्ध्वलोकों में जाने की प्रेरणा मिलती है।[10] इससे ज्ञात होता है कि आध्यात्मिक और भौतिक प्रकाश परस्पर सम्बन्धित हैं। इस सम्बन्ध को और अच्छी प्रकार से समझना तथा एतद्विषयक जानकारी प्राप्त करना इस शोधकार्य का उद्देश्य है।

मोक्ष प्राप्ति के कौन-कौन से मार्ग हैं? जो हमें प्रकाश स्वरूप ब्रह्म से एकत्व स्थापित करने में मदद कर सकते हैं। जैसे, वहीं छान्दोग्योपनिषद् के अगले मन्त्र में एक अमरत्व प्राप्ति के मार्ग की भी चर्चा हुई है। इस मन्त्र के अनुसार मस्तिष्क में 101 नाड़ियाँ होती हैं। उसमें से एक नाड़ी मस्तिष्क की ओर जाकर अमरत्व का मार्ग बनाती है। शेष 100

[10] छा.उ.8.6.5,शां.भा.

नाड़ियाँ इधर उधर निकल कर उत्क्रमण का कारण बनती है।[11] अत: प्रस्थानत्रयी के आधार पर मोक्ष प्राप्ति के विभिन्न मार्गों के विषय में जानकारी एकत्रित करना भी प्रस्तुत शोधकार्य का उद्देश्य है।

क्या हमें ऐसा कोई यांत्रिक बिन्दु मिल सकता है? जिसके माध्यम से अव्यक्त, सर्वव्यापक आत्मा को व्यक्त रूप दिया जा सके। जैसे, सर्वव्यापक, अव्यक्त अग्नि से व्यक्त अग्नि की उत्पत्ति होती है। इस अव्यक्त अग्नि को व्यक्त रूप अग्नि में बदलने के लिये दियासलाई, दो अरणियों का आपस में घर्षण, दो पत्थरों का आपस में घर्षण आदि ऐसे ही यन्त्र हैं। अत: अध्यात्मिक और भौतिक प्रकाश के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित यह शोधकार्य हमें उस यांत्रिक बिन्दु (यंत्र या मशीन पर अधारित बिन्दु) पर पहुंचने में सहायता प्रदान करेगा, जहाँ से अव्यक्त आत्मा से व्यक्त जगत् की उत्पत्ति होती है और आध्यात्मिक जगत् को वैज्ञानिक रूप से समझने मे मदद मिलेगी।

मनुष्य का चित्त एक मेमोरी कार्ड की भाँति होता है। जिसमें पंचज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान संस्कार के रूप में स्थित होता है। उसी ज्ञान के आधार पर वह लौकिक व्यवहार में प्रवृत्त होता है, *'सर्वव्यवहार हेतुर्गुणो बुद्धिज्ञानम्'* । ओशो रजनीश का मत है कि जैसे टेपरिकार्डर से आवाज साफ कर दी जाती है, उसी प्रकार यदि मनुष्य के चित्त में स्थित संस्कार को नष्ट कर दिया जाये तो मनुष्य ब्रह्मज्ञानी हो सकता है।[12] उनका यह मत अद्वैतवेदान्त पर आधारित है। अद्वैतवेदान्त में तीन प्रकार के कर्म माने गये हैं। संचितकर्म, क्रियमाणकर्म और प्रारब्धकर्म। प्रारब्ध कर्म वह है, जिनके फल स्वरूप वर्तमान शरीर तथा उसमें होने वाले भोग प्राप्त हैं। ज्ञान से प्रारब्ध का नाश नहीं होता, उसे भोगना ही पड़ता है। भोग के अतिरिक्त कोई साधन नहीं है, जिससे उसकी समाप्ति उसका क्षय हो सके।[13] क्रियमाणकर्म वे हैं जिन्हें व्यक्ति पूर्व वासनाओं से प्रेरित होकर इस जन्म में करता है या कर रहा है।[14] ज्ञानोत्पत्ति से पूर्व अज्ञानावस्था में किये गये अभुक्त कर्मों का नाम संचित कर्म है।[15] ओशो रजनीश ने यहाँ संचितकर्म और क्रियमाणकर्म को नष्ट करने की

---

[11] वहीं,8.6.6,शां.भा.
[12] त.वि., विज्ञानभैरव-तन्त्र, प्रथम खण्ड, पृ.118
[13] वे.सा.व्या.आद्याप्रसाद्,पृ.184
[14] वहीं
[15] वहीं,पृ.183

बात कही है। आचार्य शंकर के अनुसार कर्म से चित्त को शुद्ध किया जा सकता है। किन्तु मोक्ष के लिये ज्ञान का होना आवश्यक है, *'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते'*[16]।

संस्कार के रूप में विद्यमान् संचितकर्म और क्रियमाणकर्म के कारण पुनर्जन्म होता है। इन दोनों के नष्ट हो जाने पर पुनर्जन्म नहीं होता है। संस्कार से ही विचार आते हैं। संस्कार नष्ट हो जाने पर विचार आना बन्द हो जाता है। यही निर्विचार की अवस्था है। संस्कार के नष्ट हो जाने पर स्वप्न रहित अवस्था प्राप्त होती है; क्योंकि स्वप्न अनुभवजन्य संस्कार पर आश्रित होते हैं। स्वप्नरहित अवस्था मुक्त पुरुष की पहचान है, *'यावद्धि न प्रबुध्यते तावदेव स्वप्नदर्शनम्'*[17]

किसी वस्तु को जब हम देखते हैं, तो उस वस्तु का रूप (प्रकाश) चक्षु के माध्यम से आत्मा तक कैसे पहुँचता है? उस वस्तु का प्रकाश ही ज्ञान के रूप परिणत होकर आत्मा में स्थित हो जाता है। श्री युक्तेश्वर जी ने 'कैवल्यदर्शनम्' में पाँच संवेदी तन्त्रिकाओं के रूप में पाँच प्रकार की विद्युत् शक्तियों का उल्लेख किया है, जिनमें से प्रत्येक का गुणधर्म एक दूसरे से अलग है। दृष्टि से सम्बन्धित तन्त्रिका केवल प्रकाश का वहन करती है। श्रवण से सम्बन्धित तन्त्रिका केवल ध्वनि का वहन करती है।[18] *'चित्र रासायनिक तरंगों में रूपान्तरित होता है, वे वैद्युतिक तरंगें हैं'।*[19] अत: प्रस्थानत्रयी के आधार पर ज्ञान की प्रक्रिया विषयक जानकारी प्राप्त करना इस शोधकार्य का उद्देश्य है।

आत्मा रूप प्रकाश से सृष्टि की उत्पत्ति कैसे होती है? क्या सृष्टि पूर्णत: प्रकाश रूप आत्मा की इच्छा पर निर्भर है या निष्क्रिय ब्रह्म से सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया में कुछ हस्तक्षेप किया जा सकता है? सृष्टि की उत्पत्ति क्रमिक है या आकस्मिक है? जैसा कि ब्रह्मसूत्र में कहा गया है *'अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात्'*[20] इस विषय में मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है,

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगा: सहस्रस: प्रभवन्ते सरूपा:।

---

[16] ईशा.उ.11
[17] भग.गी.2.69, मधुसूदनसरस्वतीकृत् गूढार्थदीपिकाव्याख्या
[18] कै.द., भूमिका, पृ.22
[19] त.वि., विज्ञानभैरव-तन्त्र, प्रथम खण्ड, पृ.135
[20] ब्र.सू., 2.3.15

तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥21

हमारा उद्देश्य है कि हम आध्यात्मिक विषयों को प्रायोगिक विज्ञान के अत्यधिक समीप ला सकें ताकि आध्यात्मिक विषयों पर भी प्रयोग किया जा सके। अग्रिम प्रकाश विषयक शोधकार्य को सुलभ बनाने के लिये प्रस्थानत्रयी में प्राप्त प्रकाश विषयक उद्धरणों को एकत्रित करना भी इस शोधकार्य का उद्देश्य है।

प्रस्थानत्रयी में कई स्थानों पर जगत् के मौलिक कारण को प्रकाश स्वरूप बताया गया है। जगत् का मूल कारण यदि प्रकाश स्वरूप है, तो वह प्रकाश कैसा है? वह प्रकाश सूर्य के प्रकाश की तरह जड़ है अथवा चेतन रूप है? सृष्टि का नियमन करने में उस मौलिक प्रकाश की क्या भूमिका है? क्या वह सृष्टि का नियामक किसी विशेष स्थान पर स्थित होकर जड़ चेतन को नियमित कर रहा है अथवा प्रत्येक जड़ चेतन के रूप में व्याप्त होकर सबका नियमन कर रहा है?

वह जगत् का कारण कैसा है? उपादानकारण है, निमित्तकारण है अथवा अभिन्न-निमित्त उपादानकारण है? साथ ही इन प्रश्नों पर विस्तृत विचार शांकरभाष्य के आधार पर करना ही प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का विषय रहा है।

इस सन्दर्भ में अनेक आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य और टीकाएँ किये हैं। किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में आचार्य शंकर के भाष्य का अध्ययन करना हमारा उद्देश्य रहा है। साथ ही आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवेदान्त की दृष्टि से प्रकाश के सन्दर्भ में प्रस्थानत्रयी के विषयों का अध्ययन करना हमारा उद्देश्य है।

आधिभौतिक प्रकाश, आध्यात्मिक प्रकाश तथा प्रकाश के आधिदैविक स्वरूप का अध्ययन करना एवं ये त्रिविध प्रकाश के रूप हमारे जीवन को किस प्रकार प्रभावित करते हैं और कौन सा प्रकाश हमारे लिए अधिक उपादेय है? आदि विषयों पर प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में चर्चा की गयी है।

---

[21] मु.उ., 2.1.1

ज्ञान की प्रकृति क्या है? वह वृत्ति रूप है या इन्द्रियार्थसन्निकर्ष जन्य रूप है अथवा चैतन्यात्म स्वरूप है? क्या सृष्टि ज्ञान और ब्रह्म ज्ञान एक ही हैं या दोनों में अन्तर है? यदि अन्तर है तो दोनों का अलग-अलग स्वरूप क्या है?

प्रस्तुत शोधकार्य के उद्देश्यों को हम निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत दिखा सकते हैं-

अद्वैतवेदान्त में आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रकाश का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

प्रकाश के विभिन्न रूपों जैसे प्राण, इन्द्रिय, ज्ञान आदि से सम्बन्धित श्रुति प्रमाणों को एकत्रित किया गया है।

शरीरगत जीवात्मा रूप प्रकाश विषयक जानकारी एकत्रित की गयी है।

आन्तरिक प्रकाश और व्यक्तित्व रूप प्रकाश के सम्बन्धों पर चर्चा की गयी है।

व्यक्तित्व रूप प्रकाश को उन्नत बनाने में सहायक कारणों पर विचार किया गया है।

एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ आध्यात्मिक सम्बन्धों का ज्ञान प्राप्त करना भी इस शोधकार्य का उद्देश्य रहा है।

स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ते हुए प्रकाश के विभिन्न स्तरों की जानकारी दी गयी है।

सभी प्रकाश स्रोतों के मूल कारण के रूप में मौलिक प्रकाश को स्पष्ट किया गया है।

शोधप्रबन्ध में चर्चित मन रूप प्रकाश विषयक जानकारी मनोविज्ञान के क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध होगा।

प्रस्थानत्रयी में कहीं-कहीं सूर्य देवता का अग्नि, विद्युत्, चन्द्रमा से सम्बन्ध बताया गया है। इससे सूर्य प्रकाश का अग्नि, विद्युत् आदि प्रकाशों के साथ सम्बन्ध का ज्ञान हुआ है।

सूर्य देवता के कार्यों से सूर्य प्रकाश के गुणों का तथा विद्युत्, प्राण, इन्द्रिय के अधिष्ठातृ देवताओं के कार्यों से तत्तत् प्रकाश के गुणों की जानकारी प्राप्त की गयी है।

भौतिक प्रकाश और आध्यात्मिक प्रकाश के गुण धर्मों में समानता के आधार पर भौतिक प्रकाश से आध्यात्मिक प्रकाश की ओर बढ़ने में मदद मिलेगी।

वाक् रूप प्रकाश तथा मन रूप प्रकाश के बीच सम्बन्ध का ज्ञान होने पर व्यक्ति को मनोवैज्ञानिक दिशानिर्देश देने में सहायक होगा।

प्रस्तुत क्षेत्र में विद्यमान् पूर्ववर्ती शोध कार्यों में निम्नलिखित ग्रन्थों और उनके विषयों को उद्धृत किया जा सकता है-

'An Epistemological Study of Sankarabhasyas on Prasthanatrayi', Ram Nath Jha, Thesis, Department of Sanskrit, University of Delhi, 1999

- Antahkaran (Internal Organ)
- Jnanendriya (The Sense Organs)
- Constituents of Vrttijanyajnana
- Pratyaksa (Perception)
- Anuman (Inference)
- Upaman
- Arthapatti
- Anuplabdhi
- Agam or Shastra

'उपनिषद्-शाङ्करभाष्य में प्रकाश का स्वरूप', भोला नाथ, लघु शोधप्रबन्ध, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 2013

इस लघु शोध प्रबन्ध में प्रकाश के स्वरूप पर विचार किया गया है। जिसमें भौतिक प्रकाश जैसे सूर्य का प्रकाश, चन्द्र**,** तारों का प्रकाश, ग्रह**,** नक्षत्रों का प्रकाश, दीपक, अग्नि, विद्युत् आदि के प्रकाश पर विचार किया गया है। अध्यात्मिक प्रकाश के अन्तर्गत आत्मा, मन, प्राण आदि सूक्ष्म प्रकाश के प्रकारों पर विचार है। किन्तु शोधार्थी ने इसे केवल उपनिषदों तक सीमित किया है।

'श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य में भक्ति का स्वरूप', महेन्द्र यादव, लघु शोधप्रबन्ध, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 2013

इस लघु शोधप्रबन्ध में निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार किया गया है-

- वैदिक भक्ति परम्परा
- श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य में योग का स्वरूप

- श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य में भक्ति का स्वरूप
- भक्ति का लक्ष्य

'ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में पाणिनीय व्याकरण का उपयोग', घनश्याम मिश्र, लघु शोधप्रबन्ध, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 2013

इस लघु शोधप्रबन्ध में विचार किये गये प्रमुख बिन्दु निम्नलिखित हैं-

- संस्कृत ज्ञान परम्परा में व्याकरण के स्वरूप
- ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में समास सूत्रों के प्रयोग
- ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में कारक सूत्रों के प्रयोग
- ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में व्याकरण के अन्य प्रयोग

'प्रमुख उपनिषदों में शरीर और इन्द्रिय की अवधारणा : आधुनिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में', मेघराज मीणा, लघु शोधप्रबन्ध, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 2013

इस शोधकार्य में शोधार्थी ने निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार किया है।

- वैदिक चिन्तन में शरीर और इन्द्रिय विमर्श
- वैदिक चिन्तन में इन्द्रिय की अवधारणा
- प्रमुख उपनिषदों में शरीर की अवधारणा
- तैत्तिरीयोपनिषद् में पंचकोश की अवधारणा
- प्रमुख उपनिषदों में इन्द्रिय की अवधारणा
- आधुनिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में शरीर और इन्द्रिय: एक समीक्षा

'प्रस्थानत्रयी शांकरभाष्य में सांख्य सिद्धांत समीक्षा', रामकिशोर महोलिया, लघु शोधप्रबन्ध, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 2008

इस शोधकार्य में शोधार्थी ने निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार किया है।

- सांख्य दर्शन की अवैदिकता की समीक्षा
- प्रकृति सम्बन्धी आलोचनाओं की समीक्षा
- पुरुष सम्बन्धी आलोचनाओं की समीक्षा

'Epistemology in Kathopanisad', Surjya Kamal Borah, Special Centre for Sanskrit Studies, 2006

इस शोधकार्य में शोधार्थी ने निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार किया है।

- Concept of Knower
- Object of Knowledge
- Process of Knowing
- Knowledge

'आचार्य शंकरकृत ब्रह्मसूत्र अध्यासभाष्य : एक अध्ययन (भामती तथा विवरण टीकाओं के विशेष सन्दर्भ में)', कपिल गौतम, लघु शोधप्रबन्ध, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 2012

इस शोधकार्य के अन्तर्गत अधोलिखित बिन्दुओं पर विचार किया गया है-

- अध्यासभाष्य की पृष्ठभूमि
- अनिर्वचनीय ख्याति की स्थापना
- अध्यासभाष्य विश्लेषण
- अध्यास का कारण एवं चिदात्मा के अध्यास की सम्भावना
- अध्यास के परिणाम

'केनोपनिषद् का दार्शनिक अनुशीलन', बबलू पाल, लघु शोधप्रबन्ध, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 2011

इस शोधकार्य में शोधार्थी ने निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार किया है।

- केनोपनिषद् में तत्त्व मीमांसा
- केनोपनिषद् में ज्ञान मीमांसा
- केनोपनिषद् में आचार मीमांसा

'मुख्य उपनिषदों में ब्रह्म के प्रतीकों की समीक्षा', अञ्जु गुप्ता, शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1998

इसमें ब्रह्म के श्रुति मूलक प्रतीकों जैसे- ओम्, सत्य, गायत्री, ब्रह्म के आधिदैविक प्रतीकों जैसे- आदित्य, सोम, इन्द्र, वसु, पूषा, प्रत्यक्, आत्मा आदि इन देवता सम्बन्धी प्रतीकों को लिया गया है। इसी प्रकार आधिभौतिक प्रतीक जैसे- आप्, अग्नि, पृथ्वी, आकाश, द्युलोक, विद्युत्, संवत्सर, अन्न, अश्वमेध यज्ञ, जगत् आदि पर विचार किया गया है। आध्यात्मिक प्रतीक जैसे- प्राण, हृदय, चक्षु, मनस्, वाक्, कर्मन्, इन शरीर से सम्बन्धित प्रतीकों को लिया गया है। इसी के साथ ही प्रतीकोपासना की विधि और फल पर भी विचार किया गया है। इन प्रतीकों का औचित्य, उपादेयता तथा प्रतीक चिन्हों के प्रयोग से होने वाली हानि पर भी प्रकाश डाला गया है।

'*श्रीमद्भगवद्गीता में त्रिगुण स्वरूप*', श्रीमती सावित्री शर्मा, लघु शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1986

इस शोध शीर्षक के अन्तर्गत गुणोंके इतिहास जैसे- वेद, उपनिषद्, स्मृति, महाभारत इत्यादि में त्रिगुण से सम्बन्धित उद्धरणों का विश्लेषण किया गया है। इसके अतरिक्त भगवद्गीता में गुणत्रय तथा उनका आधार, गुणों से सृष्टि प्रक्रिया, त्रिगुणानुसारी वस्तुओं का विभागत्रय विभाजन, त्रिगुण से मुक्ति का साधन आदि विषयों पर विचार किया गया है।

'*ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य में पंचभूत निरूपण*', कल्पना, लघु शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1991

शोधार्थिनी कल्पना ने इस शीर्षक के अन्तर्गत निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार किया है।

- पंचभूत परिचय अर्थ एवं परिभाषा
- वैशेषिक दर्शन में पंचभूत विषयक पूर्वपक्ष
- ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में निरूपित पंचभूतों की समीक्षा तथा उनकी उत्पत्ति के मूल कारण पर विचार
- सूक्ष्मभूतों की स्थूलभूतों के रूप में विकास प्रक्रिया
- कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर तथा चतुर्दश लोकों का पंचभूतों के साथ सम्बन्ध
- प्रलयावस्था में पंचभूतों की स्थिति
- ब्रह्मसूत्र के पंचभूत सिद्धांत का अन्य भारतीय दर्शनों के साथ सम्बन्ध

'*गीता में प्रतिपादित क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विचार*', अञ्जली मनोचा, लघु शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1987

इस लघु शोधप्रबन्ध के अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों पर विचार किया गया है।

- गीता का स्वरूप तथा परिचय
- गीता में क्षेत्र क्षेत्रज्ञ चर्चा
- पुरुष और ब्रह्म का सम्बन्ध
- पुनर्जन्म तथा मोक्ष

'*ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य में साधन चतुष्टय*', उमा शर्मा, लघु शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2001

अष्ट अध्यायों में विभक्त इस लघु शोधप्रबन्ध में अधोलिखित विषयों पर विचार किया गया है-

- ब्रह्मसूत्र पर उपलब्ध भाष्यों तथा टीकाओं का परिचय
- ब्रह्म शब्द का निर्वचन, स्वरूप तथा ब्रह्मज्ञान के साधान पर विचार
- साधन चतुष्टय में से प्रथम अनुबन्ध अधिकारी पर विचार किया गया है।
- शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान श्रद्धा आदि साधन चतुष्टय का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है।

'*उपनिषदों के प्रमुख भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन*', राम प्रकाश शर्मा, आगरा विश्वविद्यालय, 1966

'*उपासना इन द उपनिषद्स*', नीलांजनि कुमार वैलकर, बम्बई, 1969

'द कॉन्सेप्ट ऑफ आत्मन् इन द प्रिंसिपल उपनिषद्स', डॉ. बी.आर. शर्मा, दिनेश पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1972

'ए क्रिटिकल एण्ड कम्प्रेटिव स्टडी ऑफ द बृहदारण्यक उपनिषद्', विष्णु प्रसाद भट्ट, पूना, 1974

'*उपनिषदों में उपमा*', कान्तिलाल रमाशंकर देव, पटेल, 1974

'*क्रिटिकल स्टडी इन फिलॉस्फिकल टर्म्स इन ईशावास्योपनिषद् विद् रिफरेंस टू शंकर एण्ड रामानुज*', विश्वनाथ अयंगार, दिल्ली, 1974

'*आदित्य फ्राम द ऋग्वेद टू द उपनिषद्*', प्रवेश सक्सेना, दिल्ली, 1974

'*द कम्परेटिव स्टडी ऑफ द छान्दोग्य उपनिषद् एण्ड द ब्रह्मसूत्राज ऑफ बादरायण*', एस.एम.मातखण्डे, बम्बई, 1975

'*बृहदारण्यक उपनिषद् का आलोचनात्मक अध्ययन विशेष रूप से तृतीय एवं चतुर्थ अध्यायों के उल्लेखों सहित*', उमा देवी शर्मा, बनारस 1975

'*श्वेताश्वतर उपनिषद् के भाष्यों का एक अध्ययन*', वेदवती वैदिक, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1976

'प्रमुख उपनिषदों का अध्ययन : सम्बन्धों एवं रूपकों की तात्त्विक समीक्षा', नटवर झा, बिहार, 1977

'*कॉन्सेप्ट ऑफ आत्मन इन द बृहदारण्यक उपनिषद्*', संगीता गम्भीर, दिल्ली, 1977

'उपनिषद् ब्रह्मकारणत्त्ववाद समीक्षात्मक अध्ययन', परमानन्द झा, दरभंगा, 1978

'*उपनिषदों के आधार पर ब्रह्म का स्वरूप*', रीटा मेहरा, आगरा, 1979

'*शांकरभाष्य ऑन तैत्तिरीय उपनिषद्*', उषा गोवर, दिल्ली, 1980

'*ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ द छान्दोग्योपनिषद्*', अरुन्धती माधव वेचालकर, पूना, 1980

'*उपनिषदों की भूमिका*', डॉ.राधाकृष्णन, चौथा संस्करण, राजपाल एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 1981

'*केनोपनिषद् और उसके भाष्यों का अध्ययन*', शशि गुप्ता, शोध प्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1981

'*आचार्य शंकर के अनुसार पंचकोश*', भुवनेश गौतम, लघु-शोधप्रबन्ध, 1981

'*उपनिषदों में प्राप्त निर्वचनों का अध्ययन*', वीणा रानी, शोध-प्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1982

'*छान्दोग्य उपनिषद् में अन्त:करण का स्वरूप*', विजयलक्ष्मी, लघुशोधप्रबन्ध, 1982

'*उपनिषदों में यज्ञ का स्वरूप*', आशा रानी, शोध प्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1988

'*यजुर्वेदीय उपनिषदों में यज्ञ का स्वरूप*', शशि बाला शर्मा, लघु शोधप्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1988

'*ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में उपासना का स्वरूप*', गीता चतुर्वेदी, लघुशोधप्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1989

'*छान्दोग्य उपनिषद् में उपासना तत्त्व*', सतपाल सिंह डागर, लघुशोधप्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1990

'*तैत्तिरीय उपनिषद् का दार्शनिक अध्ययन : शांकरभाष्य के सन्दर्भ में',* दयानन्द तिवारी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, 1990

'*श्री शंकराचार्य विरचित उपदेश साहस्री:एक अध्ययन',* डॉ.मायावती, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, जवाहर नगर, दिल्ली

'*छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्म के प्रतीकों की समीक्षा*', अञ्जू गुप्ता, लघु शोधप्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1995

'*तैत्तिरीय उपनिषद् की विवेचन पद्धतियाँ*', राजीव अग्रवाल, लघुशोधप्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1995

'*प्रमुख उपनिषदों के विचारक, प्रतिपादक एवं भारतीय दर्शन को उसका योगदान*', वीना शर्मा, शोधप्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1996

'*ए कम्परेटिव स्टडी ऑफ उपनिषदिक याज्ञवल्क्य एवं लावोत्यजू*', ली जे सुक, शोधप्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1997

'*आरण्यकों और उपनिषदों में उपलब्ध आख्यानों का सांस्कृतिक अध्ययन*', सीमा अग्निहोत्री, शोधप्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1997

'*बृहदारण्यक उपनिषद् शांकरभाष्य में अद्वैतसम्यक् पारिभाषिक शब्दों का अध्ययन*', संजय कुमार झा, लघुशोधप्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1997

'छान्दोग्योपनिषद् की आख्यायिकाओं में दार्शनिक तत्त्व', आशु खोसला, लघुशोधप्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1997

विभिन्न पूर्ववर्ती शोधकार्यों की समीक्षा करने के उपरान्त शोधार्थी इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि पूर्ववर्ती शोधकार्यों में केवल विद्या**,** माया, ब्रह्म, चेतना, कर्म का विवेचन प्राप्त होता है, प्रकाश के विभिन्न पक्षों में विद्या, कर्म आदि भी पक्ष विशेष हैं, किन्तु प्रकाश के दृष्टिकोण से इनका अद्यतन समीक्षात्मक विश्लेषण स्वतन्त्र रूप से अप्राप्य है। ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और भगवद्गीता के अनेक बिन्दु शोध के विषय बनाये गये हैं। किन्तु किसी भी शोधकार्य में प्रकाश को शोध का विषय नहीं बनाया गया है। कुछ शोधकार्यों में ब्रह्म के स्वरूप पर विचार किया गया है, जिसके अन्तर्गत ब्रह्म की प्रकाश रूपता को भी सम्मिलित किया गया है। किन्तु प्रकाश की दृष्टि से ब्रह्म के स्वरूप पर विचार नहीं किया गया है।

प्रस्थानत्रयी में प्रकाश एक व्यापक विषय है। यह गुण न केवल ब्रह्म तत्त्व में है, अपितु अन्य सूक्ष्म तत्त्वों में भी विद्यमान् है। उपनिषदों में अनेक स्थानों पर कारण को प्रकाश रूप बताया गया है**,** जो अपने कार्य को प्रकाशित करता है। पंचज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को प्रकाशित करती हैं। इसलिये प्रकाशित करने के कारण इन्द्रियाँ भी प्रकाश रूप हैं**,** जो कि पूर्ववर्ती शोधकार्यों में अप्राप्य है।

प्रकाश एक ऐसा माध्यम है जो आध्यात्मिक प्रकाश और भौतिक प्रकाश के बीच की कड़ी है। भौतिक विज्ञान में सूर्य के प्रकाश के अनेक गुण धर्म बताये गये है, जो कि आध्यात्मिक प्रकाश से समानता रखते हैं। अत: आध्यात्मिक प्रकाश के विषय में भी विस्तृत अध्ययन की जरूरत है**,** जो कि पूर्ववर्ती शोधकार्यों में अप्राप्त है।

उपनिषद्, भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र में जो भी शोधकार्य हुए है। वे भी एकाकी ग्रन्थों पर आधारित हैं। जबकि अद्वैतवेदान्त की पूर्णता प्रस्थानत्रयी में निहित है। अत: शोधार्थी ने एकाकी ग्रन्थ को न लेकर प्रस्थानत्रयी को लिया है, जो कि पूर्ववर्ती शोधकार्य से अलग है।

अत: शोधार्थी के द्वारा चुने गये शीर्षक में प्रकाश के सभी पक्षों के साथ-साथ भौतिक प्रकाश से तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है। शोधार्थी की दृष्टि में ऐसा कोई

कार्य नहीं आया है, जो अध्यात्मिक प्रकाश, आधिदैविक प्रकाश और भौतिक प्रकाश का तुलनात्मक अध्ययन का आकलन करता हो ।

अत: *'प्रस्थानत्रयी शाङ्करभाष्य में प्रकाश विमर्श'* एक नवीन शोध विषय है तथा उपलब्ध शोध-ग्रन्थों व शोध-पत्रों से भिन्न भी है।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म[22], *एकमेवाद्वितीयम्*[23], इत्यादि श्रुति वचनों के अनुसार सब कुछ अद्वैतरूप है। अद्वैत में किसी उपकरण, किसी तर्क, किसी भाषा की गति नहीं हो सकती है। इसलिये अद्वैत ब्रह्म और विवर्तवाद को पार्श्व में रखते हुए अन्य आध्यात्मिक सूक्ष्मप्रकाशों का विश्लेषण किया जायेगा । यह *'मानते हुए'*[24] प्रकाश का विश्लेषण किया गया है कि सभी वस्तुएं सत्तावान् हैं और प्रत्येक वस्तु स्वयं में देश, काल व स्थिति की दृष्टि से सत्य है। अर्थात् विश्लेषणात्मक पद्धति में न्याय और वैशेषिक के सिद्धान्तों की मदद ली गयी है।

प्रस्तावित शोधकार्य में आधिभौतिक प्रकाश, आधिदैविक प्रकाश, अध्यात्मिक प्रकाश एवं प्रकाश के मौलिक रूप के स्वरूप का परिचय देने के क्रम में विवरणात्मक एवं विवेचनात्मक शोध-प्रविधि का उपयोग किया गया है।

तदनन्तर तुलनात्मक शोध-प्रविधि का प्रयोग करके आधिभौतिक प्रकाश, आधिदैविक प्रकाश एवं अध्यात्मिक प्रकाश में साम्य एवं वैषम्य का प्रतिपादन किया गया है।

शोधार्थी ने निष्कर्ष के रूप में आधिभौतिक प्रकाश, आधिदैविक प्रकाश, आध्यात्मिक प्रकाश तथा मौलिक प्रकाश की समीक्षा करते हुए समीक्षात्मक शोध-प्रविधि का प्रयोग किया है।

शोध-कार्य को निष्कर्षोन्मुखी बनाने के लिए सम्पूर्ण शोध को निम्न रूपरेखा के अन्तर्गत समायोजित किया गया है।

---

[22] छा.उ.3.14.1

[23] छा.उ.6.2.1

[24] 'मानना' चेतना की मापक शक्ति है जिसे माया कहा जाता है। यह सापेक्षिकता और द्वैतता के सिद्धांत पर कार्य करती है..... (मा. खो. : योगानन्द) हम अपने को या अन्य वस्तुओं को जो मानते हैं वही होते हैं, और यही 'मानना' ही हमारा अज्ञान है। एक, दो आदि संख्याएं न होकर सिर्फ अद्वैत है। फिर भी इन्हीं संख्याओं पर पूरा गणित निर्भर है। इससे प्राप्त परिणाम वैज्ञानिक, उपयोगी एवं व्यवहारिक होता है।

प्रथम अध्याय *'प्रस्थानत्रयी का परिचय तथा अद्वैतवेदान्त की परम्परा'* के अन्तर्गत प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत आने वाले ग्रन्थों का परिचय दिया गया है। अद्वैतवेदान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य शंकर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही आचार्य शंकर की पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यों पर भी प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय अध्याय *'प्रस्थानत्रयी शांकरभाष्य में आधिभौतिक प्रकाश का स्वरूप'* के अन्तर्गत प्रकाश के भौतिक रूपों जैसे अग्नि, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, आदित्य, लोक, वायु, प्राण, जगत्, आकाश, जल, दिक्, दिन, रात्रि, शुक्लमार्ग, कृष्णमार्ग, आदर्श आदि पर विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय *'प्रस्थानत्रयी शांकरभाष्य में आधिदैविक प्रकाश का निरूपण'* के अन्तर्गत प्रस्थानत्रयी में उल्लिखित देवताओं के स्वरूप जैसे आकार-प्रकार, निवास स्थान, अधिष्ठातृत्व, देवताओं की शक्तियाँ, देवासुर सम्पत्ति, त्रिदेव एवं महाभूतों के अधिष्ठातृ देवताओं पर विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय *'प्रस्थानत्रयी शांकरभाष्य में आध्यात्मिक प्रकाश विमर्श'* में विद्या, अध्यास, अध्यास के भेद, ज्ञान के स्वरूप तथा शरीर से सम्बन्धित तत्त्वों जैसे मन के स्वरूप, प्राण के स्वरूप, वाक् के स्वरूप को प्रकाश के सन्दर्भ में समझने का प्रयास किया गया है।

पंचम अध्याय *'प्रस्थानत्रयी शांकरभाष्य में प्रकाश का मौलिक स्वरूप'* में प्रस्थानत्रयी में उल्लिखित प्रकाश के मौलिक रूप ब्रह्म पर विचार किया गया है; क्योंकि यह ब्रह्म ही सभी प्रकाश स्रोतों के मूल में है। प्रस्थानत्रयी में इस ब्रह्म को ही आत्मा, परमात्मा आदि नामों से कहा गया है।

निष्कर्ष के रूप में *'प्रकाश के विभिन्न रूपों का समीक्षात्मक अध्ययन'* किया गया है। इस अध्याय के अन्तर्गत प्रकाश के विशेष सन्दर्भ में आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक स्वरूपों के साथ प्रकाश के मौलिक रूप की समीक्षा की गयी है।

ग्रन्थ के अन्त में संदर्भ ग्रन्थ सूची दी गयी है। इसके अन्तर्गत अध्ययन में प्रयुक्त मुख्य तथा गौण स्रोतों की सूची दी गयी है।

वेदान्तदर्शन के तीन प्रस्थान बताये गये हैं। प्रथम श्रुति-प्रस्थान उपनिषद् हैं। द्वितीय स्मृति-प्रस्थान श्रीमद्भगवद्गीता को कहा गया है। तीसरा न्याय-प्रस्थान वेदव्यास प्रणीत ब्रह्मसूत्र है।[25] समस्त वेदान्तदर्शन का आधार ये तीन प्रस्थान हैं। प्रस्थानत्रयी के प्रसंग में प्रस्थान शब्द का अर्थ प्रकृष्ट स्थान अर्थात् मूल आधार किया जा सकता है। वेदान्तदर्शन के सभी आचार्यों ने इन्हीं तीन ग्रन्थों पर अपने भाष्य लिखकर आचार्य की पदवी को प्राप्त किया है। प्रस्थान शब्द प्र उपसर्ग पूर्वक् स्था धातु से ल्युट् प्रत्यय करके बना है। कोश ग्रन्थों में प्रस्थान शब्द का अर्थ प्रयाण करना, कूच करना, पहुंचना, प्रणाली, पद्धति आदि किया गया है।[26] शब्दकल्पद्रुम में भी प्रयाण अर्थ ही किया गया है।

प्र उपसर्ग पूर्वक् काश् धातु से अच् प्रत्यय करके बने हुए प्रकाश शब्द का प्रयोग पुलिंग और नपुंशक लिंग दोनों में होता है। शब्दकल्पद्रुम में प्रकाश शब्द का अर्थ *'प्रकाशते'* इति किया गया है। जिसका अर्थ है- आतप, प्रदीप्त, स्फुट, स्पष्ट, प्रकट, व्यक्त आदि।

विचारणा अर्थ में विमर्श(र्ष) शब्द वि उपसर्ग पूर्वक् मृ(श् या ष्) धातु से घञ् प्रत्यय करके बनता है।[27] शैवदर्शन में विमर्श शब्द अधिक व्यापकता लिए हुए है। यहाँ मृश् धातु 'स्पर्श करना' अर्थ में प्रयुक्त हुई है अर्थात् मन से स्पर्श करना। परमशिव प्रकाशमात्र नहीं है, उसे अपने चैतन्य की भी चेतना है। विमर्श परम सत् की शुद्ध आत्मचेतना है। इसी विमर्श के द्वारा ही सृष्टि, स्थिति और संहार आदि क्रियायें होती हैं। सृष्टि, स्थिति और संहार विमर्श की तीन अवस्थाएँ हैं।[28]

---

[25] भग.गी.भूमिका,पृ.5
[26] पारिजात कोश
[27] शब्दकल्पद्रुम
[28] प्र.हृ.पृ.101

प्रथम अध्याय

प्रस्थानत्रयी का परिचय तथा अद्वैतवेदान्त की परम्परा

1.1 प्रस्थानत्रयी

वेदान्तदर्शन के तीन प्रस्थान हैं। श्रौत-प्रस्थान उपनिषद् हैं, जो वेद के ही अंग हैं। दूसरा स्मार्त-प्रस्थान, जो कि श्रीमद्भगवद्गीता है और तीसरा प्रस्थान दार्शनिक है, जो वेदव्यास प्रणीत ब्रह्मसूत्र है। इन प्रस्थानत्रय के आधार पर समस्त वेदान्त साहित्य की रचना हुई है। इन्हीं पर भाष्य लिखकर महात्माओं और धर्मप्रवर्तकों ने आचार्य की पदवी प्राप्त की है। देश की यही प्रणाली थी कि प्रस्थानत्रय पर भाष्य रचकर अपने सिद्धांतों की पुष्टि एवं प्रचार किया जाता था। इनका समन्वय भाष्यों द्वारा किये बिना किसी सिद्धान्त को वेद या धर्ममूलक कहने का कोई साहस नहीं कर सकता था। अर्थात् सिद्धांत प्रतिपादक स्वतंत्र ग्रंथ रचना की अपेक्षा प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखने को अधिक महत्त्व दिया गया था। और भाष्यों के समन्वय से मत की पुष्टि की जाती थी।[1]

क- ब्रह्मसूत्र

ब्रह्मसूत्र के लिए *'सूचनात्सूत्रमित्याहुः'* इस आप्तवचन का प्रयोग किया गया है, जो परब्रह्म का सूचक है। शंकराचार्य ने कहा है- *'वेदान्तवाक्य कुसुमग्रन्थनार्थत्वात् ब्रह्मसूत्राणाम्'* अर्थात् जैसे सूत्र में पुष्पों को गूँथकर सुन्दर माला बनायी जाती है। उसी प्रकार ब्रह्मसूत्रों के द्वारा वेदान्त रूपी कुसुमों का ग्रन्थन कर ब्रह्मसूत्र पर मनोहर माला का निर्माण किया गया है। तात्पर्य यह है- ब्रह्मसूत्रों के द्वारा उपनिषद् वाक्यों के ही यथार्थ अभिप्राय को बताया गया है। उपनिषद् के विषय परस्पर विरोधाभास लिए हुए दिखायी देते हैं। कभी सगुण ब्रह्म का तो कभी निर्गुण ब्रह्म का निरूपण। कहीं शिव का तो कहीं विष्णु के अवतारों की चर्चा करते हैं। इस सबका मूल अर्थ ब्रह्मसूत्र में प्रतिपादित

[1] भग.गी.गीताप्रेस भूमिका, पृ.5

किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में ब्रह्मसूत्र का उल्लेख होने से ज्ञात होता है कि ब्रह्मसूत्र की रचना श्रीमद्भगवद्गीता से पूर्व हो चुकी थी। - *'ब्रह्मसूत्र पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः'।*[2]

ब्रह्मसूत्र को न्यायप्रस्थान कहने का आशय है कि उपनिषद् के प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म को न्याय की तार्किक शैली में प्रस्तुत करना। ब्रह्मसूत्र के प्रणेता आचार्य बादरायण माने जाते हैं। ब्रह्मसूत्र के भाष्य में आचार्य शंकर ने उल्लेख किया है कि *'उत्तरं भगवान् बादरायण आचार्यः पठति अनावृत्ति शब्दादनावृत्ति शब्दात्'।*[3] इसके अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र में *'तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्'*[4] तथा में *'भावं तु बादरायणोऽस्ति हि'*[5] में भी बादरायण का उल्लेख होने से ब्रह्मसूत्र के रचयिता बादरायण ही सिद्ध होते हैं। ब्रह्मसूत्र को अनेक अन्य नामों से भी जाना जाता है। जैसे वेदान्तसूत्र, उत्तरमीमांसा सूत्र, भिक्षुसूत्र, शारीरकसूत्र आदि। ब्रह्मसूत्र कुल चार अध्यायों में विभाजित किया गया है। 1- समन्वयाध्याय 2- अविरोधाध्याय 3- साधनाध्याय 4- फलाध्याय[6]

वेदान्तसूत्र; क्योंकि इसमें उपनिषद् जो कि वेद का निष्कर्ष रूप होने से वेदान्त के रूप में जाना जाता है, को सूत्रात्मक रूप में स्पष्ट किया गया है। शारीरकसूत्र- *'शरीरमेव शरीरकम् तत्र भवः शारीरको जीवः'* अर्थात् जीव की प्रकृति एवं स्वरूप का उल्लेख सूत्रात्मक ढंग से करने के कारण शारीरक सूत्र कहलाता है। भिक्षुसूत्र- जिज्ञासु सन्यासी(भिक्षु) अधिकारियों के लिये समर्पित। उत्तरमीमांसासूत्र- वेद के उत्तरभाग ज्ञानकाण्ड पर आधारित तथा सूत्र रूप में उपनिबद्ध होने के कारण उत्तरमीमांसा सूत्र कहलाता है। ब्रह्मसूत्र में कुल चार अध्याय, 16 पाद, 189 अधिकरण, 554 सूत्र हैं। अधिकरण का तात्पर्य है, प्रकरण या विषय। एक विषय को प्रतिपादित करने वाले सूत्रों की समष्टि अधिकरण है। अधिकरण पाँच अंगों से युक्त होता है, विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष तथा प्रयोजन।

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।

---

[2] भग.गी.13.5

[3] ब्र.सू.शां.भा.4.4.22

[4] ब्र.सू.1.3.26

[5] ब्र.सू.1.3.33

[6] प्रमेयं च कृत्स्नशास्त्रस्य ब्रह्म, अध्यायानां तु समन्वयाविरोधसाधनफलानि-ब्र.सू.शां.भा.पृ.9

प्रयोजनश्च पञ्चैतत् पाञ्चोऽधिकरणं विदु:॥[7]

भाष्यकार शंकराचार्य- यद्यपि शंकराचार्य से पूर्व भी ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य रचना हुई है। किन्तु सर्वाधिक प्राचीन उपलब्ध भाष्य शंकराचार्य का 'शारीरकभाष्य' ही है। शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। आचार्यशंकर का समय विद्वानों ने ई. 788 से 820 ई. निर्धारित किया है। इसका प्रकाशन निर्णयसागर प्रेस बम्बई द्वारा 1938 में किया गया।

भास्कराचार्य- भास्कराचार्य का समय ई. 900 से 1000 ई. सन् निर्धारित किया जाता है। इन्होंने 'भेदाभेद' सम्प्रदाय का प्रतिपादन करते हुए 'भास्करभाष्य' की रचना की। इसका प्रकाशन सर्व प्रथम चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, वाराणसी से हुआ।

रामानुजाचार्य- आचार्य रामानुज ने 'विशिष्टाद्वैत' मत का प्रतिपादन किया और 'श्रीभाष्य' की रचना की। इनका समय 1017 ई. से 1137 ई. के मध्य निर्धारित किया जाता है। श्रीभाष्य का प्रकाशन 1909-10 ई. में मद्रास से हुआ।

मध्वाचार्य- 'पूर्णप्रज्ञ-भाष्य' के रचयिता आचार्य मध्व का समय 1197 ई. से 1276 ई. सन के मध्य माना जाता है। इनके द्वारा द्वैतवाद का प्रतिपादन किया गया। इनके भाष्य का प्रकाशन 1881 ई. में कलकत्ता से हुआ।

निम्बार्काचार्य- आचार्य निम्बार्क ने द्वैताद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हुए 'वेदान्तपारिजात' नामक भाष्य की रचना की। इसका प्रकाशन 1932 ई. में बनारस से हुआ। आचार्य निम्बार्क का स्थिति काल 12वीं शताब्दी माना जाता है।

आचार्य श्रीकण्ठ- आचार्य श्रीकण्ठ द्वारा 'शैवभाष्य' की रचना की गयी। इन्होंने 'शैवविशिष्टाद्वैत' का प्रतिपादन किया। इस भाष्य का प्रकाशन श्रीमती डॉ. रोमा चौधरी द्वारा 1959 ई. में कलकत्ता से अंग्रेजी अनुवाद सहित किया गया।

श्रीपति- श्रीकर भाष्य के रचयिता आचार्य श्रीपति का समय 14वीं शताब्दी निर्धारित किया जाता है। इनके द्वारा 'वीरशैव-विशिष्टाद्वैत' का प्रतिपादन किया गया। यह भाष्य दो भागों में 1936 ई. में सी.एच.राय द्वारा बंग्लौर से प्रकाशित किया गया।

---

[7] चतु:सूत्री शांकरभाष्य, अनु.आचार्य विश्वेश्वर,पृ.17

वल्लभाचार्य- आचार्य वल्लभ द्वारा शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन करते हुए 'अणुभाष्य' की रचना की गयी। आचार्य का समय चौदहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण और पन्द्रहवीं शताब्दी का प्रथम चरण इनके मध्य अवस्थित माना जाता है। अणुभाष्य का प्रकाशन वर्ष 1921 में गवर्मण्ट सेंटर प्रेस बम्बई द्वारा किया गया।

विज्ञानभिक्षु- 16वीं शताब्दी के आचार्य विज्ञानभिक्षु द्वारा अविभागाद्वैत का प्रतिपादन करते हुए 'विज्ञानामृत' नामक भाष्य की रचना की गयी। इस भाष्य का प्रकाशन श्रीहरिकृष्ण दास विद्याविलास प्रेस चौखम्भा काशी से वर्ष 1901 ई. में हुआ।

बलदेवाचार्य- आचार्य बलदेव विद्याभूषण 17वीं शताब्दी के विद्वान हैं। और इनके द्वारा अचिन्त्यभेदाभेद का प्रतिपादन करते हुए 'गोविन्दभाष्य' की रचना की गयी।[8]

ब्रह्मसूत्र का रचना काल निर्धारित करने के सन्दर्भ में विद्वानों में परस्पर मतभेद पाया जाता है।

1-जैकोबी के मत में ब्रह्मसूत्र की रचना 250 से 450 ई. के भीतर हुई।

2-कीथ के अनुसार ब्रह्मसूत्र का समय अधिकतम 200 शताब्दी ई. हो सकता है।

3-फ्रेजर ने ब्रह्मसूत्र का समय 400 BC निर्धारित किया है।

4-मैक्समूलर ने 300 ई.पू. स्वीकार किया है।

5-अभय कुमार गुहा ब्रह्मसूत्र का समय 600 ई.पू. मानते हैं।

6-सेन दास गुप्ता के अनुसार ब्रह्मसूत्र का समय 200 ई.पू.है।

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की टीकाएँ

आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की रचना की। इस भाष्य पर अद्यावधि 17 से अधिक टीकाएँ लिखी गयी हैं।[9] ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की इन टीकाओं के अध्ययन से अद्वैतवेदान्त के अध्येताओं को एक स्पष्ट दृष्टिकोण प्राप्त हो सकती है।

---

[8] ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में पंचभूत निरूपण, लघु शोधप्रबन्ध, कल्पना, पृ.15

भामती–वाचस्पतिमिश्र, पंचपादिका–पद्मपाद, रत्नप्रभा–रामानन्दयति या गोविन्दानन्द, भाष्यभावप्रकाशिका–चित्सुखाचार्य, भाष्यन्याय संग्रह–प्रकाशात्मयति, न्यायनिर्णय-आनन्दगिरि, ब्रह्मविद्याभरण–अद्वैतानन्द, प्रदीप–आनन्दकृष्ण शास्त्री, शारीरकन्यायमणिमाला-अनन्यानुभव, शारीरकन्यायमणिमाला–अनुभूतिस्वरूपाचार्य, भाष्यसिद्धांतसंग्रह – उपनिषद्-ब्रह्मेन्द्र, विद्याश्री–ज्ञानोत्तम, भाष्यभानुप्रभा–त्रयम्बकशास्त्री, भाष्यवार्तिक–नारायणसरस्वती, भाष्यार्थसंग्रह–ब्रह्मानन्दयति, सुबोधिनी–शिवनारायण, भाष्यसिद्धांतसंग्रह–कृष्णानुभूति[10]

ख- श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमद्भगवद्गीता में उपनिषदों का सार निहित है। वर्तमान जीवन में श्रीमद्भगवद्गीता की महत्ता को किन शब्दों में प्रतिपादित किया जाय, यह एक कठिन कार्य है। मुमुक्षु व्यक्तियों के लिए श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात ज्ञानदेवी के समान है। श्रीमद्भगवद्गीता पर जितना गहन चिन्तन मनन किया जाय उतना ही कम है।[11] आत्मविद्या के गूढ़ और पवित्र तत्त्वों को थोड़े में और स्पष्ट रीति से समझा देने वाला, उन्हीं तत्त्वों के आधार पर मनुष्य मात्र के पुरुषार्थ की अर्थात् आध्यात्मिक पूर्णावस्था की पहचान करा देने वाला, भक्ति और ज्ञान का मेल करके इन दोनों का शास्त्रोक्त व्यवहार के साथ संयोग करा देने वाला और इसके द्वारा संसार से त्रस्त मनुष्य को शान्ति देकर उसे निष्काम कर्तव्य के आचरण में लगाने वाली, श्रीमद्भगवद्गीता के समान बालबोध ग्रन्थ, संस्कृत की कौन कहे, समस्त संसार के साहित्य में भी नहीं मिल सकता है। केवल काव्य की दृष्टि से यदि इसकी परीक्षा की जाय तो भी यह ग्रन्थ उत्तम काव्यों में गिना जा सकता है।[12] श्रीमद्भगवद्गीता आत्मबोध का एक सरलतम शास्त्र है। यही कारण है कि श्रीमद्भगवद्गीता आज सम्पूर्ण विश्व के विद्वानों का आकर्षण केन्द्र है। शताब्दियों से श्रीमद्भगवद्गीता हिन्दू धर्म का एक प्राचीन ग्रन्थ माना जाता रहा है। जिसकी प्रामाणिकता उतनी ही है, जितनी उपनिषद्

---

[9] **Advaita Vedanta Literature- A Bibliographical Survey, R.Thagswami, Pg 220**
[10] आचार्य शंकरकृत ब्रह्मसूत्र अध्यासभाष्य, लघु शोधप्रबन्ध, कपिल गौतम, पृ.21
[11] आयुतत्त्व विमर्श:, वैद्य दिनकर यशवन्त कवडीकर, पृ.**66**
[12] गीता रहस्य,पृ.**1**

और ब्रह्मसूत्र की प्रामाणिकता है और इन तीनों को मिलाकर ही प्रस्थानत्रयी कहा जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता एक अद्भुत ग्रन्थ है। विश्व के धार्मिक तथा आध्यात्मिक ग्रन्थों में उसका अनुपम स्थान है। श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत के भीष्मपर्व के 25वें अध्याय से 42वें अध्याय तक का अंश है। इस प्रकार इसमें 18 अध्याय और 700 श्लोक हैं। महाभारत का अंश होते हुए भी वह अपने आप में एक ऐसा सम्पूर्ण ग्रन्थ रत्न है कि जिसको भारतीय संस्कृति के सनातन धर्म का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है।

विषय की प्रधानता के आधार पर श्रीमद्भगवद्गीता के अध्यायों का नामकरण भी किया गया है जैसे-

प्रथम अध्याय	-	अर्जुन विषाद योग
द्वितीय अध्याय	-	सांख्य योग
तृतीय अध्याय	-	कर्मयोग
चतुर्थ अध्याय	-	ज्ञान-कर्म-सन्यास योग
पंचम अध्याय	-	कर्म-सन्यास योग
षष्ठ अध्याय	-	आत्मसंयम योग
सप्तम अध्याय	-	ज्ञान-विज्ञान योग
अष्टम अध्याय	-	अक्षर ब्रह्म योग
नवम अध्याय	-	राजविद्या राजगुह्य योग
दश अध्याय	-	विभूति योग
एकादश अध्याय	-	विश्वरूप दर्शन
द्वादश अध्याय	-	भक्ति योग
त्र्योदश अध्याय	-	क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ योग

चतुर्दश अध्याय	-	गुणत्रय विभाग
पञ्चदश अध्याय	-	पुरुषोत्तम योग
षोडश अध्याय	-	सम्पद्विभाग योग
सप्तदश अध्याय	-	श्रद्धात्रय विभाग
अष्टादश अध्याय	-	मोक्ष संन्यास

श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत के मध्यभाग में प्रज्वलित एक दीपक के समान स्थित है, जिसका प्रकाश सारे महाभारत पर स्पष्ट दिखायी देता है।[13] श्रीमद्भगवद्गीता को उपनिषद् भी कहा जाता है; क्योंकि इसकी रचना की मूल प्रेरणा धर्मग्रन्थों के उस महत्त्वपूर्ण समूह से ली गयी है, जिसे उपनिषद् कहा जाता है।[14]

सर्वोपनिषदां गावो दोग्धा गोपालनन्दन:।

पार्थो वत्स: सुधीभोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥[15]

श्रीमद्भगवद्गीता में भारतीय दर्शन का नवनीत प्रस्तुत किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता संवादात्मक रूप में रचित आध्यात्मिक कविता है। विलियम वान हम्बोटट ने इसे सबसे अधिक सुन्दर और यथार्थ अंशों में संभवत: एक मात्र दार्शनिक गीत कहा है। इसे भारतीय विचारधारा या चिन्तन सरणि का सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रभावशाली ग्रन्थ माना गया है, जिसमें लेखक ने मोक्ष के मार्ग को अत्यंत ऋजु बना दिया है।[16]

श्रीमद्भगवद्गीता काव्यमय दर्शन का रूप प्रस्तुत करते हुए भारतीय तत्त्वज्ञान के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसमें जीवन का तत्त्वान्वेषण इस रूप में किया गया है, जो

---

[13] अरविंद के आलोक में श्रीमद्भगवद्गीता का दिव्य सन्देश, माहेश्वरी, पृ.2

[14] श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप, स्वामीप्रभुपाद, पृ.**3**

[15] श्रीमद्भगवद्गीता, राधाकृष्णन्, पृ.**17**

[16] भा.द., राधाकृष्णन, पृ.**478**

अनुपम है। यह उपनिषदों के रंग में रंगी हुई होकर भी अपने स्वतंत्र भवन पर खड़ी है, जिसे तत्त्वचिन्तकों ने उपनिषदों के आधार पर निर्मित किया है।[17]

श्रीमद्भगवद्गीता के प्रमुख टीकाकार

श्रीमद्भगवद्गीता एक अद्‌भुत ग्रन्थ है। वेद उपनिषदों का सार उसमें आ गया है। यही कारण है कि अद्वैती और द्वैती, शुद्धाद्वैती और विशिष्टाद्वैती, सभी उस पर मुग्ध हैं। शंकराचार्य हों या रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य हों या निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य हों या अन्य कोई आचार्य सबको श्रीमद्भगवद्गीता ने अपनी ओर आकृष्ट किया है। सबने अपने-अपने ढंग से उसकी व्याख्या की है, टीका की है एवं भाष्य किया है। सन्तज्ञानेश्वर हों या मधुसूदनाचार्य, तिलक, गाँधी या विनोबा हों, अरविन्द या राधाकृष्णन हों सबको श्रीमद्भगवद्गीता ने प्रेरणा दी है।[18]

श्रीमद्भगवद्गीता पर लिखे गये दो भाष्य मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं। ये दो भाष्य हैं- शांकरभाष्य और रामानुज भाष्य। इसके अतिरिक्त लगभग 10 भाष्य और टीकायें उपलब्ध होते हैं, जिन्हें विद्वानों की स्वीकृति प्राप्त है। वे हैं-

आनन्दगिरि की शांकरभाष्य व्याख्या, वेदान्तदेशिक की तात्पर्यचन्द्रिक, श्रीमद् हनुमान का पैशाचभाष्यम्, जयतीर्थ की प्रमेय दीपिका, वल्लभाचार्य की तत्त्वदीपिका, पुरुषोत्तम जी की अमृततरंगिणी, यामुनमुनि का गीतार्थ संग्रह, महादेशिकाचार्य वेंकटनाथ की गीतार्थसंग्रह रक्षा।[19]

आचार्य मधुसूदन- इन्होंने गूढार्थदीपिका नामक श्रीमद्भगवद्गीता का भाष्य लिखा है।

श्रीमध्वाचार्य- इन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता पर दो ग्रन्थ- 'गीताभाष्य' और 'श्रीमद्भगवद्गीता तात्पर्य' लिखे हैं। इन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता में द्वैतवाद के सिद्धान्त को खोज निकालने का प्रयत्न किया है।

---

[17] सं.सा.इ., राजवंश सहाय हीरा, पृ.**215**

[18] गी.रसा., शिवानन्द, पृ.**1**

[19] भग.गी. शांकरभाष्य, शम्भुजनुगजानन शर्मा, पृ.4,5

निम्बार्क- इन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता पर एक टीका लिखी जिसका नाम तत्त्वप्रकाशिका है।[20]

श्रीधरस्वामी- मराठी भाषा में इस सम्प्रदाय का श्रीमद्भगवद्गीता सम्बन्धी सर्वोत्तम ग्रन्थ 'ज्ञानेश्वरी' है। ज्ञानेश्वर जी ने अपने ग्रन्थ के अन्त में स्वयं कहा है कि मैने श्रीमद्भगवद्गीता की यह टीका शंकराचार्य के भाष्य के अनुसार की है।[21]

बालगंगाधर तिलक- तिलक ने श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य नामक एक अनोखा ग्रन्थ लिखकर भारतीय दर्शन को एक अमूल्य निधि दी है। श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य में तिलक मे मौलिक दार्शनिक विचारों का विवेचन है। तिलक के अनुसार श्रीमद्भगवद्गीता में योग शब्द का अर्थ कर्मयोग है। उन्होंने कर्मयोग को श्रेयस्कर बताया है।[22]

श्री अरविन्द- इन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता पर एक निबन्ध की रचना की है, जिसका नाम है 'एस्सेज ऑन गीता' जिसका अनुवाद भारतीय और पाश्चात्य भाषाओं में भी हो चुका है। भारतीय अनुवादों के नाम हैं- श्रीमद्भगवद्गीता प्रबन्ध, श्रीमद्भगवद्गीता निबन्ध।[23]

ग- उपनिषद्

वैदिक साहित्य की रचना 4000 ई.पू. मानी जाती है। इस वैदिक साहित्य को विषय की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किया जाता है- कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। विश्व के मूल तत्त्व का विचार ज्ञानकाण्ड में किया गया है। कर्म और उपासना उस तत्त्व को प्राप्त करने की योग्यता प्रदान करते हैं। इसलिए वे साधन स्वरूप हैं और ज्ञान सिद्धान्त है। वेद के ज्ञानकाण्ड का नाम ही उपनिषद् है। इन्हें वेदान्त भी कहा जाता है। अत: यह निर्विवाद है कि ब्रह्मविद्या के आदि स्रोत उपनिषद् ही हैं।[24]

उप् तथा नि उपसर्ग पूर्वक एवं क्विप् प्रत्ययान्त सद् धातु से उपनिषद् शब्द बनता है। सद् धातु के तीन अर्थ किये जाते हैं- विशरण(नाश), गति(प्राप्ति), अवसादन(अन्त)। इस

---

[20] गी.रह., तिलक पृ.**17**
[21] भग.गी., श्रीधरस्वामीकृतसुबोधिनी टीका, पृ.**67**
[22] गी.रह., तिलक, भूमिका, पृ.**1-20**
[23] गीता में प्रतिपादित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार, अंजली मनोचा, पृ.19
[24] ईशा.उ.तारणीश झा,पृ.1

प्रकार उपनिषद् शब्द का अर्थ, वह ज्ञान जिससे अविद्या का नाश, दु:खों का अन्त तथा आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है।

उपनिषदों का महत्त्व वैदिक मतावलम्बियों को ही मान्य हो ऐसी बात नहीं है। बल्कि अनेक विदेशी विद्वानों ने भी इसके महत्त्व को स्वीकार किया है। सन् 1640 ई. में दाराशिकोह अपनी काश्मीर यात्रा में इन्हें देखकर इनकी ओर आकर्षित हुआ। फलत: वाराणसी के पण्डितों को बुलाकर इनका फारसी में रूपान्तर कराया।[25] पश्चिमी विद्वान् मैक्समूलर का कहना है- 'The Upanishads are the sources of the Vedanta philosophy, a system in which human speculation seems to me have reached its very aim'. अर्थात् उपनिषदें वह तत्त्व हैं, जो वेदान्त दर्शन के आदि स्रोत हैं और ये ऐसे निबन्ध हैं जिनमें मुझे भावी भावना अपने उच्चतम शिखर पर पहुँची हुई दिखायी देती है।

शोपेनहर का कथन है- 'In the world there is no study….So beneficial and so elevating as that of Upnishads …. They are a product of highest wisdom….it is destined sooner or later to become the faith of the people'. अर्थात् सारे संसार में ऐसा कोई स्वाध्याय नहीं है, जो उपनिषदों के समान उपयोगी और उन्नति की ओर ले जाने वाला हो। वे उच्चतम बुद्धि की उपज हैं। आगे या पीछे एक दिन ऐसा होना ही है कि यही जनता का धर्म होगा।[26]

उपनिषदों की संख्या दो सौ से अधिक मानी जाती है। किन्तु प्रामाणिक उपनिषदों में एकादश उपनिषदों का नाम लिया जाता है। दश उपनिषदों में ईशावास्योपनिषद्, केनोपनिषद्, कठोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, ऐतरेयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद् तथा श्वेताश्वतर उपनिषद्। इन्हीं एकादश उपनिषदों पर आचार्य शंकर का भाष्य प्राप्त होता है। आचार्य शंकर ने अपने भाष्यों में कौषीतकि उपनिषद् को भी प्रमाण के रूप में उल्लेख किया है। इसलिए कुछ विद्वान् कौषीतकि उपनिषद् को भी प्रामाणिक उपनिषदों की कोटि में रखते हैं।

---

[25] वहीं.पृ.3
[26] वहीं,पृ.3

1.2 आचार्य शंकर का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

आचार्य शंकर का जन्म केरल प्रदेश के नामपुद्रि नामक एक उच्च ब्राह्मण कुल में हुआ था। नामपुद्रि के विषय में स्वामी अपूर्वानन्द का मत है कि नामपुद्रि के स्थान पर नामपुरि अर्थ अधिक अर्थवाचक है; क्योंकि मलयालम भाषा में *'नामप्'* शब्द का अर्थ *'विश्वास'* और पूरि का अर्थ *'पूर्ण होना'* है। अर्थात जो ब्राह्मण परिवार शास्त्र-विश्वास में पूर्ण है। वही नागपुरि या नामपुद्रि ब्राह्मण है।[27] आचार्य शंकर की जन्म भूमि आलवाई नदी के किनारे कालाडी ग्राम में स्थित है। आचार्य शंकर के पिता शिवगुरु एवं माता का नाम विशिष्टा देवी था। आचार्य शंकर का जन्म 686 ई. में वैशाख शुक्ल तृतीया के शुभ मध्याह्न काल में हुआ था। आचार्य शंकर के जन्मवर्ष, तारीख और तिथि के सम्बन्ध में कुछ मतभेद भी है। किसी-किसी के मत में 788 ई. की वैशाख शुक्ल पंचमी शंकर की जन्म-तिथि है।[28] आचार्य शंकर आगे चलकर श्री गौडपादाचार्य के शिष्य श्री गोविंदपाद के शिष्य के रूप में विख्यात हुए। आचार्य शंकर बाल्यकाल से ही मेधावी प्रतिभा के धनी थे। इन्होंने 8 वर्ष की अवस्था में ही चारों वेदों का अध्ययन पूर्ण कर लिया था। उनके सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध श्लोक है -

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रविद्।

षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥[29]

गोविन्द भगवत्पाद आचार्य गौडपाद के शिष्य थे। गौडपाद के गुरु शुकदेव, शुकदेव के गुरु कृष्णद्वैपायन व्यास, वेदव्यास के गुरु पराशर, पराशर के शक्ति, शक्ति के वसिष्ठ, वसिष्ठ के ब्रह्मा, ब्रह्मा के गुरु नारायण माने जाते हैं।[30]

आचार्य शंकर की शिष्य श्रृंखला में चार शिष्यों का नाम प्रमुखता से लिया जाता है।

---

[27] आचार्य शंकर, स्वामी अपूर्वानन्द, पृ.3

[28] वहीं,पृ.4

[29] वे.सि.मु.स.अ., ललित कुमार गौड़, पृ.14

[30] नारायणं पद्मभवं वशिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्र पराशरं च। व्यासं शुकं गौडपादं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्।-आचार्यास्तव-3,वेदान्तदर्शन का इतिहास, पृ.124

पद्मपाद- इन्हें गोवर्धनमठ का अध्यक्ष बनाया गया था। इन्होंने शारीरकभाष्य पर पंचपादिका नामक प्रसिद्ध टीका लिखी है। **हस्तामलक**- इन्हें श्रृंगेरीमठ का अध्यक्ष नियुक्त किया गया था। इन्होंने हस्तामलक स्तोत्र की रचना की है। **तोटकाचार्य**-(श्रुतिधर)- इन्हें ज्योतिषपीठ का अध्यक्ष नियुक्त किया गया था। इन्होंने तोटक छन्द में ही तोटक स्तोत्र की रचना की थी। **सुरेश्वराचार्य**- ये शारदापीठ के अध्यक्ष के रूप में नियुक्त थे। इन्होंने नैष्कर्मसिद्धि, बृहदारण्यक-उपनिषद्-भाष्य-वार्तिक, पंचीकरण वार्तिक, आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की। तैत्तिरीय-उपनिषद्-भाष्य-वार्तिक, प्रणवार्थ-कारिका, मानसोल्लास, आदि ग्रन्थ इनके द्वारा ही रचित हैं। वेदान्तसार-वार्तिक-सारसंग्रह, लघुवार्तिक, मोक्षनिर्णय आदि। अद्वैतवाद में इनका आभासवाद सिद्धांत प्रसिद्ध है।

आचार्य शंकर प्रस्थानत्रयी के आद्यभाष्यकार हैं। आचार्य शंकर द्वारा प्रस्तुत उपनिषदों के व्याख्यान को थीवो, गफ एवं जैकोबी आदि विदेशी विद्वानों ने अत्यधिक संतोष जनक बताया है। आचार्य शंकर ने सनातन धर्म की रक्षा के लिए चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना की है।

शारदामठ : शारदामठ के आम्नाय का नाम पश्चिमाम्नाय है। संप्रदाय का नाम कीटवार, क्षेत्र का नाम द्वारका, अधिदेवता का नाम सिद्धेश्वर है। देवी- भद्रकाली, आचार्य- हस्तामलक, तीर्थ- गोमतीतीर्थ, ब्रह्मचारी- स्वरूप, वेद- सामवेद, महावाक्य- तत्त्वमसि (छान्दोग्य-उपनिषद्), जो जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञापक है। गोत्र- अधिगत, पदवी- तीर्थ और आश्रम।

गोवर्धनमठ : गोवर्धनमठ के आम्नाय का नाम पूर्वाम्नाय है। संप्रदाय का नाम भोगवार, क्षेत्र का नाम- पुरुषोत्तम, देवता- जगन्नाथ, देवी- विमला, आचार्य- पद्मपाद, तीर्थ- महोदधि, पदवी- वन और अरण्य, ब्रह्मचारी- प्रकाश, महावाक्य- प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐतरेय-उपनिषद्), वेद- ऋग्वेद, गोत्र- काश्यप

ज्योतिर्मठ : ज्योतिर्मठ के आम्नाय का नाम उत्तराम्नाय है। संप्रदाय का नाम आनन्दवार अर्थात सिद्धिदाता है। पदवी- गिरि, पर्वत, सागर, क्षेत्र- बदरिकाश्रम, देवता- नारायण, देवी- पूर्णागिरि, आचार्य- तोटक, तीर्थ का नाम- अलकनन्दा, ब्रह्मचारी- आनन्दाख्य, महावाक्य- अयमात्मा ब्रह्म (माण्डूक्य-उपनिषद्), वेद- अथर्ववेद, गोत्र- भृगु।

श्रृंगेरीमठ- श्रृंगेरीमठ के आम्नाय का नाम श्रृंगेरी मठाम्नाय है। सम्प्रदाय का नाम भूरिवार है, गोत्र- भूर्भुवः, पदवी- सरस्वती, भारती, पुरी। क्षेत्र- रामेश्वर, देवता- आदिवाराह, देवी- कामाक्षी, आचार्य- सुरेश्वर, तीर्थ- तुंगभद्रा, ब्रह्मचारी- चैतन्याख्य, वेद- यजुर्वेद, महावाक्य-अहं ब्रह्मास्मि (बृहदारण्यक-उपनिषद्)

रचनाएँ- शंकराचार्य की रचनाएँ चार भागों में विभक्त हैं-

(१) भाष्य-ग्रन्थ

(२) प्रकरण-ग्रन्थ

(३) स्तोत्र-ग्रन्थ

(४) तंत्र-ग्रन्थ

भाष्य-ग्रन्थों को दो भागों में बांटा जा सकता है।

१- प्रस्थानत्रयी भाष्य

क- ब्रह्मसूत्र भाष्य

ख- श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य

ग- उपनिषद् भाष्य

क- **ब्रह्मसूत्र-भाष्य**- बादरायण ने ब्रह्मसूत्र को सूत्र शैली में उपनिबद्ध किया है। सूत्र शैली अल्पाक्षर होने से उसे समझना साधारण विद्वानों के वश की बात नहीं है। इसलिए सूत्र ग्रन्थों पर आचार्यों ने भाष्य की रचना की है। इसी क्रम में आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य की रचना की। इस भाष्य को शारीरकभाष्य एवं शांकरभाष्य आदि नामों से भी जाना जाता है। ब्रह्मसूत्र पर आचार्य शंकर के भाष्य का अध्ययन करने पर विषय का बोध आसानी से हो जाता है। आचार्य ने इस भाष्य की रचना में श्रुति ग्रन्थों से भी प्रमाण एकत्रित किए हैं।

ख- **श्रीमद्भगवद्गीता-भाष्य**- श्रीमद्भगवद्गीता पर आचार्य शंकर का श्रेष्ठतम भाष्य है। भाष्य करते समय आचार्य ने अध्याय के प्रारम्भ में अपने दृष्टिकोण को समझाया है और आचार्यों के मतों की समालोचना भी की है। आचार्य ने किसी भी श्लोक का भाष्य करते समय उस श्लोक में विद्यमान् शब्दों के क्रम का त्याग नहीं किया है। उन शब्दों की उसी

क्रम से व्याख्या कर दी है। आचार्य यह मानते हैं कि श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञान से ही मुक्ति मानी गई है, न कि ज्ञान और कर्म के समुच्चय से।[31]

ग- उपनिषद्-भाष्य- आचार्य शंकर ने 10 प्रमुख उपनिषदों पर अपने भाष्य की रचना की है। ईशोपनिषद्, केनोपनिषद्, कठोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद् ऐतरेयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् तथा बृहदारण्यकोपनिषद्। इसके अतिरिक्त श्वेताश्वतर उपनिषद् पर भी आचार्य ने भाष्य किया है। किन्तु कुछ आचार्य श्वेताश्वतर उपनिषद् के भाष्य को शंकराचार्य विरचित होने में संदेह करते हैं। शंकराचार्य के भाष्य को आधार बनाकर आज भी उन्हीं 11 उपनिषदों को प्रमुख उपनिषद् की श्रेणी में रखा जाता है। आचार्य द्वारा लिखित भाष्यों के संदर्भ में डॉ.एस.एन.दास गुप्त का कथन है कि 'The most important works of Sankara are his commentaries on the ten Upanishads – Isa, Kena, Katha, Prashna, Mundaka, Mandukya, Aitreya, Taittiriya, Chandogya and Brhad-aranyaka and the Sariraka mimamsa-bhasya'[32]

आचार्य ने प्रस्थानत्रयी के अतरिक्त अन्य ग्रन्थों पर भी भाष्य की रचना की है।

क- **विष्णुसहस्त्रनाम भाष्य**- आचार्य ने विष्णुसहस्त्रनाम भाष्य में प्रत्येक नाम की युक्ति युक्त व्याख्या की है तथा इसकी पुष्टि में उपनिषद्, पुराण आदि ग्रन्थों का प्रमाण उद्धृत किया है।[33]

ख- **सनत्सुजातीय भाष्य**- धृतराष्ट्र के मोह को दूर करने के लिए सनत्सुजात ऋषि ने जो आध्यात्मिक उपदेश दिया था। वह महाभारत के उद्योग पर्व में वर्णित है। इसे सनत्सुजातीय पर्व कहते हैं। इसी पर्व का यह भाष्य है।[34]

---

[31] गीतासु केवलादेव तत्त्वज्ञानात् मोक्षप्राप्ति:, न कर्म समुच्चितात्। इति निश्चितोऽर्थ। गीताभाष्य का उपोद्घात्, वे.सि.मु.स.अ., पृ.15

[32] वे.सि.मु.स.अ.,पृ.15

[33] वहीं,पृ.16

[34] वहीं

ग- **ललिता-त्रिशती भाष्य**- भगवती ललिता के 300 नामों पर विस्तृत पांडित्यपूर्ण भाष्य किये हैं। आचार्य शंकर ललितादेवी के उपासक थे। इस ग्रन्थ में उपनिषदों तथा तंत्रों का प्रमाण उद्धृत कर नामों की बड़ी ही अभिराम तथा हृदयंगम व्याख्या की गई है।[35]

घ- **माण्डूक्यकारिका भाष्य**- शंकर के परम गुरु गौडपादाचार्य के माण्डूक्यकारिका पर यह भाष्य है। कतिपय विद्वान् इसे आचार्य की रचना होने में संदेह करते हैं। परन्तु उनकी युक्ति इतनी प्रबल तथा उपादेय नहीं है।

प्रकरण ग्रन्थ

आचार्य शंकर के द्वारा लिखे गये प्रकरण ग्रन्थों का विवेचन करने से पूर्व प्रकरण और ग्रन्थ शब्द की व्युत्पत्ति पर किञ्चित् विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। विद्वानों ने प्रकरण की परिभाषा निम्नलिखित प्रकार से दी है-

शास्त्रैकदेश सम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितं।

आहु: प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चित:॥[36]

हलायुध कोश में ग्रन्थ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है- *'ग्रन्थ्यते विरच्यते इति ग्रन्थ:'* (ग्रन्थ् + कर्मणि क) = ग्रन्थ:। आचार्य शंकर ने अनेक छोटे-छोटे प्रकरण ग्रन्थों की रचना किये हैं। इन प्रकरण ग्रन्थों में वेदान्त के साधनभूत वैराग्य, त्याग, शमादिषट्क सम्पत्ति तथा अद्वैतवेदान्त के मूल सिद्धांतों का विशद विवेचन किया है। आचार्य शंकर का प्रयास मुख्यत: सर्वसाधारण जनता तक अद्वैत का संदेश पहुंचाना था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये आचार्य शंकर ने मनोरम प्रकरण ग्रन्थों की रचना की है।[37] आचार्य शंकर के नाम से प्रसिद्ध प्रमुख ग्रन्थों का नाम क्रम से अधोलिखित है।

1- **अद्वैतपंचरत्न**- इसमें अद्वैत के प्रतिपादक पाँच श्लोक हैं। प्रत्येक पद्य के अन्त में *'शिवोऽहम्'* आता है। इस पुस्तक को आत्म-पंचक तथा अद्वैत-पंचक भी कहा जाता है।[38]

---

[35] वहीं
[36] वेदान्तसार, पराशरोपपुराण, **18.21-22,** त.सं.अनिता सेन,पृ.**6**
[37] वे.सि.मु.स.अ.,पृ.17
[38] वहीं

2- **अद्वैतानुभूति**- इस ग्रन्थ में अद्वैततत्त्व का 84 अनुष्टुपों में वर्णन है।[39]

3- **अनात्मश्री विगर्हण प्रकरण**- इस ग्रन्थ में आत्मतत्त्व का साक्षात्कार न करने वाले तथा विषय वासना में ही जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्तियों की निन्दा की गई है। इसमें श्लोकों की संख्या 18 है और प्रत्येक श्लोक के अन्त में *'येन स्वात्मानैव साक्षात्कृतोऽभूत'* आता है।[40]

4- **अपरोक्षानुभूति**- इस ग्रन्थ में अपरोक्ष अनुभव के साधन तथा स्वरूप का वर्णन है। श्लोकों की संख्या 144 है। इस ग्रन्थ में अनेक सुन्दर दृष्टांतों के माध्यम से अद्वैतवेदान्त के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है।

यथा मृति घटो नाम कनके कुण्डलाभिधा।

शुक्तौहि रजतख्यातिर्जीवशब्दस्तथा परे॥[41]

5- **आत्मबोध**- इस ग्रन्थ के 69 श्लोकों में आत्मा के स्वरूप का विशद विवरण है। अनेक उदाहरणों के माध्यम से सिद्ध किया गया है कि आत्मा शरीर, मन तथा इन्द्रियों से पृथक् है। बोधेन्द्र ने इस ग्रन्थ के ऊपर भाव प्रकाशिका नामक टीका भी लिखी है।

6- उपदेशपंचक- पाँच पद्यों में वेदान्त के आचरण का सम्यक् उपदेश किया गया है।[42]

7- उपदेशसाहस्री- बलदेव उपाध्याय के मत में इस ग्रन्थ का पूरा नाम *'सकलवेदोपनिषत्सारोपदेशसाहस्री'* है। इस नाम की दो पुस्तकें प्राप्त होती हैं। एक गद्य प्रबन्ध है, जिसमें गुरु-शिष्य के संवाद रूप में वेदान्त के तत्त्व गद्य में विशद रूपेण वर्णित हैं। दूसरा पद्य प्रबन्ध है, जिसमें वेदान्त के नाना विषयों पर 19 प्रकरण है। इसके अनेक पद्यों को सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्मसिद्धि में उद्धृत किया है। अत: इसके आचार्य शंकरकृत

---

[39] वहीं
[40] वहीं
[41] वहीं,पृ.18
[42] वहीं, पृ.18

होने में संदेह नहीं किया जा सकता है। रामतीर्थ ने गद्य एवं पद्य दोनों प्रबन्धों पर अपनी सरल व्याख्या लिखी है।[43]

8- एकश्लोकी- इसमें सिर्फ एक श्लोक में परम ज्योति का वर्णन है। डॉ.ललित कुमार गौड़ का कहना है कि इस नाम से दो श्लोक प्रसिद्ध हैं, जिनमें से एक के ऊपर गोपाल योगीन्द्र के शिष्य स्वयंप्रकाश यति का स्वप्नदीपन नामक व्याख्यान है।

9- कौपीनपंचक- इस ग्रन्थ में ऐसे ज्ञानी पुरुषों के व्यवहारों का वर्णन है, जो सदैव वेदान्ततत्त्व में रमण करते हैं। पंचक होने से संभव है कि इसमें भी पाँच श्लोक हों, जिसके प्रत्येक पद्य का अन्तिम चरण *'कौपीनवन्त: खलु भाग्यवन्त:'* है। इसी का नाम यतिपंचक भी है।

10- जीवन्मुक्तानन्द- इस ग्रन्थ में जीवन मुक्त पुरुष के आनन्द का ललित वर्णन है। इसके पद्य का अन्तिम चरण *'स मुनिनव्या मोहं अजति गुरुदीक्षाक्षततमं'* है।[44]

11- तत्त्वबोध- इस ग्रन्थ में वेदान्त के तत्त्वों का प्रश्नोत्तर रूप में संक्षिप्त गद्यात्मक वर्णन है।

12- तत्त्वोपदेश- इसके 87 अनुष्टुपों में तत् तथा त्वम् पद्यों के अर्थ का वर्णन किया गया है और गुरु उपदेश से आत्मतत्त्व की अनुभूति का वर्णन है।

13- धन्याष्टक- ब्रह्मज्ञान से जीवन को धन्य मानने वाले पुरुषों का सुन्दर वर्णन इस प्रकरण ग्रन्थ का विषय है।

14- निर्गुण मानसपूजा- इस प्रकरण ग्रन्थ में गुरु शिष्य के संवाद रूप में निर्गुण तत्त्व की मानसिक पूजा का विवरण मिलता है।

15- निर्वाणमञ्जरी- इस ग्रन्थ के 12 श्लोकों में शिवतत्त्व के स्वरूप का विवेचन किया गया है। प्रत्येक श्लोक के अन्त में कहीं *'शिवोऽहम्'* और कहीं *'तदेवाहमस्मि'* आता है।

अहं नैव मन्ता न गन्ता न वक्ता, न कर्ता न भोक्ता न मुक्ताश्रमस्थ:।

---

[43] वहीं

[44] वहीं, पृ.19

यथाहं मनोवृत्ति भेदत्व रूप:, तथा सर्ववृत्ति प्रदीप: शिवोऽहम्॥

16- निर्वाणषट्क- इसके अन्तरगत 6 श्लोकों में आत्मस्वरूप का वर्णन किया गया है। प्रत्येक श्लोक के चतुर्थ चरण के रूप में *'चिदानन्दरूप: शिवोऽहम् शिवोऽहम्'* आता है। इसमें *'नेति-नेति'* सिद्धांत का भी दृष्टान्तों के द्वारा विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है।

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दु:खं, न मन्त्रो न तीर्थो न वेदा: न यज्ञा:।

अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता, चिदानन्दरूप: शिवोऽहं शिवोऽहम्॥[45]

17- पंचीकरण प्रकरण- पंचीकरण अद्वैतवेदान्त का प्रसिद्ध सिद्धांत है, जो उपनिषद् के त्रिवृत्तकरण पर आधारित है। इस ग्रन्थ में आचार्य ने पंचीकरण प्रक्रिया का वर्णन गद्य में किया है। आचार्य सुरेश्वर ने इसके ऊपर वार्तिक की भी रचना की है, जिस पर शिवराम तीर्थ का विवरण मिलता है। इस विवरण पर भी 'आमरण' नाम की एक टीका लिखी गई है।

18- परापूजा- इसके छ: पद्यों में परमतत्त्व की पूजा का वर्णन है।

19- प्रबोध सुधाकर- इसमें वेदान्त तत्त्व का अत्यंत सुन्दर निरूपण किया गया है। इसमें 257 आर्या छंद है। इसकी भाषा बड़ी सरल एवं प्रांजल है।[46]

19- प्रश्नोत्तर रत्नमालिका- इसमें प्रश्नोत्तर शैली में वेदान्त के तत्त्वों का उपदेश है, जो कि 67 आर्या छन्द में वर्णित है।[47]

20- प्रौढ़ानुभूति- इस ग्रन्थ में आत्मतत्त्व का लम्बे-लम्बे 17 पद्यों में प्रौढ़ वर्णन प्राप्त होता है।

21- ब्रह्मज्ञानावली माला- इसके 21 अनुष्टुप श्लोकों में ब्रह्म का सरल वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ के कुछ श्लोकों में *'इति वेदान्त: डिण्डिम:'* पद्य आता है जैसे-

अहं साक्षीति यो विद्यात् विविच्यैव पुन: पुन:।

---

[45] वहीं, पृ.20
[46] वहीं
[47] वहीं

स एव मुक्तो विद्वान् स इति वेदान्त डिण्डिम:॥[48]

22- ब्रह्मानुचिन्तन- आचार्य शंकर ने इस ग्रन्थ के 29 पद्यों में ब्रह्म स्वरूप का वर्णन किया है।[49]

23- मणिरत्नमाला- इस ग्रन्थ के 22 श्लोकों में प्रश्नोत्तर शैली में सुन्दर उपदेश किया गया है।

24- मायापंचक- इसके 5 श्लोकों में माया का स्वरूप वर्णित है।

25- मुमुक्षुपंचक- इस ग्रन्थ के 5 श्लोकों में पुरुष का स्वरूप वर्णित है, जो कि शिखरिणी छन्द में है।

26- योगतारावली- इसके 29 पद्यों में हठयोग तथा राजयोग का प्रामाणिक वर्णन है।[50]

27- लघु वाक्यवृत्ति

28- वाक्यवृत्ति- इस ग्रन्थ के 53 श्लोकों में तत् एवं त्वम् पदों के वाक्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ का विशद विवेचन भलीभाँति किया गया है यथा-

घटद्रष्टाथ घटाद्भिन्न: सर्वथा न घटो यथा।

देहद्रष्टा तथा देहो नाहमित्यवधारय॥[51]

29- वाक्यसुधा- यह 43 श्लोकों का विद्वतापूर्ण ग्रन्थ है। इसमें आत्मा का स्वरूप वर्णन मार्मिक ढंग से किया गया है। जिसका आरम्भ निम्नलिखित पद्य से होता है-

रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद्दृश्यं दृष्टमानसम्।

दृश्याधीवृत्तय: साक्षी दृगेव न तु दृश्यते॥[52]

---

[48] वहीं
[49] वहीं,पृ.21
[50] वहीं
[51] वहीं

30- विज्ञाननौका- इस ग्रन्थ में आचार्य ने 10 पद्यों में अद्वैततत्त्व का निरूपण किया है।

31- विवेकचूड़ामणि- आचार्य शंकर द्वारा रचित विवेकचूड़ामणि अद्वैतवेदान्त का प्रसिद्ध प्रकरण ग्रन्थ है। इसमें कुल 581 पद्य हैं। अनेक सुन्दर दृष्टांतों के द्वारा इसमें अद्वैतवेदान्त के तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ में आचार्य ने माया की अनिर्वचनीयता को प्रतिपादित करते हुए लिखा है-

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो, भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।

साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो, महाद्भुतानिर्वचनीय रूपा॥[53]

32- वैराग्यपंचक- इस ग्रन्थ में आचार्य ने 522 श्लोकों में वैराग्य का नितांत साहित्यिक रसमय वर्णन किया है।[54]

33- शतश्लोकी- प्रस्तुत प्रकरण में 100 लम्बे-लम्बे पद्यों में वेदान्त के सिद्धांतों का विशद विवेचन है। यह ग्रन्थ विज्ञानात्मा, आनन्दकोश, जगन्मिथ्यात्व, कर्म-मीमांसा प्रकरण आदि 4 प्रकरणों में विभक्त है।

34- सदाचारानुसंधान- इस ग्रन्थ का दूसरा नाम '*सदाचारस्तोत्र*' भी है। इसके 55 श्लोकों में चित् तत्त्व का प्रतिपादन मिलता है।[55]

35- सर्ववेदान्त सिद्धांत सारसंग्रह- इस ग्रन्थ में 1006 श्लोक हैं। इसमें गुरु शिष्य के संवाद के रूप में अद्वैतवेदान्त का वर्णन है।

36- सर्वसिद्धांत सारसंग्रह- इसमें बहुदर्शनों तथा अवैदिक दर्शनों का श्लोकबद्ध वर्णन है।[56]

---

[52] वहीं,पृ.22
[53] वि.चू.111
[54] वे.सि.मु.स.अ.पृ.22
[55] वहीं
[56]वहीं, पृ.23

37- स्वात्मनिरूपण- गुरु-शिष्य संवाद रूप में इसमें आत्मतत्त्व का विवेचन विस्तार से किया गया है।[57]

38- स्वात्मप्रकाशिका- इसमें आत्मा के स्वरूप का सुबोध तथा सुन्दर निरूपण मिलता है। इसमें कुल 68 श्लोक हैं।

स्तोत्र ग्रन्थ

आचार्य शंकर यद्यपि अद्वैतवेदान्त के उपासक थे, जिसमें निर्गुण निराकार ब्रह्म की एक मात्र सत्ता स्वीकार की गई है। इसके बावजूद भी सगुण ब्रह्म में उनकी आस्था थी। उनके मस्तिष्क में हिन्दू देवी देवताओं के प्रति सम्मान की भावना विद्यमान् थी। इसीलिए इन्होंने अनेक देवी देवताओं की स्तुति में स्तोत्र ग्रन्थों की रचना की है। इस संदर्भ में उनके द्वारा रचित स्तोत्र ग्रन्थों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

1- **आनन्दलहरी**- इस ग्रन्थ में शिखरिणी छन्द में 20 पद्य हैं। इस स्तोत्र के पद्य बड़े ही सरस चमत्कारपूर्ण तथा मर्मस्पर्शी हैं।
2- **गोविंदाष्टक**- इस पर आनन्दतीर्थ की व्याख्या उपलब्ध होती है।[58]
3- **दक्षिणामूर्ति स्तोत्र**- यह ग्रन्थ 10 शार्दूलविक्रीडित छन्दों में निबद्ध है। इस पर सुरेश्वराचार्य ने मानसोल्लास नामक टीका लिखी है।[59]
4- **दशश्लोकी**- इस ग्रन्थ के संदर्भ में डॉ.एस.एन.दास गुप्त की धारणा निम्नवत है-

'His (shankara's) Chid-ananda-stava-raja called also Chid-anand-dasasloki or smply Dasa-sloki, has also a number of commentaries'.[60]

5- **षट्पदी**- इसका अपर नाम विष्णु-षट्पदी भी है। इसके ऊपर छ: टीकाएँ मिलती हैं, जिसमें एक टीका स्वयं शंकराचार्य की है।[61]

---

[57] वहीं
[58] वहीं
[59] वहीं
[60] वहीं
[61] वहीं,पृ.24

6- **चर्पट-पंजरिका**- इसके 17 श्लोकों में गोविन्द भजन का रसमय उपदेश है। इसके प्रत्येक श्लोक का एक टेक पद है- *'भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज मूढमते'*। इसके पद्य नितान्त सरस, सुबोध तथा गीतिमय हैं। इसका मोहमुद्गर नाम अधिक प्रसिद्ध है।

7- **द्वादश-पंजरिका**- इसमें 12 पद्य हैं। प्रथम पद्य का आरम्भ *'मूढ़ जहीहि धनागमतृष्णा'* से होता है। इन पद्यों की सुन्दरता नितांत श्लाघनीय है।

8- **हरिमीडे-स्तोत्र**- इस ग्रन्थ पर विद्यारण्य, स्वयंप्रकाश, आनन्दगिरि तथा शंकराचार्य के द्वारा लिखित टीकाएँ प्राप्त होती हैं।[62]

9- **मनीषा पंचक**- इस स्तोत्र में अनेक पद्य हैं। जिसके अन्तिम 5 पद्यों में *'मनीषा'* शब्द आता है। इस कारण इसका नाम मनीषा पंचक है।

10- **सोपान पंचक**- इसी का दूसरा नाम *'उपदेश-पंचक'* भी है। पाँच पद्यों के अन्तरगत वेदान्त सम्बन्धी आचरण का सम्यक् उपदेश वर्णित है।[63]

11- **शिवभुजंग प्रयात**- माधवाचार्य की मान्यता में आचार्य शंकर ने इन्हीं पद्यों के द्वारा अपनी माता के अन्तकाल में भगवान् शंकर की स्तुति की थी।[64]

तंत्र-ग्रन्थ

१- **सौन्दर्यलहरी**- कुछ विद्वानों के मत में कैलाश पर्वत पर स्वयं महादेव जी ने इस ग्रन्थ को आचार्य को दिया था। काव्य की दृष्टि से यह उतना ही प्रौढ़ तथा रहस्यपूर्ण है।[65]

२- **प्रपंचसार**- यह ग्रन्थ तांत्रिक परंपरा से आदि शंकर की रचना माना जाता है। यद्यपि आधुनिक आलोचकों की दृष्टि में यह बात संदिग्ध है। तथापि प्राचीन परंपरा तथा ऐतिहासिक अनुशीलन से यह आचार्य की ही कृति ज्ञात होती है। इस ग्रन्थ पर एक विवरण नाम की टीका भी है। जिसे आचार्य पद्मपाद ने लिखा

---

[62] वहीं
[63] वहीं
[64] वहीं
[65] वहीं

है। पद्मपाद के व्याख्याता होने से ज्ञात होता है कि यह आचार्य शंकर की ही कृति है।

1.3 अद्वैतवेदान्त परंपरा के प्रमुख आचार्य

1-गौडपादाचार्य :

आचार्य गौडपाद को अद्वैतवेदान्त का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है। इन्होंने ही अद्वैतवेदान्त के मुख्य सिद्धांतों की उद्भावना की। ये शंकराचार्य के परम गुरु थे। डॉ. एस.एन.दास गुप्त जी के मत में इन्होंने अपने कारिका ग्रन्थ में महात्मा बुद्ध का ससम्मान स्मरण किया है।[66] आचार्य गौडपाद को मायावाद का प्रथम प्रयोक्ता कहा जाता है। मायावाद अद्वैतवेदान्त का आधारभूत सिद्धांत है। *'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या'* मायावाद का प्रधान सिद्धांत है। इनका समय ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के पूर्व भाग में स्थित माना जाता है।[67]

यद्यपि गौडपादाचार्य से पूर्व वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों में भी अद्वैतवेदान्त के संकेत प्राप्त होते हैं। फिर भी इन उपर्युक्त ग्रन्थों में बहुदेववाद, एकाधिदेववाद, एकदेववाद एवं एकतत्त्ववाद के भी संकेत दिखायी देते हैं। इसलिए यह सुनिश्चित करना कठिन है कि वैदिक ग्रन्थों में केवल अद्वैत का समर्थन किया गया है। किन्तु अद्वैतवेदान्त का सही रूप में प्रतिपादन गौडपाद ने ही किया है। गौडपादाचार्य ने अपनी माण्डूक्य-कारिका में अद्वैतवाद के प्रतिपादन का भरसक प्रयास किया है। गौडपाद-कारिका (माण्डूक्य-कारिका) पर आचार्य शंकर का भाष्य भी प्राप्त होता है। जिसमें उन्होंने दादा गुरु गौडपादाचार्य को ही अद्वैतवाद का प्रवर्तक कहा है।[68] भारतीय दर्शन के आधुनिक विद्वान् डॉ.एस.एन.दास गुप्त भी यही स्वीकार करते हैं कि अद्वैतवेदान्त के प्रथम प्रवर्तक गौडपादाचार्य ही हैं। इस सम्बन्ध में वह लिखते हैं कि गौडपाद की 'माण्डूक्य-कारिका' के अतिरिक्त अन्य कोई भी अद्वैतवादी उपनिषद् टीका

---

[66] **Indian Philosophy,Vol.I, S.N.Das Gupta, P.423**
[67] वे.सा.,चन्द्रिका हिन्दी व्या.राकेश शास्त्री
[68] अद्वै.वे.ऐ.वि.पृ.28

इससे पूर्व नहीं पाई जाती है। यहाँ तक कि गौडपाद ने बादरायण का भी उल्लेख नहीं किया है। इससे स्पष्ट होता है कि आचार्य गौडपाद ही एकान्तिक अद्वैतवाद के प्रवर्तक थे।[69]

रचनाएँ : माण्डूक्य-कारिका इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ माण्डूक्योपनिषद् पर आधारित है। यह उपनिषद् 4 प्रकरणों में विभक्त है।

क- आगम प्रकरण

ख- वैतथ्य प्रकरण

ग- अद्वैत प्रकरण

घ- अलातशान्ति प्रकरण

आचार्य ने उत्तरगीता पर भाष्य भी किया है। सांख्यकारिका पर भी इनका भाष्य है।

गौडपादाचार्य ने अपनी माण्डूक्य-कारिका नामक ग्रन्थ में *'ब्रह्मसत्य जगन्मिथ्या'* सिद्धांत को प्रतिपादित करने का भरसक प्रयास किया है। ग्रन्थ के आगम-प्रकरण, अद्वैत-प्रकरण, वैतथ्य-प्रकरण तथा अलातशांति प्रकरण में से प्रथम दो प्रकरणों में ब्रह्म को सत्य सिद्ध करने का प्रयास है, जिसमें से आगम प्रकरण में ब्रह्म को सिद्ध करने के लिए शब्द प्रमाण का सहयोग लिया गया है। अद्वैत प्रकरण में तर्क से ब्रह्म को सत्य सिद्ध किया गया है। शेष दोनों प्रकरणों में जगन्मिथ्यात्व प्रतिपादित है।[70]

गौडपादाचार्य के समान विज्ञानवादी भी विश्व को स्वप्नवत मानते हैं। किन्तु दोनों के विचारों में भेद है। गौडपाद इस विश्व को स्वप्नवत मानते हुए भी स्वप्न और विश्व में भेद करते हैं। गौडपाद इस विश्व को कुछ हद तक वस्तुगतता प्रदान करते हैं। वह इसे व्यवहारिक सत् मानते हैं, जबकि स्वप्नजगत् व्यवहारिक सत् नहीं है। विज्ञानवादी बौद्ध आत्मनिष्ठता को नहीं छोड़ना चाहते हैं। उनके लिए जो मानस में है, वही बाहर है। किन्तु गौडपादाचार्य जैसे अद्वैतवेदान्ती जो अन्दर है उसी को बाहर नहीं मानते हैं। उनके अनुसार अन्दर और बाहर दोनों ही भ्रम की उत्पत्ति है। गौडपादाचार्य ने अद्वैत को

---

[69] वहीं

[70] वहीं,पृ.35

पारमार्थिक सत् माना है एवं विश्व को व्यवहारिक सत् कहा है। प्रथम निरपेक्ष सत् है, जबकि दूसरा सापेक्षिक सत् है।[71]

2- आचार्य गोविंदपाद :

ये गौडपादाचार्य के शिष्य तथा आचार्य शंकर के गुरु थे। ये एक महान् योगी थे और नर्मदा नदी के तट पर निवास करते थे।

रचना : रसह्रदयतंत्र इनका एक मात्र ग्रन्थ है, जो कि रसायन शास्त्र से सम्बन्धित है।

3- मण्डनमिश्र :

ये प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट के शिष्य थे। अपने समय में मण्डनमिश्र भी प्रसिद्ध मीमांसक के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके थे। आचार्य शंकर से मण्डनमिश्र का शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमें मण्डनमिश्र की पराजय हुई। फिर इन्होंने आचार्य शंकर का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। सन्यास लेने के बाद इनका नया नाम विश्वरूप या सुरेश्वराचार्य हो गया।

रचनाएँ : (क) मूलग्रन्थ-

1- **नैष्कर्म्य-सिद्धि**- इस ग्रन्थ में लेखक ने निष्काम कर्म को ही मोक्ष का प्रधान साधन सिद्ध किया है। इसे अद्वैतवेदान्त का प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है।

2- **इष्ट सिद्धि**- इस ग्रन्थ में आचार्य मण्डनमिश्र ने ब्रह्मज्ञान के संदर्भ में जो तर्क दिए हैं, वह प्रशंसनीय है। इसके अतिरिक्त इनकी मौलिक रचनाओं में ब्रह्मसिद्धि, विधिविवेक, भावनाविवेक, काशीवृत्ति, मोक्षविचार आदि रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

(ख) **वार्तिक-ग्रन्थ** : उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ वार्तिक ग्रन्थ भी हैं।

क- तैत्तिरीय-उपनिषद्-भाष्य-वार्तिक

ख- बृहदारण्यक-भाष्य-वार्तिक

ग- दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र-वार्तिक

---

[71] वहीं,पृ.38

घ- पंचीकरण-वार्तिक

ङ- लघु-वार्तिक

च- वार्तिकसार

छ- वार्तिक-सार-संग्रह

4- पद्मपादाचार्य :

आचार्य शंकर के प्रमुख शिष्यों में इनका भी नाम आता है। इसलिए इन्हें भी शंकराचार्य के समकालीन समझना चाहिए। एस.एन.दास गुप्त ने उनका समय 820 ई. तक माना है।[72] आचार्य बलदेव उपाध्याय की मान्यता में इनका सही नाम 'सनन्दन' था। बाल्यकाल में अध्ययन कार्य के लिए ये काशी आए थे। यहीं पर उनकी मुलाकात आचार्य शंकर से हुई थी। आचार्य शंकर ने इनको सन्यास की दीक्षा देकर अपना शिष्य बना लिया। ऐसी मान्यता है कि एक बार शंकराचार्य की करुण पुकार सुनकर उनके पास शीघ्र पहुँचने के लिए अलकनंदा नदी को पार करने हेतु पुल का सहयोग न लेकर सीधे चल पड़े। नदी में प्रवेश करते ही उनके चरणों के नीचे कमल प्रकट होता गया। उन्हीं कमलों पर पैर रखते हुए नदी पार कर गए। तब से उनका नाम पद्मपाद हो गया।[73]

रचनाएँ : (क) भाष्य ग्रन्थ

१- **पंचाक्षरी भाष्य**- इसमें शिव के पंचाक्षर मन्त्र की विशद व्याख्या है। पद्मपाद ने प्रत्येक अक्षर को लेकर श्लोकबद्ध व्याख्या लिखी है। इस भाष्य पर भी काशी के प्रसिद्ध विद्वान् राम निरञ्जन स्वामी ने बहुत विद्वतापूर्ण व्याख्या लिखी है, जो पंचाक्षरी-भाष्य-तत्त्व-प्रकाशिका के नाम से विख्यात है।

(ख) टीका-ग्रन्थ

1- **पंचपादिका**- ब्रह्मसूत्र के प्रथम चार सूत्रों के शांकरभाष्य पर आधारित है।

---

[72] भा.द.इति.,एस.एन.दास गुप्त, भाग-2, पृ.98

[73] - श्रीशंकराचार्य, बलदेव उपाध्याय, पंचदश परिच्छेद, पृ.154

2- **विज्ञान दीपिका**- इस ग्रन्थ में कर्म का सांगोपांग विवेचन है। साथ ही कर्म निवृत्ति के उपायों की भी विस्तृत चर्चा है।

3- **विवरण टीका**- यह शंकराचार्य द्वारा लिखित प्रपंचसार की टीका है।

5- वाचस्पति मिश्र :

इनको भारतीय दर्शन की सर्वोत्कृष्ट टीका ग्रन्थों का लेखक माना जाता है। ये मिथिला के निवासी थे। इनका समय 840 ई. माना जाता है।

उपलब्ध रचनाएँ

क- **भामती**- यह ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की प्रथम एवं पूर्ण टीका है।

ख- **सांख्य-तत्त्व-कौमुदी**- सांख्यकारिका की टीका है।

ग- **तत्त्व-वैशारदी**- पातञ्जल योगसूत्र की टीका है।

घ- **न्याय-वार्तिक**- मण्डनमिश्र के विधिविवेक पर की गई टीका है।

ङ- **न्याय-सूची-निबंध**- यह पूर्व मीमांसा दर्शन पर एक निबन्ध है।

च- **ब्रह्मतत्त्व-समीक्षा**- वाचस्पति मिश्र ने अपने इस ग्रन्थ का संकेत भामती में किया है। यह ग्रन्थ मण्डनमिश्र के ब्रह्मसिद्धि की व्याख्या है।

6- भास्कराचार्य : ये शंकराचार्य के समकालीन थे। त्रिदण्डी-मत के वेदान्ती एवं ब्रह्मपरिणामवादी थे। इनका मत है कि ब्रह्म के शक्ति विक्षेपों से ही सृष्टि और स्थिति का व्यापार निरंतर चल रहा है। ये ज्ञान और कर्म दोनों से मोक्ष मानते हैं।

7- सर्वज्ञात्म मुनि : ये सुरेश्वराचार्य जी के शिष्य थे। इनका दूसरा नाम नित्यबोधाचार्य था। ये श्रृंगेरीमठ की नदी पर विराजमान थे। सर्वज्ञातमुनि ने अपने गुरु का नाम देवेश्वराचार्य लिखा है। रामतीर्थ ने देवेश्वराचार्य का अर्थ सुरेश्वराचार्य ही माना है।[74]

क- **संक्षेपशारीरक**- यह ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य पर आधारित है। यह भी 4 अध्यायों में विभक्त है।

---

[74] वे.सि.मु.स.अ.पृ.28

8- अद्वैतानन्द बोधेन्द्र : ये रामानन्द तीर्थ के शिष्य थे। इन्होंने शारीरकभाष्य पर ब्रह्मविद्याभरण नाम की एक उत्तम व्याख्या लिखी है। इसके अतिरिक्त इन्होंने शांतिविवरण एवं गुरुप्रदीप नामक अन्य ग्रन्थों की भी रचना की है।[75]

9- श्रीहर्ष : श्रीहर्ष को मुख्यतया उनके अपने महाकाव्य ग्रन्थ नैषधचरितम् के कारण एक महान कवि के रूप में जाना जाता है। किन्तु ये केवल एक कवि मात्र ही नहीं अपितु एक दार्शनिक भी हैं।

रचनाएँ-

क- **नैषधचरितम्**- श्री हर्ष का यह काव्य बृहत्त्रयी के अन्तरगत परिगणित है। जिसमें नल और दमयंती के स्वयंवर का स्वाभाविक चित्रण है। इसमें नल और हंस का संवाद अत्यधिक श्लाघनीय है।

ख- **खण्डन-खण्ड-खाद्य**- इसे एक उत्कृष्ट खण्डनात्मक प्रकरण ग्रन्थ माना जाता है। यह अद्वैतवेदान्त का ग्रन्थ है। कई नैयायिकों ने इसके सिद्धांतों को खंडित करने का यथासाध्य परिश्रम किया, किन्तु फिर भी इस ग्रन्थ की प्रभा मलिन नहीं हुई।[76]

10- आनन्दबोध भट्टारकाचार्य : इनका समय 12वीं शताब्दी माना जाता है। ये एक सन्यासी थे। इनके गुरु का नाम आत्मवास था। इनका प्रमुख ग्रन्थ न्यायमकरंद है। इस ग्रन्थ में इन्होंने अन्य विषयों के साथ माया के सिद्धांतों की विशद एवं उपयोगी व्याख्या की है। इसके अतिरिक्त प्रमाण-रत्नमाला एवं न्याय दीपावली आदि ग्रन्थ इन के नाम से प्रचलित हैं।[77]

11- प्रकाशात्मयति : इनका समय 12वीं शताब्दी माना जाता है। प्रकाशात्मा के गुरु का नाम श्रीमत् अनन्यानुभव था। इन्होंने पंचपादाचार्य की पंचपादिका पर प्रसिद्ध विवरण नामक टीका लिखी है।

---

[75] वहीं,पृ.29
[76] वहीं
[77] वहीं

12- भारतीतीर्थ : आचार्य भारतीतीर्थ के नाम का उल्लेख मात्र प्राप्त होता है। इनके किसी ग्रन्थ का नाम नहीं उल्लिखित है।

13- शंकरानन्द : इनका समय 14वीं शताब्दी है। इनके बचपन का नाम बालचंद्र था और गृहस्थ आश्रम का नाम महेश था। इनके तीन ग्रन्थ प्राप्त होते हैं।

क- **आत्म-पुराण**- जिसमें इन्होंने ईश, केन, कठ, प्रश्न तथा बृहदारण्यक उपनिषदों की चर्चा की है।

ख-**ब्रह्म-सूत्र-दीपिका**- बड़ी सरल भाषा में इस ग्रन्थ में ब्रह्मसूत्र की व्याख्या की गई है।

ग- **शंकरानंदी**- यह श्रीमद्भगवद्गीता की टीका है।

14- विमुक्तात्मा : इनका समय 1200 ई. माना जाता है। इष्ट-सिद्धि इनका मौलिक ग्रन्थ है, जो कि बड़ौदा की गायकवाड़ ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ को अद्वैतवेदान्त के ग्रन्थों में नितान्त मौलिक माना जाता है।

टीका-ग्रन्थ

क- **लघु चंद्रिका**- यह नैष्कर्मसिद्धि पर टीका है।

ख- **विद्याश्री टीका**- यह टीका ब्रह्मसूत्र शारीरिक भाष्य पर लिखी गई है।[78]

15- चित्सुखाचार्य : इनका समय 1220 ई. माना जाता है। जब वैष्णोमत और न्यायमत अधिक प्रबल हो गए थे। उस समय अद्वैतमतावलम्बियों की आवश्यकता थी। तभी आचार्य चित्सुख अवतीर्ण हुए। इन्होंने न्याय-दर्शन का खण्डन करके अद्वैतमत का प्रतिपादन किया।[79]

रचनाएँ –

क- **चित्सुखी** - आचार्य चित्सुख ने तत्त्वदीपिका नाम का एक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखा है, जो कि विद्वानों में चित्सुखी के नाम से अधिक समादृत है।

---

[78] वहीं,पृ.31

[79] वहीं

ख- **भावप्रकाशिका**- यह भी शांकरभाष्य की टीका है।

ग- **अभिप्राय प्रकाशिका**- यह ब्रह्मसिद्धि पर टीका है।

घ- **भावद्योतिनी**- आचार्य ने प्रकाशात्म कृत पंचपादिका विवरण पर व्याख्यान लिखा है।

16- अमलानन्द : इनका समय 13वीं शताब्दी ई. माना जाता है। इनका दूसरा नाम व्यास-आश्रम था।

रचनाएँ-

क- **वेदान्त कल्पतरु**- इन्होंने भामती के ऊपर कल्पतरु नाम की व्याख्या लिखी है।

ख- **शास्त्र दर्पण**- आचार्य अमलानन्द के द्वारा रचित एक स्वतंत्रवृत्ति है, जो कि ब्रह्मसूत्र को समझने के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है।

17- विद्यारण्य : इनका समय 1350 ई. है। इनका पूर्व नाम माधवाचार्य था। सन्यासी होने पर इनका नाम विद्यारण्य हुआ।

रचनाएँ-

क- **पंचदशी**- यह विद्यारण्य की रचना है। पंचदशी की गणना अद्वैतवेदान्त के प्रमुख प्रकरण ग्रन्थों में की जाती है। इसके 15 प्रकरणों में अद्वैतवेदान्त के सिद्धांतों को सरल ढंग से समझाया गया है। कई जगहों पर माया का भी वर्णन किया गया है।

ख- **जीवन्मुक्ति-विवेक**- आचार्य ने इस ग्रन्थ में मुक्ति के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए सन्यासियों के समस्त धर्मों का निरूपण किया है।

ग- **विवरण-प्रमेय-संग्रह**- पंचपादिका विवरण के ऊपर यह प्रमेय संग्रह ग्रन्थ अद्वैतवेदान्त में उच्चकोटि का माना जाता है।

18- गंगापुरी भट्टारकाचार्य : इनका समय 10वीं शताब्दी से 11वीं शताब्दी माना जाता है। इन्होंने ब्रह्म एवं माया को जगत् का कारण माना है। इसके साथ ही इन्होंने ब्रह्म को विवर्तकारण और माया को परिणामी कारण स्वीकार किया है।

रचना- पदार्थ-तत्त्व-निर्णय, यह इनकी एकमात्र रचना है।

19- श्रीकृष्ण मिश्र यति : इनका समय 11वीं शताब्दी ई. माना जाता है।

रचना- प्रबोध-चंद्रोदय नाटक- इनकी शैली में अद्वैतवेदान्त की झलक स्पष्ट दिखाई देती है।

20- श्री रामाद्वयाचार्य : इनका समय 13वीं शताब्दी ई. माना जाता है।

रचना- वेदान्त-कौमुदी- यह ब्रह्म-सूत्र के प्रथम चार अधिकरणों के ऊपर एक आलोचनात्मक निबंध है। यह ग्रन्थ उपलब्ध तो हुआ है, परन्तु अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है।

21- आनन्दगिरि : इनका समय 15वीं शताब्दी ई. माना जाता है।[80]

रचना- न्याय-निर्णय- यह वेदान्तसूत्र भाष्य पर टीका है।

22- अखण्डानन्द : अखण्डानन्द आनन्दगिरि के शिष्य थे। अत: इनका समय भी 15वीं शताब्दी ई. ही समझना चाहिए।[81]

रचनाएँ: टीकाग्रन्थ-

क- **तत्त्वदीपन**- यह पंचपादिका विवरण पर एक सुन्दर व्याख्या है।

ख- **ऋजु प्रकाशिका**- वाचस्पति मिश्र की भामती पर टीका है।

23- प्रकाशानन्द यति : इनके जीवन वृत्त के विषय में कोई प्रामाणिक सामाग्री उपलब्ध नहीं है। फिर भी कुछ अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर ज्ञात होता है कि प्रकाशानन्द के गुरु का नाम ज्ञानानन्द था तथा प्रकाशानन्द स्वयं नानादीक्षित के गुरु थे। डॉ.एस.एन.दास गुप्त एवं डॉ.राममूर्ति शर्मा ने इनका समय 1550ई. से 1600ई. के बीच माना है।[82]

रचनाएँ- इनकी रचनाओं को उपलब्ध और अनुपलब्ध के आधार पर दो रूपों में देखा जा सकता है।

---

[80] वहीं,पृ.33
[81] वहीं
[82] वही, पृ.41

उपलब्ध रचनाएँ : सिद्धांत ग्रन्थ-

क- वेदान्त सिद्धांत मुक्तावली

अनुपलब्ध रचनाएँ : सिद्धांत ग्रन्थ-

क- ताराभक्तिरंगिणी

ख- महालक्ष्मी पद्धति

ग- श्रीविद्यापद्धति

घ- **सिद्धांततत्त्व**

टीकाग्रन्थ-

क- मनोरमा-तंत्र-राज टीका

ख- वेदान्त-तत्त्व-दीपिका

ग- **तत्त्वप्रकाशिका-**तत्त्वालोक पर टीका

24- अप्पय दीक्षित : इनका समय 16वीं शताब्दी ई. स्वीकार किया जाता है। अद्वैतवेदान्त के क्षेत्र में इन्हें काफी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। इन्होंने कुछ मौलिक और टीकाग्रन्थ भी लिखे हैं।[83]

रचनाएँ : मौलिक ग्रन्थ-

क- **कुवलयानन्द**- यह इनकी छंदशास्त्र विषयक कृति है।

ख- **सिद्धांतलेश**- इस ग्रन्थ में अद्वैतवेदान्त के आचार्यों के भिन्न-भिन्न मतों का प्रामाणिक निरूपण उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ की सहायता से अनेक अनुपलब्ध वेदान्तियों के मतों का परिचय हमें मिलता है।

टीकाग्रन्थ-

क- **न्याय रक्षामणि**- यह ब्रह्मसूत्र की टीका है।

---

[83] वहीं,पृ.34

ख- **कल्पतरु परिमल**- भामती की टीका कल्पतरु की यह प्रसिद्ध व्याख्या है।

ग- **शिवकर्ममणि दीपिका**- यह ग्रन्थ भी श्रीकण्ठ भाष्य की टीका है।

घ- **ब्रह्मतर्कस्तव**- इसमें श्रुति, स्मृति तथा पुराणों के द्वारा शिव का प्राधान्य निश्चित किया गया है।

ङ- **माध्व-मुख-मर्दन**- इसने माध्व सिद्धांत का खण्डन है। इनके अतिरिक्त भी अप्पय दीक्षित ने अनेक रचनाएँ की हैं।

25- मधुसूदन सरस्वती : इनका समय भी 1600ई. माना जाता है। इन्होंने अपने ग्रन्थों में अद्वैतवेदान्त का सूक्ष्म एवं व्यवस्थित विश्लेषण किया है। ये काशी के निवासी थे।[84]

रचनाएँ : मौलिक ग्रन्थ

क- **वेदान्त कल्पलतिका**- इन्होंने अपने इस ग्रन्थ में मुक्ति के स्वरूप का सुन्दर विवेचन किया है।

टीकाग्रन्थ-

क- **संक्षेप शारीरक टीका**- यह संक्षेप शारीरिक पर टीका है।

ख- **गूढार्थदीपिका**- मधुसूदन सरस्वती ने श्रीमद्भगवद्गीता के ऊपर टीका लिखी है।

ग- **अद्वैत रत्नरक्षण**- इसमें इन्होंने शंकरमिश्र कृत भेदरत्न का खण्डन किया है।

घ- **अद्वैतसिद्धि**- यह मधुसूदन की प्रधान कृति है। यह एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें नैयायिक पद्धति से अद्वैततत्त्व को जानने का प्रयत्न किया गया है।

26- नृसिंहाश्रम : ये मधुसूदन सरस्वती के समकालीन थे। इनका समय 16वीं शताब्दी है।[85]

रचनाएँ-

---

[84] वहीं

[85] वहीं

क- **वेदान्त तत्त्वविवेक-** इस ग्रन्थ में नृसिंहाश्रम ने गहनतत्त्व का विवेचन सरल शैली में किया है।

ख- **अद्वैतदीपिका-** यह ग्रन्थ भी नृसिंहाश्रम विरचित ही है। इस लघुकाय ग्रन्थ में आचार्य ने अद्वैत का प्रतिपादन बड़ी सुन्दर युक्तियों से किया है।

ग- **भेदधिक्कार-** यह ग्रन्थ भी नृसिंहाश्रम की कृति है। यह वेदान्त का अत्यंत प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

27- नारायणाश्रम : ये नृसिंहाश्रम के शिष्य थे। इनका समय 16वीं शताब्दी माना जाता है।[86]

रचनाएँ-

क- **भेदसत्क्रियोज्ज्वला-** इन्होंने नृसिंहाश्रम के ग्रन्थ भेदधिक्कार पर यह टीका लिखी है।

ख- **अद्वैतदीपिका टीका-** इन्होंने नृसिंहाश्रम की अद्वैतदीपिका पर टीका की रचना की है। द्वैतमत का निराकरण करके अद्वैत का प्रामाणिक विवेचन किया है।

28- मल्लनाराध्य : ये 16वीं शताब्दी ई. में हुए थे।[87]

रचनाएँ- प्रकरण ग्रन्थ

क- **अद्वैतरत्न-** इसके रचयिता मल्लनाराध्य है। इस ग्रन्थ में लेखक ने द्वैत का खण्डन करके अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है।

ख- **अभेदरत्न-** इस ग्रन्थ में भी आचार्य ने द्वैत मत का खण्डन किया है।

टीकाग्रन्थ-

क- **तत्त्वदीपन-** मल्लनाराध्य ने अद्वैतरत्न पर तत्त्वदीपन नामक टीका की रचना की है। उन्होंने द्वैतमत का निराकरण करके अद्वैतमत का प्रतिपादन किया है।

---

[86] वहीं,पृ.35
[87] वहीं

29- रंगराजाध्वरी : इनका समय 16वीं शताब्दी ई. है। ये वेदान्त के प्रसिद्ध विद्वान् अप्पयदीक्षित के पिता थे।

रचनाएँ-

क- **अद्वैत विद्यामुकुर**- इस ग्रन्थ में इन्होंने न्याय-वैशेषिक व सांख्य का खण्डन करके अद्वैतमत का प्रतिपादित किया है।

ख- **विवरण दर्पण**- इसमें भी पूर्वपक्ष का खण्डन तथा अद्वैत का मण्डन किया गया है।

30- भट्टोजि दीक्षित : इनका समय भी 16वीं शताब्दी ई. माना जाता है। ये मुख्यतया व्याकरण के विद्वान् है। साथ ही इन्होंने अद्वैतमत का समर्थन किया है।

रचनाएँ-

क- तत्त्व कौस्तुभ

ख- वेदान्त तत्त्वविवेक

इन दोनों रचनाओं में अद्वैत मत का प्रतिपादन किया गया है।

31- सदानन्द योगीन्द्र सरस्वती : आपका समय 16वीं शताब्दी ई. माना जाता है।[88]

रचना- इन्होंने एक प्रकरण ग्रन्थ की रचना की है।

क- **वेदान्तसार**- यह अद्वैतवेदान्त का प्रसिद्ध प्रकरण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में इन्होंने अज्ञान, अध्यारोप, मोक्ष एवं पंचीकरण आदि के सम्बन्ध में आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है।

32- ब्रह्मानन्द सरस्वती : इनका समय 17वीं शताब्दी ई. माना जाता है।

रचनाएँ- टीकाग्रन्थ

क- **लघु-चंद्रिका**- अद्वैतसिद्धि नामक वेदान्त ग्रन्थ के स्पष्टीकरण हेतु ब्रह्मानन्द ने लघुचंद्रिका की रचना की है।

---

[88] वहीं,पृ.36

ख- न्याय रत्नावली

ग- सूत्र रत्नावली

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ मधुसूदन के सिद्धांत बिन्दु पर रचे गए है।

33- धर्मराजाध्वरीन्द्र : इनका समय 17वीं शताब्दी ई. माना जाता है। ये नृसिंहाश्रम के शिष्य थे।[89]

क- **वेदान्त परिभाषा**- यह वेदान्त के प्रमाण विषयक विचार जानने के लिए प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उनके पुत्र रामकृष्ण ने इस पर वेदान्तशिखामणि नामक टीका लिखी है।

34- सदानन्द यति (काश्मीरक): इनका समय भी 17वीं शताब्दी ई. माना जाता है।[90]

रचनाएँ : मौलिक रचना

क- **अद्वैत ब्रह्मसिद्धि**- इनकी प्रकाशित एवं मौलिक कृति है।

ख- **स्वरूप निर्णय, स्वरूप प्रकाश** तथा **ईश्वरवाद** अभी तक अप्रकाशित ग्रन्थ हैं।

35- सदाशिव ब्रह्मेंद्र : आपका समय 16वीं शताब्दी है।

रचनाएँ-

क- अद्वैतविद्या विलास

ख- बोधार्थात्म निर्वेद

ग- गुरु रत्नमालिका

घ- **ब्रह्म कीर्तन तरंगिणी**

इन सभी रचनाओं का प्रतिपाद्य विषय अद्वैतवेदान्त ही है।

36- नीलकंठ सूरि : इनका समय 16वीं शताब्दी माना जाता है।[91]

---

[89] वहीं,पृ.37
[90] वहीं
[91] वहीं

रचना : टीकाग्रन्थ

क- **भारत भावदीपक**- यह महाभारत पर टीका है।

37- गोविंदानन्द या रामानन्द : ये गोपाल सरस्वती के शिष्य थे। इनका समय 17वीं शताब्दी ई. माना जाता है।

रचना : टीकाग्रन्थ

क- **रत्नप्रभा**- यह ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य पर टीका है।

38- नृसिंह सरस्वती : अद्वैतवाद के समर्थक नृसिंह सरस्वती का समय 16वीं शताब्दी ई. का अन्तिम भाग है।[92]

रचना : टीकाग्रन्थ

क- **सुबोधनी**- यह वेदान्तसार की प्रमुख टीका है।

39- आनन्दपूर्ण विद्यासागर : इनका समय 16वीं शताब्दी ई. माना जाता है।[93]

रचनाएँ : टीकाग्रन्थ

क- **न्याय चंद्रिका**- यह खण्डन-खण्ड-खाद्य पर टीका है।

40- रामतीर्थ : इनका समय 17 वीं शताब्दी ई. है।[94]

रचनाएँ : टीकाग्रन्थ

क- **अनवयार्थक**- यह संक्षेप शारीरक पर टीका है।

ख- **पद्ययोजिका**- यह उपदेशसाहस्री पर टीका है।

ग- **विद्वन्मनोरंजनी**- यह रामतीर्थ कृत विद्वानों को वेदान्त का विशिष्ट ज्ञान प्रदान करने वाला ग्रन्थ है।

---

[92] वहीं,पृ.38
[93] वहीं
[94] वहीं

41- आपदेव : इनका समय भी 17वीं शताब्दी ई. है। एक मीमांसक होते हुए भी इन्होंने अद्वैत मत का मण्डन किया है।

रचना : टीकाग्रन्थ

क- **बालबोधनी**- इन्होंने भी सदानन्द योगीन्द्र के द्वारा रचित वेदान्तसार पर बालबोधनी नामक टीका की रचना की है।

42- रंगनाथ : शांकर अद्वैत के प्रतिपादक रंगनाथ का समय 17वीं शताब्दी ई. माना जाता है।

रचना : टीकाग्रन्थ

क- ब्रह्मसूत्र की शांकरभाष्य अनुसारिणीवृत्ति

43- अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ : निर्गुण ब्रह्म को मानने वाले एवं कृष्ण के भक्त अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ का समय 17वीं शताब्दी माना जाता है।[95]

रचनाएँ : टीकाग्रन्थ

क- **कृष्णालंकार**- यह ग्रन्थ अप्पयदीक्षित के सिद्धांतलेश पर टीका है।

ख- **वनमाला**- यह तैत्तिरीय उपनिषद् शांकरभाष्य पर टीका है।

44- सदाशिवेन्द्र सरस्वती : इनका समय 18वीं शताब्दी ई. माना जाता है। ये सदाशिवेंद्र ब्राह्मण के नाम से भी विख्यात थे।[96]

रचनाएँ : टीकाग्रन्थ

क- ब्रह्मतत्त्व प्रकाशिका- यह ब्रह्मसूत्र पर टीका है।

ख- आत्मविलास

ग- कविता कल्पवल्ली

---

[95] वहीं, पृ.39

[96] वहीं

घ- अद्वैत रसमञ्जरी

45- आयन्नदीक्षित : आपका समय 18वीं शताब्दी स्वीकार किया जाता है।

रचना -

क- **व्यासतीर्थ निर्णय**- इनकी यही एकमात्र रचना उपलब्ध होती है।

द्वितीय अध्याय

प्रस्थानत्रयी शांकरभाष्य में आधिभौतिक प्रकाश का स्वरूप

'भूते इत्यधिभूतम्। अधिभूतं भवमाधिभौतिकम्'।[97] के अनुसार जो भूतों में या भूतों से उत्पन्न होता है, वह 'आधिभौतिक' कहलाता है। 'भूत' शब्द पदार्थ और प्राणी के अर्थ में प्रयुक्त होता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में आया है *कि 'पृथिव्यन्तरिक्षं द्योर्दिशोऽवान्तरदिशाः। अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा। इत्यधिभूतम्'।*[98] सुबालोपनिषद् में पृथिव्यादि भूतों के गन्धादि गुणों को अधिभूत कहा गया है।[99] अधिभूत दर्शन इस प्रकार बताया गया है- *'अथाधिभूतम् यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं य सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः इत्यधिभूतम्।*[100] अर्थात् जो सभी भूतों में रहता हुआ सभी भूतों की अपेक्षा आन्तरिक है। जिसको सभी भूत नहीं जानते हैं। सभी भूत जिसके शरीर हैं। जो सभी भूतों में स्थित होकर नियमित करता है। वह आत्मा अन्तर्यामी अमृत स्वरूप है।

त्रिविध दु:खों में प्राणियों से उत्पन्न दु:ख को आधिभौतिक कहा गया है- *'आधिभौतिकं च मनुष्यपशुमृगपक्षि सरीसृपस्थावर निमित्तम्'।*[101] अर्थात् मनुष्य, पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप एवं स्थावर प्राणियों से जनित दु:ख आधिभौतिक है। सभी प्रकार के दु:खों को आधिभौतिक कहा जा सकता है, जो भूत जनित होते हैं- *'भूतानि प्राणिनोऽधिकृत्य यज्जायते तदाधिभौतिकं व्याघ्रचौराद्युत्थम्'।*[102] यहां पर भूत को प्राणि का पर्याय बताया गया है, जिनमें व्याघ्र एवं चौर आदि की गणना है। आचार्य शंकर श्रीमद्भगवद्गीता के

---

[97] पा.सू.4.3.60, वार्तिक7.3.20, भारतीय दर्शन बृहत् कोश, बच्चूलाल अवस्थी
[98] तै.उ.1.7
[99] सुबा.उ.5.1-14
[100] बृ.उ.3.7.15
[101] यु.दी.त.कौ., भारतीय दर्शन बृहत् कोश, बच्चूलाल अवस्थी
[102] सांख्यचन्द्रिका-1, भारतीय दर्शन बृहत् कोश, बच्चूलाल अवस्थी

भाष्य में लिखते हैं कि *'अधिभूतं प्राणिजातम् अधिकृत्य भवति'*[103] अर्थात् जो प्राणिमात्र को आश्रित किये होता है वह पदार्थ अधिभूत है। यानी जो कुछ भी उत्पत्तिशील पदार्थ है, वे सभी अधिभूत हैं। इस प्रकार प्रस्तुत संदर्भ में अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, द्यो, दिक् आदि सभी उत्पत्तिशील पदार्थों से सम्बन्धित प्रकाश को आधिभौतिक प्रकाश की श्रेणी में रखा गया है।

2.1 आधिभौतिक अग्नि का विवेचन : वैश्वानर किसका वाचक है? जठराग्नि का वाचक है या भूताग्नि का या अग्नि के अधिष्ठातृ देवता का वाचक है या परमात्मा का वाचक है? इस प्रसंग में शंकराचार्य ने वैश्वानर को परमात्मा का वाचक मानने के पक्ष में हैं और अग्नि आदि का वाचक होने का खण्डन करते हैं। इसी प्रसंग में शंकराचार्य अग्नि के स्वरूप पर भी विचार करते हैं। शंकराचार्य के मत में अग्नि मूलतः प्रकाश और ऊष्णता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। प्रकाश और ऊष्णता दोनों ही तत्त्व अग्नि में विद्यमान् होते हैं।[104]

श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि इस भुवन के मध्य में एक हंस है। वही हंस जल में स्थित अग्नि है।[105] शंकराचार्य ने परमात्मा को हंस कहा है; क्योंकि यह परमात्मा ही अविद्या आदि बन्धन के कारण का हनन करता है।[106] अविद्या और उसके कार्यों का दाह करने वाला होने से परमात्मा अग्नि के समान भी है।[107] इस प्रकार हम देखते हैं कि कार्यों के भेद के आधार पर परमात्मा के नाम भी अलग-अलग हो जाते हैं। यद्यपि परमात्मा अकर्ता है। वह दहन आदि क्रियाएँ नहीं कर सकता है। न अविद्या आदि बन्धन के कारण का ही हनन कर सकता है; क्योंकि परमात्मा चेतना की दृष्टि से केवल निमित्त कारण ही हो सकता है। यह आवश्यक नहीं कि निमित्तकारण केवल एक ही हो। जैसे महाभूतों की उत्पत्ति में भूत और चेतन परमात्मा दोनों निमित्तकारण हैं, अथवा घट की उत्पत्ति में मृतिका उपादान कारण एक ही है। किन्तु निमित्तकारण कुलाल, जल, दण्ड आदि अनेक होते हैं। इसलिए उपादान कारण के एक होते हुए भी निमित्तकारण अनेक हो सकते हैं।

---

[103] भग.गी.8.4, शां.भा.

[104] भूताग्नेरौष्ण्यप्रकाशमात्रात्मकस्य।-ब्र.सू.1.2.27, शां.भा., रत्नप्रभाभाषानुवाद, पृ.523

[105] एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः। -श्वे.उ.6.15

[106] एकः परमात्मा हन्त्यविद्यादिबन्धकारणमिति हंसो। -वहीं, शां.भा.

[107] अग्निरिवाग्निरविद्यातत्कार्यस्य दाहकत्वात्। व्योमातीतोऽग्निरीश्वरो। - वहीं, शां.भा.

अत: उपर्युक्त श्वेताश्वतर उपनिषद् के मन्त्र[108] में अविद्या आदि बन्धन के कारण का हनन करने वाला हंस अथवा अविद्या और उसके कार्यों का दाह करने वाला अग्नि केवल परमात्मा को मान लेना तर्क संगत नहीं है। परमात्मा तो निमित्तकारण और सबका सामान्य कारण भी है। उस परमात्मा को सम्मुख रखकर किसी अन्य कारण को अभिलक्षित करना ऋषि का उद्देश्य प्रतीत होता है। अत: उस कारण की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है।

जैसा कि न्याय-वैशेषिक दर्शन में आठ साधारण कारण माने गये हैं- ईश्वर, ईश्वरज्ञान, ईश्वरइच्छा, ईश्वरकृति(प्रयत्न), प्रागभाव, काल, दिक्, अदृष्ट। इससे ज्ञात होता है कि ये आठ कारण सभी कार्यों को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक हैं। अद्वैतवेदान्त के अनुसार काल, दिक् आदि भी अनित्य पदार्थ हैं। अद्वैत की दृष्टि से परमात्मा इनका भी कारण है। परमात्मा सबका कारण है। परमात्मा का कोई कारण नहीं है। अत: एकमात्र परमात्मा ही सबका साधारण कारण है।

राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया कि जब ये दोनों ज्योतियाँ नहीं होती हैं अर्थात् आदित्यज्योति और चन्द्रज्योति दोनों अस्त हो जाती हैं। तब पुरुष किस ज्योति में सारा व्यवहार करता है? उत्तर स्वरूप याज्ञवल्क्य ने अग्निज्योति का उल्लेख किया। अर्थात् जब आदित्य अस्त हो जाता है और चन्द्रज्योति भी अस्त हो जाती है। तब पुरुष के लिए अग्निज्योति होती है। अग्निज्योति के द्वारा ही बैठता है। इधर-उधर जाता है। कर्म करता है और लौट आता है।[109]

उपनिषद् में जीव उत्पत्ति की प्रक्रिया की तुलना अग्नि से उत्पन्न होने वाले विस्फुलिंग से की गयी है। शंकराचार्य ने मुण्डकोपनिषद् के इस मन्त्र में भाव का अर्थ जीव किया है। ये सभी जीव उस परमात्मा की उपाधियाँ हैं।[110] ये सभी जीव अग्नि से चिनगारियों की भाँति उत्पन्न होते हैं और पुनः उसी में विलीन हो जाते हैं। मुण्डकोपनिषद् में एक स्थान पर प्राण को अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न हुआ प्रथम तत्त्व माना गया है, पुनः उस ब्रह्म से मन,

---

[108] वहीं,6.15

[109] अग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीत्यग्निनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते। -बृ.उ.4.3.4

[110] मु.उ.2.1.1, शां.भा.

इन्द्रियाँ, आकाश आदि की उत्पत्ति बताई गयी है।[111] वस्तुतः ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न ही नहीं होता है। वह सभी विकारों से परे है। ब्रह्म संसार का निमित्तकारण होने से दोनों का परस्पर वही सम्बन्ध है, जो सम्बन्ध घट और घट निर्माता पुरुष का है। वह अपनी शक्ति से अपनी ही भित्ति पर विश्व की रचना करता है।[112]

मुण्डकोपनिषद् में अग्नि की सात जिह्वाओं का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिंगिनी और विश्वरुची देवी ये अग्नि की लपलपाती हुई सात जिह्वाएँ हैं।

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।

स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्तजिह्वाः॥[113]

इन सात जिह्वाओं से युक्त अग्नि में जो पुरुष यथा समय हवि देता है, उसे ये आहुतियाँ सूर्य की किरण बनकर सूर्य लोक को ले जाती हैं।[114]

पुरुष के भीतर रहने वाला तथा सभी अन्नों का पाचन करने वाले अग्नि को वैश्वानर अग्नि कहा जाता है। यह अग्नि खाये हुए अन्न का पाचन करता है। इसका प्रमाण देते हुए कहा गया है कि जठराग्नि जब अन्न का पाचन करता है। तो एक ध्वनि निकलती है। दोनों कानों को मूँदकर उस ध्वनि को सुना जा सकता है। इस ध्वनि को वैश्वानर अग्नि की ध्वनि कहा गया है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पुरुष के उत्क्रमण करने से कुछ समय पहले यह ध्वनि बन्द हो जाती है।[115] इस श्रुति के अनुसार पुरुष अपनी आयु की संदिग्ध अवस्था में यह जान सकता है कि उसकी आयु समीप है या दूर। ध्वनि न सुनायी पड़ने पर आयु की समीपता होती है।

---

[111] वहीं, 2.1.3

[112] स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वं उन्मीलयति। -प्रश्न.हृ.2

[113] मु.उ.1.2.4

[114] वहीं,1.2.5

[115] अयमग्निः वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यमेतत् कर्णावपिधाय श्रृणोति स यदोत्क्रमिषन् भवति नैनं घोषं श्रृणोति। -बृ.उ.5.9.1

उपनिषद् में वैश्वानर शब्द अनेक अर्थों में आया है। वैश्वानर शब्द का एक अर्थ जठराग्नि है। इस अग्नि से ही पुरुष के द्वारा खाया हुआ अन्न पचता है।[116] इस श्रुति से ज्ञात होता है कि वैश्वानर का अर्थ जठराग्नि है जो अन्न को पचाने का कार्य करती है। वैश्वानर शब्द का दूसरा अर्थ भूताग्नि भी है; क्योंकि भूताग्नि भी सभी पदार्थों को जला देती है। जैसा कि ऋक् संहिता में कहा गया है,*'विश्वस्मा अग्नि भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमहनामकृण्वन्'*।[117] इस श्रुति के आधार पर कहा जा सकता है कि वैश्वानर शब्द भूताग्नि के अर्थ में प्रयोग है। तीसरा अर्थ अग्नि के देवता के अर्थ में लिया जाता है।*'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम् राजा हि कं भुवनानामभिश्री:'*[118] अर्थात् हमें वैश्वानर की सुमति में रहना चाहिए; क्योंकि वह सुख देने वाला भुवनों का राजा है।[119] इस श्रुति से ज्ञात होता है कि कोई चेतन पुरुष है, जो हमें सद्बुद्धि देने वाला है। हमें हितकार्यों से जोड़ने वाला है। ऐसा केवल अग्नि का अधिदैवत रूप हो सकता है। आगे की पंक्ति में उसे भुवनों का राजा भी कहा गया है। अतः राजा कोई देव ही हो सकता है**,** जिससे ज्ञात होता है कि वैश्वानर शब्द वेद में अग्नि के अधिदैवत रूप के लिए भी प्रसिद्ध था।

इसी प्रकार वैश्वानर शब्द का जीवात्मा अर्थ भी निकलता है, जिसका प्रयोग पूर्वपक्ष के रूप में आचार्य शंकर ने किया है।[120] किन्तु आचार्य शंकर वैश्वानर शब्द का पारमार्थिक अर्थ परमात्मा ही मानते है; क्योंकि परमात्मा के लोकात्मक स्वरूप के वर्णन में वैश्वानर को तेजस्वी मस्तक वाला बताया गया है।[121] यह तेजस्वी मस्तक द्युलोक या सूर्य ही है, जो कि विराट् परमात्मा का ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त वैश्वानर के अन्य चार अर्थों में नहीं घटित हो सकता। अतः वैश्वानर शब्द का अर्थ परमात्मा है। सदानन्द योगीन्द्र जो कि अद्वैतवेदान्त के अनुयायी है। उन्होंने भी स्थूल शरीरों की समष्टि को वैश्वानर आत्मा

---

[116] अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते। - वहीं,5.9.1
[117] ऋ.सं.10.88.12
[118] वहीं,1.98.1
[119] ब्र.सू.शां.भा.पृ.510
[120] वहीं,पृ.511
[121] तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः। - वहीं,पृ.512

का शरीर कहा है।[122] जबकि व्यष्टि स्थूल शरीर में विश्व रहता है।[123] अतः अद्वैतवेदान्त में वैश्वानर शब्द का अर्थ परमात्मा ही समझना चाहिए।

ऋक् संहिता में भूताग्नि के अर्थ में एक और मन्त्र प्राप्त होता है, जिसमें कहा गया है कि भूताग्नि ने इस पृथिवी, द्युलोक और अन्तरिक्ष को तेज से व्याप्त किया *'यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेषामाततान् रोदसी अन्तरिक्षम्'।*[124] अतः वैश्वानर शब्द से भूताग्नि का बोध होता है।

अग्नि क्या सर्वत्र व्याप्त है अथवा अरणि आदि आश्रयों में ही अग्नि का वास होता है? यह एक प्रश्न है। व्यवहारिक रूप से देखने पर यह पता चलता है कि अग्नि सर्वत्र व्याप्त है। माध्यमों की अनुकूलता में अग्नि की अभिव्यक्ति देखी जाती है। किन्तु श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार अग्नि अपने आश्रय में ही रहती है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के एक मन्त्र से ज्ञात होता है कि अग्नि अपने आश्रयों में सूक्ष्म रूप से विद्यमान् रहती है। किन्तु इन्द्रियों के द्वारा उसका दर्शन नहीं होता है। ईंधन आदि के मन्थन के द्वारा अग्नि की अभिव्यक्ति देखी जाती है।[125]

उपनिषद् में यज्ञ का साधनभूत होने से अग्नि को अर्क कहा गया है।[126] इस प्रकार अर्क और अश्वमेध क्रमशः यज्ञ और यज्ञफल हैं। अर्क पार्थिव अग्नि है और अश्वमेध आदित्य होने से यज्ञफल है।

अद्वैतवेदान्त दर्शन में सम्पूर्ण जगत् को परमात्मा का स्वरूप माना गया है। यहाँ प्रत्येक वस्तु का उल्लेख करते हुए उसको परमात्मा का स्वरूप बताया जाय इसका कोई औचित्य नहीं है। इसलिये प्रस्तुत सन्दर्भ में केवल प्रकाश पर ही विचार किया जा रहा है। प्रकाश के सन्दर्भ में ही विवेचन किया जायेगा। पाठक गण को इससे यह कदापि नहीं समझ लेना चाहिये कि अन्य शास्त्रोक्त कथनों को मैं नकार रहा हूँ। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने सभी वस्तुओं को अपना स्वरूप बताने के क्रम में अग्नि को अपना ही स्वरूप

---

[122] एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विरादित्युच्यते सर्वनराभिमानित्वाद् विविधं राजमानत्वाच्च।- वे.सा. पृ.74

[123] एतद् व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते। - वहीं,पृ.75-76

[124] ऋ.सं.10

[125] वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिः न दृश्यते नैव च लिंगनाशः। -श्वे.उ.1.13

[126] अयं पार्थिवोऽग्निरर्कः साधनभूतः। -बृ.उ.1.2.7, शां.भा.

बताते हैं।[127] इसी क्रम में उन्होंने बताया है कि सूर्य भी परमात्मा का ही रूप है। परमात्मा ही सूर्य के रूप में ताप देते हैं। वे अलग-अलग कोटि की रश्मियों की भी चर्चा करते हैं, अर्थात् सूर्य से निकलने वाली रश्मियों में से कुछ रश्मियाँ ताप देने वाली होती हैं। कुछ रश्मियाँ वर्षा करने वाली होती हैं। कुछ रश्मियाँ ऐसी भी होती हैं, जो जल को अवशोषित करती हैं।

तापाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥[128]

इससे पता चलता है कि सूर्य की किरणें ही वर्षा, गर्मी आदि के प्रति कारण होती हैं। सूर्य के उत्तरायण दक्षिणायन होने पर सूर्य से आने वाली किरणों में भी अन्तर आता है। सम्भवत: इसीलिए सूर्य के दक्षिणायन होने पर वर्षा ऋतु का आगमन होता है। इस आधार पर सूर्य किरणों को तीन भागों में देखा जा सकता है। एक प्रकार की वे किरणें जो ताप देने वाली होती है। दूसरे प्रकार की किरणें जो वर्षा को लाती हैं। तीसरे प्रकार की किरणें वे हैं जो जल को सुखाने वाली होती हैं।

शंकराचार्य ने एक स्थान पर शान्त आत्मा की तुलना बुझी हुई अग्नि से करते हैं। एक ऐसी अग्नि जिसके सभी ईंधन जल गये हों, शान्त हो जाती है। उस शान्त अग्नि के समान आत्मा की शान्ति होती है।[129] इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्मविद् पुरुष बुझी हुई अग्नि के समान शान्ति को प्राप्त कर लेता है। किन्तु उस शान्ति को प्राप्त करने से पूर्व अग्नि के समान चञ्चल चित्त वाला होता है। चञ्चलता का तात्पर्य स्पन्दन युक्त होना है। चित्त में यह स्पन्दन विषयों की प्राप्ति से बढ़ता है। अतः ऋषियों ने इन्द्रियों का संयम आत्मज्ञान प्राप्ति के लिए अनिवार्य बताया है। इन्द्रिय संयम से चित्त के स्पन्दन में कमी आती है। चित्त की स्पन्दन रहित अवस्था ही आत्मज्ञान की स्थिति है; क्योंकि स्थिर चित्त में आत्मा का प्रतिबिंब उसी प्रकार स्पष्ट रूप से दिखायी देता है, जिस प्रकार शान्त जल में सूर्य का प्रतिबिंब स्पष्ट रूप से दिखायी देता है।

---

[127] भग.गी.9.16

[128] वहीं,9.19

[129] अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्। -श्वे.उ.6.19

वैदिक दर्शन में अग्नि को पंचमहाभूतों में परिगणित किया गया है। आकाश, वायु, जल, पृथिवी आदि की तरह अग्नि भी नित्य विद्यमान् रहती है। किन्तु लोक में अग्नि के सम्बन्ध में इस प्रकार का व्यवहार देखा जाता है कि अग्नि उत्पन्न हुई, अग्नि जल गयी, अग्नि बुझ गयी। इस प्रकार के वाक्यों से अग्नि के कार्य रूप होने का ज्ञान होता है; क्योंकि कार्य की ही उत्पत्ति होती है। कार्य का ही नाश देखा जाता है। वास्तव में अन्य भूतों के समान अग्नि भी नित्य है। अपनी अभिव्यक्ति से इतर अवस्था में वह सूक्ष्मरूप से जल और पृथिवी में विद्यमान् रहती है। अनुकूल कारणों की उपस्थिति में अग्नि की अभिव्यक्ति देखी जाती है। अग्नि अपनी अभिव्यक्ति की अवस्था में ही दिखाई देती है। वायु से अग्नि की उत्पत्ति होने के कारण शब्द, ऊष्ण, स्पर्श और रूप इन तीन गुणों से युक्त होता है। इन तीन गुणों का ज्ञान तीन इन्द्रियों से होता है। शब्द का ज्ञान श्रोत्र इन्द्रिय से, ऊष्ण स्पर्श का ज्ञान त्वक् इन्द्रिय से तथा रूप का ज्ञान चक्षु इन्द्रिय से होता है। जब दो अरणियों का परस्पर मन्थन कराया जाता है। तब अग्नि की अपने सूक्ष्म रूप से स्थूल रूप में अभिव्यक्ति देखी जाती है। तब हमें चक्षु इन्द्रिय और त्वक् इन्द्रिय से अग्नि का ज्ञान होता है। अग्नि अभिव्यक्ति की यह प्रक्रिया परमात्मा अभिव्यक्ति की प्रक्रिया से समानता रखती है। जब परमात्मा की अभिव्यक्ति करनी होती है तब देह को अधो अरणि तथा प्रणव को उत्तर अरणि मानकर ध्यान रूप मन्थन किया जाता है। इस प्रकार ध्यान रूप मन्थन करने से स्वप्रकाश रूप परमात्मा की अभिव्यक्ति होती है।

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥[130]

मुण्डकोपनिषद् में यह भी बताया गया है कि अग्निहोत्र में हवि किस समय दी जानी चाहिए। इस विषय में ऋषि ने लिखा है कि अग्निहोत्र में प्रज्वलित अग्नि की ज्वालाएँ जब उठने लगे तब देवताओं को उद्देश्य करके आहुति देनी चाहिए।[131]

अग्नि भी सभी भूतों का मधु है और सभी भूत इस अग्नि के मधु हैं। अग्नि की वाक् में विशेष स्थिति बतायी गयी है। अग्नि और वाक् में एक ही देवता का निवास है। यह पुरुष तेजोमय और अमृत स्वरूप वाला है। यह पुरुष ही आत्मा है यही ब्रह्म है।[132]

---

[130] वहीं,1.14

[131] वहीं,1.2.2

आर्तभाग के द्वारा याज्ञवल्क्य से यह पूछे जाने पर कि क्या मृत्यु का भी कोई मृत्यु है? क्योंकि यदि मृत्यु का भी मृत्यु होगा तो अनवस्था दोष होगा। यदि नहीं होगा तो मृत्यु ही अन्तिम सत्य होगा और अमरता का प्रश्न ही नहीं होगा। तब याज्ञवल्क्य ने अग्नि का सर्वभक्षकत्व प्रतिपादित करते हुए उसको जल का खाद्य बताया है।[133] किन्तु आचार्य शंकर ने लिखा है कि मृत्यु का मृत्यु कौन है? इस प्रकार प्रश्न पूछे जाने पर भी अनवस्था दोष नहीं होगा; क्योंकि एक ऐसा तत्त्व भी है जो सबका मृत्यु है। जैसा कि कठोपनिषद् में भी कहा गया है, *'मृत्युर्यस्योपसेचनम्'।*[134] अत: जो सबका मृत्यु है उसके लिए किसी अन्य का मृत्यु होना संभव नहीं है।

इस प्राण की सर्व व्यापकता को दिखाते हुए कहा गया है कि यह प्राण ही अग्नि के रूप में तपता है। यह प्राण ही सूर्य होकर प्रकाशित होता है।[135] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राण और वायु में कुछ न कुछ भेद अवश्य है। अन्यथा वायु को ही सर्व रूपात्मक कहा जा सकता था। किन्तु श्रुति में कहीं भी वायु को सर्व रूपात्मक नहीं कहा गया है। जबकि प्राण के अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं। अधिकांश विद्वान वायु और प्राण के अभेद होने में विश्वास करते है। अतः उन विद्वानों को इस विषय पर पुनचिंतन करने की आवश्यकता है। इसी संदर्भ में ओशो रजनीश ने वायु और प्राण में भेद बतलाते हुए कहा है कि वायु प्राण का सर्वोत्तम वाहक बताया है। प्राण उसका सत्त्व है, सार है। हम सभी सिर्फ हवा की नहीं अपितु प्राण की श्वास लेते हैं।[136] अतः वायु और प्राण का अभेद न मान कर वायु को प्राण का सर्वोत्तम वाहक मानना चाहिए। वायु और प्राण का भेद दिखाते हुए शंकराचार्य ने लिखा है, *'एष वायुरावहप्रवहादिभेदः'।*[137] इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि वायु को कही भी अग्नि, सूर्य, मेघ इन्द्र, पृथिवी, रयि, सत्, असत्, अमृत आदि नहीं कहा गया है। जबकि प्राण की सर्वव्यापकता के अनेक उदाहरण मिलते हैं। अतः इससे भी वायु और प्राण में भेद किया जा सकता है।

---

[132] अयमग्नि: सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्ने: सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमय:। - बृ.उ.2.5.3

[133] यस्या: मृत्युरन्नमित्यग्निर्वै मृत्यु: सोऽपामन्नमप पुनर्मृत्युं जयति। - वहीं,3.2.10

[134] कठ.उ.1.2.25

[135] प्रश्न.उ.2.5,शां.भा.

[136] तं.वि., विज्ञान भैरव तंत्र, प्रथम खण्ड, पृ.106

[137] प्रश्न.उ.2.5

राजा जनक ने बुडिल से कहा कि तुम स्वयं को गायत्री विद्या का जानकार कहते हो, तो हाथी बनकर भार क्यों ढोते हो? बुडिल ने कहा कि मैं गायत्री का सब कुछ जानता हूँ। किन्तु उसका मुख क्या है यही नहीं जानता हूँ? तब राजा जनक ने बुडिल को गायत्री के मुख का उपदेश करते हुए कहा। हे बुडिल ! गायत्री का मुख यह अग्नि ही है; क्योंकि अग्नि में जो कुछ भी डाला जाता है सबको भस्म कर देती है। इस प्रकार जो गायत्री के इस अग्नि मुख को जानता है। अग्नि उस पुरुष के समस्त पापों का भक्षण करके शुद्ध, पवित्र, अजर, अमर कर देता है।[138] यहाँ पर अग्नि को गायत्री विज्ञान के एक मुख के रूप में वर्णित किया गया है। इस अग्नि को पाप नाशक भी बताया गया है। यह पापों को नष्ट करके शुद्ध पवित्र करके अमृतत्त्व प्रदान करने वाला है।

एकर्षि अग्नि : मुण्डकोपनिषद् में एक स्थान पर एकर्षि अग्नि की चर्चा हुई है। इस एकर्षि संज्ञक अग्नि का अनुष्ठान करने से चित्त की शुद्धि होती है। एकर्षि अग्नि का अनुष्ठान करने वाला पुरुष ही ब्रह्मविद्या का अधिकारी होता है।[139]

द्युलोक अग्नि : प्रवाहण ऋषि ने आरुणि के प्रति कहा कि हे गौतम ! द्युलोक ही अग्नि है। अर्थात् द्युलोक को अग्नि के भाव से देखना चाहिए। आदित्य उसका ईंधन है; क्योंकि ईंधन जिस प्रकार अग्नि को दीप्त करता है। उसी प्रकार आदित्य द्युलोक को प्रकाशित करता है। धूएँ के समान निकलने के कारण किरणें ही धूम हैं। प्रकाश में समानता होने के कारण दिन ही ज्वाला के समान है। आचार्य शंकर कहते हैं कि उपशम में समानता होने के कारण दिशाएँ अंगारों के समान हैं। चिनगारियों के समान बिखराव होने से जो अवान्तर दिशाएँ हैं, जैसे ऊर्ध्व, अध:, नैऋत्या, ईशान्या, वायव्या, आग्नेया आदि विस्फुलिंग हैं। इस प्रकार की द्युलोक रूप अग्नि देवताओं की है। देवता लोग इस अग्नि में हवन करते हैं।[140]

छान्दोग्योपनिषद् में भी द्युलोक को अग्नि कहा गया है।[141] इस द्युलोक रूप अग्नि को ही परमात्मा का मुख्य अंग मस्तक बताया गया है। चन्द्रमा और सूर्य उस परमात्मा के दो

---

138 तस्या: अग्निरेव मुखं यदि ह वा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधति सर्वमेव तत् संहत्येवं ....बह्विव पापं कुरुते सर्वमेव तत् संप्साय शुद्ध: पूतोऽजरोऽमृत: संभवति। -बृ.उ.5.14.8

[139] मु.उ.3.2.10

[140] असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तर दिशो विस्फुलिंगास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा: श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा सम्भवति। -बृ.उ.6.2.9

[141] असौ वाव लोको गौतमाग्नि। -छा.उ.5.4.1

नेत्र हैं। दिशाएँ कर्ण हैं। वेद ही जिसकी वाणी है। वायु उस परमात्मा का प्राण है। यह सम्पूर्ण विश्व उसका हृदय है। इस प्रकार के शरीरिक अंगों से युक्त पुरुष को शंकराचार्य ने विष्णु संज्ञा से अभिहित किया है।

पर्जन्य अग्नि : ऋषियों ने मेघ को भी अग्नि के रूप में देखा है। प्रवाहण ऋषि गौतम को पर्जन्य अग्नि का उपदेश करते हुए कहा है कि मेघ में अग्नि की दृष्टि रखनी चाहिए। भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है कि छ: ऋतुओं से युक्त संवत्सर ही इस अग्नि का समिध् है, जिसके द्वारा मेघ रूप अग्नि प्रदीप्त होती है। धूम से समानता होने के कारण बादल ही धूम हैं। ज्वाला से समानता रखने के कारण विद्युत् ही ज्वाला है। कठोरता में समानता होने के कारण इन्द्र का वज्र ही अंगार है। मेघ गर्जन विस्फुलिंग के समान है। इस पर्जन्य रूप अग्नि में देवगण सोम का हवन करते हैं। ऋषि के मत में देवताओं के द्वारा इस पर्जन्य रूप अग्नि में हवन करने से वृष्टि होती है।[142]

इहलोक अग्नि : प्रवाहण ऋषि ने गौतम से इहलोक अग्नि का उपदेश करते हुए कहा कि हे गौतम! प्राणियों का आश्रयभूत यह लोक ही अग्नि है। पृथिवी इसका समिध् है। प्राणियों के अनेक भोगों से सम्पन्न इस पृथिवी से ही यह लोक प्रदीप्त होता है। समिध् से धूम उठने के समान पृथिवी से अग्नि की ज्वालाएँ उठती हैं। अत: अग्नि ही इहलोक अग्नि के धूम के समान है। रात्रि इसकी ज्वाला के समान है; क्योंकि अग्नि रात्रि में अधिक प्रदीप्त होती है। अंगार से समानता होने के कारण चन्द्रमा ही अंगार है। इधर-उधर छिटकाव में समानता होने के कारण नक्षत्र ही विस्फुलिंग के समान हैं। इस इहलोक अग्नि में देवता वृष्टि की हवन करते हैं, जिससे अन्न उत्पन्न होता है।[143]

पुरुष अग्नि : हाथ, पाद, सिर आदि अवयवों से युक्त यह पुरुष ही अग्नि के समान है। खुले हुए मुख से पुरुष शुभ वाणी बोलता है, जिससे वह विद्वानों की सभा में प्रदीप्त (यशस्वी) होता है। अत: उसका खुला हुआ मुख ही समिध् के समान है। जैसे समिध् से धूम निकलता है। उसी प्रकार मुख से बहिर्गमन रूप वायु (प्राण) निकलता है। अत: प्राण ही धूम के समान है। वाक् भी प्रकाशित होती है और ज्वाला भी प्रकाशित होती है। अत:

---

[142] पर्जन्यो वा अग्निर्गौतम तस्य संवत्सर एव समिदभ्राणि धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गाराह्राहुनयो विस्फुलिंगास्तस्मिन्ने तस्मिन्नग्नौ देवा सोमं राजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टि: संभवति। - वहीं,6.2.10

[143] अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्य पृथिव्येव समिदग्निर्धूमो रात्रिरर्चिश्चन्द्रमा अंगारा नक्षत्राणि विस्फुलिंगास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नं संभवति। - वहीं,6.2.11

वाक् ही ज्वाला है। इसी प्रकार नेत्र ही अंगारे हैं। श्रोत्र विस्फुलिंग है। इस अग्नि में देवता अन्न की आहुति देते हैं तो वीर्य बनता है।[144]

योषाग्नि : प्रवाहण ने गौतम से कहा कि स्त्री ही अग्नि है। उपस्थ से प्रदीप्त होती है। अत: उपस्थ ही उसका समिध् है। समिध् से उठने में समानता होने के कारण लोम ही धूम के समान है। आचार्य शंकर के मत में वर्ण में समानता होने के कारण योनि ही ज्वाला है, जो अन्तर्दिक् मैथुन व्यापार होता है। वह अंगार है। क्षुद्रत्व में समानता होने के कारण क्षणिक आनन्द ही विस्फुलिंग है। उस अग्नि में देवगण वीर्य का हवन करते हैं**,** जिससे पुरुष उत्पन्न होता है।[145]

अतिथि अग्नि : कठोपनिषद् में अतिथि अग्नि की भी चर्चा हुई है। ब्राह्मण पुरुष जब अतिथि के रूप में घर पर आता है, तब वह अग्नि के समान तेजस्वी और खतरनाक होता है। यदि उस ब्राह्मण अतिथि को सेवा, सत्कार आदि के द्वारा प्रसन्न न किया जाय तो वह अग्नि की भाँति धन, वैभव, शील, सदाचरण आदि का नाश करने वाला होता है। अग्नि तो सिर्फ स्थूल वस्तुओं को जलाती है, जबकि अतिथि अग्नि पुण्य कर्मों को भी जला देने वाली होती है। अग्नि को शांत करने का उपाय जल है। अतिथि अग्नि को जल, भोजन, सेवा सत्कार आदि से शांत करना पड़ता है।[146]

ब्राह्मण अतिथि रूप अग्नि प्रज्वलित (क्रोधित) होने पर किन-किन का नाश करती है इस का उल्लेख करते हुए लिखा गया है कि इच्छाएँ, कर्मफल, प्रियवाणी से होने वाले फल, इष्ट तथा पूर्त कर्म, समस्त पुत्र एवं पशुओं को भी नष्ट कर देता है।

ज्ञानाग्नि : अद्वैतवेदान्त में ज्ञान से मुक्ति मानी गयी है। शंकाराचार्य ने ज्ञान को परिभाषित करते हुए लिखा है, *'शास्त्रत: आचार्यतः च आत्मादीनाम् अवबोधः ज्ञानं विशेषतः तदनुभवः विज्ञानम्'।*[147] शास्त्र या आचार्य के द्वारा आत्मा आदि के विषय में

---

144 पुरुषो वा अग्निर्गौतम तस्य व्यात्तमेव समित् प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गारा: श्रोत्रं विस्फुलिंगास्तस्मिन्नेतस्मिन् अग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुत्यै रेत: संभवति। - वहीं,6.2.12

[145] योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्त: ...। - वहीं,6.2.13

[146] वैश्वानरोऽग्निरेव साक्षात् प्रविशत्यतिथिः सन्ब्राह्मणो गृहान्दहन्निव तस्य दाहं शमयन्त। -कठ.उ.1.1.7, शां.भा.

[147] भग.गी. 3.41,शां.भा.

जानना ही ज्ञान है। उस ज्ञान का चिन्तन, मनन, निदिध्यासन के द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। यह ज्ञान वस्तुतः संचित कर्मों को दग्ध कर देता है। श्रीमद्भगवद्गीता में निष्काम कर्म रूप ज्ञान को अग्नि के समान बताया गया है।[148] इसके पूर्व के अध्यायो में यह बताया जा चुका है। निष्काम कर्म से चित्त शुद्धि होती है। चित्त शुद्धि का तात्पर्य है कि चित्त में स्थित सकाम कर्मों के संस्कारों को नष्ट करना। इस संस्कार से ही पुनर्जन्म की प्राप्ति होती है। अज्ञानपूर्वक किये गये आसक्ति युक्त कर्मों को सकाम कर्म कहते हैं। अर्थात् निष्काम कर्म विषयक अज्ञान से पुरुष सकाम कर्मों में प्रवृत्त होता है। सकाम कर्म से चित्त की अशुद्धि बढ़ती है। चित्त की इस अशुद्धि को निष्काम कर्म के ज्ञान से ही समाप्त किया जा सकता है।[149]

वस्तुतः निष्काम कर्म करना ईश्वर का गुण है**,** जिस प्रकार सर्वज्ञ होना, सर्वशासक होना, सर्वशक्तिमान् होना, सर्वव्यापकता, चेतनता आदि परमात्मा के गुण हैं। उसी प्रकार निष्काम कर्म भी ईश्वर का गुण है। निष्काम कर्म का चिन्तन अर्थात् ईश्वर के गुणों का चिन्तन है। ईश्वर के गुणों के चिन्तन के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने की प्रक्रिया ज्ञान योग है। ज्ञानयोग के एक अंशभूत निष्काम कर्म रूप गुण का चिन्तन करके, उसका निदिध्यासन करके मोक्ष प्राप्त करने की प्रक्रिया निष्काम कर्म योग है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि सभी ज्ञान अग्नि के समान नहीं हैं। ईश्वर विषयक ज्ञान को छोड़कर अन्य सभी ज्ञान अग्नि के समान नहीं हैं। ज्ञान तद्विषयक अज्ञान को अवश्य दूर करता है। किन्तु ईश्वर विरोधी जड़ जगत् विषयक ज्ञान उत्पन्न होकर जीवात्मा को बन्धन ही देता है। अपरा प्रकृति (जड़ जगत्) विषयक ज्ञान संसार में आसक्ति उत्पन्न करता है। यह आसक्ति जन्म-मृत्यु रूप बन्धन को उत्पन्न करती है। किन्तु ईश्वर ज्ञान कर्म संस्कारों को नष्ट करके सभी प्रकार के बन्धन को नष्ट करने वाला है।

ज्ञान अग्नि की उपमा अग्नि से देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि काष्ठादि ईंधन को जलाकर नष्ट कर देती है। उसी प्रकार ज्ञानाग्नि भी सभी कर्मों को भस्म कर देती है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुते अर्जुन।

---

[148] ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः। -भग.गी.4.19

[149] कर्मादौ अकर्मादिदर्शनं ज्ञानं तद् एव अग्निः तेन ज्ञान अग्निना दग्धानि शुभाशुभलक्षणानि।- वहीं,4.19, शां.भा.

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥[150]

इस विषय में शंकराचार्य का कहना है कि ज्ञानाग्नि सीधे कर्मों को नष्ट नहीं करती है। केवल कर्मों को निर्बीज कर देती है। निर्बीज हो जाने से कर्म पुनर्जन्म रूप फल को देने में असमर्थ हो जाते हैं।

ब्रह्म अग्नि : अद्वैतवेदान्त में केवल ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार की गयी है। उस चेतन ब्रह्म के अतरिक्त जो कुछ भी है। सब सीपी में रजत् की तरह भ्रम मात्र है। यह दृष्टि केवल तभी आ सकती है। जब पुरुष को ब्रह्म ज्ञान उत्पन्न होता है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष को सभी पदार्थ ब्रह्ममय दिखायी देता है। सभी सांसारिक पदार्थ दिखायी देते हैं किन्तु इन सब की स्थिति सीपी में दिखायी देने वाले रजत् की भाँति है। ब्रह्मविद् पुरुष हवि करते समय सबको ब्रह्ममय देखा करता है। अग्नि को भी ब्रह्म के रूप में देखता है। हवि डालने वाले को भी ब्रह्म के रूप में देखता है। इसी सन्दर्थ में श्रीमद्भगवद्गीता में अग्नि को ब्रह्माग्नि शब्द से बोधित किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में ब्रह्माग्नि शब्द का अर्थ है ब्रह्म रूप अग्नि। पारमार्थिक दृष्टि से यह अग्नि ब्रह्म रूप है। किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से अग्नि है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना॥[151]

पारमार्थिक दृष्टि से इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि ब्रह्मरूप अग्नि में ब्रह्म ही ब्रह्म के द्वारा ब्रह्म की हवि प्रदान करता है; क्योंकि ब्रह्म दृष्टि रखने वाले पुरुष को सब कुछ ब्रह्ममय ही दिखायी देता है।

संयम अग्नि : श्रीमद्भगवद्गीता में संयम को भी एक प्रकार की अग्नि बतायी गयी है; क्योंकि योगी पुरुष संयम रूप अग्नि में इन्द्रियों का हवन किया करते है। दूसरे लोग शब्द आदि विषयों को इन्द्रियों में हवन करते हैं। इसलिए इन्द्रियाँ भी अग्नि हैं।[152] श्रीमद्भगवद्गीता में प्राण और अपान के विषय में भी हवन करने का विधान किया गया

---

[150] वहीं,4.37
[151] वहीं,4.24
[152] वहीं,4.26

है।[153] किन्तु यहाँ जिसमें हवि की जा रही है। उसे अग्नि नहीं कहा गया है; क्योंकि जिस तत्त्व पर साधक विजय प्राप्त कर लेता है, उसे ही अग्नि की संज्ञा दी गयी है**,** जिस पुरुष का संयम सिद्ध हो जाता है। वह पुरुष संयम में ही सभी इन्द्रियों का हवन करता है**,** जितेन्द्रिय पुरुष अपनी इन्द्रियों में ही इन्द्रिय विषयों का हवन करता है। किन्तु प्राण और अपान के विषय में किञ्चित् भिन्नता है। पूरक क्रिया में प्राण वायु को अपान वायु में हवन किया जाता है और रेचक क्रिया में अपान वायु को प्राण में हवन किया जाता है।

अग्निविद्या : कठोपनिषद् में स्वर्ग की साधनभूता अग्निविद्या का उल्लेख है। यमराज ने नचिकेत के प्रति द्वितीय वर के रूप में अग्निविद्या का उल्लेख किया है। यहाँ सम्भवत: स्वर्ग को ही अनन्तलोक कहा गया है। इस अग्निविद्या का भौतिक रूप यज्ञीय है जिसमें ईंटों का प्रयोग होता है। अत: नचिकेता के प्रति यमराज ने ईंटों के आकार प्रकार का भी जिक्र किया था। किन्तु कठोपनिषद् में इस अग्निविद्या का विस्तृत उल्लेख नहीं है।[154]

आयुर्वेद के अनुसार मानव शरीर अनेक प्रकार की अग्नियों का समूह है। इसमें 13 प्रकार की अग्नियाँ सम्मिलित हैं। एक जठराग्नि, सात धात्वाग्नियाँ और पाँच प्रकार की भूताग्नियाँ।[155]

1- **जठराग्नि** : यह अग्नि केवल एक प्रकार की है। इसे पाचक अग्नि या कायाग्नि के नाम से भी जाना जाता है। इसका स्थान आमाशय और पक्वाशय के बीच नाभि प्रदेश में बताया गया है।[156] यह अग्नि खाये गये अन्न को पचाने का काम करती है। अन्न को पचाकर शरीर के अनुकूल बनाती है। जठराग्नि पाक क्रिया द्वारा भोजन में आरम्भिक परिवर्तन करती है और आयु, वर्ण, स्वर, बल, ऊर्जा, शारीरिक वृद्धि, उत्साह, ओज, शारीरिक ताप और अन्य अग्नियों को क्रियाशील बनाये रखने में

---

[153] अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे। - वहीं,4.29

[154] कठ.उ.1.1.13-15

[155] चरक चिकित्सा स्थान-15.13, प्रमुख उपनिषदों में शरीर और इन्द्रिय की अवधारणा, मेघराज मीणा, लघुशोधप्रबन्ध, पृ.44

156 अष्टांग हृदय सूत्र स्थान, प्रमुख उपनिषदों में शरीर और इन्द्रिय की अवधारणा, मेघराज मीणा, लघुशोधप्रबन्ध, पृ.44

सहायता करती है।[157] जठराग्नि की निम्नलिखित चार अवस्थायें हो सकती हैं: 1- विषमाग्नि 2- तीक्ष्णाग्नि 3- मन्दाग्नि 4- समाग्नि।

2- **धात्वग्नियाँ** : धातु अग्नियों की संख्या सात है। जठराग्नि और भूताग्नि की सहायता से पंचभूतात्मक रूप को प्राप्त हुआ अन्नरस जब धात्वाशय में पहुँचता है। तो धात्वाग्नियाँ पुन: उसका पाचन करती हैं, जिससे अन्नरस, रसरक्त, आदि धातुओं में बदल जाता है। सात धातुओं की संख्या के अनुसार अग्नियाँ भी सात बतायी गयी हैं। 1- रसाग्नि 2- रक्ताग्नि 3- मांसाग्नि 4- मेदोऽग्नि 5- अस्थि अग्नि 6- मज्जाग्नि 7- शुक्राग्नि।[158]

3- **भूताग्नि :** भूताग्नि का स्थान यकृत में बताया गया है। महाभूतों की संख्या के अनुसार इनकी संख्या भी पाँच है- भौमाग्नि, आप्याग्नि, आग्नेयाग्नि, वाय्वाग्नि, आकाशाग्नि।[159]

2.2- सूर्य का प्रकाशात्मक रूप : प्रश्नोपनिषद् में सूर्य के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सूर्य सर्वरूप, किरणों वाला या रश्मियों वाला, ज्ञान सम्पन्न, सभी प्राणियों को आश्रय देने वाला, ज्योतिर्मय अर्थात् सभी प्राणियों के नेत्र स्वरूप, इस प्रकार की विशेषताओं से युक्त सूर्य को ब्रह्मवेत्ताओं ने आत्मस्वरूप से जाना है।

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं, परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।

सहस्त्ररश्मिः शतधा वर्तमानः, प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः॥[160]

---

[157] आयुर्बल स्थितिरिति अन्नपाचकाग्नि स्थितौ आयुर्बलास्थित्या अत्येऽप्यातिप्रेया वर्णादयो लक्षणीया:- चक्रपाणि, प्रमुख उपनिषदों में शरीर और इन्द्रिय की अवधारणा, मेघराज मीणा, लघुशोधप्रबन्ध, पृ.45

[158] सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुन: । यथा स्वमग्निभि: पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत्। च.चि.15.15, प्रमुख उपनिषदों में शरीर और इन्द्रिय की अवधारणा, मेघराज मीणा, लघुशोधप्रबन्ध, पृ.45

[159] भौमाप्याग्नेयवायव्या: पंचमोष्माण: सनाभसा: -च.चि.15.13, प्रमुख उपनिषदों में शरीर और इन्द्रिय की अवधारणा, मेघराज मीणा, लघुशोधप्रबन्ध, पृ.45

[160] प्रश्न.उ.1.8

मनु आदि आचार्यों के मत में सूर्य की किरणें वर्षा कराने में सहायक होती हैं। इन सूर्य की किरणों पर यज्ञीय धूम्र का प्रभाव पड़ता है। यज्ञीय धूम्र से सूर्य की किरणों को पोषण प्राप्त होता है। इन किरणों से ही वर्षा होती है।[161] श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार भी सूर्य की किरणें वर्षा कराने में सहायक होती हैं।[162] उस जल से अन्न और अन्न से जीव बनता है।[163]

सूर्य को ऋग्वेद में जगत् का आत्मा बताया गया है; क्योंकि इस सूर्य से ही पृथिवी पर सभी प्राणी जीवित है। सभी अग्नियों का कारण भी सूर्य है।[164] छान्दोग्य उपनिषद् में बताया गया है कि आदित्य (सूर्य) 'ओम्' ऐसा उच्च स्वर में घोष करते हुए गमन करता है।[165]

सूर्य जिस-जिस दिशा में गमन करता है। उस-उस दिशा के प्राणो को अपनी किरणों में धारण करता है। जब पूर्व दिशा में होता है तो पूर्व दिशा के प्राणों को अपने में धारण करता है। इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊपर, नीचे आदि अवान्तर दिशाओं में होने पर या इन दिशाओं को प्रकाशित करने पर इन दिशाओं के प्राणों को अपनी किरणों में धारण करता है।[166] समष्टि और व्यष्टि के भेद से इस प्राण के भी दो भेद है। समष्टि रूप प्राण वैश्वानर अग्नि है और व्यष्टि रूप प्राण विश्वरूप अग्नि है।

उपनिषद् कहती है कि जीवात्मा इस शरीर से मृत्यु के उपरान्त सर्वप्रथम वायु को प्राप्त होता है। इस वायु को पार करने के लिए वायु स्वयं छिद्रयुक्त हो जाता है। उस छिद्र से जीवात्मा वायु को पार कर जाता है। छिद्र का परिमाण रथ के पहिए की धुरी के बराबर होता है। फिर सूर्य को प्राप्त हो जाता है। सूर्य भी प्रसन्न होकर अपने अन्दर मार्ग दे देता है। सूर्य के द्वारा दिये गये मार्ग का परिमाण लम्बर बाजे के छिद्र के बराबर होता है। उसमें से होकर जीवात्मा सूर्य से ऊर्ध्ववर्ती चन्द्रलोक में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार चन्द्रमा भी मार्ग दे देता है। चन्द्रमा के द्वारा दिये गये मार्ग का परिमाण दुन्दुभि के छिद्र

---

[161] अग्नौ प्रास्ताहुति: सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं तत: प्रजा:। -मनु.3.76
[162] तापाम्यहमहं वर्षं ....। -भग.गी.9.19
[163] अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभव:। - वहीं,3.14
[164] सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। -ऋ.सं.1.8.7
[165] ओमिति ह्येष स्वरन्नेति, छा.उ.1.5.1
[166] प्रश्न.उ.1.6

के बराबर होता है। इस प्रकार चन्द्रलोक को पार करने के उपरान्त वह जीवात्मा ब्रह्मलोक को प्राप्त हो जाता है।[167]

प्रश्नोपनिषद् में एक उदाहरण के माध्यम से सूर्य और उसकी किरणों की उपमा मन तथा इन्द्रियों से दी गयी है, जिस प्रकार सूर्यास्त के समय सूर्य की किरणें सूर्य में लीन हो जाती हैं और सूर्योदय के समय पुनः प्रकट हो जाती है। उसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ मन की किरणों के समान है। ये इन्द्रियाँ भी मन के अधीन हैं। ये इन्द्रियाँ भी सूर्यमण्डल में किरणों के समान मन से अभिन्नता को प्राप्त हो जाती है। फिर जागते हुए पुरुष के मन से ये इन्द्रियाँ पुनः प्रकट हो जाती है और अपने व्यापार में प्रवृत्त हो जाती हैं।

अद्वैतवेदान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य शंकर सूर्य के प्रकाश को नित्य मानते हैं। ब्रह्म के प्रकाश की नित्यता दिखलाने के लिए सूर्य के प्रकाश की तुलना भी करते हैं। उनके मत में जिस ज्ञान को साधनों की अपेक्षा होती है। वह अनित्यज्ञान होता है। जैसे पुरुष के ज्ञान की उत्पत्ति के लिए प्रमाण, शास्त्र आदि साधनों की अपेक्षा होती है। इस संसारी जीव के ज्ञानोत्पत्ति में शरीर की भी अपेक्षा होती है। शरीर के न होने पर ज्ञानोत्पत्ति नहीं हो सकती है। किन्तु ईश्वर को इन साधनों की अपेक्षा नहीं रहती है। इसलिए ईश्वर का ज्ञान नित्य है।[168] शंकराचार्य ने यद्यपि यहाँ सूर्य के प्रकाश को नित्य अवश्य बताया है। फिर भी अन्तिम कारण ब्रह्म को ही मानते हैं। ब्रह्म के ही प्रकाश से सूर्य तपता है।[169] इससे सूर्य का प्रकाश भी परिणामी नित्य सिद्ध होता है।

'*एवमेष ह वा अश्वमेधो य एष तपति*'[170] के द्वारा सूर्य को अश्वमेध कहा गया है, जो कि सभी लोकों को प्रकाशित करने वाला होता है। यह सूर्य ही यज्ञ का फल है। संवत्सर ही इसका शरीर है; क्योंकि सूर्य से ही संवत्सर निष्पन्न होता है। जबकि अग्नि यज्ञ का

---

[167] बृ.उ.5.10.1

[168] सवितृप्रकाशवद् ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपनित्यत्वे ज्ञानसाधनापेक्षानुपपत्तेः। -ब्र.सू.239

[169] येन सूर्यो तपति तेजसेद्धा।–श्वे.उ.6.14, शां.भा.

[170] बृ.उ.1.2.7

साधनभूत होने से अर्क है।[171] इस प्रकार अर्क और अश्वमेध क्रमश: यज्ञ और फल हैं। अर्क पार्थिव अग्नि है और अश्वमेध आदित्य होने से यज्ञफल है।[172]

सूर्य और चक्षु के परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए ऐतरेय आरण्यक में कहा गया है कि सूर्य ने चक्षु इन्द्रिय होकर नेत्र गोलक में प्रवेश किया।[173] यहाँ पर आदित्य देवता के आधिदैविक स्वरूप के विषय में बताया गया है कि आदित्य ने चक्षु इन्द्रिय का रूप धारण करके नेत्र में प्रवेश किया। इससे ज्ञात होता है कि अक्षि एक माध्यम है, जो अचेतन होने से स्वतः रूप का ज्ञान नहीं कर सकती है। उस अक्षि रूप खाली स्थान में चेतन आदित्य देवता वास करता है। वही रूपादि विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। नेत्र गोलक में बैठा हुआ वह आदित्य देवता चेतन होने से स्वरूपतः ब्रह्म है। किसी पुरुष के नेत्र में देखने पर जो पुरुष दिखाया देता है, वह चेतन ब्रह्म ही है। यद्यपि ब्रह्म नेत्रेन्द्रिय का विषय नहीं बन सकता है। तथापि नेत्र में देखने पर जो चेतन तत्त्व की अनुभूति होती है। वह चेतन ही अमृत, अभय रूप होने से ब्रह्म ही है।[174]

इस प्रकार सूर्य देवता नेत्र गोलक में स्थित होकर रूप का ग्रहण करने में सहायक होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार सूर्य अपनी रश्मियों के द्वारा चक्षु में स्थित होता है।[175] यह भी एक दृष्टि से उचित प्रतीत होता है; क्योंकि रश्मियाँ ही रूप का ग्रहण करके नेत्र में प्रवेश करती हैं, जिससे रूप का ज्ञान होता है। छान्दोग्य उपनिषद् के ऋषि सभी कर्म फलों की उत्पत्ति में अक्षिपुरुष को कारण बताया है। अर्थात् लोगों को कर्म का फल भी यही देता है।[176]

कठोपनिषद् में सूर्योदय विषयक अवधारणा सम्भवतः प्रथम ही है, जिसमें प्राणात्मा से सूर्य के उदय होने का संकेत किया गया है एवं पुनः सायंकाल उसी प्राणात्मा में सूर्य अस्त हो जाता है। वह प्राणात्मा कोई अन्य तत्त्व नहीं है, अपितु ब्रह्म तत्त्व ही है।[177] उपनिषद्

---

[171] अयं पार्थिवोऽग्निरर्क: साधनभूत:। -वहीं,1.2.7,शां.भा.
[172] वहीं,1.2.7, शां.भा.
[173] आदित्यः चक्षु भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्। -ऐ.आ.2.4.2
[174] य एषो अक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच एतदमृताभयमेतदब्रह्म। -छा.उ.4.15.1
[175] रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः। -बृ.उ.5.5.2
[176] एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति। -छा.उ.4.15.2-4
[177] यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति। -कठ.उ.2.1.9

में वर्णित इस प्रकार की धारणाएँ वास्तविकता से दूर ले जाती हैं। व्यवहारिक जगत् में यह सर्वज्ञात है कि सूर्योदय और सूर्यास्त पृथिवी सापेक्ष हैं। पृथिवी के अपनी धुरी पर घूर्णन करने के कारण ही सूर्योदय और सूर्यास्त होते दिखायी देता है। वास्तविक दृष्टि से सूर्य अपनी जगह पर स्थिर रहता है। फिर कठोपनिषद् में ऐसा क्यों कहा गया है कि सूर्योदय और सूर्यास्त प्राणात्मा से होता है। यह विचारणीय विषय है।

यद्यपि स्थान भेद से सूर्य और प्राण में भेद दिखाई देता है। तथापि तात्त्विक दृष्टि से सूर्य और प्राण एक ही है; क्योंकि सूर्य भी ऊष्ण है और प्राण भी ऊष्ण होता है। इस प्रकार गुण की दृष्टि से सूर्य और प्राण में समानता है। दूसरी समानता गति की दृष्टि से है। प्राण भी गति करता है। इसलिए उसे स्वर कहा जाता है। किन्तु प्राण एक बार निकल जाने के बाद पुन: वापस नहीं आता है। किन्तु सूर्य दिन के अन्त में अस्त होकर पुन: सुबह लौट आता है। इसलिए प्रत्यास्वर कहलाता है।[178]

इस लोक में सूर्य का कितना महत्त्व है। इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि इस सूर्य को स्थावर जङ्गम का आत्मा अर्थात् सार कहा गया है;[179] क्योंकि इस लोक में सूर्य से ही सभी प्राणी प्रवृत्त होते हैं। सभी प्राणी इसी सूर्य से ऊर्जा ग्रहण करते हैं। सूर्य ही इनका पोषक है। सूर्य ही इनका सार तत्त्व है।

भौतिक विज्ञान में सूर्य को भले ही प्रकाश और ऊष्मा का एक अचेतन जड़ रूप पिण्ड माना जाता है। किन्तु भारतीय मनीषियों ने सूर्य को एक जीवित देवता के रूप में देखा है। सूर्य को एक लोक भी माना गया है। जहाँ पर मोक्ष प्राप्त किये हुए अनेक प्राणी रहते हैं। वैशेषिक सूत्रकार कणाद ने तो यहाँ तक माना है कि मृत्यु लोक के समान सूर्य भी एक लोक है। जहाँ पर अनेक प्राणी वास करते हैं। वहाँ के प्राणियों का शरीर भी पंचभूतों से निर्मित है। किन्तु अग्नि तत्त्व की प्रधानता होने के कारण प्राणियों का शरीर अग्निमय रहता है। जैसे पृथिवी लोक के निवासियों के शरीर में पृथिवी तत्त्व की प्रधानता होती है। उसी प्रकार सूर्य लोक वासियों के शरीर में अग्नि तत्त्व की प्रधानता होती है।[180]

---

[178] छा.उ.1.3.2

[179] सूर्यात्मा जगतस्थुषश्च। -ऋ.सं.1.115.1

[180] वै.सू.तेजस् प्रकरण

शंकराचार्य ने श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य में सूर्य को नित्य चेतन प्रकाशमय वर्ण वाला बताया है।[181]

अद्वैतवेदान्त दर्शन में सम्पूर्ण जगत् को परमात्मा का स्वरूप माना गया है। यहाँ प्रत्येक वस्तु का उल्लेख करते हुए उसको परमात्मा का स्वरूप बताया जाय इसका कोई औचित्य नहीं है। इसलिये प्रस्तुत सन्दर्भ में केवल प्रकाश पर ही विचार किया जा रहा है। प्रकाश के सन्दर्भ में ही विवेचन किया जायेगा। पाठक गण को इससे यह कदापि नहीं समझ लेना चाहिये कि अन्य शास्त्रोक्त कथनों को मैं नकार रहा हूँ। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने सभी वस्तुओं को अपना स्वरूप बताने के क्रम में सूर्य को अपना ही स्वरूप बताते हैं।[182] इसी क्रम में उन्होंने बताया है कि अग्नि भी परमात्मा का ही रूप है। परमात्मा ही सूर्य के रूप में ताप देते हैं। वे अलग-अलग कोटि की रश्मियों की भी चर्चा करते हैं। अर्थात् सूर्य से निकलने वाली रश्मियों में से कुछ रश्मियाँ ताप देने वाली होती हैं। कुछ रश्मियाँ वर्षा करने वाली होती हैं। कुछ रश्मियाँ ऐसी भी होती हैं, जो जल को अवशोषित करती हैं।

तापाम्यहमहं वर्षं निगृह्लाम्युत्सृजामि च।

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥[183]

इससे पता चलता है कि सूर्य की किरणें ही वर्षा गर्मी आदि के प्रति कारण होती हैं। सूर्य के उत्तरायण, दक्षिणायन होने पर सूर्य से आने वाली किरणों में भी अन्तर पड़ता है। सम्भवत: इसीलिए सूर्य के दक्षिणायन होने पर वर्षा ऋतु का आगमन होता है। इस आधार पर सूर्य किरणों को तीन रूपों में देखा जा सकता है। एक प्रकार की वे किरणें जो ताप देने वाली होती है। दूसरे प्रकार की किरणें जो वर्षा को आकर्षित करती हैं। तीसरे प्रकार की किरणें वे हैं जो जल को सुखाने वाली होती हैं।

सूर्य के प्रकाश को जब हम एक प्रिज्म से गुजारते हैं। तो सूर्य का प्रकाश सात वर्णों में विभक्त हो जाता है। सात वर्णों के अतिरिक्त भी कुछ तरंगदैर्ध्य के प्रकाश अदृश्य होते हैं।

---

[181] आदित्यस्य इव नित्यचैतन्यप्रकाशो वर्णो यस्य तम् आदित्यवर्णं। - भग.गी.8.9, शां.भा.
[182] वहीं,9.16
[183] वहीं,9.19

दिखाई देने वाले सात वर्णों को देखने पर सभी वर्ण एक दूसरे से निकले हुए दिखाई देते हैं। इसी प्रकार आत्मा से उत्पन्न हुए प्राण, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी आदि भी एक दूसरे से निकले हुए दिखाई देते हैं। इससे ज्ञात होता है कि प्राण, आकाश, वायु आदि ब्रह्म से निकले हुए भिन्न-भिन्न तरंगदैर्ध्य की चेतन प्रकाश की किरणें हैं। तरंगदैर्ध्य एवं आवृत्ति में अन्तर होने के कारण इन सभी में अन्तर प्रतीत होता है। अर्थात् सत्ता में अद्वैत होने के बाद भी संसार में जो भेद दिखाई देता है। उसका कारण चेतन प्रकाश के तरंगदैर्ध्य में अन्तर है। अद्वैतवेदान्त की दृष्टि से देखने पर सभी शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची सिद्ध होते हैं; क्योंकि सभी शब्द एक ही मूल सत्ता का कथन करते हैं। एक ही अद्वैत ब्रह्म है जो सभी भेदों को प्राप्त करता है। घट ब्रह्म है। पट ब्रह्म है। पुष्पादि सभी ब्रह्म हैं। ऐसा भी नहीं है कि ब्रह्म का कोई खण्ड विशेष है, जिसके किसी अंश विशेष का नाम घट, पट, पुष्पादि हो। ब्रह्म अपने सभी भेदों में पूर्ण है। घट में भी ब्रह्म की पूर्णता है और पट में भी पूर्ण है। इससे सिद्ध होता है कि सभी शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची हैं।

यदि भेद की दृष्टि से देखा जाए तो कोई भी शब्द एक दूसरे का पर्याय नहीं है; क्योंकि प्रत्येक शब्द का बुद्धि व्यापार भिन्न-भिन्न होता है। प्रत्येक शब्द अपने विशेष्य के एक विशेषण को कहता है। जैसे सत्, चित्, आनन्द भले ही ब्रह्म के स्वरूप लक्षण हैं किन्तु तीनों शब्दों का उच्चारण करने में बुद्धि व्यापार और दृष्टिकोण में अन्तर होता है। इसी प्रकार साहित्य में पंकज और सरोज शब्द पर्याय के रूप में प्रसिद्ध हैं। किन्तु पंकज शब्द 'कीचड़ में उत्पन्न हुए' अर्थ का कथन करता है और सरोज शब्द 'तालाब में उत्पन्न हुए' अर्थ को कहता है। इसलिए कोई भी शब्द एक दूसरे का पर्यायवाची नहीं है। प्रत्येक शब्द के पर्यायवाची न होने से प्रत्येक शब्द एक विशेषण है और वह एक ही विशेष्य ब्रह्म को अलग-अलग विशेषणों के द्वारा कथन करता है। अत: प्रत्येक शब्द के अर्थ रूप विशेष्य एक दूसरे से पृथक् होते हैं। इससे जाना जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु चेतन ब्रह्म का पृथक् प्रकाश है; क्योंकि प्रत्येक वस्तु एक दूसरे से पृथक् है।

छान्दोग्य उपनिषद् में सूर्य के लिए आदित्य शब्द आया है। इस आदित्य के दो वर्णों की चर्चा हुई है। शुक्लज्योति और नीलवर्ण। नीलवर्ण शुक्लवर्ण में प्रतिष्ठित होने से श्रेष्ठ है।

यह उसी प्रकार जैसे साम ऋक् में प्रतिष्ठित है। इसलिए नीलवर्ण में सामदृष्टि तथा शुक्लवर्ण में ऋक्-दृष्टि से उपासना करनी चाहिए।[184]

उषस्ति के मत में सभी भूत ऊँचे उठे आदित्य का ही स्तवन करते हैं।[185] छान्दोग्य उपनिषद् में एक स्थान पर देवता, वरुण, प्रजापति तथा सूर्य देवता की अन्नदाता के रूप में स्तुति की गयी है।[186] शंकराचार्य ने यहाँ आदित्य को देव शब्द का वाच्य माना है। वरुण एवं प्रजापति शब्द की भी व्युत्पत्ति की है, *'देवो द्योतनात्, वरुणो वर्षणाज्जगतः, प्रजापतिः पालनात्प्रजानाम्, सविता प्रसवितृत्वात्सर्वस्यादित्य उच्यते'।*[187]

आदित्य का आकार प्रकार बतलाते हुए कहा गया है कि पांच ऋतुएँ इस आदित्य के पांच पैर हैं; क्योंकि इन्हीं ऋतुओं के द्वारा यह उत्तरायण से दक्षिरायण तथा पुनः दक्षिणायन से उत्तरायण की और घूमता रहता है। ग्रीष्म, वर्षा, (हेमन्त + शिशिर) शरद, वसन्त ये पांच ऋतुएँ ही आदित्य के पांच पाद है।[188] सभी प्राणियों का उत्पत्तिकर्ता होने के कारण इसे पिता कहा जाता है। बारह महीनों के द्वारा उसका अवयवीकरण किया जाता है। इसलिए उसे द्वादशाकृति के नाम से जाना जाता है। जल वाला होने से उसे पुरीष भी कहा जाता है।[189]

कालवेत्ताओं ने आदित्य को सर्वज्ञ भी बतलाया है। वह आदित्य सात चक्रों से युक्त है। शंकराचार्य ने इन सात चक्रों को सात घोड़ों के रूप में बताया है।[190] यह आदित्य छः अरों वाला भी है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में भूः भुवः सुवः और महः ये चार प्रकार की व्याहृतियाँ बतायी गयी हैं**,** जिनमें महः व्याहृति आदित्य है; क्योंकि चार व्याहृतियों में चौथी व्याहृति महः भी महान है और आदित्य भी महान है। इस आदित्य से ही समस्त लोक वृद्धि को प्राप्त करता

---

[184] छा.उ.1.6.5
[185] सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति। - वहीं,1.11.7
[186] देवो वरुणः प्रजापतिः सविता....।- वहीं,1.12.5
[187] वहीं,1.12.15
[188] हेमन्तशिशिरावेकीकृत्येयं कल्पना।-प्रश्न.उ.1.11, शां.भा.
[189] पुरीषिणं पुरीषन्तमुदकवन्तमाहुः कालविदः।- वहीं,1.1, शां.भा.
[190] सप्त चक्रे सप्तह्य रूपेण। - वहीं,1.11, शां.भा.

है।[191] वहीं अधिज्योतिष महासंहिता में आदित्य को उत्तरभाग कहा गया है और अग्नि को पूर्व भाग कहा गया है।

छान्दोग्य उपनिषद् में आदित्य को देवताओं का मधु कहा गया है; क्योंकि यह आदित्य देवताओं को प्रसन्न करने वाला होता है। द्युलोक ही अन्तरिक्ष रूपी छत्तों का आश्रय है, जिसमें अन्तरिक्ष रूपी छत्ता लटका रहता है। अन्तरिक्ष में फैलने वाली आदित्य की किरणें ही मधुमक्खियाँ हैं।[192] अन्तरिक्ष छत्तों के समान है, जिसके सभी दिशाओं में छिद्र विद्यमान् हैं। आदित्य की पूर्वदिशा में जाने वाली किरणें ही इस छत्ते के पूर्व दिशा के छिद्र हैं, जिसमें आदित्य रूप मधु विद्यमान् होता है। आदित्य का लोहित रूप ही उसका रस है।[193] इसी प्रकार आदित्य की दक्षिण-दिशा की किरणें उसकी दक्षिण-दिशावर्तिनी मधुनाड़ियाँ हैं, जिसमें मधु विद्यमान् होता है। यजुर्वेद ही पुष्प है, जिससे मधु का आधान किया जाता है। यजुर्वेद के मन्त्र ही मधुकर हैं।[194]

आदित्य का शुक्ल रूप ही अन्तरिक्ष रूपी छत्ते का दक्षिण दिशावर्ती मधु है। आदित्य की पश्चिम-दिशा की रश्मियाँ ही अन्तरिक्ष रूप छत्ते की पश्चिम-दिशावर्ती छिद्र हैं। सामवेद विहित कर्म ही पुष्प हैं, जिससे साम मन्त्र रूपी मधुकर रस का आदान करते हैं। आदित्य का कृष्ण तेज ही दक्षिण-दिशावर्ती मधु है।[195] आदित्य की जो उत्तर-दिशा की किरणें हैं। वे ही उत्तर-दिशा की मधुनाड़ियाँ हैं। अथर्ववेद के मन्त्र ही मधुकर हैं, जो इतिहास, पुराण आदि पुष्प से मधु का संग्रह करते हैं। आदित्य का कृष्ण रूप ही उस मधु का रस है।[196] आदित्य की ऊर्ध्व रश्मियाँ ही ऊपर वाली नाड़ियाँ हैं, जिसमें रस भरा होता है। गुह्य आदेश ही मधुकर हैं, जो रस का संचय करता है। प्रणव रूप ब्रह्म ही पुष्प है। आदित्य के मध्य में जो गति सा दिखायी देता है, वही रस है।[197] जो पुरुष सूर्य के लोहित

---

[191] आदित्येन वाव सर्वे लोका: महीयन्ते। -तै.उ.1.5.2
[192] असौ वा आदित्यो देव मधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवँशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचय: पुत्रा:। -छा.उ.3.1.1
[193] वहीं,3.1.4
[194] वहीं,3.2.1
[195] वहीं,3.3.1-3
[196] वहीं,3.4.3
[197] वहीं,3.5.1-4

रूप की उपासना करता है। वह वसुओं के आधिपत्य होकर स्वाराज्य को प्राप्त करता है। किन्तु इस स्वाराज्य का भी समय निर्धारित है। ऋषि कहते हैं कि जब तक आदित्य पूर्व दिशा में उदित होता है और पश्चिम दिशा में अस्त होता है। तब तक विद्वान वसुओं के आधिपत्य में रहता है।[198]

आदित्य अन्तर्गत विद्यमान् अमृत का दूसरा रूप शुक्ल रूप है। इस शुक्लरूप अमृत के अधिष्ठातृ देवता इन्द्र प्रधान रुद्र हैं, जो पुरुष आदित्य के शुक्लरूप की उपासना करता है। वह रुद्र को प्राप्त होता है। ऐसा पुरुष रुद्रों के आधिपत्य होकर स्वाराज्य को प्राप्त करता है। ऋषि के मत में आदित्य जितने समय तक पूर्व में उदित होता है और पश्चिम में अस्त होता है। उससे दुगने समय तक वह दक्षिण से उदित होता है और उत्तर में अस्त होता है। इस दुगने समय तक पुरुष रुद्रों के आधिपत्य में स्वाराज्य को प्राप्त करता है।[199] आदित्य के अन्तर्गत तीसरा अमृत कृष्ण रूप है। सभी साधक वरुण देवता के आश्रित होकर जीवन धारण करते हैं, जो पुरुष आदित्य के इस तीसरे रूप की उपासना करता है। वह वरुण के आधिपत्य में ही स्वाराज्य को धारण करता है। इस स्वाराज्य का समय बताते हुए कहा गया है कि आदित्य जितने समय तक दक्षिण से उदित होता है और उत्तर में अस्त होता है। उससे दुगने समय तक पश्चिम में उदित होता है और पूर्व में अस्त होता है। इतने समय तक वह वरुण के आधिपत्य में स्वाराज्य प्राप्त करता है।[200] आदित्य का चौथा रूप अत्यन्त कृष्ण है। सोम की प्रधानता से मरुद्गण इसके आश्रित होकर जीवन धारण करते है, जो पुरुष आदित्य के इस चौथे रूप की उपासना करता है। वह मरुद्गणों के आधिपत्य में स्वाराज्य को प्राप्त करता है। इन पुरुषों के स्वाराज्य का काल आदित्य के उत्तर से उदित होने तथा दक्षिण में अस्त होने तक रहता है।[201]

आदित्य का पाँचवा रूप उसके मध्यवर्ती अधिदैवत रूप है। साधकगण ब्रह्मा की प्रधानता से उसके आश्रय में रहते हैं। आदित्य के इस अधिदैवत स्वरूप की उपासना करने वाले पुरुष ब्रह्मा के आधिपत्य होकर स्वाराज्य को प्राप्त करते हैं। इनके स्वाराज्य के प्राप्ति का समय आदित्य के ऊपर की ओर उदित होने से नीचे की ओर अस्त होने तक होता है।

---

[198] स यावदादित्य: पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमता वसूनामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता'।-वहीं,3.6.4
[199] वहीं,3.7.4
[200] वहीं,3.8.4
[201] वहीं,3.9.4

अर्थात् आदित्य जितने समय तक ऊपर की ओर उदित होता है और नीचे की ओर अस्त होता है। उतने समय तक पुरुष स्वाराज्य को प्राप्त करता है।[202] आचार्यों का कहना है कि अमरावती आदि पुरियों का उत्तरोत्तर दुगने समय में नाश होता रहता है। उन पुरियों के निवासियों की दृष्टि में आना ही सूर्योदय है और दृष्टि से छिप जाना ही सूर्य का अस्त होना है। जब पुरियों के निवासियों का अभाव हो जाता है। तब उनके लिये न सूर्य का उदय होता है न सूर्यास्त होता है। ऐसी स्थिति में सूर्य न तो किसी की दृष्टि में आता है न दृष्टि से दूर ही होता है।[203] इसी प्रकार शांकरभाष्य में अमरावती, संयमनी, वरुण की पुरी, इलावृत्त खण्ड, का भी उल्लेख मिलता है।

आदित्य को सभी भूतों का मधु कहा गया है और सभी भूत इस आदित्य के मधु हैं। चक्षु में आदित्य की विशेष स्थिति बतायी गयी है। आदित्य और चक्षु दोनों में एक ही पुरुष की स्थिति बतायी गयी है। यह पुरुष ही अमृतमय और तेजो स्वरूप है। यह पुरुष ही आत्मा है। यही ब्रह्म है।[204]

राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि यह पुरुष किस ज्योति वाला है? तब याज्ञवल्क्य ने कहा- यह पुरुष आदित्य रूप ज्योति वाला है। आदित्य रूप ज्योति से ही उठता है, बैठता है, चलता है, कर्म करता है और फिर लौट आता है। अर्थात् पुरुष के सभी व्यवहार आदित्य के प्रकाश में ही सम्पन्न होते हैं।[205] किन्तु आदित्य ज्योति सदैव विद्यमान् नहीं रहती है। ऐसा देखा जाता है कि रात्रि के समय आदित्य ज्योति अस्त हो जाती है। उस समय पुरुष की स्थिति क्या होती है? पुरुष के लिए कौन ज्योति का कार्य करता है; क्योंकि ज्योति के बिना पुरुष का रहना असम्भव है। इसलिए जनक के द्वारा पुन: पूछे जाने पर याज्ञवल्क्य ने चन्द्रज्योति, अग्निज्योति, वाग्ज्योति एवं आत्मज्योति का उल्लेख किया।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार सत्य ब्रह्म ही आदित्य है। आदित्य में दिखायी देने वाला पुरुष तथा दक्षिण नेत्र का पुरुष दोनों एक दूसरे में प्रतिष्ठित हैं। कैसे प्रतिष्ठित हैं?

---

[202] वहीं,3.10.4

[203] वहीं,3.8.4, शां.भा.

[204] अयमादित्य: सर्वेषां भूतानां मध्वस्यादित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्न आदित्ये तेजोमयोऽमृतमय: पुरुषो यश्चायमध्यात्मं चाक्षुषस्तेजोमयोऽमृतमय:। -बृ.उ.2.5.5

[205] आदित्य ज्योति: सम्राडिति होवाच – आदित्येनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते। - वहीं,4.3.2

इसे बताते हुए ऋषि ने कहा है कि आदित्य अपनी रश्मियों के द्वारा नेत्र में प्रतिष्ठित है और चाक्षुष पुरुष प्राणों के द्वारा आदित्य में प्रतिष्ठित है, जिस समय दक्षिण नेत्र में स्थित पुरुष उत्क्रमण करने लगता है। उस समय इस मण्डल को शुद्ध रूप में देखता है और रश्मियाँ उसके पास नहीं आती हैं।[206] आचार्य शंकर के मत में अध्यात्म पुरुष और अधिदैव पुरुष दोनों एक दूसरे के उपकारक होते हैं। इसलिए इन दोनों को एक दूसरे में प्रतिष्ठित बताया जाता है।[207]

बृहदारण्यक उपनिषद् में एक गार्ग्य-अजातशत्रु का संवाद प्राप्त होता है, जिसमें ब्रह्मज्ञानी गार्ग्य के द्वारा काशीराज अजातशत्रु के पास जाकर ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने का उल्लेख प्राप्त होता है। बदले में राजा अजातशत्रु ने 1000 गायें दी। उस ब्रह्मज्ञानी गार्ग्य ने अजातशत्रु के सम्मुख आदित्य का ब्रह्मणत्व प्रतिपादित करते हुए कहा कि इस आदित्य में और चक्षु में उनका अभिमानी देवता निवास करता है और स्वयं को मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ के रूप में अनुभव करता है। मैं उसी की ब्रह्म के रूप में उपासना करता हूँ। अत: तुम भी उसी की ब्रह्म के रूप में उपासना करो; क्योंकि यह आदित्य ही सबका अतिक्रमण करके स्थित है। सभी भूतों का मस्तक है एवं सबका राजा भी है।[208] आचार्य शंकर ने यहाँ राजा होने में दीप्तिमान् गुण को कारण माना है। अपने दीप्तिमान् गुण के कारण यह आदित्य सबका राजा है,'*राजा दीप्तिगुणोपेतत्वात्*'।

वैदिक छन्दों में गायत्री छन्द प्रमुख है। इसमें तीन पाद होते हैं। प्रत्येक पाद में 8-8 वर्ण होते हैं, जिनमें से भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ को गायत्री का प्रथम पाद कहा गया है। ऋक्, यजुष् और साम गायत्री छन्द के द्वितीय पाद के समान हैं। तृतीय पाद प्राण, अपान और व्यान हैं। इन सभी को वर्ण संख्या की समानता के आधार पर प्रथम द्वितीय और तृतीय पाद बताया गया है। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण गायत्री छन्द का चतुर्थ पाद है, जो प्रकाशित होने वाला है। इसे तुरीय कहा जाता है। तुरीय पाद तपनशील है। यह समस्त

---

[206] तद् यत्तत् सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठित: प्राणैरयममुष्मिन् स यदोत्क्रमिष्यन् भवति शुद्धमेवैतन्मण्डले पश्यति नैनमेते रश्मय: प्रयायन्ति। - वहीं,5.5.2

[207] चाक्षुषश्चादित्ये प्रतिष्ठितौ अध्यात्माधिदैवतयोरन्योन्योपकार्योपकारकत्वात्। - वहीं,5.5.2, शां.भा.

[208] एतस्मिन्संवदिष्ठा अतिष्ठा: सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेति वा।- वहीं,2.1.2

लोकों के ऊपर रहकर प्रकाशित होने वाला होता है। इस प्रकाश स्वरूप गायत्री के चतुर्थ पाद को जो जानता है, वह भी इसी प्रकार शोभा और कीर्ति से प्रकाशित होता है।[209]

आदित्य के कुल पाँच रूप हैं। लोहित रूप, शुक्ल रूप, कृष्ण रूप, अत्यन्त कृष्ण तथा एक मध्यभाग है। इस प्रकार इन पाँच रूपों में रोहित रूप पहला अमृत है। यह रोहित रूप ही वसुगणों का आश्रय है। अर्थात् वसुगण इस रोहित रूप अमृत से जीवित रहते हैं। देवता लोग आदित्य के इस रोहित रूप को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं।[210] आदित्य का दूसरा रूप शुक्लरूप है। रुद्र गण इस शुक्लरूप अमृत का आश्रय लेकर जीवन धारण करते हैं। तथा देवगण सभी इन्द्रियों से इस अमृत का अनुभव करके तृप्त हो जाते हैं।[211]

2.3- लोक का ज्योतिमय स्वरूप : शंकराचार्य ने लोक शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है, *'ते लोकाः कर्मफलानि लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्त इति जन्मानि'।*[212] अर्थात् जिसमें कर्म फलों का लोकन, दर्शन होता है या भोग होता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार लोक शब्द का दो अर्थ हो सकता है। प्रथम स्थान विशेष अर्थ। जैसे चतुर्दश लोक चतुर्दश प्रकार के स्थान विशेष हैं, जिसमें कर्म फल का प्रकाशन होता है। पुण्यकर्मों का प्रकाशन ऊर्ध्व लोकों में होता है, तो पाप कर्मों का प्रकाशन अधोलोकों में होता है। योगी आनन्द जी ने लिखा है कि चतुर्दश लोकों का विभाजन उनके घनत्व के आधार पर किया गया है।[213] जैसे स्थूलशरीर केवल भूलोक में रह सकता है। घनत्व अधिक होने से सूक्ष्म लोकों में प्रवेश नहीं हो सकता है। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म लोकों तक ही सीमित रह सकता है। भूलोक या अन्य सूक्ष्म लोकों में सूक्ष्म शरीर का प्रवेश नहीं हो सकता है। अतः कुछ कर्म ऐसे होते हैं**,** जिनके फल का प्रकाशन सिर्फ भूलोक में हो सकता है। अतः इस दृष्टि से लोक कर्म फलों का प्रकाशक बनकर स्वयं प्रकाश स्रोत के समान कार्य करता है।

---

[209] एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति यद् वै चतुर्थं तत् तुरीयं...ह्येवैष रज उपर्युपरि तपत्येवं हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद'। - वहीं,5.14.3

[210] छा.उ.3.6.1

[211] वहीं,3.7.1

[212] ईशा.उ.3, शां.भा.

[213] त.ज्ञा. पृ.56

लोक शब्द का दूसरा अर्थ योनि या शरीर भी है। जैसा कि आचार्य शंकर ने योनि अर्थ किया है, *'ते लोकाः कर्म फलानि लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्त इति जन्मानि'*[214] यहाँ योनि शब्द शरीरका वाचक है; क्योंकि शरीर के द्वारा भी कर्म प्रकाशित होते हैं। इस दृष्टि से भिन्न-भिन्न शरीरों की प्राप्ति का कारण कर्म माना जायेगा। जीव के कर्मों के अनुसार उसे कीट, पतंग, पशु, पक्षी आदि शरीरों की प्राप्ति होती है। यदि लोक शब्द का अर्थ शरीर किया जायेगा तब ईशावास्योपनिषद् के इस मन्त्र में लोक शब्द शरीर का वाचक बनेगा और उसका तात्पर्य चतुर्दश लोकों से नहीं होगा।

लोक शब्द का एक अर्थ भोग्य भी है। बृहदारण्यक उपनिषद् के एक प्रसंग में लोक का ऐसा ही अर्थ किया गया है। नित्य कर्म करने वाला गृहस्थ सभी प्राणियों का लोक होता है। मनुष्यों में जो पुरुष हवन और यज्ञ करने वाला होता है। वह देवताओं का लोक अर्थात् भोग्य होता है, जो स्वाध्याय करता है वह ऋषियों का लोक होता है, जो पिण्डदान करता है वह पितरों का लोक होता है, जो अतिथि को भोजन और वासस्थान देता है। वह मनुष्य का लोक होता है, जो पशुओं को तृण और जल देता है। वह पशुओं का लोक होता है।[215] आचार्य शंकर ने यहाँ लोक का अर्थ भोग्य ही किया है।[216] वस्तुत: यहाँ भोग्य का अर्थ सेवक है; क्योंकि जो सेवक होता है वह दूसरों के हितकारी होने से भोग्य ही कहलाता है। ब्रह्मसूत्र के भाष्य में आचार्य शंकर ने ऐसा ही अर्थ किया है। जैसे पशु पाश से बँधे होने के कारण मनुष्य के भोग्य होते हैं। उसी प्रकार पुरुष भी अपने नित्य कर्म पंचमहायज्ञों से बँधे होने के कारण तत्तद् देवताओं, पितरों एवं मनुष्यों का भोग्य होता है। भोग्य होने का भोजन अर्थ नहीं हो सकता।

लोक शब्द का एक अर्थ कर्मफल भी होता है। जीवात्मा स्वप्नावस्था में होता है तो उसका कर्मफल उदित होता है। यह स्वप्न एक लोक होता है, जो कर्मफल रूप होता है। उस स्वप्नलोक में जीवात्मा प्राणों के साथ महाराजा के समान होता है। जैसे संसार में एक

---

[214] ईशा.उ.3, शां.भा.

[215] बृ.उ.1.4.16

[216] भूतानां लोको भोग्य आत्मेत्यर्थ:। वहीं, शां.भा.

राजा अपने सिपाहियों के साथ विचरता है। उसी प्रकार यह जीवात्मा अपने प्राणों के साथ विचरता है।[217]

बृहदारण्यक उपनिषद् में मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक इन तीन लोकों को ही मान्यता दी गयी है। उनमें से प्रथम मनुष्यलोक को पुत्र के द्वारा जीता जाने योग्य बताया गया है। कर्म से पितृलोक को जीता जा सकता है तथा देवलोक विद्या से जीता जाता है।[218]

योगानन्द जी के अनुसार ऊर्ध्व और निम्न सभी लोक लाइफट्रोन (प्राण या जीवन अणु, जीवन विद्युत्) के सूक्ष्म प्रकाश और ऊर्जा से बना है। जहाँ सभी आत्मायें भौतिक शरीर के मृत्यु के पश्चात् जाती है।[219]

ऐतरेय उपनिषद् में लोकों के चार विभाग किए गये हैं। अम्भ, मरीचि, मर और आप् ये चार लोक हैं। जल (मेघ) को धारण करने के कारण इसे अम्भ कहा जाता है। इस लोक की स्थिति द्युलोक से परे बताई गयी है। स्वर्ग इस अम्भलोक का आश्रय है। दूसरा लोक मरीचि लोक है**,** जिसे अन्तरिक्ष के नाम से जाना जाता है। किरणों से व्याप्त होने के कारण इसे मरीचि लोक कहते हैं। तीसरा मरलोक पृथिवी लोक है; क्योंकि सभी प्राणी यहाँ मृत्यु को प्राप्त होते हैं। चतुर्थ आप् लोक है। आप् का अर्थ है जल। जल से बने होने के कारण इसे आप् लोक कहते हैं। इस लोक में जलीय प्राणी रहते हैं।[220]

गार्गी ने याज्ञवल्क्य से भूतों के कारण के विषय में प्रश्न किया। याज्ञवल्क्य ने उन सभी प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा कि यह सब कुछ जल में प्रतिष्ठित है। जल वायु में प्रतिष्ठित है। वायु अन्तरिक्ष लोक में ओतप्रोत है। इसी प्रकार अन्तरिक्षलोक गन्धर्वलोक में, गन्धर्वलोक आदित्यलोक में, आदित्यलोक चन्द्रलोक में, चन्द्रलोक नक्षत्रलोक में, नक्षत्रलोक देवलोकों में, देवलोक इन्द्रलोक में, इन्द्रलोक प्रजापति लोक में तथा

---

[217] स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो भवत्युतेव। - वहीं, 2.1.18

[218] अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोक: पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोक: पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठ: तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति। - वहीं, 1.5.16

[219] मा.खो.पृ.72

[220] अम्भो मरीचीर्मरमापोदोऽम्भ: परेण दिवं द्यौ: प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचय: पृथिवी मरो या अधस्तान्ता आप:।-ऐ.उ.1.1.2

प्रजापतिलोक ब्रह्मलोक में ओतप्रोत है। पुन: गार्गी ने उसके आगे भी प्रश्न करना चाहा। तब याज्ञवल्क्य ने मना कर दिया; क्योंकि वह ब्रह्मलोक ही अन्तिम आधार है। वही अन्तिम कारण है। उसका अन्य कोई कारण नहीं है।[221] याज्ञवल्क्य गार्गी के परस्पर संवाद से अन्तरिक्ष आदि नौ लोकों का ज्ञान होता है और क्रमश: उल्लेख होने से इनके परस्पर कार्य कारणभाव का ज्ञान होता है। आचार्य शंकर ने भाष्य करते हुए लिखा है कि जो कार्य परिच्छन्न और स्थूल तत्त्व है वह कारण अपरिच्छिन्न और स्थूल तत्त्व से व्याप्त रहता है। अर्थात् इन प्रश्नों के माध्यम से कारण का कार्य में व्याप्ति दिखाना ही एक मात्र प्रयोजन है। तैत्तिरीय उपनिषद् में पाँच लोकों को लेकर लोकपाङ्क्त बनाया गया है, जिसमें पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाएँ और अवान्तर दिशाएँ सम्मिलित हैं।[222]

संहिता शब्द में तीन वर्ण हैं प्रथम, अंतिम, मध्य के आधार पर इन महासंहिताओं को आसानी से समझा जा सकता है। अधिलोक सम्बन्धी महासंहिता में संहिता का प्रथम वर्ण पृथिवी है। अन्तिम वर्ण द्युलोक है। मध्यभाग आकाश है। इन तीनों को जोड़ने का कार्य वायु करता है। इसलिये वायु को संधान कहा गया है।[223] इसी प्रकार अधिज्योतिष उपासक के लिये संहिता का प्रथम वर्ण अग्नि है। अन्तिम वर्ण द्युलोक है। और मध्य भाग आप् है। इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध करने वाला विद्युत् संधान है।[224]

द्युलोक और स्वर्गलोक दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं। द्युलोक इसलिए कहा जाता है क्योंकि नित्य प्रकाशमान रहता है। सुखप्रधान होने से स्वर्गलोक कहा जाता है। यह लोक आदित्यों का निवास स्थान है। यजमान गण आदित्य की उपासना करके इसी लोक को प्राप्त होते हैं।[225]

प्रवाहण ऋषि ने आरुणि के प्रति कहा। हे गौतम ! द्युलोक ही अग्नि है। अर्थात् द्युलोक को अग्नि के भाव से देखना चाहिए। आदित्य उसका ईंधन है; क्योंकि ईंधन जिस प्रकार अग्नि को दीप्त करता है। उसी प्रकार आदित्य द्युलोक को प्रकाशित करता है। धूएँ के समान

---

[221] बृ.उ.3.6.1

[222] पृथिवी-अन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिश:। -तै.उ.1.7.1

[223] अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम । द्योरुत्तररूपम् । आकाश: सन्धि:। - वहीं,1.3.1

[224] अग्नि: पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम् । आप: संधि: । वैद्युत: संधानम्" अधिज्योतिष महासंहिता॥- वहीं,1.3.2

[225] एष वै यजमानस्य लोक एतास्म्यत्र यजमान: परस्तादायुष: स्वाहापहत। -छा.उ.2.24.15

निकलने के कारण किरणें ही धूम हैं। प्रकाश में समानता होने के कारण दिन ही ज्वाला के समान है। आचार्य शंकर कहते हैं कि उपशम में समानता होने के कारण दिशाएँ अंगारों के समान हैं। चिनगारियों के बिखराव में समानता होने से जो अवान्तर दिशाएँ हैं, जैसे ऊर्ध्व, अध:, नैऋत्य, ईशान आदि विस्फुलिंग हैं। इस प्रकार की द्युलोक रूप अग्नि देवताओं की है। देवता लोग इस अग्नि में हवन करते हैं।[226]

प्रवाहण ऋषि ने गौतम से इहलोक अग्नि का उपदेश करते हुए कहा कि हे गौतम ! प्राणियों का आश्रयभूत यह लोक ही अग्नि है। पृथिवी इसका समिध् है। प्राणियों के अनेक भोगों से सम्पन्न इस पृथिवी से ही यह लोक प्रदीप्त होता है। समिध् से धूम उठने के समान पृथिवी से अग्नि की ज्वालाएँ उठती हैं। अत: अग्नि ही इहलोक अग्नि के धूम के समान है। रात्रि इसकी ज्वाला के समान है; क्योंकि अग्नि रात्रि में अधिक प्रदीप्त होती है। अंगार से समानता होने के कारण चन्द्रमा ही अंगार है। इधर-उधर छिटकाव में समानता होने के कारण नक्षत्र ही विस्फुलिंग के समान हैं। इस इहलोक अग्नि में देवता वृष्टि की हवन करते हैं**,** जिससे अन्न उत्पन्न होता है।[227]

साधक संजीवनीकार ने मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होने वाले प्रत्येक शरीर को परलोक की संज्ञा दी है। वह चाहे मनुष्य शरीर ही क्यों न हो। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि कोई भी योनि प्राप्त हो वह सभी परलोक नाम से कथित है।[228]

जैसा कि पिप्पलाद ऋषि मानते हैं कि चन्द्रलोक पर विजय प्राप्त करने के लिए इष्टा-पूर्ति कर्म ही पर्याप्त होता है। इष्टापूर्ति कर्म से ही चन्द्रलोक पर विजय प्राप्त हो जाती है। ऐसे पुरुष पुनः आवागमन के चक्र में पड़ते हैं। उन्हें अमृतत्त्व की प्राप्ति नहीं होती है।[229] यह चन्द्रलोक दक्षिणमार्ग का फल है। दूसरा उत्तरमार्ग का फल सूर्यलोक है। इस सूर्यलोक को प्राणों का आश्रय बताया गया है। इस लोक को प्राप्त करने के बाद पुरुष पुनः लौट कर नहीं आता है। यही उत्तम लोक है। इस लोक को प्राप्त करने के लिए पुरुष को विद्या के

---

[226] असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तर दिशो विस्फुलिंगास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा: श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा सम्भवति।-बृ.उ.6.2.9

[227] अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्य पृथिव्येव समिदग्निर्धूमो रात्रिरर्चिश्चन्द्रमा अंगारा नक्षत्राणि विस्फुलिंगोस्तस्मिन्नेतस्मिन्नगौ देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नं संभवति।- वहीं,6.2.11

[228] भग.गी.सा.सं टी.पृ.1016

[229] तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृर्तामत्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। -प्रश्न.उ.1.9

मार्ग का अनुगमन करना पड़ता है। तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा तथा विद्या के द्वारा इस लोक को प्राप्त किया जा सकता है।[230]

ईशावास्योपनिषद् में एक असूर्य नामक लोक की चर्चा हुई है। *'असुर्याः लोकाः'* में बहुवचन के प्रयोग से अनेक असुर्य लोकों का अनुमान होता है। यह कोई अलग से लोक नहीं है बल्कि उन लोकों का समूह है। जहाँ के प्राणी आत्मज्ञान से रहित होते हैं। उन लोकों में रहने वाले प्राणियों को असुर कहते है। असु का अर्थ है, प्राण या इन्द्रियाँ। असुषु रमन्ते इति असुराः अर्थात् जो इन्द्रिय सुखों में लिप्त रहते हैं। उन्हें असुर शब्द से कहा गया है। उपर्युक्त व्युत्पत्ति के आधार पर देवादि गण भी असुर की श्रेणी में आते है।[231] इस आधार पर भूः, भुवः और स्वः आदि भी असुर्य लोक ही है। ये सभी लोक यद्यपि सात्त्विक होने से प्रकाशित रहते हैं। तथापि आत्मज्ञान से रहित होने के कारण अन्धकारमय ही होते हैं**,** जिसको आत्मज्ञान नहीं हुआ है वह पुरुष सोये हुए पुरुष के समान होता है। उसके लिए सारा संसार अन्धकार ही है। यहीं श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है कि *'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः'*।[232]

इस प्रकार के लोकों में आत्मघाती पुरुष ही जाते हैं। आत्मघाती का अर्थ है आत्मा के द्वारा किये गये निर्णय को न मानना आत्मा स्वयं ज्ञान स्वरूप है। वह स्वयं निर्णय ले सकती है। आत्मा के द्वारा किये गये निर्णय को न मानकर मन के वशीभूत होकर कार्य करने वाला पुरुष ही आत्मघाती होता है।[233] ऐसे आत्मघाती पुरुषों को प्राप्त लोकों को असुर्य के नाम से कहा गया है। अतः असुर्य एक प्रकार से उन लोकों का समूह है, जिसमें आत्मघाती पुरुषों का गमन होता है।

देवताओं का लोक भूलोक की अपेक्षा अधिक प्रकाशमय है। फिर भी आत्मज्ञान की दृष्टि से अत्यधिक अन्धकारमय है। भूलोक के प्राणी दुःख के अनुभव से आत्मज्ञान की ओर प्रेरित होते हैं और प्रयास भी करते हैं। लेकिन देवलोकों में दुःख का लेश भी नहीं होता है।

---

230 वहीं,1.10

231 देवादयोऽप्यसुरास्तेषाञ्च स्वभूता लोका असुर्या नाम। -ईशा.उ.3, शां.भा.

232 भग.गी. 2.69

233 अविद्या दोषेण विद्यमानस्यात्मनः तिरस्करणात्। -ईशा.उ.3, शां.भा.

इसलिए देवताओं में आत्मज्ञान विषयक विचार आना तक कठिन होता है। इस दृष्टि से देवलोक अधिक अन्धकारमय हैं। ईशावास्योपनिषद् के नवें मन्त्र में देवलोक को अधिक अन्धकारमय बताया गया है।[234] देवलोक विद्या का फल है।[235] जो आनन्द शून्य लोक हैं उन्हीं को प्राप्त होता है।

कठोपनिषद् में स्वर्गलोक की विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला गया है। स्वर्गलोक में किसी प्रकार का भय नहीं होता है। यह भय पृथिवी लोक की एक विशेषता है, जो कि प्रत्येक प्राणी में विद्यमान् होती है। सम्भवत: भय के कारण ही सभी प्राणियों में किञ्चित् दूरी बनी रहती है। भय के कारण ही एक प्राणी सम्मुख विद्यमान् दूसरे प्राणी से दूरी बनाये रखता है। अन्यथा भय के अभाव में सभी कलुषित बुद्धि वाले प्राणी आपस में टकराकर नष्ट हो जायें। आध्यात्मिक विकास के लिए भय का नाश होता आवश्यक बताया गया है। अतः इस प्रकार का भय स्वर्गलोक में नहीं है। इस संसार में दूसरा भय मृत्यु का है, जो कि सुनिश्चित है। इसीलिए इस लोक को मृत्यु लोक के नाम से भी जाना जाता है। स्वर्गलोक में मृत्यु भी नहीं है। इस संसार में तीसरा भय वृद्धावस्था का होता है। किन्तु स्वर्गलोक में वृद्धावस्था भी नहीं आती है; क्योंकि वृद्धावस्था स्थूल शरीर का धर्म होता है। स्वर्गलोक में सिर्फ सूक्ष्म शरीर जाता है। सूक्ष्म शरीर में परिवर्तन नहीं होता है। इस संसार में चतुर्थ भय भूख और प्यास का होता है। वहाँ भूख प्यास भी नहीं लगती है। वहाँ सिर्फ आनन्द ही आनन्द होता है।

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति। न तत्र त्वं न जरया विभेति।

उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे। शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥[236]

ऐसा प्रतीत होता है कि तमस् प्रधान कर्मों से बने संस्कार का घनत्व भी अधिक होता है, और उन संस्कारों के घनत्व के समतुल्य घनत्व वाले लोकों की प्राप्ति होती है।[237] उन संस्कारों के घनत्व पर शरीर का भी घनत्व निर्भर करता होगा। यही कारण है कि

---

[234] ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायांरताः।- वहीं,9

[235] विद्यया देवलोकः। -बृ.उ.1.5.16

[236] कठ.उ.1.1.12

[237] त.ज्ञा.,पृ.56

अनुचित कर्म करने वाले पुरुष को अधोलोकों की प्राप्ति होती है। कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि *'अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत्'।*[238]

2.4 वायु की प्रकाशरूपता का प्रतिपादन : उपनिषद् में वायु और उसका आश्रय अन्तरिक्ष को अमूर्त एवं अमृत रूप बताया गया है। ये दोनों जड़ पदार्थ के अन्तर्गत परिगणित हैं। इनका एक अधिष्ठातृ देवता है। यह देवता ही इनका सार तत्त्व है। यही वायु एवं अन्तरिक्ष का रस है। वायु एवं अन्तरिक्ष को एक देवता के रूप में देखना ही इनका अधिदैवत रूप है।[239] प्राण को ब्रह्म का चतुर्थ पाद कहा गया है, जो कि वायु रूप ज्योति से प्रकाशित होता है और तपता है।[240] यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि वायु को भी एक ज्योति कहा गया है, जिससे प्राण का प्रकाशन होता है। वायु से प्राण तपता है।

ईशावास्योपनिषद् का चतुर्थ मन्त्र अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें वायु और उसके कार्यों का विभाग किया गया है।[241] इस मन्त्र में मातरिश्वा शब्द का अर्थ वायु है। मातरि का अर्थ है- अन्तरिक्ष में श्वयति-गमन करता है। इस प्रकार वायु को अन्तरिक्ष में गमन करने वाला बताया गया है। यह वायु उस चेतन ब्रह्म की उपस्थिति में अपनी सत्ता धारण करता है। इस मन्त्र में ब्रह्म को वायु का धारक बताया गया है। शंकराचार्य ने इस मन्त्र के भाष्य में वायु को सभी प्राणों का पोषक बताया है।[242] यह वायु क्रिया रूप भी है। इस वायु के अधीन ही समस्त इन्द्रियाँ और शरीर हैं। इसी वायु में सभी कुछ विद्यमान् है। इस सूत्र संज्ञक वायु को सम्पूर्ण जगत् का विधाता भी बताया गया है। यह वायु ही अग्नि, सूर्य, मेघ आदि प्राणियों के कर्मों को भी विभक्त करता है। सम्भवतः वायु के 'क्रिया स्वरूप' होने कारण अग्नि, सूर्य, मेघ आदि में पाये जाने वाली ज्वलन क्रिया, प्रकाशन क्रिया, वर्षण क्रिया आदि को भी वायु का ही रूप माना गया है। अर्थात् अग्नि में जो ज्वलन और दहन की क्रिया पायी जाती है, सूर्य में जो प्रकाशित करने की क्रिया पायी जाती है एवं मेघ में जो वर्षा करने की क्रिया पायी जाती है। ये सभी क्रियाएँ वायु के ही रूप हैं। ये

---

[238] कठ.उ.1.1.3

[239] बृ.उ.2.3.3

[240] प्राण एव ब्राह्मणश्चतुर्थ: पाद:। स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च। -छा.उ.3.18.4

[241] तस्मिन्नयो मातरिश्वा दधाति। -ईशा.उ.4

[242] वायुः सर्व प्राणभृत्।- वहीं,4, शां.भा.

सभी वायु के कारण ही अपनी क्रियाएँ सम्पन्न करते हैं। किन्तु इस वायु का भी आधार ब्रह्म है ऐसा समझना चाहिए।[243]

इस मन्त्र के शांकर भाष्य से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते है कि वायु ही प्राण है। इस वायु के कारण ही सभी प्राणियों में क्रियात्मक व्यापार पाया जाता है। यानि अग्नि में दहन क्रिया, सूर्य में प्रकाशन क्रिया, मेघ में वर्षण क्रिया वायु का ही दूसरा रूप है। यह वायु ही सभी प्राणियों का आधार तत्त्व है। यही सबको धारण करता है। सबका विधाता होने से इसे 'सूत्र' भी कहते हैं। अन्तरिक्ष में गमन करने के कारण इसे मातरिश्वा कहा जाता है। अन्ततः निष्कर्ष रूप में आचार्य शंकर ने यह भी कहा है कि इस वायु को धारण करने वाला ब्रह्म है। जैसा कि तैत्तरीय उपनिषद् में भी कहा गया है, *'भीषास्माद्वातः पवते'।*[244]

प्रश्नोपनिषद् के चतुर्थ मन्त्र में ही पिप्पलाद ऋषि ने कह दिया है कि प्रजाओं को उत्पन्न करने की इच्छा से प्रजापति ने तप किया। तब उन्होंने प्राण और रयि को उत्पन्न किया। यहाँ रयि शब्द भोग्य का प्रतीक है, एवं प्राण भोक्ता का। आगे के मन्त्रों के द्वारा ऋषि ने एक दृष्टि दी है कि मास में शुक्लपक्ष आदि को किस रूप में देखना चाहिए। ऋषि कहते हैं कि मास को प्रजापति के रूप में देखना चाहिए। उस मास को दो भागों में विभक्त किया जाता है। शुक्लपक्ष तथा कृष्णपक्ष**,** जिसमें शुक्लपक्ष को प्राण तथा कृष्णपक्ष को रयि समझा चाहिए। शुक्लपक्ष प्राण का प्रतीक है। इसलिए प्राण की उपासना करने वाले ऋषि शुक्लपक्ष में यज्ञ किया करते हैं।[245]

---

[243]यदाश्रयाणि कार्यकरण जातानि यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च यत्सूत्रसंज्ञकं सर्वस्य जगतो विधारयितृ स मातरिश्वा अपः कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि अग्न्यादित्य पर्जन्यादीनां ज्वलनदहनप्रकाशाभिवर्षणादिलक्षणानि दधाति विभजति इत्यर्थः। - वहीं,4,शां.भा.

[244] तै.उ.3.2.8.1

[245] प्रश्न.उ.1.12

दिन और रात्रि में दिन को प्राण तथा रात्रि को रयि समझना चाहिए। प्राण के उपासक को दिन में रति नहीं करना चाहिए। रात्रि को स्त्री से रति करने वाले प्राण की रक्षा करते हैं। उनका ब्रह्मचर्य बना रहता है।[246]

वायु सभी भूतों का मधु है और सभी भूत इस वायु के मधु हैं। वायु की प्राण में विशेष स्थिति बतायी गयी है। दोनों में एक ही पुरुष रहता है। यह पुरुष ही तेजोमय एवं अमृत स्वरूप है। यह देव ही आत्मा है और यही ब्रह्म है।[247]

शंकराचार्य ने संवर्ग का अर्थ किया है- संग्रहण या संग्रसन। ऋषि ने वायु का संवर्गत्व प्रतिपादित किया है; क्योंकि अग्नि जब बुझती है तो वह अपने कारण वायु में लीन हो जाती है। इसी प्रकार सूर्य जब अस्त होता है। तो वायु में लीन हो जाता है। चन्द्रमा जब अस्त होता है तो वह भी वायु में ही लीन हो जाता है।[248] शंकराचार्य कहते हैं कि गति वायु का कार्य है। सूर्य और चन्द्रमा में जो गति दिखायी देती है, वह वायु से ही है। अत: वायु ही सूर्य एवं चन्द्र को अस्त होने के लिये प्रेरित करती है। इस प्रकार अदर्शन हो जाने से सूर्य और चन्द्र वायु में लीन होते हुए प्रतीत होते हैं।

कठोपनिषद् में उपाधि भेद से आत्मा के अनेकत्व को बताने के लिए वायु से उपमा दी गयी है**,** जिस प्रकार प्राण, उदान, व्यान, समान, अपान में भेद होने पर भी वायु के एकत्व की हानि नहीं होती है। उसी प्रकार अनेक जीवों के रूप में विद्यमान् होने पर भी आत्मा के एकत्व में ह्रास नहीं होता है।[249] प्राणादि की प्रतिष्ठा का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि प्राण अपान में प्रतिष्ठित है। अपान व्यान में प्रतिष्ठित है। व्यान उदान में प्रतिष्ठित है और उदान समान में प्रतिष्ठित है।[250]

उपनिषद् कहती है कि जीवात्मा इस शरीर के मृत्यु के उपरान्त सर्वप्रथम वायु को प्राप्त होता है। इस वायु को पार करने के लिए वायु स्वयं छिद्रयुक्त हो जाता है। उस छिद्र से

---

[246] वहीं,1.13

[247] बृ.उ.2.5.4

[248] छा.उ.4.3.1

[249]वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपों वभूव एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपों बहिश्च। -कठ.उ.2.2.10

[250] बृ.उ.3.9.26

जीवात्मा वायु को पार कर जाता है। छिद्र का परिमाण रथ के पहिए की धुरी के बराबर होता है। फिर सूर्य को प्राप्त हो जाता है। सूर्य भी प्रसन्न होकर अपने अन्दर मार्ग दे देता है। सूर्य के द्वारा दिये गये मार्ग का परिमाण लम्बर बाजे के छिद्र के बराबर होता है। उसमें से होकर जीवात्मा सूर्य से ऊर्ध्ववर्ती लोकों चन्द्रलोक में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार चन्द्रमा भी मार्ग दे देता है। चन्द्रमा के द्वारा दिये गये मार्ग का परिमाण दुन्दुभि के छिद्र के बराबर होता है। इस प्रकार चन्द्रलोक को पार करने के उपरान्त वह जीवात्मा ब्रह्मलोक को प्राप्त हो जाता है।[251]

बृहदारण्यक उपनिषद् के इस मन्त्र से वायुलोक, सूर्यलोक, चन्द्रलोक, ब्रह्मलोक आदि सभी लोकों का अपनी सीमाओं से आवृत्त होना सिद्ध होता है। मुक्त पुरुष को इन सभी सीमाओं को पार करना आवश्यक होता है। इन लोकों से बाहर जाने के लिए द्वार विशेष का अनुसरण करना पड़ता है। इस द्वार विशेष को ही छिद्र शब्द के द्वारा कथन किया गया है। प्रत्येक लोक में द्वार विशेष के आकार प्रकार में भिन्नता होती है।

ईशावास्योपनिषद् में एक मरणोन्मुख उपासक प्रार्थना करता है कि मेरा प्राण वायु मुख्यप्राण को प्राप्त हो और यह शरीर भस्म हो जाये।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तंशरीरं।

ॐ क्रतो स्मर कृतंस्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर॥[252]

इस मन्त्र में शरीरस्थ प्राण के अर्थ में वायु शब्द का प्रयोग किया गया है। दूसरा अनिलम् शब्द का विशेषण अमृतं शब्द है। इसलिए अनिलं शब्द परब्रह्म का वाचक बनता है। इससे यह निष्कर्ष निकला जा सकता है कि वायु शब्द शरीरस्थ जीवात्मा और परब्रह्म दोनों के लिए प्रयोग होता है। आचार्य शंकर अविनाशी मुख्यप्राण को अधिदैव का रूप मानते हैं। तारणीश झा ने स्थूल शरीर से निकलने वाले इस प्राण का अर्थ सप्तदश अवयवात्मक लिंग शरीर किया है; क्योंकि मृत्यु के समय यह लिंग शरीर ही स्थूल शरीर से पृथक् होता है।[253] इस मन्त्र में वायु शब्द का प्रयोग मुख्यप्राण के अर्थ में हुआ है।

---

[251] वहीं,5.10.1

[252] ईशा.उ.17

[253] ईशा.उ.17, तारणीश झा

गार्ग्य ने पुन: अजातशत्रु के सम्मुख वायु में रहने वाले पुरुष को ब्रह्म के रूप में प्रतिपादित किया और कहा कि यह वायु में रहने वाला पुरुष ही ब्रह्म है। मैं इसी की ब्रह्म के रूप में उपासना करता हूँ। यह पुरुष ही इन्द्र है, वैकुण्ठ है और अपराजिता सेना भी है।[254] आचार्य शंकर ने वायु, प्राण और हृदय में रहने वाले पुरुष को एक ही देवता माना है। अर्थात् एक ही देवता इन तीनों को नियन्त्रित करता है।

2.5 जगत् का स्वरूप : आचार्य शंकर जगत् के विषय में लिखते हैं- *'जगतो नाम रूप क्रियाकारक फलजातस्य'।*[255] अर्थात् समस्त नाम, रूप, क्रिया, कारक और उनके फल जगत् के ही अन्तर्गत आते हैं। आचार्य शंकर ने जगत् को चर अचर के रूप में विभाजित किया है। प्राणियों के शरीर चर और पंचभूतों से निर्मित पर्वतादि अचर या स्थावर जगत् हैं। ऐतरेय उपनिषद् में ईक्षण से सृष्टि का विस्तार हुआ बताया गया है। ईक्षण से ही लोक, देवता, इन्द्रियाँ और शरीर आदि उत्पन्न होते हैं।[256] आचार्य का मत है कि सत्त्व, रजस् और तमस् तीन गुण हैं। उनमें से रजस् गुण ही सृष्टि की उत्पत्ति में हेतु बनता है-

विक्षेपशक्ति: रजस: क्रियात्मिका यत: प्रवृत्ति: प्रसृता पुराणी।

रागादयोऽस्या: प्रभवन्तिनित्यं दु:खादयो ये मनसो विकारा:॥[257]

अर्थात् क्रियारूप विक्षेपशक्ति रजोगुण की है**,** जिससे सनातन काल से समस्त क्रियाएँ होती आयी हैं, जिससे रागादि और दु:खादि जो मन के विकार हैं, सदा उत्पन्न होते रहते हैं।

उपनिषद् में इस जगत् के कारण के रूप में अद्वितीय सत् को बताया गया है।[258] इस सत् ने ही ईक्षण के द्वारा चर-अचरात्मक जगत् का विस्तार किया है। सभी उपनिषदों ने सत् ब्रह्म को ही सृष्टि के मूल कारण के रूप में निरूपित किया है। छान्दोग्य-उपनिषद् में सृष्टि प्रक्रिया निम्नलिखित प्रकार दी गयी है- *'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्। तत्तेज:*

---

[254] तथा वायौ प्राणे हृदि चैका देवता -बृ.उ.2.1.6, शां.भा.
[255] ब्र.सू.शां.भा.1.3.22
[256] ऐ.उ.1-12
[257] वि.चू. पृ.113
[258] छा.उ.6.2.1

ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तदयोऽसृजत्। ता आप ऐक्षन्त बह्व्य: स्याम प्रजायेमहीति तां अन्नमसृजन्त। तासां त्रिवृत्तं त्रिवृत्तमेकैकां करवाणि.....अनुप्रविश्य नाम रूपे व्याकरोत्'॥[259]

इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में सत् के अतिरिक्त तेज और जल को भी चेतन के रूप में निरूपित किया गया है। ब्रह्मसूत्र के भाष्य में आचार्य शंकर ने जगत् की उत्पत्ति स्थिति और संहार के मूल में ब्रह्मतत्त्व को ही मानते हैं, *'जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य जन्मस्थितिभंग यत: सर्वज्ञात सर्वशक्ते: कारणात् भवति तद्ब्रह्मेति'।*[260] अर्थात् नाम रूप में अभिव्यक्त हुए इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार जिस सर्वशक्तिमान् से होती है, वह ब्रह्म है। वहीं पर दूसरे स्थान पर आचार्य जगत् कारण के रूप में ईश्वर को प्रधानता दी है, *'यथोक्त विशेषणं ईश्वरं मुक्त्वान्यत: प्रधानादचेतनात् अगुभ्योऽभावात् संसारिणो वा उत्पत्यादि संभवयितं शक्यम्'।*[261] अर्थात् यथोक्त विशेषणों से युक्त ईश्वर को छोड़कर अन्य अचेतन प्रधान परमाणुओं, शून्य अथवा संसारी से संसार की उत्पत्ति की संभावना नहीं की जा सकती है।

आचार्य ईश्वर को जगत् के प्रति उपादान और निमित्त दोनों कारण स्वीकार करते हैं। निमित्त कारण इसलिये है क्योंकि अचेतन प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति स्वत: नहीं हो सकता है। जैसे मिट्टी स्वत: घट का निर्माण नहीं कर सकती है, अपितु घट के प्रति निमित्त कारण कुम्भकार होता है। कुम्भकार ही मिट्टी से घट का निर्माण कर सकता है। उसी प्रकार ईश्वर अपनी शक्ति से जगत् की सृष्टि करता है। किन्तु यह ईश्वर केवल निमित्त कारण भी नहीं है। वह उपादान कारण भी है। जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है *'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं'।*[262] अर्थात् क्या तुमने गुरु से वह आदेश सुना जिसको जान लेने मात्र से अज्ञात भी ज्ञात के समान हो जाता है। अमत भी मत के समान हो जाता है। ऐसा तभी सम्भव है जब ईश्वर जगत् का उपादान कारण हो; क्योंकि उपादान कारण ही कार्य से अभिन्न होता है। श्रुतियों में जो ईक्षण से सृष्टि होने का कथन किया गया है, उससे भी ईश्वर उपादान कारण ही सिद्ध

---

[259] वहीं,6.2.3-6.3.3
[260] ब्र.सू.1.1.2, शां.भा. पृ.35,36
[261] ब्र.सू.1.1.2, शां.भा. पृ.37
[262] छा.उ.6.1.2

होता है *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी'।*[263]

अर्थात् सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप ब्रह्म से ही आकाश की उत्पत्ति हुई, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से अप्, अप् से पृथ्वी। इस प्रकार इन पाँच तत्त्वों आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी के पंचीकरण से सभी स्थूल पदार्थों की सृष्टि हुई। आचार्य शंकर के मतानुसार उपनिषद् के त्रिवृत्करण के समान ही पंचीकरण को भी समझना चाहिए।[264] आचार्य शंकर के इस पंचीकरण का निर्देश विवेकचूड़ामणि में भी किया गया है।

पंचीकृतेभ्यो भूतेभ्यः स्थूलेभ्यः पूर्वकर्मणा।

समुत्पन्नमिदं स्थूलं भोगायतनमात्मनः॥[265]

अर्थात् पंचीकृत स्थूलभूतों से पूर्व कर्मानुसार उत्पन्न हुआ यह शरीर आत्मा का स्थूल भोगायतन है।

अद्वैतवेदान्त में भौतिक जगत् और स्वप्न जगत् में घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाया गया है। अद्वैतवेदान्त के प्रवर्तक गौडपादाचार्य ने माण्डूक्य-कारिका के वैतथ्य प्रकरण में जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है; क्योंकि वितथ् शब्द का अर्थ मिथ्या है और इस मिथ्यात्व को प्रतिपादित करने वाला प्रकरण वैतथ्य प्रकरण कहा जाता है। आचार्य गौडपाद ने अद्वैतवेदान्त के सिद्धांतों की पुष्टि के लिए जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादित किया है। जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादित करने के लिए उन्होंने अनेक दृष्टान्तों का उपयोग किया है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने स्वप्न का दृष्टान्त दिया है। जगत् के मिथ्यात्व को समझने के लिये स्वप्न दृष्टान्त अत्यधिक सहायक है। पूर्व और उत्तर काल में स्वप्न जगत् की वस्तुओं का अभाव होने के कारण स्वप्न जगत् का मिथ्यात्व प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त भी यदि यह माना जाए कि स्वप्न जगत् सत्य है तो यह नहीं हो सकता; क्योंकि स्वप्न जगत् में जो वृक्ष, हाथी आदि दिखाई देता है। वह एक छोटे से शरीर में कैसे समाहित हो

---

[263] तै.उ.2.1

[264] यथा तु त्रिवृत्कृते त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् तथा पंचीकरणोऽपि समानो न्यायः।-छा.उ. 6.4.4,शां.भा.

[265] वि.चू.90

सकता है। अतः स्थान संकोच के कारण सभी वस्तुओं का शरीर में समाहित हो सकना असंभव है, जिससे स्वप्न जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होता है।[266]

कोई ऐसा भी नहीं कह सकता है कि सोया हुआ पुरुष स्वप्न में शरीर से बाहर जाकर वस्तुओं का प्रत्यक्ष करके पुन: शरीर में चला आता है। ऐसा नहीं हो सकता है; क्योंकि इतने कम समय में दूर देश जाकर पुनः वापस आ जाना सम्भव नहीं है। यदि ऐसा होता तो जागने के बाद भी पुरुष अपने को दूर देश में ही पाता। अत: स्वप्न जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होता है।[267] स्वप्न जगत् और भौतिक जगत् दोनों दृश्य हैं। इस दृश्यता को हेतु मानकर आचार्य ने सिद्ध किया है कि स्वप्नजगत् के समान जाग्रत अवस्था का जगत् भी मिथ्या है।

प्रतिज्ञा- जाग्रत अवस्था में देखे गए पदार्थ मिथ्या हैं।

हेतु- दृश्य होने के कारण

दृष्टान्त- स्वप्न में देखे हुए पदार्थों के समान

उपनय- जिस प्रकार स्वप्न में देखे हुए पदार्थ मिथ्या हैं, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में भी, उनका दृश्यत्व समान होने से मिथ्या हैं।

निगमन- अत: जाग्रत अवस्था के पदार्थ भी मिथ्या हैं।[268]

इस अनुमान प्रमाण के अतिरिक्त आचार्य गौडपाद जगत् को मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए एक और कारण देते हैं कि जो वस्तु आदि और अन्त में नहीं है। वह वर्तमान में भी नहीं हो सकती है। वर्तमान में दिखाई देने वाले पदार्थ केवल आभासमात्र हैं, जो असत् होकर भी सत् के समान भासित हो रहा है।[269] अब प्रश्न बनता है कि यदि इस जगत् का मिथ्यात्व स्वप्न के आधार पर स्वीकार कर लिया जाए तो इस जगत् की कल्पना कौन करता है? स्वप्न मन का प्रकाश होता है। मन के स्फुरण से स्वप्न सृष्टि होती है। तो फिर

---

[266] मा.उ.2.1
[267] वहीं,2.2
[268] अद्वै.वे.ऐ.वि.पृ.31 तथा मा.उ.2.4,5
[269] आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। वितथै: सदृशा: सन्तोऽवितथा इव लक्षिता: -वहीं,2.6

यह जगत् किसका प्रकाश है? किसके स्फुरण से यह दृश्यमान जगत् बनता है। इसका उत्तर देते हुए आचार्य गौडपाद कहते हैं कि यह आत्मा स्वयं प्रकाश है। अपनी माया से स्वयं पदार्थों की कल्पना करता है और वही उन भेदों को जानने वाला भी है।[270]

प्रो.हृदय नारायण मिश्र का कहना है कि इस जगत् को सत्य नहीं सिद्ध किया जा सकता है। यदि हम अनुमान प्रमाण का सहयोग लें तो दृष्टान्त के अभाव में पञ्चावयव वाक्य नहीं बन सकता है।

प्रतिज्ञा- जाग्रत अवस्था में देखे गए पदार्थ सत्य है।

हेतु- क्योंकि वे दिखाई देते हैं।

दृष्टान्त- जो दिखाई देता है वह सत् है जैसे-.....

किन्तु दृष्टान्त के रूप में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो जाग्रत अवस्था के पदार्थों से भिन्न हो और दिखाई देता हो और सत्य हो। इस प्रकार दृष्टान्त के अभाव में इस जगत् को सत्य नहीं सिद्ध किया जा सकता है।

अत: कहा जा सकता है कि अद्वैतवेदान्त में सत् पदार्थ केवल अद्वैततत्त्व आत्मा है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी तत्त्व असत् हैं। यदि माया ब्रह्म की शक्ति है, तो वह भी ब्रह्म के साथ रहने वाली अनिर्वचनीय तत्त्व होगी। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त में दो ही तत्त्व मुख्यत: मान्य हैं। प्रथम सत् ब्रह्म जो कि सर्वदा रहने वाला है। दूसरा अनिर्वचनीय माया तत्त्व, जिसे न तो 'है' शब्द से कहा जा सकता है। न ही 'नहीं है' ऐसा ही कहा जा सकता है, अपितु 'है' और 'नहीं है' इन दोनों से भिन्न अनिर्वचनीय तत्त्व है।

आचार्य गौडपाद इस संसार को भ्रान्ति रूप मानते हैं। इस भ्रान्ति को अलात के दृष्टांत से समझाया गया है। अलात का अर्थ है- जलती हुई लकड़ी को घुमाने से बना हुआ चक्र। जैसे जलती लकड़ी को घुमाने से अग्नि चक्र की भ्रान्ति होती है। पुन: लकड़ी के स्थिर हो

---

[270] कल्पयति-आत्मना-आत्मानम्-आत्मा देव: स्वमायया। स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्त निश्चय:॥- वहीं,2.12

जाने पर अग्नि चक्र का भ्रम मिट जाता है। उसी प्रकार यह दृश्यमान जगत् एक भ्रान्ति है। कारणभूत ब्रह्म का बोध हो जाने पर संसार का द्वैत मिट जाता है।[271]

यह सम्पूर्ण जगत् आत्मा का ही प्रकाश है; क्योंकि प्रकाश की उत्पत्ति और लय रूपी जो गुणधर्म होता है वही गुणधर्म जगत् रूप प्रकाश में भी देखा जाता है। प्रश्नोपनिषद् के अनुसार सुषुप्ति काल में सभी कुछ आत्मा में विलीन हो जाता है। पृथिवी और गन्ध तन्मात्रा, जल और रस तन्मात्रा, तेज और रूप तन्मात्रा, वायु और वायु में रहने वाला स्पर्श तन्मात्रा, आकाश और उसका शब्द तन्मात्रा, नेत्र और नेत्र का विषय रूप, श्रोत्र और श्रोत्र का विषय शब्द, घ्राण और घ्राण का विषय गन्ध, रसना और रसयितव्य, त्वक् और स्पर्श योग्य पदार्थ, हाथ और ग्रहण करने योग्य वस्तुएँ, उपस्थ और उसका विषय आनन्द, पायु और उसका विषय, मन और मनन करने योग्य विषय, बुद्धि और बुद्धि का विषय, अहंकार और अहंकार का विषय, चित्त और चित्त के विषय ये सभी आत्मा में लीन हो जाते हैं। पुनः पुरुष के जागने पर इनकी अभिव्यक्ति होती है।[272] इससे कहा जा सकता है कि सभी पदार्थ आत्मा से निकलते हैं। और पुनः आत्मा में ही विलीन हो जाते हैं। इससे सभी पदार्थों का आत्मा का प्रकाश होने का अनुमान होता है। मनीषियों ने बताया है कि जीवात्मा शरीर में रहकर भी प्रतिदिन परमात्मा भाव को प्राप्त होता है; क्योंकि सुषुप्ति काल में जीवात्मा अपने कारण शरीर में होता है। यह कारण शरीर ही परमात्मा का शरीर होता है। पृथिवी पर स्थित सभी जीवात्माओं के कारण शरीर से ईश्वर का शरीर निर्मित होता है। किन्तु जीवात्मा की अपने कारण शरीर में स्थिति एक अचेतन प्रक्रिया है। अचेतन प्रक्रिया के द्वारा ही जीवात्मा जाग्रत अवस्था से स्वप्नावस्था तथा स्वप्नावस्था से सुषुप्ति में प्रवेश करता है। इस सुषुप्ति में भी जीव द्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, कर्ता होता है।[273] मुण्डकोपनिषद् के अनुसार परमात्मा ही सभी भूतों के रूप में भासमान् हो रहा है।[274]

---

[271] अद्वै.ऐ.वि.34
[272] प्रश्न.उ.4.8
[273] वहीं,4.9
[274] प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति। -मु.उ.3.1.4

प्रश्न बनता है कि क्या जगत् स्वयं में आत्मा का प्रकाश है अथवा पूर्व विद्यमान् जगत् आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होता है। इसका उत्तर ब्रह्मसूत्र[275] में प्राप्त होता है कि जगत् स्वयं में प्रकाश नहीं है, अपितु जगत् पूर्व विद्यमान् रहता है। ब्रह्म के प्रकाश से उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती है। इसे ही सत्कार्यवाद कहते हैं। जैसे अंधेरे में भी सभी वस्तुयें विद्यमान् रहती हैं। किन्तु अन्धकार के कारण वस्तुओं का एकीभाव दिखायी देता है। सूर्य के प्रकाश से इन सभी पूर्व विद्यमान् वस्तुओं की अभिव्यक्ति हो जाती है। इसी प्रकार जगत् की भी पूर्व विद्यमानता होती है। किन्तु उसके प्रकट होने में ब्रह्म का प्रकाश कारण होता है।[276] इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्मज्योति से नाम, रूप, क्रिया, कारक, फल समुदाय आदि की अभिव्यक्ति होती है। शांकरभाष्य के टीकाकार रामानन्द ने भी लिखा है कि जगत् अपनी प्रकाशमान् दशा में अपने स्वतंत्र प्रकाश से प्रकाशित नहीं होता है। बल्कि उसी सर्वभासक ब्रह्म के प्रकाश से प्रकाशित होता है। जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् में भी कहा गया है कि *'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते'*[277] अर्थात् आत्मरूप ज्योति से ही यह प्रकाशित है।

यह जगत् आत्मा की कल्पना मात्र है। यह प्रतिज्ञा केवल शब्द प्रमाण पर आश्रित है, अथवा कोई अन्य प्रमाण भी है। इस विषय में ऋषि वेदान्त को प्रमाण मानते हैं। वेदान्त का अर्थ है उपनिषद्। शंकराचार्य उपनिषद् का अर्थ ब्रह्मविद्या करते हैं। अर्थात् अद्वैतानुभूति ही काल्पनिक जगत् के विषय में प्रमाण है।

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा

तथा विश्वमिदं दृष्टे वेदान्तेषु विचक्षणैः॥[278]

अर्थात् अद्वैतवेदान्त के अनुभवी महात्माओं ने जगत् को स्वप्न के समान काल्पनिक बताया है**,** जिसकी पूर्व और पर काल में सत्ता नहीं है।

---

[275] ब्र.सू.1.3.22, शां.भा.

[276] सर्वस्यैवास्य नामरूपक्रियाकारकफलजातस्य याभिव्यक्तिः सा ब्रह्मज्योतिः सत्तानिमित्ता। यथा सूर्यादिज्योतिः सत्ता निमित्ता सर्वस्य रूपजातस्याभिव्यक्तिः तद्वत्। - वहीं,पृ.646

[277] बृ.उ.4.3.6

[278] मा.उ.2.31

संसार अत्यधिक विशाल दिखायी देता है। किन्तु स्वप्न काल में यह सम्पूर्ण जगत् शरीर में ही दिखायी देता है। इसलिए स्वप्न का मिथ्या होना सिद्ध होता है। उसी प्रकार ब्रह्म में इस जगत् की मिथ्या प्रतीति है। शरीर में किञ्चित् अवकाश होता है। फिर भी जगत् विशाल होने से उसमें नहीं आ सकता है। ब्रह्म में किसी प्रकार का अवकाश नहीं है। वह निरवकाश है, तो फिर उस ब्रह्म में जगत् की विद्यमानता कैसे हो सकती है? यह जगत् ब्रह्म के समान यदि सत् होता तो उसके लिए अवकाश की जरूरत होती। किन्तु ब्रह्म तो निरवकाश है। उसमें अवकाश की अपेक्षा रखने वाला जगत् कैसे आ सकेगा। इसलिए इस जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। मिथ्या वस्तु के लिए अवकाश की आवश्यकता नहीं होते है। जैसे सर्प की प्रतीति के लिए रस्सी से अतरिक्त अवकाश की आवश्यकता नहीं होती है। मिथ्या प्रतीति किसी भी समय और कहीं भी हो सकती है।

सर्वे धर्मा मृषा स्वप्ने कायस्यान्तर्निदर्शनात्।

संवृतेऽस्मिन्प्रदेशे वै भूतानां दर्शनं कुतः॥[279]

यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का कल्पना मात्र है। पुरुष जैसे अनेक पदार्थों की कल्पना करता है। उसी प्रकार यह जगत् परमात्मा की बुद्धि का कल्पना मात्र है। परमात्मा सर्वप्रथम जीव की कल्पना करता है। फिर अनेक प्रकार के बाह्य और आन्तरिक पदार्थों की कल्पना के द्वारा सृष्टि करता है। फिर जीव अपनी इन्द्रियों के द्वारा तद् तद् विषयों का विज्ञान करता है, जिससे जीव में उन विषयों के संस्कार पड़ जाते हैं। फिर उसी संस्कार से स्वप्न में स्मृति होती है। जीव स्मृति के द्वारा अनुभूत विषयों को स्वप्न में देखता है।[280]

इस कल्पना को एक उदाहरण के द्वारा ऋषि ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि रज्जु का निश्चय न हो सकने पर अन्धकार में जिस प्रकार सर्प की कल्पना कर ली जाती है। उसी प्रकार आत्मा में भी तरह-तरह की कल्पनाएँ हो रही हैं।[281] परमात्मा अपनी माया शक्ति के द्वारा ही इन सभी कल्पनाओं को जन्म देता है। वट वृक्ष के बीज में जिस प्रकार पूरे वट वृक्ष की संरचना निहित होती है। उसी प्रकार संसार की संरचना माया में निहित है। यह

---

[279] वहीं,4.33

[280] जीव कल्पयते पूर्व ततो भावान्पृथग्विधान्। ब्राह्यानाध्यात्मिकांश्चैव यथा विद्यस्तथास्मृतिः।- वहीं,2.16

[281] वहीं,2.17

माया ही संसार का बीज है। माया से संसार की अभिव्यक्ति होती है। यह माया परमात्मा की शक्ति है। परमात्मा अपनी ही शक्ति से मोहित होकर जीव बन जाता है। लेकिन फिर भी उस परमात्मा के ऐश्वर्य और पूर्णत्व की हानि नहीं होती है।[282] माया से सम्मोहित होकर ईश्वर से जीव बनने की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। इस प्रकार माया के द्वारा ही एक ईश्वर में अनन्त जीवों की कल्पना हो जाती है। इस प्रकार सभी जीव ईश्वर के अंश कहे जाते हैं। इनमें से प्रत्येक जीव स्वरूपतः पूर्ण होता है। ईश्वर भी पूर्ण है। जीव भी पूर्ण है। पूर्ण ईश्वर से पूर्ण जीव निकलने पर भी ईश्वर पूर्ण ही रहता है। उसमें किसी प्रकार से न्यूनाधिक्य नहीं होता है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण उदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥[283]

कौषीतकि उपनिषद् में सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया को अग्नि के दृष्टांत से बताया गया है। प्रज्वलित अग्नि से जैसे चिनगारियाँ सभी दिशाओं में निकलती हैं। उसी प्रकार आत्मा से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। '*यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे*'[284] श्रुति के अनुसार वही प्रक्रिया शरीर में भी दुहराई जाती है। मनुष्य के शरीर में सुषुप्ति और जागरण की प्रक्रिया प्रतिदिन चलती रहती है। जब पुरुष सोने की प्रक्रिया में होता है तो उसकी सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने स्थानों से निकलकर हृदय में लीन हो जाती हैं। ये पांच ज्ञानेन्द्रियों पांच महाभूतों के प्रतीक हैं। अतः ये पंचमहाभूत आत्मा में लीन हो जाते हैं। इसे अध्यात्म दृष्टि कहते हैं। पुनः जब पुरुष जागने की प्रक्रिया में होता है, तो वे ही इन्द्रियाँ जो हृदय में स्थित आत्मा में लीन हुई थी निकलकर पुनः अपने-अपने स्थानों पर प्रतिष्ठित हो जाती हैं। इन इन्द्रियों की अभिव्यक्ति होने के बाद उन-उन इन्द्रयों के उपकारक आदित्य आदि देवता प्रकट होते हैं। इसके बाद विषयों की अभिव्यक्ति होती है।[285]

---

[282] माया एषा तस्य देवस्य यया संमोहितः स्वयं।- वहीं,2.19

[283] ईशा.उ.शान्तिमन्त्र

[284] चरकसंहिता

[285] यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिंगा: विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणां यथायतनम् विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्योदेवा देवेभ्यो लोकाः। -कौ.उ.3.3

यहाँ पर दो बाते ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम कि इन्द्रियों के लिए प्राण शब्द का प्रयोग किया गया हैं, और उन इन्द्रियों के देवताओं का कथन है। रामानन्द ने अपनी रत्नप्रभा टीका में चक्षुरिन्द्रिय के देवता के रूप में आदित्य देवता का उल्लेख किया है, जो कि चक्षु इन्द्रिय पर उपकार करने वाला है। सम्भव है कि पंच ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता पंचमहाभूतों के अधिष्ठातृ देवता हो जैसे घ्राणेन्द्रिय के देवता पृथिवी देवता हो; क्योंकि पृथिवी के गन्ध का ज्ञान घ्राणेन्द्रिय से होता है। त्वक् इन्द्रिय के देवता वायु हों; क्योंकि त्वक् से ही शीत-ऊष्ण का ज्ञान हुआ करता है। रसनेन्द्रिय के देवता वरूण देवता हों; क्योंकि रसनेन्द्रिय से रस का ज्ञान होता है। श्रवणेन्द्रिय के देवता आकाश हों; क्योंकि श्रोत्र से आकाश के गुण शब्द का ग्रहण होता है। कौषीतकि उपनिषद् के अनुसार उन देवों से विषयों की भी उत्पत्ति हुई है।

इस श्रुति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आत्मा से साक्षात् इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है**,** जिसका समर्थन तैत्तिरीयोपनिषद् भी करती है।[286] बृहदारण्यक उपनिषद् में भी अग्नि विस्फुलिंग का दृष्टांत प्राप्त होता है। ऋषि के मत में अग्नि से जिस प्रकार चिनगारियाँ निकलकर चारों दिशाओं में विखर जाती हैं। उसी प्रकार यह सृष्टि भी आत्मा से उत्पन्न होकर चारों दिशाओं में फैल जाती हैं।[287] अर्थात् सभी प्राण, सभी लोक, समस्त देवगण एवं सभी भूत विविध रूप से उत्पन्न होते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि उपनिषद् सृष्टि में प्रत्येक पदार्थ का क्रम विकास को स्वीकार नहीं करती है, अपितु परमात्मा की इच्छा से एकाएक उत्पत्ति मानती है। परमात्मा ने ही प्राण, लोक, देवगणों एवं समस्त भूतों को उत्पन्न किया।

तैत्तिरीयोपनिषद् में सृष्टि का प्रथम तत्त्व आकाश को बताया गया है। इस आकाश से वायु की उत्पत्ति होती है। वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी की उत्पत्ति होती है। पृथिवी से ओषधि, ओषधि से अन्न, अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ।[288] अद्वैतवेदान्त के अनुसार इस जगत् का उपादान कारण माया है, न कि आत्मा। आत्मा निमित्तकारण है। इसलिए

---

[286] तस्माद्वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः। -तै.उ.2.1

[287] यथा अग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः। सर्वे प्राणाः सर्वेलोकाः सर्वेदेवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति। -बृ.उ.2.1.20

[288] तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्याः ओषधयः। ओषधिभ्यो अन्नम्। अन्नात्पुरुषः। -तै.उ.2.1.1

तैत्तिरीय उपनिषद् के उपर्युक्त मन्त्र में वर्णित सृष्टि उत्पत्ति के सन्दर्भ में आत्मा आकाशादि के प्रति निमित्तकारण बनता है। आत्मा की शक्ति(माया) उपादान कारण होती है। इसी प्रकार वायु का उपादान कारण माया और निमित्त कारण आकाश है। जल का उपादान कारण माया और निमित्त कारण अग्नि है। पृथिवी का उपादान कारण माया तथा निमित्त कारण जल है। ओषधियों का उपादान कारण माया तथा निमित्त कारण पृथिवी है। अन्न का उपादान कारण माया तथा निमित्त कारण ओषधियाँ हैं। पुरुष (जीवात्मा) का उपादान कारण माया निमित्त कारण अन्न है; क्योंकि आत्मा में माया के द्वारा आकाश की उत्पत्ति होती है। आकाश में माया के द्वारा वायु की उत्पत्ति होती है।

इसी प्रकार वायु में अग्नि, अग्नि में जल, जल में पृथिवी, पृथिवी में ओषधियाँ, ओषधियों में अन्न तथा अन्न में शरीर की उत्पत्ति होती है। यह उसी प्रकार है जैसे तन्तुओं में पट की उत्पत्ति तथा मृतिका में घट की उत्पत्ति होती है; क्योंकि अवयवों में ही अवयवी होता है न कि अवयवी में अवयव।

प्रारम्भ में एक मात्र आत्मा ही था ऐसा श्रुति कहती है। इस भूतकालिक वाक्य से लगता है कि अब वह भूतात्मा नहीं है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। अब भी वही एक मात्र आत्मा है। किन्तु दोनों में किञ्चित् अन्तर है। पहले जो आत्मा था वह नाम और रूप से रहित था। आज उसमें नाम और रूप का विकार आ गया है। इस नाम रूप की अभिव्यक्ति उसी की इच्छा से हुई है स्वत: नहीं। उसने ज्ञान पूर्वक सृष्टि का कार्य किया है। उस आत्मा के सृष्टि अभिप्राय का उल्लेख करते हुए ऐतरेय उपनिषद् में कहा गया है कि उस परमात्मा ने प्राणियों की रचना करने के लिए ईक्षण किया है। ताकि सभी प्राणी अपने-अपने कर्मों को भोग सके।[289] इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राणियों का कर्मफल भोग ही इस सृष्टि का प्रयोजन था। इससे पता चलता है कि पूर्व सृष्टि के सभी प्राणी सृष्टि लय होने पर भी सुषुप्तावस्था में बने रहते हैं। साथ ही उनके कर्माशय भी बने रहते हैं। ये कर्माशय नष्ट नहीं होते हैं। इन सभी जीवों की मुक्ति के लिए यह आवश्यक है कि उनके कर्मों का भोग हो। अत: उन जीवों को मुक्त करने के लिए परमात्मा उन पर अनुग्रह करके सृष्टि कार्य

[289] आत्मा वा इदमेक एवाग्रासीत्। नान्यत्किञ्चनमिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। -ऐ.उ.1.1.1

करते हैं। ताकि सभी जीव अपने कर्मों को भोगकर शुद्ध अन्त:करण होकर मोक्ष प्राप्त कर सकें।[290] अत: कर्मफलों का भोग अवश्य करना होता है।

यदि कोई यह सोचे कि मोक्ष के लिए क्या प्रयत्न किया जाए? मृत्यु के उपरान्त न सही सृष्टि के लय के समय सब कुछ नष्ट हो जायेगा और हमारे कर्म भी नष्ट हो जायेंगे, तब मोक्ष मिल ही जायेगा। तो ऐसा नहीं है। ये कर्म संस्कार अनन्त काल तक जब तक मोक्ष नहीं मिल जाता है तब तक चाहे हजारों बार सृष्टि और लय होता रहे, तब भी जीव को बन्धन में बनाये रखते हैं। इसी लिए केनोपनिषद् में कहा है कि *'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि:'।*[291] अर्थात् यदि इसी काल में आपने जान लिया तो अति उत्तम है। यदि नहीं जाना तो विनाश ही समझिए। फिर कब मुक्ति होगी कुछ भी अनुमान नहीं लगाया जा सकता है।

इस प्रकार सृष्टि कार्य करने के पीछे परमात्मा का उद्देश्य जीवों के पूर्व कृत कर्मों का भोग है। पूर्व कल्पों में जीवों के जो कर्माशय होते हैं उन कर्माशयों के भोग के लिए ब्रह्मा को सृष्टि करनी पड़ती है। इस प्रकार सभी प्राणी पूर्व सृष्टि में जो कर्म किये रहते हैं। उन संस्कारों के अनुसार इस सृष्टि में भी कर्म करते है।

तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।

तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमाना: पुन: पुन:॥[292]

इस प्रकार धर्म अधर्म आदि कर्म ही सृष्टि की उत्पत्ति में कारण होते हैं। इस विषय में महाभारत में कहा गया है कि जीव हिंसा-अहिंसा, मुदु-क्रूर, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य आदि जिन कर्मों से वासित होते हैं। उत्पन्न होकर उन्हीं को प्राप्त करते हैं और वे ही उनको रुचते हैं।[293]

---

[290] केनाभिप्रायेण इत्याह। -लोकान् अम्भ: प्रभृतीन् प्राणिकर्म फलोपभोगस्थानभूतान्नु सृजै: सृजेऽहमिति॥। - वहीं,शां.भा.

[291] केन.उ.2.5

[292] महा.भा.शा.12.85

[293] हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते। तद्भाविता: प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते। - वहीं,25-7

इससे ज्ञात होता है कि सृष्टि का नाश होने पर कर्मों का नाश नहीं होता है। ये कर्म ही जीवों को आश्रय करके बने रहते हैं। पुन: सृष्टि की उत्पत्ति में कारण बनते हैं। प्रत्येक सृष्टि में भू आदि चतुर्दश लोक, मनुष्य, पशु, पक्षी, देवता, वर्ण, आश्रम, धर्म तथा फल आदि की व्यवस्थाएँ उसी क्रम में दुहरायी जाती हैं। जैसे वट वृक्ष के प्रत्येक बीज में वृक्ष की संरचना समान होती है। उसी प्रकार प्रत्येक सृष्टि में उसी क्रम से जगत् का विस्तार होता है। प्रत्येक सृष्टि में इन्द्रियों और उसके विषयों का सम्बन्ध भी नित्य होता है। सभी पूर्व कल्पों का ज्ञान ईश्वरों को होता है। इसलिए उसी ज्ञान के आधार पर हिरण्यगर्भ पुन: सृष्टियों की रचना करता हैं। स्मृतियों और श्रुतियों में भी सभी कल्पों के नाम और रूपों में समानता दिखायी देती है। ऋक्संहिता में उल्लिखित है कि ब्रह्मा ने पूर्व कल्प के समान ही सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग की रचना की।[294]

उपनिषद् में सृष्टि की विविधता प्राप्त होती है। कारण के विषय में एक मत देखा जाता है। सभी उपनिषद् एक मत से जगत् के मूल कारण के रूप में अद्वैत ब्रह्म को मानते हैं। किन्तु सृष्टि के समय कार्य के रूप में प्रथम तत्त्व क्या था? इस विषय में किञ्चित मतभेद प्राप्त होता है। जैसे-

१- तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा से सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न हुआ। इस प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् में आकाश को सृष्टि का प्रथम तत्त्व माना गया हैं।[295]

२- छान्दोग्य उपनिषद् सृष्टि का प्रथम तत्त्व तेज को मानती हैं।[296]

३- प्रश्नोपनिषद् के अनुसार सृष्टि का प्रथम तत्त्व प्राण था। फिर प्राण से श्रद्धा, आकाश आदि की उत्पत्ति हुई।[297]

४- ऐतरेय उपनिषद् कहती है कि सबसे पहले जलमय शरीर वाला स्वर्गलोक, सूर्य किरणों से व्याप्त अन्तरिक्ष लोक, मनुष्यलोक और जलमय पाताललोक उत्पन्न हुए।[298]

---

[294] सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्व:। -ऋ.सं.10.190.3
[295] तै.उ.2.1
[296] तत्तेजोऽसृजत्। -छा.उ.6.2.3
[297] स प्राणमसृजत् प्राणात् श्रद्धाम्। -प्रश्न.उ.6.4

इस प्रकार हम देखते हैं कि सृष्टि के प्रथम तत्त्व के विषय में सभी उपनिषदें अलग मत रखती हैं। इसी प्रकार कारण के विषय में भी कुछ भेद दिखायी देता है। जैसे-

१- तैत्तिरीय उपनिषद् में असत्पूर्विका सृष्टि बतायी गयी है। अर्थात् प्रारम्भ में असत् था। उस असत् से सत की उत्पत्ति हुई, *'असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वा सदजायत्'*।[299]

२- छान्दोग्य उपनिषद् में भी इसी प्रकार का मन्त्र आया है, जिसमें कहा गया है कि पूर्व में यह असत् ही था। वह सत् हुआ अर्थात् वह सम्यक् अभिव्यक्त हुआ।[300]

३- श्वेतकेतु के पिता ने भी असत्वादियों के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि कुछ लोग जगत् के कारण के विषय में कहते हैं कि पहले यह असत् ही था- *'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्'।* ऐसा पूर्व पक्ष को रखते हुए सत् का कथन करते हैं कि हे सौम्य! यह कैसे हो सकता है कि असत् से सत् की उत्पत्ति हुई हो। अत: ऐसा ही समझना चाहिये कि पूर्व में सत् था – *'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति ह्येवाच कथमसत:सज्जायेतेति, सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' ।*[301]

आचार्य शंकर ने इस बात को पूर्णतः स्वीकार किया है कि सृष्टि की उत्पत्ति क्रम से होती है। अकस्मात् नहीं होती है। बेरों की मुट्ठी फेंक देने के समान एक साथ उत्पन्न नहीं हो जाती है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार तप के द्वारा ब्रह्म में कुछ स्थूलता आ जाती है। उसी से अन्न उत्पन्न होता है। अन्न से क्रमशः प्राण, मन, सत्य, लोक, कर्म तथा कर्म से अमृत संज्ञक कर्मफल उत्पन्न होता है।[302] यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम कि यहाँ सृष्टि का जो क्रम दिया गया है। वह पूर्व में दिये गये सृष्टि क्रम से पूर्णतः अलग है। प्रश्नोपनिषद् में दिये गये सृष्टि क्रम से यहाँ भेद है। यहाँ ब्रह्म से सर्व प्रथम अन्न की उत्पत्ति बतायी गयी है। जबकि प्रश्नोपनिषद् में ब्रह्म से सर्वप्रथम प्राण की उत्पत्ति बतायी गयी है।[303] दूसरी

---

[298] ऐ.उ.4.1.2
[299] तै.उ.2.7
[300] असदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीत्तत्सम्भवत्। -छा.उ.3.19.1
[301] वहीं,6.2.1-2
[302] मु.उ.1.1.8
[303] प्रश्न.उ.6.4

बात यहाँ कर्मफल को भी अमृत बताया गया है। आचार्य शंकर के मत में सौ करोड़ कल्पों तक भी कर्मफल का नाश नहीं होता है। इसलिए कर्मफल को अमृत कहा गया है।[304]

ऋषि सृष्टि और प्रलय के सिद्धांत को शरीर के उदाहरण से बताते हैं। उनके मत में जगत् की सृष्टि और उत्पत्ति की प्रक्रिया के जैसी प्रक्रिया शरीर में भी होती है। पुरुष जब सोता है तब शरीर में स्थित सभी इन्द्रियाँ और विषय पुरुष या कारण शरीर में लीन हो जाता है। फिर पुरुष के जागने के समय सभी इन्द्रियाँ और विषय अपने-अपने स्थानों पर स्थित हो जाते हैं। इस प्रक्रिया को अग्नि और विस्फुलिंग के उदाहरण से बताया गया है। जैसे अग्नि से चिनगारियाँ सभी दिशाओं में निकलती हैं। उसी प्रकार जागते हुए पुरुष की आत्मा से पहले प्राण निकलकर अपने स्थान पर अवस्थित हो जाता है। प्राण के बाद इन्द्रिय देवता और देवताओं के बाद लोक अथवा इन्द्रिय विषय प्रकट होते हैं।

यही प्रक्रिया ब्रह्माण्ड के सन्दर्भ में भी समझना चाहिये। पुरुष की सुषुप्ति अवस्था महाप्रलय की अवस्था है। जाग्रत अवस्था ही सृष्टि की अवस्था है।[305] अर्थात् सुषुप्तावस्था में पुरुष परमात्मा के साथ एक हो जाता है। तब पुरुष की वाणी सभी नामों के साथ उसमें लीन हो जाती है। नेत्र सभी रूपों के साथ उसी में लीन हो जाता है। कान सब शब्दों के साथ उसमें लीन हो जाता है। मन भी सब विचारों के साथ लीन हो जाता है। पुन: पुरुष के जागने पर आत्मा से सभी प्राण निकलकर अपने स्थान पर प्रकट हो जाते हैं। प्राणों के बाद इन्द्रिय देवता प्रकट होते हैं। इन्द्रिय देवताओं के बाद लोक प्रकट होते हैं।

शंकर के अध्येताओं ने प्राय: शंकर द्वारा निरूपित जगत् को ही संसार माना है, जिसके आधार पर विद्वानों ने जगत् और संसार को पर्यायवाची माना है। किन्तु शंकर ने इन दोनों शब्दों का प्रयोग भिन्न संदर्भों में किया है। उन्होंने दोनों की परिभाषायें भी स्वतंत्र रूप से दी है।[306]

---

[304] मु.उ.1.1.8.शां.भा.

[305] यदा सुप्त: स्वप्नं न कञ्चन् पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभि: सहाप्येति, चक्षु: सर्वै: रूपै: सहाप्येति, श्रोत्रं सर्वै: शब्दै: सहाप्येति, मन: सर्वै:ध्यानै: सहाप्येति, स यदा प्रतिबुध्यते यथाग्नेर्ज्वलत: सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा: विप्रतिष्ठेरन्नेवमेव तस्मादात्मन: सर्वे प्राणा यथा-यतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोका:। -कौ.उ.3.3

[306] अद्वै.ऐ.वि.235

आचार्य शंकर के मत में क्रिया, कारक और फल रूप भेद ही संसार है, *'क्रियाकारकफलभेदो हि संसारः'।*[307] श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य में पुनः कहते हैं कि *'सुखदुःखसंभोगः संसार पुरुषस्य च, सुखदुःखानां संभोक्तृत्वं संसारित्वं'।*[308] अर्थात् सुख और दुःख का भोग ही संसार है और पुरुषों में जो सुख दुःखों का भोक्तृत्व है, वही उसका संसारित्व है। वहीं पर आचार्य शंकर फिर लिखते हैं *'अविद्या गुणेषु स संगकामः संसारस्य कारणम्'।*[309] अर्थात् अविद्या और गुणों का संग ये दोनों ही संसार के कारण हैं। विवेकचूड़ामणि में आचार्य शंकर ने वासना को संसार चक्र का कारण माना है; क्योंकि वासना से कर्म उत्पन्न होते हैं, फिर कर्म से वासना पुष्ट होती है, फिर पुष्ट हुई वासना से कर्म में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार संसार का चक्र निरंतर चलता रहता है।[310]

अद्वैतवेदान्त के अनुसार संसार का मूल कर्मफल है। कर्मफल के भोग के लिए ही उत्तम और अधम योनियों की प्राप्ति होती है। आचार्य शंकर मानते हैं कि यदि कर्मों का फल मोक्ष माना जायेगा तो संसार का कोई कारण ही नहीं रहेगा।[311]

2.6 आकाश का भौतिक स्वरूप : वर्तमान समय में आकाश को ईथर के रूप में जाना जाता है। पहले आकाश का अर्थ अवकाश एवं रिक्त स्थान किया जाता था। किन्तु आज उस 'रिक्त स्थान' की जगह ईथर ने ले लिया। भारतीय मनीषियों ने आकाश का अर्थ 'रिक्त स्थान' कभी नहीं किया। भारतीय दर्शन में सदैव से आकाश को एक भूत माना गया है। योगानन्द जी ने ईथर को एक ऐसी पृष्ठिभूमि कहा है, जिस पर ईश्वर ब्रह्माण्डीय चलचित्र का प्रक्षेपण करता है। सम्भवतः योगानन्द जी आकाश और ईथर को अलग-अलग रूपों में देखते थे। उनके अनुसार आकाश वस्तुओं को आयाम प्रदान करता है। ईथर चित्रों को अलग करता है।[312] योगानन्द जी के अनुसार ईथर रूप पृष्ठिभूमि एक

---

[307] छा.उ.7.24.1, शां.भा.
[308] भग.गी.13.20, शां.भा.
[309] वहीं,13.21, शां.भा.
[310] वासनावृद्धितः कार्य कार्यवृद्ध्या च वासना। वर्धते सर्वथा पुंसः संसारो न निवर्तते॥ -वि.चू.314
[311] यदि च वैदिकानां कर्मणां तादर्थ्यमेव संसार एव नाभविष्यत्। -बृ.उ.3.2, सम्बन्धभाष्य
[312] मा.खो.530

सृजनात्मक शक्ति है, जो सभी आकाशीय स्पन्दनों को समन्वित करती है।[313] व्यवहारिक अनुभव में यह देखा जा सकता है कि मानव निर्मित सभी वस्तुयें मानवीय विचारों की अभिव्यक्ति मात्र हैं; क्योंकि कोई भी वस्तु मानवीय मस्तिष्क में सबसे पहले विचार के रूप में आती है। फिर मानवीय प्रयत्न के द्वारा वह साकार रूप ग्रहण करती है। इसी प्रकार ईश्वर के सन्दर्भ में भी समझा जाना चाहिये। ब्रह्माण्ड की रचना करने से पहले ईश्वर ने ब्रह्माण्ड की संरचना को विचारों के रूप में सोचा होगा, और ईक्षण शक्ति के द्वारा उन विचारों को साकार रूप दिया। इस विषय में योगानन्द जी कहते हैं कि पदार्थ अपने अस्तित्त्व के लिये मन पर आश्रित है। पदार्थ ईश्वरीय मन से उत्पन्न होता है। वे यह भी मानते थे कि पदार्थ मानस विचारों का साकार रूप है।[314]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सभी पदार्थ ईश्वर के मन के विचार मात्र हैं। इन सभी विचारों का आधार ईश्वर का मन है। इन पदार्थों का अपने आप में कोई अस्तित्त्व नहीं है। ये सभी पदार्थ ईश्वरीय शक्ति पर निर्भर है। जब कि ईश्वरीय शक्ति इन पदार्थों पर निर्भर नहीं करती है। इसे इस प्रकार जाना जा सकता है कि जैसे समुद्री लहरें समुद्री जल पर निर्भर करती है। लेकिन समुद्री जल को लहरों पर आश्रित नहीं रहना पड़ता है। उसी प्रकार इन सभी पदार्थों का अस्तित्त्व ईश्वरीय शक्ति पर निर्भर है।

शिलक ऋषि के मतानुसार आकाश ही सभी भूतों का कारण है; क्योंकि आकाश से ही सभी भूत उत्पन्न होते हैं। आकाश में स्थित होकर आकाश में लय को प्राप्त हो जाते हैं।[315] यद्यपि शंकराचार्य ने यहाँ आकाश शब्द का अर्थ परमात्मा किया है। तथापि परमात्मा के लिए आकाश शब्द का प्रयोग करना कुछ प्रासंगिक प्रतीत होता है। सम्भवत: व्यापकता की दृष्टि से आकाश और परमात्मा समान हैं। परमात्मा अप्रत्यक्ष हैं, जबकि आकाश प्रत्यक्ष है। उस प्रत्यक्ष आकाश में परमात्मा की भावना करके तटस्थ लक्षण के द्वारा परमात्मा को स्वरूपत: जाना जा सकता है। इसीलिए शिलक ने आकाश को सभी भूतों की उत्पत्ति, स्थिति और संहार का आश्रय बताया है। श्रुतियों में आत्मा के लिए भी

---

[313] वहीं

[314] वहीं,64

[315] अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाश: परायणम्। -छा.उ.1.9.1

आकाश शब्द का प्रयोग हुआ है। इस दृष्टि से आकाश नाम और रूप का निर्माण करने वाला होता है।[316] इस आकाश से ही सभी भूतों की उत्पत्ति होती है।[317]

उपनिषद् में आकाश की कई रूपों में चर्चा हुई है। प्रथम तो आकाश भूताकाश के रूप में प्रसिद्ध है। इस आकाश को अवकाश के रूप में जाना जाता था। किन्तु वर्तमान में इस आकाश को ईथर के रूप में जाना जाता है, जो कि एक प्रकार का पदार्थ है न कि अवकाश। उपनिषद् में वायु आदि भूतों के समान आकाश की भी उत्पत्ति बताई गयी है। इस आकाश का उपादान कारण माया है तथा निमित्त कारण चेतन ब्रह्म तथा प्राण हैं। आकाश की अभिव्यक्ति होने से निश्चय ही आकाश सबका कारण नहीं हो सकता है, आकाश न ही ब्रह्म हो सकता है। किन्तु कुछ समानताओं को ध्यान में रखकर उपनिषद् ऋषियों ने आकाश को ब्रह्म भी कहा है। जैसे चारों ओर प्रकाशित होने से तथा विभुत्व आदि गुण ब्रह्म से मिलते है।[318] अर्थात् जो चारों ओर प्रकाशित होता है वह आकाश है। इस व्युत्पत्ति से तथा विभुत्व गुण से आकाश ब्रह्म से समानता रखता है। इसलिए कहीं-कहीं उपनिषद् में आकाश को ही ब्रह्म कह दिया गया है। इसका एक मात्र उद्देश्य उपासक को दिशा देना है, जो उपासक सर्वव्यापकत्व और सर्वप्रकाशकत्व गुण को नहीं समझ सकते हैं। ऐसे उपासक को आकाश के उदाहरण से बताया जाता है कि जैसे आकाश सर्वत्र विद्यमान् है, सर्वत्र फैला हुआ है। उसी प्रकार ब्रह्म भी सर्वत्र व्याप्त है। आकाश के समान ब्रह्म के विभुत्व पर ध्यान करने से अन्तकाल में ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि सभी भूत आकाश से उत्पन्न हुए हैं।[319] यहाँ सभी भूतों की उत्पत्ति आकाश से बतायी गयी है। वास्तव में आकाश स्वयं में एक महाभूत है। फिर महाभूत आकाश कैसे सभी भूतों को उत्पन्न करने वाला हो सकता है। इसलिए छान्दोग्य उपनिषद् में प्रयुक्त आकाश शब्द महाभूत का वाचक न होकर आत्मा का वाचक

---

[316] आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता।- वहीं,8.14.1

[317] सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त।- वहीं,1.9.1

[318] आ समन्तात् काशते दीप्यत् इति स्वयं ज्योतिषि ब्रह्मण्या काश शब्दस्य विभुत्व गुण्तो वा प्रसिद्धिः प्रयोग प्राचुर्यम्। -ब्र.सू.शां.भा.रत्नप्रभाटीका, पृ.614

[319] सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यते। -छा.उ.1.9.1

है।[320] इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर आकाश को ही सभी नाम रूपों का निर्माण करने वाला बताया गया है।[321]

उपनिषद् कहती है कि आकाश सभी भूतों का मधु है। सभी भूत इस आकाश के मधु हैं। हृदयाकाश इस आकाश का अध्यात्म परिणाम है। दोनों में एक ही देवता रहता है। वह देवता तेजोमय एवं अमृत स्वरूप है। वही आत्मा है एवं वही ब्रह्म है।[322]

छान्दोग्य उपनिषद् में हृदयाकाश को आत्मा कहा गया है। इस हृदयाकाश में पाँच छिद्र बताये गये हैं**,** जिन्हें पाँच देवसुषि के नाम से जाना जाता है; क्योंकि इन छिद्रों के अधिष्ठातृ पंचदेव हैं। शंकराचार्य कहते हैं कि स्वर्गलोक की प्राप्ति के द्वारभूत पाँच छिद्र हैं। वे सभी छिद्र प्राण और आदित्य आदि देवताओं से सुरक्षित हैं। पूर्वाभिमुख हृदय का जो पूर्वदिशा में छिद्र है, वह प्राण है।[323] इस प्रकार प्राण से उक्त ब्रह्म स्वर्गलोक का द्वारपाल है। उस हृदयाकाश का दक्षिण छिद्र है, जिसमें व्यान संज्ञक ब्रह्म निवास करता है। पश्चिम दिशावर्ती छिद्र में अपान संज्ञक ब्रह्म है। उत्तर दिशावर्ती छिद्र में समान संज्ञक ब्रह्म है तथा इसका जो ऊर्ध्व दिशावर्ती छिद्र है वह उदान है। इन सभी पाँच द्वारपालों के अन्य नाम भी हैं। जैसे जो प्राण संज्ञक ब्रह्म है वह चक्षु है, वही आदित्य है, वही तेज है और वही अन्नाद्य भी है। इसी प्रकार जो व्यान संज्ञक ब्रह्म है, वही श्रोत्र है और वही चन्द्रमा है, वही श्री एवं यश भी है, जो अपान संज्ञक ब्रह्म है वही वाक् है, वही अग्नि है, वही ब्रह्म तेज एवं अन्नाद्य भी है। इस हृदयाकाश का जो उत्तर दिशावर्ती छिद्र है वह समान संज्ञक ब्रह्म है। वही मन, मेघ और कीर्ति भी है। ये पाँच ब्रह्मपुरुष ही स्वर्गलोक के द्वारपाल हैं। इन द्वारपालों को जानने वाला पुरुष ही स्वर्गलोक को प्राप्त कर सकता है।[324] छान्दोग्य

---

[320] वहीं,1.9.1

[321] आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता। - वहीं,8.14.1

[322] अयमाकाश: सर्वेषां भूतानां मध्वस्याकाशस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमय: पुरुषो इत्यादि। -बृ.उ.2.5.10

[323] पञ्च पञ्च संख्यका: देवानां सुषयो देवसुषय: स्वर्गलोक प्राप्ति द्वारच्छिद्राणि, देवै: प्राणादित्यादिभीरक्ष्यमाणानीत्यतो देवसुषय: तस्य स्वर्गलोक भवनस्य हृदयस्यास्य य: प्राङ्सुषि: पूर्वाभिमुखस्य प्राग्गतं यच्छिद्रं द्वारं स प्राण:। -छा.उ.3.13.1, शां.भा.

[324] ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषा: स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपा: सय एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य। - वहीं,3.13.6

उपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि पुरुष के भीतर की ज्योति और द्युलोक से परे जो परम ज्योति है। दोनों एक ही है। उत्तम लोको में यह परमज्योति ही प्रकाशित हो रही है।

आकाश को कई भेदों में देखा जा सकता है। घटाकाश, मठाकाश, हृदयाकाश, भूताकाश, ब्रह्माकाश। छान्दोग्य उपनिषद् के ऋषि इन सभी आकाशों की एकता प्रतिपादित करते हैं। उनके मत में त्रिपाद ब्रह्म आकाश के समान है। वह अमृत रूप में इस भूताकाश से पृथक् है। फिर भी दोनों एक ही हैं। ब्रह्माकाश और भूताकाश में कोई अन्तर नहीं है। पुरुष के बाहर स्थित भूताकाश तथा पुरुष के अन्दर स्थित आकाश एक ही है। इसी प्रकार पुरुष के भीतर जो आकाश है। वही हृदय के अन्तर्गत आकाश है। ऋषि के मत में हृदयाकाश आत्मा होने से पूर्ण है।[325]

गार्ग्य ने अजातशत्रु से कहा कि आकाश में जो पुरुष है वह ब्रह्म है और मैं ब्रह्म के रूप में उसकी उपासना करता हूँ। इस प्रकार उपासना करने वाला पुरुष प्रजा एवं पशुओं से पूर्ण होता है।[326] आचार्य शंकर के मत में आकाश, हृदयाकाश और हृदय तीनों में एक ही देवता निवास करता है। अत: हृदय का अधिदैवत रूप बाह्य आकाश है, जिसमें रहने वाला पुरुष ही ब्रह्म है।

2.7 चन्द्रज्योति का विवेचन : भू: भुव: सुव: मह: इन चार व्याहृतियों में चन्द्रमा को मह: कहा गया है; क्योंकि चन्द्रमा से ही सम्पूर्ण ज्योतिषियाँ वृद्धि को प्राप्त करती हैं।[327]

जब आदित्य अस्त हो जाता है तब पुरुष किस ज्योति वाला होता है? ऐसा पूछे जाने पर याज्ञवल्क्य ने कहा- तब पुरुष चन्द्र ज्योति वाला होता है; क्योंकि रात्रि में चन्द्रमा का अस्तित्त्व होता है। इस चन्द्र की ज्योति में पुरुष उठता है, बैठता है, इधर उधर जाता है, कर्म करके पुन: लौट आता है। अर्थात् सूर्य के अस्त हो जाने पर पुरुष के सभी कर्म चन्द्रमा के प्रकाश में सम्पन्न होते हैं।[328] किन्तु यह चन्द्र ज्योति भी अस्त हो जाती है। कृष्णपक्ष में

---

[325] वहीं,3.12.9

[326] बृ.उ.2.1.5

[327] चन्द्रमा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते। -तै.उ.1.5.2

[328] चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवतीति चन्द्रमसैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते। -बृ.उ.4.3.3

न आदित्य की ज्योति होती है न चन्द्र की ज्योति होती है। उस समय पुरुष के लिए क्या ज्योति होती है? इस प्रकार पूछे जाने पर याज्ञवल्क्य ने अग्नि ज्योति का उल्लेख किया।

उपनिषद् कहती है कि जीवात्मा इस शरीर के मृत्यु के उपरान्त सर्वप्रथम वायु को प्राप्त होता है। इस वायु को पार करने के लिए वायु स्वयं छिद्रयुक्त हो जाता है। उस छिद्र से जीवात्मा वायु को पार कर जाता है। फिर सूर्य को प्राप्त हो जाता है। सूर्य भी प्रसन्न होकर अपने अन्दर मार्ग दे देता है। उसमें से होकर जीवात्मा सूर्य से ऊर्ध्ववर्ती लोकों चन्द्रलोक में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार चन्द्रमा भी मार्ग दे देता है। चन्द्रमा के द्वारा दिये गये मार्ग का परिमाण दुन्दुभि के छिद्र के बराबर होता है। इस प्रकार चन्द्रलोक को पार करने के उपरान्त वह जीवात्मा ब्रह्मलोक को प्राप्त हो जाता है।[329]

उपनिषद् में चन्द्रमा को भी सभी भूतों का मधु अर्थात् कार्य बताया गया है और चन्द्रमा भी सभी भूतों का मधु है। चन्द्रमा का आध्यात्मिक रूप मन है। चन्द्रमा और मन में एक ही देवता का निवास है। यह देवता ही तेजोमय और अमृत स्वरूप है। यही आत्मा है और यही ब्रह्म है।[330]

अजातशत्रु के द्वारा आदित्य के ब्राह्मणत्व का निराकरण कर दिये जाने के पर गार्ग्य ने चन्द्रमा का ब्राह्मणत्व प्रतिपादित किया। गार्ग्य ने कहा कि चन्द्रमा में जो पुरुष दिखायी देता है। मैं उसी की ब्रह्म के रूप में उपासना करता हूँ। आचार्य के मत में चन्द्रमा और मन में रहने वाला पुरुष एक ही है, जो स्वयं को कर्ता एवं भोक्ता मानता है। यह पुरुष शुक्ल वस्त्रधारी सोम राजा है; क्योंकि प्राण को जलमय शरीर वाला बताया गया है और जल का रंग शुक्ल होता है। सोम राजा चन्द्रमा का नाम है। इस प्रकार चन्द्रमा में स्थित पुरुष को शुक्ल वस्त्रधारी सोम राजा कहा गया है।[331]

---

[329] वहीं,5.10.1

[330] अयं चन्द्र: सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन् चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमय: पुरुषो इत्यादि। - वहीं,2.5.7

[331] य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास...एतस्मिन्संवदिष्ठा बृहन्पाण्डरवासा: सोमो राजेति। - वहीं,2.1.3

तैत्तिरीय उपनिषद् में सभी भूतों को ब्रह्म से उत्पन्न हुआ बताया गया है।[332] यहाँ तटस्थ लक्षण के द्वारा ब्रह्म का बोध कराने का प्रयत्न किया गया है; क्योंकि इस लक्षण में 'यत:' पंचमी विभक्ति ब्रह्म का बोधक है। अन्य कोई भी शब्द ब्रह्म के स्वरूप का निर्धारण नहीं करता है। यद्यपि यहाँ ब्रह्म को सभी भूतों का कारण बताया गया है तथापि ब्रह्म भूतों का उपादान कारण न होकर निमित्त कारण ही है। उपादान कारण तो माया है। उपादान के रूप में सभी भूत माया में उत्पन्न होते हैं। माया में स्थित रहते हैं और माया में फिर लीन हो जाते हैं। किन्तु माया भी ब्रह्म के आश्रित ही है। माया तो ब्रह्म की शक्ति है। माया का स्वरूपत: कोई अस्तित्त्व नहीं है। माया का विश्लेषण करने पर केवल ब्रह्म की ही उपलब्धि होती है। इसलिए ब्रह्म माया का भी कारण होने से मूल कारण है। यह उसी प्रकार है जैसे घट मिट्टी में उत्पन्न होता है। मिट्टी में स्थित रहता है और मिट्टी में ही लीन हो जाता है। इसलिए मिट्टी घट का उपादान कारण है, और घट को बनाने वाला कुम्भकार निमित्त कारण है। उपादान कारण अपने कार्य में समवाय सम्बन्ध से स्थित रहता है। जबकि निमित्त कारण परम्परया अप्रत्यक्ष रूप से या संयोग सम्बन्ध से सम्बन्धित होते हैं। ब्रह्म जगत् के प्रति परम्परया किन्तु अन्तिम कारण है। अप्, ओषधि, वनस्पति, आकाश और आत्मा को मिलाकर अधिभूत पाङ्क्त कहा गया है।[333]

प्रजापति मे मन वाक् और प्राण को अपने लिए बनाया। इनका आध्यात्मिक रूप शरीर में विद्यमान् रहता है। जबकि आधिभौतिक रूप लोकों के रूप में दिखायी देता है। यह भू: लोक वाक् है। मन अन्तरिक्ष लोक है और प्राण को स्वर्गलोक कहते हैं।[334] ये मन, वाक् और प्राण ही तीनों वेद हैं, जिनमें वाक् ऋग्वेद है। मन यजुर्वेद है और प्राण सामवेद है।[335] देव, पितृ और मनुष्य भी यही हैं, जिनमें वाक् ही देवता है। मन पितर है तथा प्राण ही मनुष्य है।[336] माता, पिता और प्रजा भी यही हैं। जैसे मन ही पिता है, वाक् माता है तथा प्राण प्रजा है।[337] विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञात भी यही है। उनमें वाक् ही

---

[332] यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविसन्ति । तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म।। -तै.उ.3.1

[333] वहीं,1.7.1

[334] त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोक: प्राणोऽसौ लोक:। -बृ.उ.1.5.4

[335] त्रयो वेदा एत एव वागेव ऋग्वेदो मनो यजुर्वेद: प्राण: सामवेद:।- वहीं,1.5.6

[336] वहीं,1.5.6

[337] वहीं,1.5.7

विज्ञाता है; क्योंकि वाक् स्वयं प्रकाश रूप है। यह दूसरे का भी ज्ञान करा सकती है। अत: यह स्वयं कैसे अविज्ञात हो सकती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि हे सम्राट ! वाणी से ही बन्धु की पहचान होती है।[338] मन ही विजिज्ञास्य है; क्योंकि मन के द्वारा ही विस्पष्ट रूप से कोई वस्तु जानी जाती है।[339] प्राण को अविज्ञात की श्रेणी में रखा गया है।[340] निष्कर्षत: श्रुति के अनुसार वाक् के निम्नलिखित रूप हैं। वाक् ही भू: लोक, ऋग्वेद, देवता, माता और विज्ञाता है। मन ही अन्तरिक्ष लोक है, यही मन यजुर्वेद, पिता, पितर एवं विजिज्ञास्य है। जबकि प्राण को स्वर्गलोक, सामवेद, मनुष्य, प्रजा और अविज्ञात कहा गया है।

2.8 जल रूप ज्योति का उल्लेख : तैत्तिरीय उपनिषद् के ऋषि जल और ज्योति के बीच भी सम्बन्ध मानते हैं। उनके अनुसार ज्योति अन्नाद है। जल में ज्योति प्रतिष्ठित है और ज्योति में जल प्रतिष्ठित है।[341]

उपनिषद् में जल को सभी भूतों का मधु बताया गया है और सभी भूत जल के मधु हैं। जल की रेतस् में विशेष स्थिति बतायी गयी है। जल और रेतस् में एक ही पुरुष की विद्यमानता है। वह पुरुष अमृतमय तेजो स्वरूप वाला है।[342]

पुन: गार्ग्य ने काशीराज अजातशत्रु से कहा कि यह जल में जो पुरुष है वही ब्रह्म है और मैं उसी की उपासना करता हूँ। इस जल का एक विशेषण प्रतिरूप है। प्रतिरूप के रूप में मैं उपासना करता हूँ, जो जल की प्रतिरूप के रूप में उपासना करता है। उसे प्रतिरूप पुत्र की प्राप्ति होती है।[343] आचार्य शंकर के मत में जल, वीर्य और हृदय में एक ही देवता का निवास होता है।[344]

---

[338] वाचैव सम्राड्बन्धु: प्रज्ञायते।- वहीं,4.1.2

[339] यत्किञ्च विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तद्भूत्वावति।- वहीं,1.5.9

[340] यत्किञ्च अविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञात: प्राण एनं तद्भूत्वावति।- वहीं,1.5.10

[341] ज्योतिरन्नादम् । अप्सु ज्योति: प्रतिष्ठितम् । ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिता:। -तै.उ.3.8.1

[342] इमा: आप: सर्वेषां भूतानां मध्वासामपां सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमय: पुरुषो यश्चायमध्यात्मं रेतसस्तेजोमयोऽमृतमय:। -बृ.उ.2.5.2

[343] वहीं,2.1.8

[344] अप्सु रेतसि हृदि चैका देवता।- वहीं,2.1.8, शां.भा.

2.9 विद्युत् का स्वरूप : विद्युत् शब्द स्त्रीलिंग में प्रयोग होता है। *'विशेषेण द्योतते'* इति विद्युत् अर्थात् विद्युत् विशेष रूप से प्रकाशित होती है। वि उपसर्ग पूर्वक द्युत् धातु से क्विप् प्रत्यय करने से विद्युत् शब्द बनता है। इसका शाब्दिक अर्थ बिजली, वज्र, संध्या आदि किया गया है।[345] विद्युत् भी सभी भूतों का मधु है और सभी भूत इस विद्युत् के मधु हैं। इस विद्युत् का अध्यात्म परिणाम तेजस् है। तेजस् और विद्युत् में एक ही देवता की स्थिति बतायी गयी है। यह देवता ही तेजोमय एवं अमृत स्वरूप है। यही आत्मा है और यही ब्रह्म है।[346]

एक मन्त्र में विद्युत् को ब्रह्म कहा गया है। यह विद्युत् विदान करने के कारण विद्युत् शब्द से बोधित होता है- *'विदानाद् विद्युत्'।* यह बादलों के अन्धकार को नष्ठ करके प्रकाशित होती है। इसलिए विद्युत् कही जाती है। विद्युत् की जो ब्रह्म के रूप में उपासना करता है। वह विद्युत् के समान पापों को नष्ट करने वाला होता है। अत: पुरुष को ब्रह्म के रूप में विद्युत् की उपासना करनी चाहिए।[347]

अजातशत्रु के द्वारा चन्द्राभिमानी देवता के ब्राह्मणत्व प्रतिपादन का निराकरण कर देने के उपरान्त गार्ग्य ने विद्युत् के अभिमानी देवता का ब्रह्म के रूप में प्रतिपादन किया। गार्ग्य ने कहा कि इस विद्युत् में जो पुरुष है मैं उसी की ब्रह्म के रूप में उपासना करता हूँ। इस रूप में विद्युत् की उपासना करने वाला पुरुष तेजस्वी होता है। और उसकी प्रभा भी तेजस्विनी होती है।[348] आचार्य शंकर ने इसके भाष्य में दो महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख किया है। प्रथम कि विद्युत्, त्वक् और हृदय में एक ही देवता निवास करता है। अर्थात् इनका अभिमानी देवता एक ही है और ये तीनों एक ही हैं। दूसरा कि त्वक् का अभिमानी

---

[345] शब्दार्थ कौस्तुभ पृ.1061, उपनिषदों के निर्वचन- वेदवती वैदिक,पृ.191

[346] इयं विद्युत् सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै विद्युत: सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां विद्युति तेजोमयोऽमृतमय: पुरुषो यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोमयोऽमृतमय: पुरुषो इत्यादि।– बृ.उ.,2.5.8 एवं शां.भा.

[347] विद्युत् ब्रह्मेत्याहुर्विदानात् विद्युत् विद्यत्येनं पापमनो य एवं वेद विद्युद् ब्रह्मेति विद्युद्ध्येव ब्रह्म। - वहीं,5.8.1

[348] य एवासौ विद्युति पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति।- वहीं,2.1

देवता विद्युत् है। अर्थात् त्वक् का अधिदैवत रूप विद्युत् है। इससे त्वक् एवं विद्युत् के बीच सम्बन्ध का ज्ञान होता है।[349]

2.10 दिशाओं का ज्योतिर्मयत्व प्रतिपादन : याज्ञवल्क्य ने शाकल्य से कहा कि मैं पूर्व दिशा में आदित्य देवता की स्थिति मानता हूँ। यह आदित्य चक्षु में प्रतिष्ठित है; क्योंकि चक्षु से ही सूर्य की उत्पत्ति बतायी गयी है।[350] ऐसा ऐतरेय उपनिषद् में भी उल्लेख मिलता है।[351] यह चक्षु भी रूप में प्रतिष्ठित है; क्योंकि नेत्र से ही रूप को देखा जाता है। यह रूप भी हृदय में प्रतिष्ठित है; क्योंकि हृदय(बुद्धि) से ही रूपों को जाना जाता है।[352]

शाकल्य के द्वारा दक्षिण-दिशा से सम्बन्धित प्रश्न पूछे जाने पर याज्ञवल्क्य ने कहा कि दक्षिण-दिशा में मैं यम देवता वाला हूँ। यह यम देवता यज्ञ में स्थित है। यज्ञ दक्षिणा में प्रतिष्ठित है। दक्षिणा श्रद्धा में प्रतिष्ठित है; क्योंकि जिसमें श्रद्धा होती है उसी को दक्षिणा दी जाती है। यह श्रद्धा भी बुद्धि में प्रतिष्ठित मानी गयी है; क्योंकि बुद्धि से ही इस श्रद्धा को जाना जाता है।[353] पुन: शाकल्य के द्वारा पूछे जाने पर याज्ञवल्क्य ने कहा कि पश्चिमा दिशा में मैं वरुण देवता वाला हूँ। यह वरुण देवता जल में प्रतिष्ठित है; क्योंकि जल से ही वरुण उत्पन्न होता है।[354] यह जल भी वीर्य में प्रतिष्ठित है; क्योंकि वीर्य से ही जल की रचना हुई है।[355] यह वीर्य भी हृदय में प्रतिष्ठित है; क्योंकि हृदय की वृत्ति काम है। काम भाव होने पर वीर्य स्खलित होता है।[356]

पुन: शाकल्य के द्वारा उत्तर-दिशा से सम्बन्धित प्रश्न किये जाने पर याज्ञवल्क्य ने कहा कि उत्तर-दिशा में मैं सोम देवता वाला हूँ। यह सोम दीक्षा में प्रतिष्ठित है; क्योंकि दीक्षित

---

[349] वहीं,2.1.4, शां.भा.
[350] चक्षो: सूर्योऽजायत। -यजु.सं. 31.12
[351] चक्षुष: आदित्य:। -ऐ.उ.1.4
[352] बृ.उ.3.9.20
[353] वहीं,3.9.21
[354] श्रद्धा वा आप:, श्रद्धातो वरुणमसृजत्।- वहीं,3.9.21, शां.भा.
[355] रेतसो ह्याप: सृष्टा - वहीं,3.9.21, शां.भा.
[356] वहीं,3.9.22

यजमान ही सोम को खरीदता है। यह दीक्षा भी सत्य में प्रतिष्ठित है। सत्य भी हृदय(बुद्धि) में प्रतिष्ठित है; क्योंकि बुद्धि से ही सत्य का ज्ञान होता है।[357]

इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषि प्रत्येक दिशा का एक देवता स्वीकार करते थे। याज्ञवल्क्य के मत में आदित्य पूर्वदिशा का स्वामी है। यम दक्षिण-दिशा का स्वामी है। वरुण पश्चिम-दिशा का और सोम उत्तर-दिशा का स्वामी है। सम्भवत: दक्षिण-दिशा का स्वामी यम होने से लोक व्यवहार में दक्षिण-दिशा में सिर करके शयन करना निषेध होता है। मृत पुरुष का सिर दक्षिण दिशा में करके सुलाया जाता है। पूर्व-दिशा का स्वामी आदित्य देवता है, जो कि प्राण से परिपूर्ण होता है। अत: पूर्व-दिशा में सिर करके शयन करने वाला पुरुष प्राण से परिपूर्ण होता है। चारों दिशाओं के स्वामी देवताओं का उल्लेख करने के बाद याज्ञवल्क्य ने ध्रुवा दिशा के देवता का कथन किया। याज्ञवल्क्य ने कहा कि मैं ध्रुवा दिशा में अग्नि देवता वाला हूँ; क्योंकि ऊर्ध्व-दिशा प्रकाश की बहुलता से युक्त है और प्रकाश ही अग्नि है।[358]

यह अग्नि वाक् में प्रतिष्ठित है और वाक् हृदय में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार शाकल्य के द्वारा पूछे गये प्रत्येक प्रश्न का उत्तर याज्ञवल्क्य के द्वारा दिये जाने पर शाकल्य आगे भी प्राण की प्रतिष्ठा के विषय में प्रश्न करता गया। शाकल्य ने पूछा कि तुम्हारा शरीर और आत्मा किसमें प्रतिष्ठित है। तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि प्राण में, प्राण अपान में प्रतिष्ठित है, अपान व्यान में प्रतिष्ठित है। व्यान उदान में एवं उदान समान में प्रतिष्ठित है।[359] यदि पूर्व प्रसंग के अनुसार प्रतिष्ठित शब्द का अर्थ उत्पत्ति या निष्पत्ति ही लिया जाए तो यहाँ यह मानना पड़ेगा कि समान वायु से उदान, उदान वायु से व्यान, व्यान वायु से अपान तथा अपान वायु से प्राण निष्पन्न होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में बताया गया है कि दिशाएँ श्रोत्र के परिणाम हैं। श्रोत्र पहले मृत्यु से युक्त थे। तब प्राण ने श्रोत्र को मृत्यु से मुक्त कर देवभाव को प्राप्त करा दिया। तब श्रोत्र देवभाव को प्राप्त होकर दिक् बन गया। इसीलिए दिक् मृत्यु से परे होकर दीप्तिमान् रहती है।[360] दिशाओं का प्रकाशमान् होना-ब्रह्म के चार पादों में प्रथम पाद प्रकाशवान् नामक पाद है। यह पाद चार कलाओं वाला

---

[357] वहीं,3.9.23
[358] वहीं,3.9.20-24, शां.भा.
[359] वहीं,3.9.26
[360] वहीं,1.3.15

है। पूर्वादिक्कला, पश्चिमादिक्कला, दक्षिणादिक्कला, उत्तरादिक्कला, ये ब्रह्म की प्रकाशवान् नामक पाद की चार कलायें हैं। इससे दिशाओं का प्रकाशवान् होना सिद्ध होता है।[361] पुन: ब्रह्म के चतुर्थपाद के रूप में श्रोत्र को निर्दिष्ट किया गया है। मनोमय ब्रह्म का यह पाद दिशा रूप ज्योति से प्रकाशित होता है और तपता है।[362]

उपनिषद् के अनुसार दिशाएँ सभी भूतों का मधु हैं और सभी भूत दिशाओं के मधु हैं। इस प्रकार दोनों एक दूसरे के मधु हैं। श्रोत्र में दिक् की विशेष स्थिति बतायी गयी है। इन दोनों में एक ही देवता का निवास होता है। वह देवता तेजोमय अमृत स्वरूप वाला है। वही आत्मा है और वही ब्रह्म है।[363] आचार्य शंकर के मत में श्रोत्र दिशाओं के अध्यात्म परिणाम है, *'दिशां श्रोत्रमध्यात्मं'*[364] यहाँ परिणाम शब्द का प्रयोग हुआ है। ऐसा भी संभव है कि आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तत्त्वों मे जो सम्बन्ध बताया गया है। वह एक दूसरे के परिणाम है। जैसे आदित्यनिष्ठ पुरुष का परिणाम सूर्य और सूर्य का परिणाम चक्षु है। इसी प्रकार वायु निष्ठ देवता का परिणाम वायु और वायु का परिणाम प्राण है। वरुण का परिणाम जल और जल का परिणाम रसना हो । यह एक विचारणीय तथ्य है।

गार्ग्य ने कहा कि दिशाओं में जो पुरुष है। उसी की मैं ब्रह्म के रूप में उपासना करता हूँ। इसकी दो विशेषतायें दी गयी हैं- द्वितीय और अनपग। दिशाओं की इस रूप में उपासना करने वाला पुरुष द्वितीयवान् होता है और अपने गण का कभी विच्छेद नहीं करता है। आचार्य शंकर के अनुसार दिक्, कर्ण और हृदय में एक ही देवता होता है और यह देवता अश्विनी कुमार हैं।[365]

2.11 दिन और रात्रि का वर्णन : दिन और रात्रि दो व्यवहारिक सत्य हैं। दिन वस्तु स्वरूप को उद्घाटित करने वाला होता है। तो रात्रि वस्तु स्वरूप को आवृत्त करने

---

[361] छा.उ.4.5.2

[362] श्रोत्रमेव ब्राह्मणश्चतुर्थ: पाद:। स दिग्भि: ज्योतिषा भाति च तपति च।- वहीं,3.18.6

[363] इमा दिश: सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशां सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमय: इत्यादि। -बृ.उ.2.5.6

[364] वहीं,2.5.6,शां.भा.

[365] दिक्षु कर्णयोर्हृदि चैका देवता अश्विनौ देवाववियुक्तस्वभावौ।- वहीं,2.1.11, शां.भा.

वाली होती है। इसी अनावरण और आवरण स्वभाव के कारण दिन को सत्त्वगुण प्रधान तथा रात्रि को तमोगुण प्रधान बताया गया है। उपनिषद् में कहीं सत्त्व प्रधान होने से दिन में मृत्यु प्राप्त करने वाले व्यक्ति को मोक्ष प्राप्ति होने का विधान किया गया है। दिन उत्तरायण आदि प्रकाश मार्ग का द्योतक है। इस मार्ग से प्रयाण करने वाले पुरुष मोक्ष प्राप्त करते हैं। उपनिषद् में दिन के अधिष्ठातृ देवता का भी उल्लेख है। शंकराचार्य ने रात्रि को सभी पदार्थों का अज्ञान करने वाली बताया है।[366] अर्थात् रात्रि अपने तमस् स्वभाव के कारण सभी पदार्थों के विषय में अज्ञान को उत्पन्न करती है। उसके विपरीत दिन सत्त्व प्रधान होने से सभी पदार्थों के विषय में ज्ञान को उत्पन्न करता है। दिवस् में जो पदार्थों के विषय में ज्ञान उत्पन्न करने की सामर्थ्य है। वह सामर्थ्य सत्त्व गुण की अधिकता के कारण होती है। सत्त्वगुण यद्यपि प्रकाशक है तथापि वह आत्मा को नहीं प्रकाशित कर सकता; क्योंकि वह स्वयं आत्मा से प्रकाश्य है। इसलिए वह अपने कारण को नहीं प्रकाशित कर सकता है।[367] दिन केवल प्रत्यक्ष वस्तु को प्रकाशित कर सकती है। चक्षुरिन्द्रिय के विषय को ही प्रकाशित कर सकता है। वह न तो अन्य इन्द्रियों के विषय को प्रकाशित कर सकता है। न भूत भविष्यत को प्रकाशित कर सकता है। न सूक्ष्म जगत् को प्रकाशित कर सकता है। जबकि आत्मज्ञान सभी इन्द्रियों के विषयों को प्रकाशित कर सकता है। भूत-भविष्यत् तथा सभी सूक्ष्म लोकों को भी प्रकाशित कर सकता हैं। इसीलिए आत्मज्ञानी पुरुष के लिए दिन भी रात्रि के समान है। दिन में सभी प्राणी जागते हैं। चक्षु इन्द्रिय से विषयों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। किन्तु आत्मज्ञानी पुरुष के लिए यह दिन भी रात्रि के समान है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनिः॥[368]

ओशो रजनीश के मत में आत्मज्ञानी पुरुष इस दिन को भी स्वप्न के समान देखता है, जिस दिन सभी प्राणी अपने को जागा हुआ समझते हैं। जागते हुए एक दूसरे के साथ व्यवहार किया करते हैं। आत्मज्ञानी पुरुष इन सभी प्राणियों को स्वप्न में चलते हुए के समान

---

[366] रात्रिः सर्वपदार्थानाम अविवेककरी तमः स्वभावत्वात्। -भग.गी.2.69, शां.भा.

[367] तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। -कठ.उ.2.2.15

[368] भग.गी. 2.69

देखता है। जैसे स्वप्न में चलता हुआ पुरुष अपने को जागा हुआ समझता है। किन्तु जाग्रत पुरुष उसे सोते हुए देखता है। उसी प्रकार इस जगत् के सभी प्राणी अपने को जागा हुआ समझते हैं। किन्तु आत्मज्ञानी पुरुष सबको सोता हुआ समझता है।[369]

2.12 शुक्लमार्ग और कृष्णमार्ग : श्रीमद्भग्वद्गीता में दो मार्ग बताये गये हैं। उनमें से एक शुक्लमार्ग है तो दूसरा कृष्णमार्ग है। इन दोनों मार्गों से प्रयाण किये हुए पुरुषों की गति भी भिन्न-भिन्न होती है। शुक्लमार्ग से प्रयाण करने पर जीव मोक्ष प्राप्त करता है। उसका पुनर्जन्म नहीं होता है। जबकि कृष्णमार्ग से जाने वाला जीव चन्द्रलोक को प्राप्त होता है। पुण्य कर्मों के क्षीण होने तक वहाँ रहकर पुन: लौट आते हैं। इनमें से शुक्लमार्ग का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण के छ: महीने शुक्लमार्ग कहे जाते हैं। अर्थात् दिन में प्रयाण करने वाले पुरुष, शुक्लपक्ष में प्रयाण करने वाले पुरुष, उत्तरायण में प्रयाण करने वाले पुरुष मोक्ष को प्राप्त करते हैं। जबकि रात्रि में, कृष्णपक्ष में तथा दक्षिणायन में सूर्य के रहने पर जो पुरुष प्रयाण करता है। वह चन्द्रलोक को जाता है और कर्मफल का क्षय होने पर पुन: लौट आता है।[370]

2.13 संवत्सर एवं वाक् के प्रकाश का वर्णन : विराट् अग्नि की रचना करने के उपरान्त उस मृत्यु रूप से प्राण ने पुन: दूसरे शरीर के लिए कामना की।[371] इस प्रकार शरीर रूप कामना को पूर्ण करने के लिए उस मृत्यु रूप प्राण ने वेदत्रयी की आलोचना की। वह वेदत्रयी रूप ज्ञान ही रेतस् हुआ। पुन: उस रेतस् के साथ जल में प्रविष्ट किया। जल में अण्ड के रूप में विद्यमान् वह रेतस् ही संवत्सर हुआ।[372] इस प्रकार प्रजापति ही संवत्सर का निर्माता हुआ।[373] इससे ज्ञात होता है कि संवत्सर रूप काल प्रजापति से पूर्व नहीं था। प्रजापति ही संवत्सर या वर्ष का निर्माता था।

---

[369] तं.वि., विज्ञान भैरव तंत्र, प्रथम खण्ड, पृ.141
[370] भग.गी. 8.26
[371] द्वितीयो मे ममात्मा शरीरं येनाहं शरीरी स्यां। -बृ.उ.1.2.4, शां.भा.
[372] वहीं,1.2.4, शां.भा.
[373] संवत्सर-काल निर्माता संवत्सर: प्रजापति: अभवन्।- वहीं,1.2.4, शां.भा.

इस प्रकार जल में वह अण्ड एक संवत्सर तक पड़ा रहा। फिर संवत्सर के उपरान्त अण्ड में विस्फोट हुआ, जिससे प्रथम शरीरी कुमार अग्नि की उत्पत्ति हुई। उस समय मृत्यु क्षुधा से युक्त था। अपनी क्षुधा शान्ति के लिए वह कुमार अग्नि की ओर दौड़ा, जिससे भयभीत होकर अग्नि ने 'भाण' ऐसा शब्द किया। वही वाक् यानी शब्द हुआ।[374] इसके तीसरे मन्त्र में सीधे प्राण से अग्नि, वायु और आदित्य की उत्पत्ति बतायी गयी है। किन्तु किसी वस्तु की उत्पत्ति एकाएक नहीं होती है, अपितु एक प्रक्रिया से होकर गुजरती है। अग्नि की उत्पत्ति की प्रक्रिया को उपर्युक्त चतुर्थ मन्त्र में बताया गया है कि वेदत्रयी रूप ज्ञान से रेतस् होकर अण्ड के रूप में जल के भीतर एक संवत्सर तक पड़ा रहा। पुन: उस अण्ड से कुमार अग्नि की उत्पत्ति हुई। अग्नि से ही वाक् की उत्पत्ति हुई। इसीलिए अग्नि को वाक् का अधिष्ठातृ व प्रकाशक देवता कहा जाता है।

2.14 शांकरवेदान्त में सत्तात्रय : आचार्य शंकर तीन प्रकार की सत्ता स्वीकार करते हैं। ये तीनों सत्तायें असत् से पृथक् रूप में हैं; क्योंकि असत् से कोई वस्तु उत्पन्न ही नहीं हो सकती है- यद्यभावादेव घट उत्पद्येत घटार्थिता मृत्पिण्डो नोपादीयेत्।[375] अर्थात् यदि अभाव से घट की उत्पत्ति होती तो कुम्भकार को मिट्टी लेने की आवश्यकता नहीं होती। अत: असत् वस्तु को किसी प्रकार उत्पन्न नहीं किया जा सकता है। बिना किसी आश्रय के रज्जु-सर्प अथवा शुक्ति रजत् नहीं देखे जाते हैं।[376] अत: कोई भी सत्ता असत् से भिन्न होती है। असत् से भिन्न रूप सत्ता को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है- प्रातिभासिक, व्यवहारिक, और पारमार्थिक।

प्रातिभासिक सत्ता- प्रातिभासिक सत्ता असत् तो होती है। किन्तु असत् आकाश कुसुम की भाँति सर्वथा आधारहीन नहीं होती है; क्योंकि शुक्ति रजत् का आधार शुक्ति और रज्जु-सर्प का आधार रज्जु है। साथ ही इस प्रातिभासिक सत्ता का ज्ञानरूप फल भी प्राप्त होता है। अत: इस प्रातिभासिक सत्ता को पूर्णत: असत् नहीं कहा जा सकता है।

---

[374] स च कुमारो भीत: स्वाभाविक्याविद्यया युक्तो भाणित्येव शब्दमकरोत। सैव वागभवत वाक् शब्दोऽभवत। - वहीं,1.2.4, शां.भा.

[375] छा.उ.6.2.2

[376] मा.उ.1.6, शां.भा.

आचार्य शंकर के शब्दों में इसे इस प्रकार समझा जा सकता है- यद्यपि स्वप्नावस्था में स्थित पुरुष को सर्प का डसना, जल स्नान आदि कार्य असत् हैं, तो भी उनका ज्ञान स्वरूप फल सत्य ही है; क्योंकि जाग्रत पुरुष का वह ज्ञान बाधित नहीं होता है।[377] इस प्रकार प्रातिभासिक ज्ञान का विषय मिथ्या होता है। किन्तु उसका ज्ञान और आधार मिथ्या नहीं होते हैं। साथ ही इस प्रातिभासिक सत्ता का बाध भी देखा जाता है।

व्यवहारिक सत्ता- जाग्रत अवस्था में दिखायी देने वाला जगत् व्यवहारिक सत् है; क्योंकि व्यवहार की दृष्टि से यह जगत् सत् प्रतीत होता है। जागने के बाद स्वप्नगत जगत् का बाध देखा जाता है। किन्तु व्यवहारिक वस्तुओं का बाध नहीं होता है। आचार्य कहते हैं कि सारे नाम जो अन्य बुद्धि से कहे जाते हैं। वे सारे पदार्थ सत् ही हैं।[378] किन्तु इन दोनों में अन्तर है। भ्रान्ति (स्वप्न) की वस्तुएँ हमारे मन की उपज होती हैं और उसका ज्ञान हमारा व्यक्तिगत ज्ञान है। जबकि व्यवहार की वस्तुएँ समान रूप से सबके ज्ञान का विषय बनती हैं। इसी आधार पर प्रातिभासिक सत्ता और व्यवहारिक सत्ता पृथक् है, *'मृगतृष्णिकाद्यनृतापेक्षयोदकापि सत्यमुच्यते'।*[379] अर्थात् मृगतृष्णादि की अपेक्षा से जल आदि को सत्य कहा जाता है।

पारमार्थिक सत्- पुन: इस व्यवहारिक जगत् की तुलना जब ब्रह्म से की जाती है तो ब्रह्म की तुलना में यह दृश्यमान जगत् भी मिथ्या सिद्ध होता है; क्योंकि ब्रह्म त्रिकालाबाधित सत् है। आचार्य शंकर के मत में यह त्रिकालाबाधित ब्रह्म ही पारमार्थिक सत् वस्तु है- *'परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ता: सर्वे'।*[380] अर्थात् परमार्थ अवस्था में सभी वेदान्त शास्त्र समस्त व्यवहार का अभाव कहते हैं। इस प्रकार आचार्य शंकर असत् से भिन्न तीन प्रकार के सत् स्वीकार करते हैं। प्रातिभासिक सत्, व्यवहारिक सत् और पारमार्थिक सत्। ये तीनों ही सापेक्षिक सत्ताएँ हैं। प्रातिभासिक सत् व्यवहारिक सत् की अपेक्षा मिथ्या है और व्यवहारिक सत् पारमार्थिक सत् की अपेक्षा मिथ्या है। किन्तु पारमार्थिक सत् सदा रहने वाला त्रिकालाबाधित सत् है। यह पारमार्थिक सत् ही ब्रह्म या आत्मा रूप है।

---

[377] ब्र.सू. 2.1.14, शां.भा.
[378] बृ.उ.6.2.3, शां.भा.
[379] तै.उ.2.6, शां.भा.
[380] ब्र.सू. 2.1.14, शां.भा.

निष्कर्षत: यही कहा जा सकता है कि ज्ञानेन्द्रिय संवेदी प्रकाश आधिभौतिक प्रकाश है। भूतों से सम्बन्ध रखने के कारण इन्हें आधिभौतिक कहते हैं।

तृतीय अध्याय

प्रस्थानत्रयी शांकरभाष्य में आधिदैविक प्रकाश का निरूपण

वैदिक वाङ्मय में प्रत्येक वस्तु का अधिष्ठातृ देवता स्वीकार किया गया है। वह देवता ही वस्तु को नियन्त्रित करता है। जैसे पर्वत, वृक्ष, नदी, आकाश, बादल, वायु आदि सभी अपने अधिष्ठातृ देवता द्वारा नियन्त्रित होते हैं। इनकी अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि इस जगत् में कोई भी पदार्थ ईश्वर के बिना नहीं रह सकता है।[381] बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि पृथिवी को नियन्त्रित करने वाला एक अन्तर्यामी तत्त्व है। यह भौतिक पृथिवी जिसका शरीर है। उस अन्तर्यामी तत्त्व को पृथिवी भी नहीं जानती है।[382] यहाँ 'पृथिवी भी नहीं जानती है' इस वाक्य से ज्ञात होता है कि भौतिक जड़ पृथिवी की एक अधिष्ठातृ चेतन देवी हैं। जिसमें जानने की योग्यता है। वह देवी अन्य विषयों को तो जानती है। किन्तु अपने चेतन स्वरूप को नहीं जानती है। इससे ज्ञात होता है कि एक अचेतन भौतिक पृथिवी है। दूसरा उसकी अधिष्ठातृ देवी तीसरा अधिष्ठातृ देवी का पारमार्थिक रूप शुद्ध चेतन ईश्वर। जिसे यहाँ अमृतधर्मा और अन्तर्यामी बताया गया है। अन्तर्यामी, अमृतधर्मा आदि चिन्हों से ईश्वर ही पृथिवी का अन्तर्यामी तत्त्व है, न कि ब्रह्म तत्त्व।[383]

'*अधिदेवं भवः*'। अधिदेव-देव में, भवः- होने वाला पदार्थ आधिदैविक कहा गया है।[384] मूलतः आधिदैविक शब्द 'देवविषयक' का अर्थ देता है। सांख्यदर्शन में दुःखों की व्याख्या 'देवजनित' अर्थ में की गयी है। '*आधिदैविकं शीतोष्णवात*

---

[381] भग.गी.10.39

[382] बृ.उ.3.7.3

[383] वहीं,शां.भा.

[384] पा.सू.4.3.60 वार्तिक7.3.20, भारतीय दर्शन बृहत्कोश, बच्चूलाल अवस्थी

वर्षाशन्यवश्यायाद्यावेशनिमित्तम्'।[385] अर्थात् शीत, ऊष्ण, वात, वर्षा एवं वज्रपातादि द्वारा उत्पन्न दु:ख को आधिदैविक कहा गया है। यह व्याख्या 'देव' की अपेक्षा 'दैव' से सम्बद्ध प्रतीत होती है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार *'आधिदैविकं तु यक्षराक्षसविनायकग्रहाद्यावेशनिबन्धनम्'।*[386] अर्थात् यक्ष, राक्षस्, विनायक एवं ग्रहादि के आवेश से जनित दु:ख आधिदैविक है।

गौडपाद प्रकारान्तर अपनाते हैं- *'आधिदैविकं देवानामिदं दैवं दिव: प्रभवतीति वा दैवं तदधिकृत्य यदुपजायते शीतोष्णवातवर्षाशनिपातादिकं'।*[387] अर्थात् देवों से सम्बद्ध या दिव् से उत्पन्न को 'दैव' कहा गया है। और दैव विषयक उत्पन्न दु:ख आधिदैविक है। जो शीत, ऊष्ण, वात, वर्षा तथा अशनिपातादि रूपों में पाया जाता है। यहाँ भी अधिदैव से व्याख्या की गयी है। श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्य में आचार्य शंकर ने आदित्य में विद्यमान् हिरण्यगर्भ को अधिदैवत कहा है- *'पुरुष: पूर्णमनेन सर्वम् इति पुरि शयनाद् वा पुरुष आदित्यान्तर्गतो हिरण्यगर्भ: सर्वप्राणिकरणानाम् अनुग्राहक: स: अधिदैवतम्'।*[388] अर्थात् जिससे यह सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है ऐसा यह शरीर रूपी पुर में रहने वाला आदित्य अन्तरवर्ती हिरण्यगर्भ ही अधिदैव है। बृहदारण्यक उपनिषद् में अधिदैवत दर्शन के अन्तर्गत पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, दिक्, आकाश के अन्तर्यामी का उल्लेख है। उसमें कहा गया है कि ये सभी पदार्थ अपने अन्तर्यामी को नहीं जानते है।[389] यहां *'पृथिवी नहीं जानती है'* इस वाक्यांश से ज्ञात होता है कि जड़ पृथिवी आदि में कोई चेतन पुरुष है, जो अपने अन्तर्यामी तत्त्व को नहीं जानता है। वह चेतन पुरुष पृथिवी आदि भूतों का अधिष्ठातृ देवता ही है। इस प्रकार इस अध्याय में प्रस्थानत्रयी में उल्लिखित आधिभौतिक पदार्थों के अधिष्ठातृ देवताओं से सम्बन्धित प्रकाश पर विचार किया गया है।

---

[385] यु.दी., वहीं, बच्चूलाल अवस्थी
[386] त.कौ.1, वहीं, बच्चूलाल अवस्थी
[387] गौडपादभाष्य-1
[388] भग.गी.8.4,शां.भा.
[389] बृ.उ.3.7.3-9

3.1 देवताओं के स्वरूप का प्रतिपादन : श्वेताश्वतर उपनिषद् में रुद्र को इन्द्र आदि देवताओं और हिरण्यगर्भ को उत्पन्न करने वाला बताया गया है।[390] रुद्र तो यद्यपि परमात्मा ही है। फिर भी इन्द्रादि देवताओं तथा हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति के सन्दर्भ में परमात्मा के लिए रुद्र शब्द का प्रयोग अपना महत्त्व रखता है।

देवताओं की संख्या और प्रकार के विषय में मतभेद है। कुछ विद्वान हिन्दू धर्म में तैंतीस करोड़ देवता मानते हैं। यहाँ 'तैंतीस कोटि' में कोटि शब्द का अर्थ करोड़ करते हैं। किन्तु यहाँ कोटि शब्द करोड़ का वाचक न होकर प्रकार का वाचक है। अर्थात् वैदिक देवताओं की संख्या 33 प्रकार की है। जिसमें 12 आदित्य, 8 वसु, 11 रुद्र और दो अश्विनी कुमार सम्मिलित हैं।[391]

बृहदारण्यक उपनिषद् में शाकल्य के द्वारा देवताओं की संख्या विषयक प्रश्न किये जाने पर याज्ञवल्क्य ने देवताओं की संख्या 3306, 33, 6, 3, 2, 1.5, 1 बताया। किन्तु देवताओं की प्रथम संख्या जो 3306 बतायी गयी है। यह देवताओं की महिमाएँ हैं। जबकि देवताओं की वास्तविक संख्या 33 ही बतायी है। 33 देवताओं में 8 वसु, 11 रुद्र, 12 आदित्य, इन्द्र और बृहस्पति को मिलाकर 33 हैं।[392] आठ वसुओं का उल्लेख करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है कि अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, द्युलोक, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र आदि आठ वसु हैं। ये सभी जगत् को अपने में वसाये हुए हैं। इसलिए वसु कहलाते हैं।[393] एकादश रुद्रों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि शरीर में दश इन्द्रियाँ और आत्मा ये एकादश रुद्र हैं; क्योंकि मृत्यु के समय शरीर से निकलते समय लोगों को रुलाते हैं। अत: रूदन कराने के कारण इनका नाम रुद्र पड़ा।[394]

---

[390] श्वे.उ.3.2

[391] भग.गी.सा.सं.टी.,1056

[392] स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वैव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति। -बृ.उ.3.9.2

[393] कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्योश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं सर्वं हितमिति तस्माद् वसव इति।-वहीं,3.9.3

[394] कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति।-वहीं,3.9.4

पुन: 12 आदित्यों का उल्लेख करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा कि 12 मास ही 12 आदित्य हैं; क्योंकि ये सभी प्राणियों की आयु और कर्मफल का उपादान करते हुए चलते हैं।[395] पुन: इन्द्र एवं प्रजापति के स्वरूप का उल्लेख करते हुए कहा कि विद्युत् ही इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है। इस विद्युत् को 'अशनि' भी कहते हैं। अर्थात् ऐसा बल जो प्राणियों की हिंसा करता है। वह बल अशनि है। वही विद्युत् है और वही इन्द्र है। यज्ञ ही प्रजापति है। पशुगण को यज्ञ कहते हैं; क्योंकि पशु यज्ञ के सर्वोत्तम साधन हैं। अत: पशुगण ही प्रजापति हैं।[396] पुन: शाकल्य के द्वारा यह पूछे जाने पर कि छ: देव कौन हैं? तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक ये छ: देवता हैं। जिसमें तैंतीस देवताओं का अन्तर्भाव हो जाता है।[397]

पुन: शाकल्य ने पूछा कि तीन देव कौन हैं? तब याज्ञवल्क्य ने कहा तीन लोक ही तीन देव हैं। आचार्य शंकर ने तीनों लोकों का उल्लेख किया है। पृथिवी और अग्नि मिलाकर एक देव हैं। अन्तरिक्ष और वायु मिलाकर दूसरे देव हैं। द्युलोक आदित्य मिलाकर तीसरे देव हैं।[398] दो देव कौन हैं, ऐसा पूछे जाने पर याज्ञवल्क्य ने अन्न और प्राण को दो देवों के अन्तर्गत रखा। इन्हीं दो में अन्य सभी देवों का अन्तर्भाव है। याज्ञवल्क्य ने वायु को डेढ़ देव के अन्तर्गत रखा है; क्योंकि इस वायु के रहते ही सब ऋद्धि को प्राप्त होते हैं।[399] याज्ञवल्क्य ने प्राण को एक देव माना है। यह प्राण ही ब्रह्म है; क्योंकि सभी देवताओं का अन्तर्भाव इस प्राण में ही है।[400]

बृहदारण्यक उपनिषद् में आया है कि प्रजापति ने अपने मुख में हाथ डालकर मन्थन किया। इस प्रकार हाथ और मुख रूप योनि से ही अग्निदेवता सर्वप्रथम उत्पन्न हुए। फिर उसी मुख रूप योनि से ब्राह्मण उत्पन्न हुए। दोनों की एक ही योनि होने के कारण अग्नि

---

[395] कतम आदित्या इति द्वादश वै मासा: संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति इत्यादि।-वहीं,3.9.5

[396] कतम इन्द्र: कतम: प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञ: प्रजापतिरिति कतम: ...इत्यादि।-वहीं,3.9.6

[397] कतमे षदित्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्चैते षडेते हीदं सर्वं षडिति।-वहीं,3.9.7

[398] पृथिवीमग्निं चैकीकृत्यैको देव: अन्तरिक्षं वायुं चैकीकृत्य द्वितीय:, दिवमादित्यं चैकीकृत्य तृतीय: ते एव त्रयो देवा: इति।- वहीं,3.9.8, शां.भा.

[399] वहीं,3.9.8

[400] एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते।-वहीं,3.9.9

ब्राह्मण के बड़े भाई जैसे हुए। अत: अग्नि का ब्राह्मण वर्ण पर अनुग्रह रहता है। फिर उसने अपनी भुजाओं से इन्द्र और क्षत्रियों को रचा। अत: एक योनि होने से इन्द्र का क्षत्रियों पर विशेष अनुग्रह रहता है। इसी प्रकार उरुओं से वसु और वैश्य वर्णों को उत्पन्न किया। जिसके कारण वसु देवता का वैश्य वर्णों पर विशेष अनुग्रह होता है। पुन: उसने पृथिवी देवता पूषा एवं शूद्रों को चरणों से उत्पन्न किया। अत: पूषा देवता का शूद्रों पर विशेष अनुग्रह होता है।[401] इन मन्त्रों से सभी वर्णों के मुख्य देवताओं का ज्ञान होता है। ब्राह्मण वर्ण के देवता अग्नि, क्षत्रिय वर्णों के देवता इन्द्र, वैश्य वर्ण के देवता वसु तथा शूद्र वर्ण के देवता पूषा हैं। ये सभी देवता अपनी ही योनि से उत्पन्न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्रों पर बड़े भाई के समान अनुग्रह करने वाले होते हैं।

देवताओं का शरीर होता है या नहीं इस विषय में सन्देह होता है। इस विषय में शंकराचार्य कहते हैं कि देवताओं का अपना शरीर होता है। इन्हें अणिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व आदि आठ सिद्धियाँ स्वत: प्राप्त होती हैं। वे इच्छा मात्र से कोई भी रूप धारण कर सकते हैं। आदित्य देवता अपने ऐश्वर्य के बल से सूक्ष्म देह में स्थित होते हैं, जो कि मनुष्यों के द्वारा देखना असम्भव है। आदित्य देवता द्युलोक में दिखायी देने वाले आदित्य मण्डल के रूप में स्थित हैं। इसी प्रकार अन्य देवता भी प्राकृतिक शक्तियों के रूप में विद्यमान् होते हैं। अपने ऐश्वर्य के बल से क्षणमात्र में कहीं भी पहुँच सकते हैं। ऐश्वर्य के योग से देवता ज्योतिमण्डल बन सकते हैं। वे इच्छा अनुसार अनेक शरीर भी धारण कर सकते हैं। ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। षडविंश ब्राह्मण में कहा गया है कि इन्द्र ने भेड़ बनकर काण्व के पुत्र मेघातिथि का हरण किया था।[402]

महाभारत में ऐसा उल्लेख मिलता है कि सूर्य देवता शरीरधारी पुरुष बनकर कुन्ती के समक्ष प्रकट हुए थे। इन सभी उदाहरणों से पता चलता है कि देवता ऐश्वर्य सम्पन्न होते हैं। वे इच्छा मात्र से कोई भी रूप धारण कर सकते हैं। ऋग्वेद आदि के मन्त्रों के द्वारा इन्द्र आदि देवताओं को जब हवि प्रदान की जाती है, तो उससे पहले मन्त्र के देवता का स्मरण करना आवश्यक होता है। यदि देवताओं का स्वरूप नहीं होगा, आकार और आकृति नहीं होगी तो उनका ध्यान करना दुष्कर होगा; क्योंकि स्वरूप रहित वस्तु का

---

[401] वहीं,1.4.6, शां.भा.

[402] मेघातिथिं ह काण्वायनमिन्द्रो मेषो भूत्वा जहार। - षड्.ब्रा.1.1

ध्यान नहीं किया जा सकता है। इसलिए देवताओं को हवि प्रदान करने के लिये उनके स्वरूप का ध्यान करना अनिवार्य होता है। देवताओं को उद्देश्य करके द्रव्य का त्याग करना ही याग कहलाता है।[403]

ऋग्वेद के इन्द्र सूक्त में इन्द्र की शारीरिक रचना का उल्लेख भी हुआ है। इसी प्रकार बृहस्पति देवता, अग्नि देवता आदि का भी उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि जिस देवता के लिये हवि का ग्रहण किया गया है, उसका वषट्कार करने से पहले ध्यान करना चाहिए।[404]

आचार्य शंकर ने पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की है- *'पुरुषः पुरुषाकारत्वात् पुरि शयनाद् पूर्णत्वात् वा पुरुषः'।*[405] अर्थात् पुरुष के आकार का होने के कारण इसे पुरुष कहा जाता है। जो शरीर रूपी पुर में शयन करता है अथवा पूर्ण होने के कारण उसे पुरुष कहते हैं।

वैदिक ऋषियों ने मानव शरीर को अनेक देवताओं का निवास स्थल माना है। इसीलिए शरीर को दिव्यनगर अर्थात् देवपुरी कहा जाता है *'अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्यमयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृत्तः।*[406] अर्थात् जिसमें आठ चक्र हैं और नव द्वार हैं ऐसी यह अयोध्या, देवों की नगरी है। उसमें तेजस्वी कोश है, जो तेज से परिपूर्ण स्वर्ग है।

मानव देह को देवपुरी और ब्रह्मपुरी आदि नामों से उल्लिखित किया गया है; क्योंकि यह मानव देह देवताओं का आयतन है *'अग्निः वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणः भूत्वा नासिका प्राविशत्। आदित्यः चक्षुः भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्। औषधीवनस्पतयः लोमानि भूत्वा त्वचे प्राविशत्। चन्द्रमा मनः भूत्वा हृदयं प्राविशत्। मृत्युः अपानः भूत्वा नाभिं प्राविशत्। आपः रेतः भूत्वा शिश्नं प्राविशत्'।*[407]

---

[403] उद्दिश्य देवतां द्रव्यत्यागो यागोऽभिधीयते।– ऐतरेय ब्राह्मण पर सायणभाष्य (1-1), अर्थसंग्रह,लौगाक्षीभास्कर, व्या. दयाशंकर शास्त्री, पृ.37

[404] यस्यै देवतायै हविगृहीतं स्यातां ध्यायेत् वषट्कारिष्यन्। -ऐ.ब्रा.3.8.1

[405] भग.गी.8.22,शां.भा.

[406] अथ.सं.10.2.31

[407] ऐ.उ.1.2.4

अर्थात् अग्नि देवता वाणी के रूप में मुख में प्रविष्ट हुए, वायु देवता प्राण रूप में नासिका छिद्रों में प्रवेश किये, आदित्य देवता चक्षु के रूप में आँखों में प्रवेश किया। दिशाएँ श्रोत्र बनकर कानों में निवास किया। औषधि और वनस्पतियाँ लोम के रूप में त्वक् में निवास किया, चन्द्रमा मन के रूप में हृदय में निवास किया। मृत्यु अपान के रूप में नाभि में, जल वीर्य होकर शिश्न में प्रविष्ट हो गया। इसी प्रकार परमतत्त्व ब्रह्म का निवास शरीर के मूर्धा भाग में बताया गया है।[408] इसलिए इस द्वार को विदृति कहते हैं। विदृति का अर्थ विदारण अर्थात् फाड़ना होता है। वैदिक ऋषियों ने मानव शरीर को देवताओं का मन्दिर माना है। अथर्ववेद में देवसंघ के रूप में शरीर का वर्णन प्राप्त होता है, *'ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ते विदुः परमेष्ठिनम्'।*[409] अर्थात् इस मानव शरीर में जो ब्रह्म को देखते हैं वे परमेष्टी प्रजापति को जान सकते हैं। मानव शरीर में सूर्य, चन्द्र, वायु, विद्युत्, जल, पृथिवी आदि देवताओं का अंश रहता है।

द्विज की भाँति देवताओं का भी वेद विद्या में अधिकार होता है। यद्यपि द्विज के लिये उपनयन संस्कार की आवश्यकता होती है। द्विज जाति के पुरुष उपनयन के बाद ही वेदों का अध्ययन कर सकते हैं। किन्तु देवताओं को उपनयन की आवश्यकता नहीं होती है। उन्हें स्वभावत: वेदों का ज्ञान होता है। पूर्व जन्मों में किये गये सुकर्मों से उन्हें वेदों का स्वत: भान होता है।[410] या ऐसा भी समझा जा सकता है कि वेदों में जिन लोकों का वर्णन है, उस लोक में देवता निवास करते हैं। अत: देवताओं को वेदों के ज्ञान की जरूरत नहीं होती है।

आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्मविद्या में देवताओं का भी अधिकार है; क्योंकि उनमें भी शरीर रूप सामर्थ्य तथा कामना आदि देखी जाती हैं। मनुष्य भी इन्हीं दो कारणों से विद्या का अधिकारी होता है। मनुष्य को दु:ख की निवृत्ति तथा सुख की इच्छा होती है। इसलिए वह मोक्ष प्राप्ति की कामना से युक्त होता है। दूसरा यह कि शरीर में रहकर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए मनुष्य के पास शरीर रूप सामर्थ्य है। इन दोनों कारणों से मनुष्य को ब्रह्मविद्या का अधिकारी माना जाता है।

---

[408] स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापयत। सैषा विदृतिर्नाम द्वास्त्देतन्नान्दनम्। -वहीं,1.3.11

[409] अथ.सं.10.7.17

[410] ब्र.सू.पृ.729

अब प्रश्न है कि क्या देवताओं का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार है, जो सुख समृद्धि से युक्त होने के कारण कामना से रहित है। इस पर शंकराचार्य कहते हैं कि अवश्य देवताओं का भी विद्या में अधिकार है; क्योंकि देवताओं के पास भी ब्रह्म प्राप्ति रूप कामना होती है और शरीर रूप सामर्थ्य भी होता है। देवता निश्चय ही सुख समृद्धि से पूर्ण होते हैं। किन्तु उन्हें यह ज्ञान होता है कि सभी भोग्य पदार्थ अनित्य तथा नश्वर हैं। एक मात्र ब्रह्म ही उपास्य है। इसलिए कामना से रहित कहना ठीक नहीं है। उनके लिए किसी कर्म का निषेध भी नहीं है। यदि इस बात को आधार बनाया जाय कि देवताओं का उपनयन आदि संस्कार नहीं देखा जाता है। तो यह उपनयन आदि संस्कार केवल वेदाध्ययन के लिए जरूरी होता है। देवताओं को वेद का प्रकाश स्वयं ही होता है।[411]

देवताओं का ब्रह्मविद्या में अधिकार है। इसीलिए भृगु ने अपने पिता वरुण के पास जाकर कहा कि भगवन्**!** मुझे ब्रह्मज्ञान का उपदेश दीजिए।[412] इतिहास, पुराण आदि से देवताओं के शरीरी होने का भी ज्ञान होता है। अत: इन दोनों कारणों से देवताओं का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार सिद्ध होता है।

देवताओं का कर्म में भी अधिकार होता है; क्योंकि देवताओं को उनके कर्म के आधार पर ही भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है। देवताओं की संख्या केवल 33 ही है। जिसमें 11 देवता पृथिवी स्थानीय, 11 देवता अन्तरिक्ष स्थानीय तथा 11 देवता द्युलोक स्थानीय माने गये है। कहीं देवताओं की संख्या 303, 3003, 3306 आदि का उल्लेख मिलता है। देवताओं की ये संख्या केवल कर्म पर आधारित है।[413] इस प्रकार अनेक देवताओं का प्रतिपादन किया गया है। फिर उन सभी देवताओं के आधारभूत एक ही प्राण का उल्लेख भी है।[414] एक देवता के भिन्न-भिन्न रूप धारण करके हवियों को ग्रहण करने के सन्दर्भ में एक स्मृति का उल्लेख है कि हे भरत पुङ्गव ! योगी योगमहिमा से अपने अनेक शरीर धारण कर सकता है। कुछ से विषय भोग प्राप्त कर सकता है और कुछ से उग्र तप कर

---

[411] तेषां च स्वयं प्रतिभातवेदत्वात्।–वहीं,पृ.663

[412] भृगुर्वै वारुणि: वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मेति।-तै.उ.3.1

[413] तथाहि-कति देवा: इति उपक्रम्य त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा इति निरुच्य।-ब्र.सू.667

[414] कतम एको देव इति प्राण। -बृ.उ.3.9.9

सकता है। पुन: जैसे सूर्य अपनी किरणों को समेट लेता है वैसे योगी उन शरीरों को समेट सकता है।[415]

इस प्रकार योगियों के विषय में ही देखा जाता है कि वे अणिमा आदि सिद्धियों से युक्त होकर अनेक रूप धारण कर सकते हैं। तो देवताओं के पास ये सभी ऐश्वर्य तो जन्म से प्राप्त होते हैं। इसलिए वे एक ही समय में अनेक शरीर धारण करके हवि ग्रहण कर सकते हैं। अन्तर्धान आदि शक्तियों के द्वारा वे अदृश्य भी हो सकते हैं। इसलिए देवताओं का विद्या में अधिकार होता ही है। देवता शरीर धारण करते ही हैं। इसलिए उनकी भी जाति होती है। आचार्य शंकर के मत में इन्द्र, वायु, रुद्र आदि देवता किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है, अपितु एक पद है। जिस पर कोई भी आसीन हो सकता है। जैसे व्यवहार में प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति आदि पद हैं। इस पद पर कोई भी योग्य पुरुष आसीन हो सकता है। उसी प्रकार इन्द्र पद पर जो आसीन होता है, उसे इन्द्र के नाम से जाना जाता है।

यह तो निश्चित है कि कोई भी चेतन तत्त्व हो उसमें कुछ न कुछ शक्ति निहित होती है; क्योंकि शक्ति चेतन तत्त्व के साथ नित्य रूप से विद्यमान् रहती है। शक्ति युक्त होने के कारण ही चेतन तत्त्व को शक्तिमान् कहा जाता है। चेतन परमात्मा का अंश जहाँ भी विद्यमान् रहेगा वहाँ उसकी शक्ति भी विद्यमान् रहती है। जैसे ब्रह्मा को सृष्टि की रचना करने वाले देवता के रूप में माना जाता है। जब ब्रह्मा को एक देवता के रूप में बताया जाता है। इसका तात्पर्य है कि सृष्टि की रचनात्मक शक्ति अपनी चेतनता के साथ विद्यमान् है। न चेतन तत्त्व अपनी शक्ति के बिना रह सकता है, न शक्ति अपने अधिष्ठान चेतन के बिना रह सकती है; क्योंकि अज्ञान चेतन ब्रह्म की शक्ति है। इसलिए ब्रह्मा की शक्ति का नाम ब्राह्मी है।

इसी प्रकार स्थिति कारक शक्ति का नाम वैष्णवी शक्ति है, जो अपने चेतन तत्त्व विष्णु के साथ रहती है। संहार कारक शक्ति का नाम महेश्वरी शक्ति है, जो अपने चेतन तत्त्व महेश के साथ रहती है। इसी प्रकार सभी देवता अपनी शक्तियों के साथ विद्यमान् रहते हैं। इन्द्र अपनी इन्द्राणी शक्ति के साथ कार्य करते हैं। रुद्र देवता अपनी रुद्राणी शक्ति के साथ कार्य

---

[415] आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ। योगीकुर्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वैं महीं चरेत॥ प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्। संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव॥-ब्र.सू.पृ.669

करते हैं। इस प्रकार ज्यादातर देवताओं को उनके अपने ही नाम से जाना जाता है। व्यवहार में हम देखते हैं कि सभी पदार्थों में कोई न कोई शक्ति अवश्य विद्यमान् होती है। शक्ति और शक्तिमान् के साथ रहने के नियम से उस वस्तु में शक्तिमान् की विद्यमानता भी सिद्ध होती है। जगत् की कोई भी वस्तु बिना प्रयोजन के नहीं है। यदि वस्तु का अस्तित्त्व है तो उसमें शक्ति अवश्य होगी। शक्ति होने से उस शक्ति का किसी कार्य में व्यापार होगा। वह कार्य ही प्रयोजन है। अत: जगत् के किसी तत्त्व को निष्प्रयोजन नहीं कहा जा सकता है।

देव शब्द द्योतनार्थक दिव् धातु से बना है। जिसका अर्थ है- सत्त्व प्रधान इन्द्रिय वृत्तियाँ। दूसरा इसके विरोधी वृत्तियाँ हैं, जो असु अर्थात् प्राण इन्द्रिय सुख प्रधान होती हैं। इन्द्रिय सुख प्रधान वृत्तियाँ तमोगुण प्रधान होती हैं। ये दोनों परस्पर विरोधी गुणों से युक्त होने के कारण परस्पर एक दूसरे को पराभूत करने वाली होती है। शंकराचार्य इस विषय में लिखते हैं कि *'शास्त्रीयप्रकाश वृत्त्यभिभवनाय प्रवृत्ता: स्वाभाविक्यस्तमो रूपा इन्द्रियवृत्तयोऽसुरा: । तथा तद्विपरीता: शास्त्रार्थविषयविषयविवेक ज्योतिरात्मानो देवा: स्वाभाविकी तमोरूपासुराभिभवनाय प्रवृत्ता: इत्यन्योन्याभिभवोद्भवरूप: संग्रामिव।'*[416]

इससे देवताओं का तार्किक स्वरूप स्पष्ट होता है। जहाँ देव शब्द प्रकाशात्मक होने के कारण सत्त्वगुण प्रधान माने जाते हैं। वहीं असुर शब्द आवरक होने के कारण तमोगुण प्रधान माने जाते हैं। इस प्रकार देव और असुर शब्द दो भिन्न स्वभावों को प्रकट करने वाले सामान्य शब्द हैं। विशेष अर्थ को प्रकट करने के लिए अलग नामों से जाने जाते हैं। आचार्य शंकर के मत में प्रत्येक प्राणी में ये दोनों वृत्तियाँ विद्यमान् होती हैं। परिस्थितिवश इन दोनों वृत्तियों का परस्पर उद्भव और पराभव होता रहता है। जिसे देवासुर संग्राम के नाम से जाना जाता है। यह देवासुर संग्राम अनादि काल से प्राणियों(मनुष्यों) में विद्यमान् रहा है। इस देवासुर संग्राम में जब देवता लोग पराजित होने लगे तब सभी देवताओं ने उद्गीथ की शरण ली। उन्होंने सर्वप्रथम प्राण की उद्गीथ के रूप में उपासना की। ताकि वे देवगण असुरों पर विजय प्राप्त कर सकें। प्राण देवताओं को विजय देने की इच्छा से असुरों से युद्ध किया। किन्तु प्राण स्वयं असुरों से पराभूत हो

[416] छा.उ.1.2.1, शां.भा.

गया। जिसके कारण प्राण में भी असुरों के गुण आ गये। जहाँ घ्राणेन्द्रिय स्थित प्राण केवल सुगन्ध को ग्रहण करता था, अब वह दुर्गन्ध को भी ग्रहण करने लगा।[417]

फिर देवताओं ने देखा कि प्राण तो असुरों से पराजित हो गया। तब सभी देवताओं ने वाणी से मदद माँगने के लिए उद्गीथ के रूप में उसकी उपासना की। किन्तु असुरों ने वाणी को भी पापविद्ध कर दिया, जिसके कारण वाणी मिथ्या वचन बोलने लगी।[418]

फिर देवताओं ने उद्गीथ के रूप में चक्षु की उपासना की। किन्तु असुरों ने चक्षु को भी पराजित करके पापविद्ध कर दिया। इसलिए चक्षु न देखने योग्य रूपों को भी देखा करती है।[419] फिर देवताओं ने श्रोत्र के रूप में उद्गीथ की उपासना की। किन्तु श्रोत्र भी देवताओं को विजय नहीं दे सका। उसके विपरीत स्वयं असुरों से पराजित होकर पाप विद्ध हो गया। जिसके कारण श्रोत्र न सुनने योग्य शब्दों को भी सुना करता है।[420] फिर देवताओं ने उद्गीथ के रूप में मन की उपासना की। किन्तु असुरों ने उसे भी पराजित करके पाप विद्ध कर दिया। इसी कारण मन अच्छे बुरे दोनों प्रकार के विचारों का चिन्तन करने लगा।[421] फिर देवताओं ने देखा कि ये सभी उद्गीथ उनकी मदद करने में असमर्थ रहे। तब उन्होंने मुख्यप्राण की उद्गीथ के रूप में उपासना की। मुख्यप्राण ने असुरों का विध्वंश कर दिया। इसी कारण मुख्यप्राण न सुगन्ध को जानता है न दुर्गन्ध को जानता है; क्योंकि मुख्यप्राण पाप से पराभूत नहीं है।[422]

इन मन्त्रों के आधार पर निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जिस प्रकार प्राण लोक में वायु के रूप में प्रसिद्ध है और उसे प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान आदि पाँच भागों में विभक्त किया जाता है। उसका मुख्यप्राण से स्पष्ट भेद प्रतीत होता है। वायु रूप प्राण की स्थिति घ्राणेन्द्रिय में बतायी गयी है, जो कि पंचप्राणों में से एक है। जबकि मुख्यप्राण सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त जीवन धारक तत्त्व है, जो सुगन्ध और दुर्गन्ध से परे सभी इन्द्रियों

---

[417] ते ह नासिक्य प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। ताँ हासुरा: पाप्म्ना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्ध:।- वहीं,1.2.2

[418] वहीं,1.2.3

[419] वहीं,1.2.4

[420] वहीं,1.2.5

[421] वहीं,1.2.6

[422] वहीं,1.2.6-7

का पोषण करने वाला है। इन मन्त्रों के आधार पर घ्राणेन्द्रिय स्थित प्राण तथा जीवन धारक तत्त्व प्राण में भेद का ज्ञान होता है। इन मन्त्रों से ज्ञात होता है कि ब्रह्मा ने जब इन इन्द्रियों की रचना की तब ये सभी या तो मुख्यप्राण के समान सात्त्विक और तामसिक विचारों से मुक्त थे अथवा केवल सात्त्विक व्यापारों से युक्त थे। फिर देवासुर संग्राम होने के उपरान्त इन इन्द्रियों में तामसिक व्यापारों की प्रवृत्ति हो गयी। जिसके कारण घ्राण में स्थित प्राण तत्त्व दुर्गन्ध का भी ग्रहण करने लगा। चक्षु इन्द्रिय न देखने योग्य रूप को भी देखने लगा। वाणी असत्य भाषण करने लगी। श्रोत्र न सुनने योग्य बातों को भी सुनने लगा और मन भी न संकल्प करने योग्य विचारों का भी संकल्प करने लगा।

यह मुख्यप्राण ही पूरे शरीर में प्रधान है। शरीर के सभी अंगों के रस के रूप में जाना जाता है। इसलिए इसे अंगिरस कहा जाता है। इसके अतिरिक्त अंगिरा नामक ऋषि ने ही सर्वप्रथम उद्गीथ के रूप में प्राण की उपासना की थी।[423] इस प्राण का एक नाम बृहस्पति भी है। बृहती वाक् का नाम है। वाक् का नियन्त्रक होने से प्राण को बृहस्पति कहा जाता है।[424] प्राण का तीसरा नाम आयास्य भी है; क्योंकि यह आस्य मुख से निकलता है।[425]

बृहदारण्यक उपनिषद् में देव और असुरों के संघर्ष का उल्लेख है। इस उपनिषद् में देवताओं और असुरों को प्रजापति से उत्पन्न कहा गया है। आचार्य शंकर के मत में यहाँ देवताओं का अर्थ इन्द्र, विरोचन आदि न होकर प्राण से है। प्रजापति मुख्यप्राण है और शास्त्र जनित वृत्तियों से युक्त इन्द्रिय रूप प्राण ही देव हैं। जबकि शास्त्र विरोधी वृत्तियों से युक्त इन्द्रियाँ ही असुर हैं। यह उपनिषद् कहती है कि देव और असुर ये दोनों प्रजापति के पुत्र थे।[426] आचार्य शंकर के मत में शास्त्र जनित ज्ञान और कर्म से भावित जो प्राण हैं, वे द्योतनशील होने के कारण देव कहे जाते हैं। वे प्राण ही जब स्वाभाविक प्रत्यक्ष तथा अनुमान जनित दृष्ट प्रयोजन वाले ज्ञान और कर्म से भावित होते हैं। तब असुर कहलाते

---

[423] वहीं,1.2.10
[424] वहीं,1.2.11
[425] वहीं,6.2.11
[426] द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च । तत: कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त ते ह देवा... ।।-बृ.उ.1.3.1

हैं।[427] ये असुर अपने ही असुओं (प्राणों) में रमण करने वाले होते हैं एवं सुरों से भिन्न होने के कारण असुर कहलाते हैं।

असुरगण दृष्ट प्रयोजन वाले होने से संख्या में अधिक होते हैं। जबकि देवता अल्प होते हैं; क्योंकि ये शास्त्र जनित प्रयोजन में विश्वास करते हैं। देवता और असुरों के बीच स्पर्धा होने का अर्थ है दैवीय और आसुरी वृत्तियों का उठना गिरना। जब कभी दैवीय वृत्तियाँ आसुरी वृत्तियों को दबाकर उठ जाती हैं तो उसे देवताओं का जय एवं असुरों का पराजय कहा जाता है। इसी प्रकार आसुरी वृत्तियों का दैवीय वृत्ति को दबाकर उठ जाना असुरों का विजय कहलाता है।[428] देवताओं का विजय होने पर प्रजापति पद के प्राप्ति पर्यन्त उत्कर्ष होता है। असुरों का विजय होने पर स्थावरत्व की प्राप्ति पर्यन्त जीवात्मा की अधोगति होती है। देव वृत्तियों तथा आसुरी वृत्तियों के समान होने पर मनुष्य शरीर की प्राप्ति होती है।

ये दोनों एक दूसरे को दबाने की इच्छा रखते हैं। एक बार असुरों से अभिभूत देवताओं ने सोचा कि हम सभी उद्गीथ की उपासना करेंगे और शास्त्र जनित देवभाव को हम पुन: प्राप्त करेंगे। तब देवताओं ने वाक् की मदद ली। देवताओं ने वाक् से कहा कि तुम हमारे लिए उद्गान करो। तब वाक् ने उद्गान किया। इस उद्गान में जो भोग था, उसे देवताओं के लिए किया और जो शुभ भाषण करती थी, उसे अपने लिए किया। असुरों को जब पता चला कि देवता इस उद्गान के द्वारा हमारा अतिक्रमण करेंगे तब उन्होंने वाक् के पास जाकर उसे पाप से विद्ध कर दिया।[429] छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार तभी से वाणी शुभ और अशुभ दोनों भाषण करने लगी। यह अशुभ भाषण ही पाप है।

फिर देवताओं ने क्रमश: प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन से भी उद्गान करने के लिए निवेदन किया। ताकि उद्गान से सामर्थ्य प्राप्त करके देवगण विजय को प्राप्त कर सकें। इन सब ने बारी-बारी से उद्गान करना चाहा। किन्तु असुरों को हर बार पता चल गया। उन्होंने इन सबको

---

[427] शास्त्रजनित ज्ञानकर्मभाविता द्योतनाद्देवा भवन्ति। त एव स्वाभाविक-प्रत्यक्षानुमानजनित दृष्टप्रयोजन कर्मज्ञान भाविता असुरा:। स्वेष्वेवासुषु रमणात् सुरेभ्यो वा देवेभ्योऽन्यत्वात्।- वहीं,1.3.1, शां.भा.

[428] स देवानां जयोऽसुराणां पराजय:। कदाचिद्विपर्ययेण देवानां वृत्तिरभिभूयत आसुर्या उद्भव: सोऽसुराणां जयो देवानां पराजय:।-वहीं,1.3.1, शां.भा.

[429] वहीं,1.3.2

पाप से विद्ध कर दिया। इसीलिए प्राण दुर्गन्ध को भी सूँघता है। चक्षु अदर्शनीय रूप का भी दर्शन करती है। श्रोत्र न सुनने योग्य वाणी का भी श्रवण करता है। मन न विचार करने योग्य का भी विचार करता है।[430]

फिर देवताओं ने मुख्यप्राण से निवेदन किया कि तुम हमारे लिए उद्गान करो। ताकि हम सब असुरों पर विजय प्राप्त कर सकें। 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर प्राण ने उद्गान करना आरम्भ किया। असुरों ने उसे भी पाप से विद्ध करना चाहा। किन्तु मिट्टी का ढेला जैसे पत्थर से टकराकर चूर चूर हो जाता है। उसी प्रकार ये असुरगण प्राण से टकराकर नष्ट भ्रष्ट हो गये। इस प्रकार देवता गण विजयी हुए। देवताओं और असुरों के बीच संघर्ष को जानने वाले पुरुष को प्राप्त होने वाले फल का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जो इस प्रकार जानता है वह प्रजापति (प्राण) पद को प्राप्त होता है और जो नहीं जानता है उसका पराभव होता है।[431] इस प्रकार देवताओं ने मुख्यप्राण के उपकार को मानते हुए उसे जानना चाहा और पूछा कि वह कहाँ है? ऐसी जिज्ञासा करते ही उन्होंने देखा कि वह मुख्यप्राण मुख के भीतर ही विद्यमान् था। इसलिए उसे आयास्य कहा जाता है। मुख्यप्राण सभी अंगों का सार है। इसलिए उसे अंगिरस भी कहा जाता है। इसके चले जाने से सभी अंग सूख जाते हैं। अत: यह अंगों का रस है।[432] इस प्राण को 'दूर' नाम से भी कहा जाता है; क्योंकि मृत्यु इससे दूर रहता है।[433]

श्रीमद्भगवद्गीता के 16वें अध्याय में दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति का उल्लेख हुआ है। दैवी सम्पत्ति मुक्ति के लिए होती है, जबकि आसुरी सम्पत्ति बन्धन देने वाली होती है।[434] इससे स्पष्ट होता है कि वे सभी दिव्यगुण जो जीवात्मा को मोक्ष दिलाने में सहायक हैं, दैवी सम्पत्ति से अभिहित हैं। यहाँ दैवी सम्पत्ति का अर्थ देवताओं का ऐश्वर्य नहीं किया जा सकता है; क्योंकि देवताओं का ऐश्वर्य भी बन्धनकारक होता है। जबकि निष्काम कर्म, परमात्मज्ञान, कर्तव्यकर्म आदि मोक्ष में सहायक होने से दैवी सम्पत्ति के अन्तर्गत परिगणित हैं। इसके विपरीत विषयों से आसक्ति आदि बन्धनकारक होने से

---

[430] वहीं,1.3.3-6
[431] वहीं,1.3.7
[432] सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रस:।- वहीं,1.3.8
[433] सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरं ह्यस्या मृत्युर्दूरं ह वा।-वहीं,1.3.9
[434] दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता। मा शुच: सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥-भग.गी.16.5

आसुरी सम्पत्ति के अन्तर्गत परिगणित हैं। *'असुषु प्राणेषु रमन्ते इति असुरा:'*[435] अर्थात् जो पुरुष इन्द्रियों और प्राणों का पोषण करने में लगे हुए हैं। ऐसे पुरुष असुर कहे जाते हैं। असुरों की सम्पत्ति को आसुरी सम्पत्ति कहते हैं, जो तमस् प्रधान होने से बन्धन उत्पन्न करती है। आचार्य शंकर लिखते हैं कि *'दैवी सम्पद् या सा विमोक्षाय संसार बन्धनात्, निबन्धाय नियतोबन्धो निबन्ध: तदर्थं आसुरी संपद्-मता अभिप्रेता तथा राक्षसी'।*[436]

इससे ज्ञात होता है कि एक ही कर्म आसक्ति प्रधान होने से आसुरी सम्पत्ति के अन्तर्गत परिगणित होता है और सत्त्वहीन हो जाता है, जबकि आसक्ति रहित होने पर सत्त्व प्रधान होकर दैवी सम्पत्ति के अन्तर्गत परिगणित होता है। साधक संजीवनीकार ने भी माना है कि जीवात्मा के सम्मुख उपस्थित दो मार्गों मोक्ष और संसार में से जीवात्मा जब मोक्ष की ओर जाता है तो उसमें दैवी सम्पत्ति आ जाती है और जब संसार की ओर जाता है तो आसुरी सम्पत्ति आ जाती है ।[437] अर्थात् मार्ग बदल देने मात्र से पुरुष सत्त्व अथवा तमोगुण प्रधान हो सकता है। या ऐसा कहें कि जीवात्मा इन गुणों सत्त्व और तमस् के प्रभाव से ही श्रेय या प्रेय मार्ग का चुनाव करता है। प्रत्येक मनुष्य इन दोनों संपत्तियों से युक्त होता है। अपने विवेक के आधार पर वह अपनी दैवी अथवा आसुरी सम्पत्ति को बढ़ा सकता है।[438]

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि देवता लोग एक बार मृत्यु से भयभीत होकर त्रयी विद्या में प्रवेश किया और उन सबने अपने को छन्द से आवृत्त कर लिया ताकि मृत्यु उन्हें न देख सके। इसी कारण वैदिक मन्त्रों को छन्द के नाम से जाना जाने लगा।[439] किन्तु उन मन्त्रों का आश्रय लेकर छिपे हुए देवताओं को मृत्यु ने देख लिया। तब देवता लोग उन वैदिक कर्मों से निवृत्त होकर ॐ में प्रवेश किया। अर्थात् ॐकार की उपासना करने लगे।[440] यह ॐकार तत्त्व अमृत और अभय रूप है। इसलिए ॐकार का आश्रय लेने वाले देवता भी अमृत और अभय को प्राप्त हो गया।[441] इन मन्त्रों से ज्ञात होता है कि प्रत्येक

---

[435] ईशा.उ.तारणीश झा,पृ.9
[436] भग.गी.16.5,शां.भा.
[437] भग.गी.सा.सं.टी. पृ.1010
[438] सुमति कुमति सबके उर रहहीं।-रा.च.मा. 5.40.3
[439] छा.उ.1.4.2
[440] वहीं,1.4.3
[441] वहीं,1.4.4

मन्त्र में देवताओं का वास होता है। मन्त्र विशेष की उपासना करने वाले पुरुष उसी देव विशेष को प्राप्त होते हैं। वैदिक कर्म मृत्यु से युक्त होने के कारण अमृतत्त्व को प्राप्त कराने में सहायक नहीं हो सकते। अमृतत्त्व को प्रदान करने वाला एक ही तत्त्व ब्रह्म है। जिसे ॐकार शब्द वाच्य कहा गया है। अत: अमृतत्व प्राप्त करने के लिए ॐकार तत्त्व ही उपास्य है।

छान्दोग्य उपनिषद् के मत में प्रणव और उद्गीथ दोनों एक ही हैं। दोनों में कोई अन्तर नहीं है। आदित्य भी प्रणव रूप है। इसलिए आदित्य को भी उद्गीथ समझना चाहिए। आदित्य जब गमन करता है तब ॐकार का उच्चारण करता है।[442] आदित्य अर्थात् सूर्य प्रणव (ॐ) का उच्चारण करते हुए गमन करता है। यह बात आज वैज्ञानिक पद्धति से सिद्ध की जा चुकी है कि सूर्य नित्य प्रति ॐ का उच्चारण करता रहता है। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के विद्वानों ने यह सिद्ध किया है कि सूर्य अपनी प्रकाश और ऊष्मा उत्सर्जन की प्रक्रिया में ॐ ध्वनि उत्पन्न करता है।

देवताओं को ऐश्वर्य युक्त माना गया है। वे अपनी इच्छा से साकार और निराकार हो सकते हैं। पुराणों के अनुसार देवता हाथ, पैर से युक्त शरीर वाले होते हैं। वे अपनी इच्छा से शरीर धारण कर सकते हैं। जैसे मनुष्य का शरीर में अभिमान होता है। शरीर के साथ एकत्व स्थापित करके उस शरीर को ही 'मैं हूँ' ऐसा अभिमान करता है। उसी प्रकार अपने क्षेत्र विशेष में देवताओं का भी अभिमान होता है। इसीलिये उस क्षेत्र विशेष को अभिमानी देवता के रूप में जाना जाता है। देवता प्रकाशक होते हैं। जैसे जीव अपने शरीर के अस्तित्त्व का आधार होता है। जीवात्मा के निकल जाने पर शरीर अस्तित्त्व हीन होकर पंचमहाभूतों में मिल जाता है। उसी प्रकार देवता भी अपने क्षेत्र विशेष को प्रकाशित करते हैं। वैसे भी भारतीय मनीषियों ने *'दीव्यन्तीति देवा:'*[443] इत्यादि व्युत्पत्ति करके देवताओं को प्रकाशयुक्त बताया है।

तैत्तिरीय उपनिषद् के मंगलाचरण में अनेक देवताओं को ऋषि ने नमन किया है। ऋषि ने जिन देवताओं को नमन किया है वे इस प्रकार है। मित्र या सूर्य देवता जो कि प्राण वृत्ति

---

[442] अथ खलु य उद्गीथ: स प्रणवो य: प्रणव: स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति।-वहीं,1.5.1

[443] सां.द. डॉ.रामनाथ झा, पृ.34

और दिन के अभिमानी देवता हैं। अपान वृत्ति और रात्रि के अभिमानी देवता के रूप में वरुण को जाना जाता है। नेत्र और सूर्य का अभिमानी देवता अर्यमा हैं। बल के अभिमानी देवता इन्द्र हैं। वाक् और बुद्धि का अभिमानी देवता बृहस्पति है। पादाभिमानी देवता के रूप में विष्णु को जाना जाता है।[444]

इस शान्ति मन्त्र में भिन्न-भिन्न देवताओं को नमस्कार किया गया है। नमस्कार तभी किया जाता है, जब सामने वाला चेतन और श्रद्धेय हो। इससे ज्ञात होता है कि देवता ऋषि से बड़े और श्रद्धेय थे। चेतनता से युक्त होने के कारण ऋषियों की स्तुति स्वीकार करते थे।

मित्र (सूर्यदेव)	प्राणवृत्ति और दिन
वरुण देव	अपानवृत्ति और रात्रि
अर्यमा	नेत्र और सूर्य
इन्द्र	बल का अभिमानी
बृहस्पति	वाक् और बुद्धि
विष्णु	पादाभिमानी

इससे निष्कर्ष निकलता है कि प्राणवृत्ति और दिन ही मित्र देव का शरीर है। रात्रि और अपान वृत्ति वरुण देव का शरीर है। नेत्र और सूर्य अर्यमा का शरीर है। बल इन्द्र देवता का शरीर है। वाक् और बुद्धि बृहस्पति देव का शरीर है। परमात्मा ने इन देवताओं का अधिकार क्षेत्र निश्चित किया है। इन अधिकार क्षेत्रों में रहकर ही देवता अपना कार्य करते हैं। तैत्तरीय उपनिषद् में अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र को मिलाकर देवता पाङ्क्त बनाया गया है।[445]

---

[444] ॐ शं नो मित्र: शं वरुण:। शं नो भवत्यर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पति:। शं नो विष्णुरुरुक्रम:।-तै.उ.शांति मन्त्र

[445] अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमानक्षत्राणि।-तै.उ.1.7.1

देवता मनुष्य से अवश्य श्रेष्ठ हैं। मनुष्य भूलोक के निवासी हैं, तो देवता द्युलोक के निवासी हैं। देवताओं के पास ऐश्वर्य होता है, सिद्धियाँ होती हैं, निधियाँ होती हैं। किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वे आत्मज्ञानी भी होते हैं। आत्मज्ञानी पुरुष निर्भीक होता है। उसे किसी से भय नहीं होता है। आत्मज्ञानी पुरुष प्रत्येक बन्धन से मुक्त होता है। प्रकृति के बन्धन में भी नहीं होता है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष के लिए प्रकृति के नियमों का पालन करना अनिवार्य नहीं है। वह चाहे तो प्रकृति के नियमानुसार चल सकता है। चाहे तो स्वतंत्र रह सकता है। योगानन्द ने अपनी पुस्तकों में कई ऐसे ब्रह्मज्ञानी सन्तों का उल्लेख किया है, जिनके लिए प्रकृति ने नियमों का उल्लंघन करना आम बात थी।

उन संतों में से एक तैलंगस्वामी भी थे, जो अपने अनेक चमत्कारों के लिए जाने जाते थे। उनके शरीर का वजन 136 कि.ग्रा. था। यद्यपि वह कभी-कभी ही कुछ खाते थे। वे कभी कई दिनों तक गंगा जी के जल पर बैठकर तो कभी जल धाराओं के नीचे बैठकर ध्यान किया करते थे। वे प्राय: मणिकर्णिका घाट पर तेज धूप में तपती हुई शिला पर बैठकर निश्चल ध्यान किया करते थे। इस प्रकार प्रकृति के नियमों की अवहेलना करना उनके लिये आम बात थी।[446] इससे पता चलता है कि आत्मज्ञानी पुरुषों के लिए प्रकृति के नियमों का पालन अनिवार्य नहीं होता है। किन्तु हम देवताओं को प्रकृति के नियम का पालन करते हुए पाते हैं। जिस प्रकार हम सभी प्रकृति के नियम का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। हम पानी पर चल नहीं सकते हैं; क्योंकि जल हमें दुबो देगा। हम बिना किसी यंत्र की सहायता के आकाश में उड़ नहीं सकते हैं; क्योंकि गुरुत्वाकर्षण हमें खींचकर पृथिवी पर गिरा देगा। ये सभी प्रकृति के नियम हैं। जिसका उल्लंघन हम नहीं कर सकते हैं। उसी प्रकार देवता भी प्रकृति के नियम का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म के भय से वायु चलता है। इसी के भय से सूर्य उदित होता है। इस ब्रह्म के भय से अग्नि, इन्द्र और मृत्यु भी प्रकृति के नियमों का पालन करते हुए देखे जाते हैं।[447] ब्रह्म के द्वारा प्रतिपादित प्रकृति के नियमों का पालन करते हुए देखकर अनुमान होता है कि देवताओं को आत्मज्ञान नहीं होता है। भय द्वैत होने पर होता है। अद्वैत भय से मुक्त है। देवता ब्रह्म से भयभीत होते हैं। जैसे सेवक अपने स्वामी से

---

[446] मा.खो.पृ.71

[447] भीष्माद्वात: पवते । भीषोदेति सूर्य: । भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्धावति पञ्चम इति।-तै.उ.2.8.1

भयभीत होता है। वैसे देवता भी ब्रह्म से भयभीत होते हैं। भय का कारण है- आत्मज्ञान का अभाव। भेदबुद्धि से भय उत्पन्न होता है। जिसे ब्रह्म के साथ अभेद की स्थिति नहीं प्राप्त होती है। उसे भय की प्राप्ति होती है।[448]

बृहदारण्यक उपनिषद् के एक मन्त्र में परमात्मा को कर्मफल दाता, प्रकाशमान् एवं भूत-भविष्य का स्वामी कहा गया है।[449] देवता लोग इस परमात्मा की आयु के रूप में उपासना करते हैं; क्योंकि यह आदित्यादि ज्योतियों का भी कारण है। सभी ज्योतियाँ परमात्मा से सामर्थ्य प्राप्त करके ही प्रकाशित होती हैं। इस परमात्मा के शासन में ही दिन रात्रि आदि अवयवों के साथ संवत्सर चक्र का गमन होता है। सभी ज्योतियाँ मरणशील हैं, नष्ट होने वाली हैं। किन्तु ब्रह्मज्योति अमृत है। जिस पुरुष को आयु की आवश्यकता हो वह ब्रह्मज्योति की आयु के रूप में उपासना करे।[450] इसीलिए देवतागण ब्रह्म की आयु के रूप में उपासना करते हैं। इस ब्रह्म ज्योति में गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस आदि पंचजन को भी स्थित माना गया है। इन सबको परमात्मा से उत्पन्न बताया गया है।[451] यह ब्रह्म प्राण का भी प्राण, चक्षु का भी चक्षु, श्रोत्र का भी श्रोत्र तथा मन का भी मन कहा गया है; क्योंकि यह प्राण का भी स्वामी है। इसी की सहायता से प्राण अपनी प्राणन क्रिया करता है। चक्षु भी परमात्मा की सामर्थ्य से देखता है और मन भी परमात्मा की सामर्थ्य से मनन क्रिया करता है। अत: यह परमात्मा मन का भी मन कहा गया है। इस प्रकार यह ब्रह्म पुरातन एवं सब में प्रथम कहा गया है।[452]

देवयज का अर्थ है- देवताओं का आदर सम्मान करना। देवता शब्द दान से बनता है। *'दानाद्देवाः'* अर्थात् जो देता है, वह देवता है। वायु हमें प्राण ऊर्जा देता है। इसलिए वायु देवता है। सूर्य हमें प्रकाश और ऊर्जा देता है। इसलिए सूर्य देवता है। इसी प्रकार जल का देवता वरूण, वर्षा का देवता इन्द्र, अग्नि देवता, नदी देवता आदि सभी देवता हैं; क्योंकि सदैव हम इनसे कुछ न कुछ लेते रहते है। ये सभी प्राकृतिक तत्त्व हैं, जो हमारे शरीर में

---

[448] अथ सोऽभयं गतो भवति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य।-वहीं,2.7.1

[449] बृ.उ.4.4.15

[450] यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभि: परिवर्तते । तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥-वहीं,4.4.16

[451] यस्मिञ्च पञ्चजना: आकाशश्च प्रतिष्ठित:।- वहीं,4.4.17

[452] प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदु:।- वहीं,4.4.18

साम्य बनाये रखते है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार देवयाजी पुरुष देवताओं को प्राप्त होते हैं।[453]

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि पंच तत्त्व से शरीर की उत्पत्ति बताई गयी है। इस विषय में रामचरित मानस में कहा गया है- *'क्षिति जल पावक गगन समीरा, पंच रचित अति अधम शरीरा'।*[454] शरीर में किसी भी तत्त्व की कमी होने पर उसे पूरा करना आवश्यक होता है। अन्यथा हमारा शरीर रूग्ण हो जाता है। सृष्टि में मनुष्य को सबसे बुद्धिमान् प्राणी माना जाता है। अपना और दूसरों का ध्यान रखना इस बुद्धिमत्ता का लक्षण है। अतः 'जियो और जीने दो' की भावना मनुष्य जीवन का केन्द्र होना चाहिए। अतः प्राकृतिक पदार्थों का उपयोग करना तथा इन सबकी शुद्धता को बनाये रखना हमारा कर्तव्य होना चाहिए। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु से हमें उतना ही लेना चाहिए जितनी हमारी जरूरत है। शेष दूसरे लोगों के लिए भी छोड़ देना चाहिए। इन प्राकृतिक पदार्थों में अशुद्धियाँ न मिले इसका भी प्रयास करना चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता में इन सभी प्राकृतिक पदार्थों को देवता की संज्ञा दी गयी है। इन सभी देवताओं को प्रसन्न करने के लिए प्रजापति ने यज्ञ को उत्पन्न किया था। यज्ञ का अर्थ है- निष्काम कर्म। अतः देवताओं को प्रसन्न करने के लिए निष्काम कर्म करना।

निष्काम कर्म के अन्तर्गत दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम कि देवताओं के लिए कर्म करना। अर्थात् प्राकृतिक तत्त्वों को शुद्ध करने वाले कर्मों का सम्पादन करना। दूसरा कि लोभ, मोह, आसक्ति से रहित होकर करना। इसकी उम्मीद न करना कि इस कर्म से मुझे कुछ मिलेगा, अपितु कर्तव्य भावना से नित्य कर्म समझकर देवताओं के लिए करना। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार इस प्रकार यज्ञ का अनुष्ठान करता हुआ पुरुष स्त्री, पशु, पुत्र आदि को प्राप्त करता हुआ वृद्धि को प्राप्त करता है।[455] भारतीय मनीषियों ने इस प्रकार के देवऋण को चुकाने के लिए देवयज्ञ की व्यवस्था की है। जो पुरुष इन प्राकृतिक तत्त्वों की शुद्धि के लिए कर्म नहीं करता है, उसे चोर कहा गया है। अर्थात् देवताओं के ऋण चुकाकर ही अन्न का ग्रास करना चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता में यह भी विधान किया गया है कि श्रेष्ठ पुरुष को यज्ञशिष्ट अन्न का ही भक्षण करना चाहिए। अग्नि में हवि आदि प्रदान

---

[453] भग.गी.७.२३

[454] रा.च.मा., कि.का.,**11.2**

[455] इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः –भग.गी. 3.12

करके देवताओं को प्रसन्न करना चाहिए। तदुपरान्त उस हवि से बचा हुआ अन्न अमृत तुल्य होता है। श्रेष्ठ पुरुषों को उसी का भक्षण करना चाहिए। शंकराचार्य के मत में इस अन्न भक्षण से गृहस्थ में होने वाले पाप जैसे चूल्हा, चक्की आदि से होने वाली हिंसा जनित पापों से छुटकारा प्राप्त हो जाता है।[456] इस प्रकार देव ऋण से छुटकारा पाने के लिए धर्म शास्त्रों में अनेक उपाय बताये गये हैं। जिनका पालन करना चाहिए।

इस विषय में मनु ने लिखा है कि सूर्य को आहुति देने से आहुति सूर्य में स्थित हो जाती है। सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न होता है और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है।[457] इस प्रकार सूर्य देवता को प्रसन्न करने के लिए आहुति देने का विधान किया गया है। इस यज्ञ से सूर्य देव के प्रति हमारा कर्तव्य पूर्ण होता है-

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।

आदित्याज्जायते वृष्टि र्वृष्टेरूनं ततः प्रजाः॥[458]

शंकराचार्य ने नित्यकर्मों को निष्काम कर्तव्य कर्म कहा है। इन नित्य कर्मों का अनुष्ठान करने से चित्त शुद्धि होती है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः॥[459]

कर्म एक ऐसा तत्त्व है, जिसे प्रत्येक पुरुष को करना ही पड़ता है। कर्म किये बिना जीवन का निर्वाह होना असम्भव है। अतः प्रत्येक पुरुष को अपना जीवन चलाने के लिए कर्म करना पड़ता है। यदि कोई चाह कर भी कर्म का परित्याग करना चाहे तो भी कर्मों का परित्याग नहीं कर सकता है। उठना, बैठना, नहाना, खाना आदि कर्म तो करने ही पड़ेंगे।

ये सभी कर्म बन्धन युक्त पुरुष के लिए है। बन्धन युक्त पुरुष के लिए ही कर्म हैं। यह कर्म ही पुरुष को बन्धन देता है। यह कर्म ही पुरुष को मोक्ष भी दे सकता है। अर्थात् जीवात्मा

---

[456] देवयज्ञादीन् निर्वर्त्य तच्छिष्टम् अशनम् अमृताख्यम्। –वहीं,3.12, शा.भा
[457] मनु.3.76
[458] वहीं,3.76
[459] भग.गी. 3.19

के लिए कर्म एक बन्धन है। यह कर्म जीवात्मा को शुद्ध करके मोक्ष भी देने वाला है। मुक्त पुरुष के लिए कर्मों का विधान नहीं होता है। मुक्त पुरुष जो भी कर्म करता है। वह दूसरे प्राणियों के हित के लिए करता है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि तीनों लोकों में मेरे लिए कोई कर्म है ही नहीं।[460] जो भी कर्म व्यवस्था है वह सभी बद्ध पुरुषों के लिए है। अब बद्ध पुरुष पर निर्भर करता है कि वह किस लिए कर्म कर रहा है। यदि सकाम कर्म करेगा तो उसे फल की प्राप्ति के साथ बन्धन की प्राप्ति अवश्य होगी।

सकाम कर्म चित्त में कर्माशय उत्पन्न करके बन्धन उत्पन्न करने वाला है। किन्तु निष्काम कर्म से चित्तशुद्धि होती है। जिसका मोक्ष रूप फल निश्चित है। अतः मोक्ष के लिए अलग से कोई कर्म करने की आवश्यकता नहीं है। जो पुरुष जहाँ है, जो भी कर्म कर रहा है। वही कर्म कर्तव्य कर्म समझकर परमात्मा की प्रसन्नता के लिए करना है। परमात्मा का अर्थ है- आनन्द; क्योंकि परमात्मा आनन्द स्वरूप है। इस प्रकार आनन्द प्राप्ति के लिए कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए। यह सिद्ध हुआ। ब्रह्म निराकार निर्गुण है। उन्हें किसी रूप में कल्पित करना अपने को उसी से बाँधना ही है। फिर भी इन सांसारिक वस्तुओं की अपेक्षा ब्रह्माण्ड के नियन्त्रक परमात्मा से स्वयं को बाँधना अति उत्तम है। जिसका अगला पड़ाव ब्रह्म की प्राप्ति है। अतः सगुण या निर्गुण ब्रह्म दोनों ही आनन्द स्वरूप है, ऐसा समझना चाहिए। इनको प्राप्त करने की इच्छा करने वाला पुरुष इन्हीं को प्राप्त करता है।

इस प्रकार सिद्ध हुआ परमात्मा आनन्द स्वरूप है। अन्य किसी फल की इच्छा किये बिना आनन्द प्राप्ति के लिए ही कर्मों का अनुष्ठान किया जाना चाहिए। जैसे- एक सेवक अपने स्वामी के कार्यों को करने में आनन्द प्राप्त करता है। उसी प्रकार प्राप्त कर्तव्य कर्मों को परमात्मा का कार्य समझकर आनन्द की अनुभूति करनी चाहिए। कर्म एक ऐसा बन्धन है जो केवल जीवात्मा को ही नहीं परमात्मा को भी बांधने की सामर्थ्य रखता है। यदि ईश्वर आसक्ति रहित होकर कर्म न करें तो ईश्वर को भी पुनर्जन्म के चक्र में आना पड़ सकता हैं। ईश्वर को भी सृष्टि में अनेक कार्य करने पड़ते हैं। यदि लोक स्थिति के निर्मित्त ईश्वर कर्म न करें तो लोक नष्ट हो जायेंगे।[461] ईश्वर के लिए यद्यपि कोई कर्तव्य कर्म नहीं है। फिर भी जगत् के प्राणियों पर अनुग्रह करने के लिए ईश्वर निरंतर कर्म किया करते हैं।

---

[460] न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन्।- वहीं,3.22

[461] वहीं,3.24

उसी प्रकार मनुष्य को भी फल की कामना से रहित होकर प्राणियों पर अनुग्रह करने के भाव से निरंतर कर्म करते रहना चाहिए।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने निष्काम कर्म योग के अनुष्ठान की विधि भी बतायी है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार सभी कर्मों को एक सेवक की भाँति परमात्मा को अर्पण करके करना चाहिए अर्थात् मैं सब कर्म ईश्वर के लिए सेवक की तरह कर रहा हूँ।[462] इस प्रकार का भाव रखते हुए सभी कर्मों का सम्पादन करना चाहिए। किन्तु "कर रहा हूँ" इस वाक्य से अहंकार व्यक्त हो रहा है, जो कि ठीक नहीं है; क्योंकि इसके पूर्व श्रीमद्भगवद्गीता में कहा जा चुका है कि सभी कर्म सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणों के द्वारा ही किये जाते है।[463] अतः कहा जा सकता है कि अहंकार का त्याग करके ईश्वर बुद्धि से कर्तव्य कर्मों का सम्पादन करना ही निष्काम कर्म योग है। यह सिद्ध हुआ।

लौकिक और पारमार्थिक दृष्टि से यज्ञ के दो विभाग किये जा सकते हैं- देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ। लौकिक पुरुषों के द्वारा देवताओं के लिए किया गया यज्ञ देवयज्ञ है। देवयज्ञ में देवता, उद्देश्य, हवि, यज्ञकर्ता का भेद वर्तमान रहता है। किन्तु ब्रह्मयज्ञ, जो कि ब्रह्मविद् पुरुषों के द्वारा सम्पादन किया जाता है। उसमें यज्ञकर्ता, हवि, अग्नि, देवता आदि का भेद नहीं होता है। आत्मवित् पुरुष तो आत्मा में ही आत्मा के द्वारा हवन किया करता है।[464]

3.2 इन्द्रिय देवताओं का वर्णन : वैदिक वाङ्मय में इन्द्रियाँ मानव शरीर के महत्त्वपूर्ण घटक हैं। इन इन्द्रियों को देव शब्द से कहा गया है। इन्द्रियों के स्वामी जीवात्मा को देवराज इन्द्र कहा गया है। वैदिक निर्वचन की पद्धति के अनुसार राजृ दीप्तौ धातु से निष्पन्न राष्ट्र पद का एक अर्थ 'दीप्तिमान् मानव शरीर' भी किया जा सकता है। अत: जब देहस्थ इन्द्रियाँ अपने स्वामी इन्द्र के नियन्त्रण में रहती हैं। तब जीवात्मा रूपी इन्द्र अपने अधिष्ठान में तेजस्वी होकर भासित होता है। तब देह 'राष्ट्र' संज्ञा से विभूषित होता है। मानव शरीर में जीवात्मा, अन्त:करण और प्राण ये सभी इन्द्र पद वाच्य हैं;

---

[462] विवेक बुद्धया अहं कर्ता ईश्वराय भृत्यवत् करोमि। – वहीं,3.30, शां.भा.

[463] विकारै: कार्यकरणरूपैः लौकिकानि शास्त्रीयाणि च सर्वप्रकारैः। – वहीं,3.27, शां.भा.

[464] देवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते। ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।। - वहीं,4.25

क्योंकि ये सभी भिन्न-भिन्न रूप से अधिपति और परमैश्वर्ययुक्त हैं।[465] शरीर में स्थित होकर जीवात्मा ही अनेक क्रियाओं को करने वाला है। विभिन्न भोगों को भी भोगता है। मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार रूप अन्त:करण, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ तथा शरीर ये सभी जीवात्मा के भोग के साधन हैं। इसलिए जीवात्मा को ही प्राण और इन्द्रिय देवताओं का मुखिया एवं राजा माना गया है। इसलिए जीवात्मा ही इन्द्र है।[466]

ऋग्वेद में जीवात्मा इन्द्र के विषय में कहा गया है कि विद्युत् से युक्त इसके शरीर में जो असंख्य नाड़ियाँ, इन्द्रियाँ, अन्त:करण और प्राण है उनसे यह सारे शरीर के समाचारों को जाना करता है।[467] ऋग्वेद में इन्द्र का अर्थ इन्द्रियाँ है। जीवात्मा के पक्ष में शरीर ही जीव रूपी इन्द्र का रथ है। जिसमें वाणी और मन, चक्षु और श्रोत्र, अथवा मन और प्राण ये दो हरि (घोड़े) जुड़े हुए हैं। प्राणायाम आदि के द्वारा मन और इन्द्रियों को निगृहीत कर योगी समाधि की सिद्धि करते हैं।[468] इन्द्र से सम्बन्धित होने के कारण ही चक्षु आदि करणों का नाम इन्द्रिय पड़ा है।[469] जीवात्मा का नाम इन्द्र होने से उसके चक्षु, श्रोत्र, वाक्, कर, चरण आदि करणों को इन्द्रिय कहा जाता है।[470] ऋग्वेद में एक स्थान पर 'इन्द्रियम्' शब्द का प्रयोग बल के अर्थ में हुआ है *'अपां पेरुं जीवधन्यं भरामहे देवाव्यं सुहवमध्वर श्रियम्। सुरश्मिं सोममिन्द्रियं यमीमहि तद् देवानामवो अद्या वृणीमहे'।*[471] अर्थात् जलों के पालक, प्राणियों के आनन्द सन्तोषदाता, देवों को तृप्त करने वाले, स्तुत्य, सुनाम वाले, यज्ञ की शोभा तथा उत्तम किरणों से युक्त सोम को हम धारण करते हैं। उससे हम बल की प्रार्थना करते हैं और आज हम देवों से सुरक्षा की याचना करते हैं।

---

[465] इदन्ति परमैश्वर्यवान् भवतीति इन्द्र: समर्थोऽन्तरात्मादित्यो योगो वा।-दयानन्द सरस्वती: उणादि कोशवृत्ति 2.29- प्रमुख उपनिषदों में शरीर और इन्द्रिय की अवधारणा, मेघराज मीणा, लघुशोधप्रबन्ध, पृ.23

[466] वेदों में इन्द्र, पृ.39

[467] प्रमुख उपनिषदों में शरीर और इन्द्रिय की अवधारणा, मेघराज मीणा, लघुशोधप्रबन्ध, पृ.23

[468] वहीं

[469] इन्द्रियमिन्द्रलिंगमिन्द्र दृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा।- अष्टा., 5.2.93

[470] वेदों में इन्द्र, पृ.213

[471] ऋ.सं.10.36.8

यजुर्वेद में इन्द्र को इन्द्रिय और धन के दाता के रूप में उल्लिखित किया गया है *'मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सवन्ताम्-स्वाहा'*[472] अर्थात् धनेश्वर इन्द्र मुझमें चक्षु, मन आदि इन्द्रियों और उनकी शक्तियों को धारण करें और नाना प्रकार की धन सम्पत्तियों से हमें संयुक्त करें। भाष्यकारों ने यहाँ पर इन्द्र शब्द की परमेश्वर के अर्थ में व्याख्या की है *'इन्द्रः परमेश्वर इदमिन्द्रियं मयि दधातु'।*[473] इन्द्र को प्राण स्वरूप बताया गया है। प्राण के रूप में यही समस्त जीवों को धारण करने वाला है। इसके रहने से ही सारी इन्द्रियाँ शरीर में क्रियाशील रहती हैं।[474]

ऋग्वेद में इन्द्रिय शब्द का प्रयोग इन्द्र के अर्थ में करते हुए कहा गया है *'निरग्नयो रुरुचर्निरु सूर्यो निःसोम इन्द्रियो रसः। निरन्तरिक्षादधमो महामहि कृषे तदिन्द्र पौंस्यम्'॥*[475] अर्थात् अन्तरिक्ष में जब अहि अर्थात् मेघ चारों ओर छा गया, तब इन्द्र अर्थात् विद्युत् ने उस अहि को मारकर पानी के रूप मे नीचे गिरा दिया। तो चतुर्मास के कारण जो यज्ञ बन्द हो गये थे, वे फिर से शुरू हो गये। सूर्य अच्छी तरह प्रकाशित होने लगा। इन्द्रियों की शक्ति बढ़ाने वाला सोम पानी पाकर अत्यधिक उत्पन्न हुआ। ऋग्वेद में पुनः इन्द्रिय शब्द का प्रयोग इन्द्र के अर्थ में हुआ है *'आत् सोम इन्द्रियो रसो वज्रः सहस्रा भूवतु। उक्थ यदस्य जायते'।*[476] अर्थात् जिस समय इन्द्र का स्तोत्र बोला जाता है। उसी समय इन्द्र को प्रिय यह सोमरस वज्र जैसा सहस्र प्रकार के अन्न देने वाला होता है। यज्ञ का प्रकाशक सोम देवों के लिए प्रिय मधुर रस को निकाल देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन्द्रिय शब्द इन्द्र शब्द से सम्बन्धित है। इन्द्र शब्द का अर्थ बदल जाने पर इन्द्रिय शब्द का भी अर्थ बदल जाता है। यदि इन्द्र शब्द का अर्थ परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा किया गया है, तो इन्द्रिय का अर्थ होगा परमैश्वर्य अथवा धनादि सम्पत्ति।

इस प्रकार जो इन्द्रिय वाला है वह इन्द्र कहलाने योग्य है। साथ ही जिसके पास धनादि सम्पत्ति है, वह भी इन्द्र संज्ञा प्राप्त करता है।

---

[472] यजु.सं.2.10
[473] यजु.सं.भाष्य, महीधर 2.10, पृ.27
[474] वेदों में इन्द्र, पृ.125
[475] ऋ.सं.8.3.20
[476] ऋ.सं.9.47.3

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी के एक सूत्र में इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति दी है। जिसमें इन्द्र शब्द में घ(ईय) प्रत्यय जोड़कर इन्द्रिय शब्द बनाया गया है, जिसका अर्थ इन्द्र का ज्ञापक किया गया है।[477] इस व्युत्पत्ति के अनुसार इन्द्रिय शब्द का अर्थ इन्द्र सम्बन्धी है। यदि इन्द्र शब्द का अर्थ आत्मा किया जाये तो इन्द्रिय शब्द का अर्थ 'आत्मा का ज्ञापक' होता है। केशवमिश्र ने तर्कभाषा में इन्द्रिय शब्द का लक्षण किया है, *'शरीर संयुक्तं ज्ञानकरणमतीन्द्रियम् इन्द्रियम्'।* अर्थात् जो शरीर से संयुक्त होकर ज्ञान का करण हो और अतीन्द्रिय हो उसका नाम इन्द्रिय है।[478] वाचस्पति मिश्र ने सांख्य-तत्त्व-कौमुदी में इन्द्रिय का लक्षण किया है कि जिसकी अभिव्यक्ति में सात्त्विक अहंकार उपादान कारण होता है। वह इन्द्रिय है।[479] इस प्रकार मन, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ, इन्द्र या पुरुष के ज्ञापक होने के कारण इन्द्रिय कहलाती है।[480] वाचस्पति मिश्र ने भी इन्द्रिय को आत्मा के चिन्ह के रूप में स्वीकार किया है। ऐसा चिन्ह जिससे आत्मा का ज्ञान होता है।[481]

इन्द्रियों के स्वरूप पर विचार करते हुए शंका होती है कि ये इन्द्रियाँ अणुरूप हैं अथवा व्यापक हैं। इस विषय में सांख्यवादी आचार्यों का मानना है कि जगद् व्यापी अहंकार की कार्य रूप इन्द्रियाँ संसार मण्डल में व्यापक हैं। तत्तत्देहों में कर्म वश परिच्छिन्न वृत्ति का लाभ होता है। विभु होने से इन्द्रियों की उत्क्रान्ति आदि नहीं होते हैं।[482] इस विषय में सूत्रकार इन्द्रियों को अणुरूप ही मानते है।[483] अर्थात् प्राण (इन्द्रियाँ) अणु-सूक्ष्म हैं; क्योंकि इन्द्रियों से अग्राह्य हैं। आचार्य इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इन इन्द्रिय रूप प्राणों को सूक्ष्म(अणु) समझना चाहिए, विभु नहीं। इन प्राणों का स्वरूप अणुत्व, सूक्ष्मत्व (उद्भूत रूप स्पर्श रहितत्व) और परिच्छेद (अल्पत्व) है। परमाणु तुल्य नहीं हैं। यदि इन्द्रियों को परमाणु तुल्य माना जायेगा तो त्वक् इन्द्रिय के साथ अनुपपत्ति होती है, जो कि शरीर व्यापी है। अत: इन्द्रियों को स्वरूपत: अल्प रूप ही माना जाना चाहिए।

---

[477] अष्टा.5.2.93

[478] त.भा.पृ.224

[479] सात्त्विकाहंकारोपादानकत्वम् इन्द्रियत्वम्। इन्द्रस्यात्मनश्चिन्हत्वात् इन्द्रियमुच्यते।-सां त.कौ.25.

[480] इन्द्रस्यात्मनश्चिन्हत्वात् इन्द्रियमुच्यते- वहीं,25

[481] इन्द्रस्यात्मनश्चिन्हत्वात् इन्द्रियमित्युच्यते- वहीं,पृ.236

[482] ब्र.सू.पृ.1568

[483] अणवश्च- वहीं,2/4/7

उपनिषद् में इन्द्रियों की संख्या कही सात[484] कहीं नौ[485] एवं कहीं ग्यारह[486] बतायी गयी है। आचार्य शंकर ने विवेकचूड़ामणि में इन्द्रियों की संख्या दश कहा है।[487] श्रीमद्भगवद्गीता में इन्द्रियों की संख्या 11 बतायी गयी है। ग्यारहवीं इन्द्रिय मन है, जो भीतर रहने के कारण अन्त: इन्द्रिय कहलाता है।[488] अद्वैतवेदान्त और सांख्यदर्शन में इन्द्रियों की संख्या विषयक मत समान है। सांख्यदर्शन में इन्द्रियों की संख्या एकादश बतायी गयी है। जिसमें पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, एक अन्त:करण मन। आचार्य शंकर भी सांख्य सम्मत एकादश इन्द्रियों को मान्यता देते हैं। किन्तु अन्त:करण इन्द्रिय के विषय में किञ्चित मतभेद है। सांख्य दर्शन में अन्त:करण के तीन भेद हैं- मन, बुद्धि और अहंकार। अद्वैतवेदान्त में चित्त को मिलाकर अन्त:करण चार प्रकार का है। आचार्य शंकर के अनुसार यद्यपि अन्त:करण एक ही है। किन्तु कार्य भेद से चार प्रकार का है। एक अन्त:करण ही जब संकल्प-विकल्प करता है, तो मन कहलाता है। जब किसी वस्तु के विषय में निश्चय करता है, तो बुद्धि शब्द से अभिधेय होता है। जब उसमें अहंभाव उत्पन्न होता है, तो अहंकार कहलाता है। चिन्तन एवं स्मरण व्यापार करने पर चित्त शब्द से कहा जाता है।[489] पंचतन्मात्राओं के सात्त्विक अंश से क्रमश: पंचज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इन्हीं पंचतन्मात्राओं के रजो अंश से क्रमश: पंचकर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। जबकि तमो अंश से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। पंचतन्मात्राओं के सम्मिलित सत्त्वांश से अन्त:करण मन बनता है। अत: मन का सम्बन्ध सभी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों से बताया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों में इन्द्रियों को सदैव वश में करने की प्रेरणा दी गयी है। बहिर्मुखी स्वभाव वाली इन्द्रियाँ सदैव पुरुष को असंयमी बना देती हैं। संयमी पुरुष सदैव इन इन्द्रियों को वश में किये रहता है। श्रीमद्भगवद्गीता में बताया गया है कि

---

[484] सप्तप्राणा:-मु.उ.2.1.8

[485] नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहि:-श्वे.उ.3.18

[486] पुरमेकादशद्वारमजस्यावचक्रचेतस:-कठ.उ.2.2.1

[487] बुद्धीन्द्रियाणि श्रवणं त्वगक्षि घ्राणं च जिह्वा विषयावबोधनात्। वाक्पाणिपादं गुदमप्युपस्थ: कर्मेन्द्रियाणि प्रवणेन कर्मसु-वि.चू.94

[488] भग.गी. पृ. 422

[489] वि.चू.15,16

जिस प्रकार कछुआ अपने पैरों को खींच लेता है। उसी प्रकार संयमी पुरुष अपनी इन्द्रियों को अन्तर्मुखी स्वभाव वाला बना लेता है,

यथा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वश:।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।[490]

अर्थात् कछुए के समान जो बुद्धिमान् पुरुष अपनी इन्द्रियों को विषयों की ओर से खींचकर अपने वश में कर लेता है, वह पुरुष पूर्ण प्रज्ञा या ज्ञान निष्ठा में स्थिर हो जाता है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया कि हे अर्जुन! ये इन्द्रियाँ इतनी प्रबल और वेगवान हैं कि बुद्धिमान् पुरुष के मन को भी हर लेती हैं।[491]

इन्द्रियों को देवता, प्राण, ग्रह, इन्द्रिय, ज्ञानानि इत्यादि नामों से अभिहित किया गया है,**'**The sence are called by defferent names- devata, prana, graham, indriya, jnanani and the like**'**.[492]

इन्द्रियों का स्वभाव बाह्य जगत् का अवलोकन करना है। इन्द्रियाँ स्वभावत: बाह्यजगत् की ओर उन्मुख रहती हैं। कठोपनिषद् में कहा गया है कि परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी ही बनाया था, *'पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्'।*[493] अर्थात् स्वयम्भू परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी करके हिंसित कर दिया। इसीलिए इन्द्रियाँ आत्मा को न देखकर बाह्य विषयों को ही देखती हैं। आचार्य शंकर ने इस पर भाष्य करते हुए लिखा है *'पराञ्चि परागञ्चन्ति गच्छन्तीति खानि तदुपलक्षितानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि खानीत्युच्यन्ते'।*[494] अर्थात् जो बाहर की ओर गमन करती है। उन्हें पराञ्चि कहते हैं। खानि नाम इन्द्रियों के लिए आया है**;** क्योंकि वे बहिर्मुख होकर ही शब्दादि विषयों को प्रकाशित करने के लिए प्रवृत्त होती हैं।

---

[490] भग.गी. 2.58

[491] यतयो ह्यापि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चित:। इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन:॥भग.गी.2.60

[492] **The Human Body in the Upanishads, P.190,** प्रमुख उपनिषदों में शरीर और इन्द्रिय की अवधारणा, मेघराज मीणा, लघुशोधप्रबन्ध, पृ.101

[493] कठ.उ.2.1.1

[494] वहीं, शां.भा.

सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर प्रवृत्त होती हैं। चक्षु इन्द्रिय अपने विषय रूप की ओर प्रवृत्त होती है। श्रोत्र इन्द्रिय अपने विषय शब्द को सुनने के लिए प्रवृत्त होती है। घ्राण सुगन्ध की ओर, त्वक् स्पर्श की ओर, रसना इन्द्रिय रस विषय की ओर प्रवृत्त होती है।[495] इन इन्द्रियों की प्रवृत्ति आदि से इन्द्रियों का चेतन होना प्रतीत होता है। किन्तु इन इन्द्रियों को प्रेरित करने वाली शक्ति आत्मा है। जिसके प्रकाश से इन्द्रियाँ चेतन होकर अपने विषयों को प्रकाशित करती हैं। आत्मा के न रहने पर अचेतन हो जाती हैं। केनोपनिषद् में ऋषि इस आत्मा को इन्द्रियों के अधिष्ठान के रूप में देखते हैं।[496] वस्तुत: इन्द्रियाँ स्वयं अचेतन होने से किसी भी विषय को जानने में असमर्थ होती हैं। आत्मा के चेतन प्रकाश से इन्द्रियों में भी प्रकाश आ जाता है। फिर चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने विषयों में प्रवृत्त होने लगती हैं।

मन और इन्द्रियाँ आत्मज्ञान प्राप्ति में बाधक हैं। इनको अनुशासित करके सही दिशा दी जा सकती है। सही दिशा को प्राप्त हुए मन और इन्द्रियाँ मोक्ष प्राप्ति में सहायक हो जाती हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रणव के द्वारा इन्द्रियों को नियन्त्रित करने की विधि दी गयी है *'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य। ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि'।*[497] अर्थात् वक्ष:स्थल, ग्रीवा और सिर को उन्नत करके समान भाव से स्थिर करके प्रणव के द्वारा मन और इन्द्रियों को नियमित करके विद्वान् संसार सरिता के स्वाभाविक अविद्या कामना और कर्मों द्वारा भयावह, प्रेत, तिर्यक एवं ऊर्ध्व योनियों को प्राप्त कराने वाले हेतुभूत स्रोतों को पार कर जाता है।

ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि गति की दृष्टि से देव भी ब्रह्म को नही प्राप्त कर सके। इस मन्त्र *'नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्'*[498] पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने देव शब्द का अर्थ इन्द्रियाँ किया है; क्योंकि ये इन्द्रियाँ भी अपने विषय को प्रकाशित करने वाली होती हैं *'द्योतनाद्देवाश्चक्षुरादीनीन्द्रियाण्येतत्प्रकृतमात्मतत्वं'।*[499] विषयों को प्रकाशित करने के कारण इन चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, त्वक्, रसना, आदि इन्द्रियों को देव कहते

---

[495] येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शाश्च मैथुनान्।-बृ.उ.2.1.3

[496] श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राण:। चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्यधीरा: प्रेत्यस्माल्लोकादमृताभवन्ति। –केन.उ.1.2

[497] श्वे.उ.2.8

[498] ईशा.उ.4

[499] ईशा.उ.4,शां.भा.

हैं। विषयों को प्रकाशित करते हैं। इसका अर्थ है कि इन्द्रियाँ प्रकाश स्रोत का कार्य करती हैं। जिसमें एक प्रकार का प्रकाश होता है। यह प्रकाश ही अपने-अपने विषय के पास जाकर उन्हें प्रकाशित करता है। इन पंचज्ञानेन्द्रियों का अपना पृथक् प्रकाश होता है, जो अपने ही विषय को प्रकाशित कर सकता है।

इसी कारण एक इन्द्रिय अन्य चार ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का प्रकाशन नहीं कर सकती है। चक्षु इन्द्रिय न तो श्रोत्र इन्द्रिय के विषय का प्रकाशन कर सकती है, न त्वक्, रसना आदि ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का प्रकाशन कर सकती है। इससे सभी ज्ञानेन्द्रियों के प्रकाश के स्वरूप में परस्पर भिन्नता का ज्ञान होता है। यही बात श्री युक्तेश्वर जी ने भी लिखा है। 'कैवल्य दर्शनम्' में ज्ञानेन्द्रियों को 5 प्रकार की विद्युत् शक्तियों का धनात्मक ध्रुव माना गया है। विषयों को ऋणात्मक ध्रुव कहा गया है। नियमानुसार धनात्मक ध्रुव ऋणात्मक ध्रुव को आकर्षित करता है। अतः धनात्मक ध्रुव स्वरूप ज्ञानेन्द्रियाँ ऋणात्मक ध्रुव स्वरूप विषयों को आकर्षित करते हैं।[500] इस प्रकार ईशावास्योपनिषद् में इन्द्रियों को एक गतिशील देवता के रूप में कल्पित किया गया है, जो गमन करके अपने विषयों को प्राप्त करती हैं।

इन्द्रियों को हरि शब्द के द्वारा भी जाना जाता है; क्योंकि ये सभी अपने विषयों का हरण करने वाली होती हैं। ये इन्द्रियाँ स्वभावत: अपने विषयों को प्राप्त करने की इच्छुक होती हैं। इनका स्वभाव होता है अपने विषयों का ज्ञान कराना। जैसे प्रकाश का स्वभाव अन्धकार को हटाकर वस्तु के स्वरूप को उद्घाटित करना होता है। उसी प्रकार ये इन्द्रियाँ अपने विषयों को प्रकाशित करती हैं। आचार्य शंकर ने लिखा है- *'तस्मात् इन्द्रिय विषय बाहुल्याद् तत्प्रकाशनायैव च युक्तानि तानि न आत्मप्रकाशनाय'।*[501] इस प्रकार सभी ज्ञानेन्द्रियाँ एक प्रकाश स्रोत की तरह हैं, जो अपने विषयों को प्रकाशित करने वाली होती हैं। किन्तु जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सभी वस्तुओं को प्रकाशित करने वाला होता है। उसी प्रकार ये इन्द्रियाँ सभी विषयों को प्रकाशित नहीं करती हैं, अपितु इनका विषय क्षेत्र अलग-अलग है। चक्षु इन्द्रिय केवल रूप का ही प्रकाशन कर सकती है। वह न तो शीत-ऊष्ण को प्रकाशित कर सकती है। न शब्द को, न ही अन्य इन्द्रियों के विषयों को। उसी प्रकार श्रोत्र इन्द्रिय न तो रूप को प्रकाशित कर सकती है, न ही अन्य इन्द्रियों के

---

[500] कै.द., सूत्र 10, व्याख्या

[501] बृ.उ.2.6.19, शां.भा.

विषयों को। त्वक् केवल शीत-ऊष्ण आदि स्पर्श को प्रकाशित कर सकती है। अन्य इन्द्रियों के विषयों को नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि सभी इन्द्रियों का प्रकाश में भेद है। श्री युक्तेश्वर जी के मत में प्रत्येक इन्द्रिय अपने आप में एक विद्युत् शक्ति के समान होती है।

कठोपनिषद् में स्थूल शरीर को एक नगर के समान बताया गया है। इस शरीर में स्थित 11 छिद्र ही नगर के 11 दरवाजे हैं। दो नेत्र, दो घ्राण, दो श्रोत्र, एक मुख, एक नाभि, एक गुदा, एक शिश्न, एक ब्रह्मरन्ध्र ये शरीर रूपी नगर के 11 दरवाजें हैं।[502]

कठोपनिषद् में इन्द्रिय तेज की चर्चा हुई है। नचिकेत के द्वारा आत्मा सम्बन्धी ज्ञान वर के रूप में माँगे जाने पर यमराज ने अनेक विषय सुखो का लोभ दिखाया। नचिकेत ने कहा कि सभी विषय नश्वर हैं। ये सभी इन्द्रियों के तेज को भी नष्ट कर देने वाले हैं।[503] ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्रियों में जो शक्ति होती है, उसे ही यहाँ तेज शब्द से कहा गया है; क्योंकि इन्द्रिय शक्ति में ही वृद्धि और कमी देखी जाती है। जैसे टेलीवीजन आदि देखने से नेत्र की दर्शन शक्ति कम हो जाती है। वृद्धावस्था में पुरुष की जननेन्द्रिय शक्ति कम हो जाती है। श्रवणेन्द्रिय शक्ति भी कम हो जाती हैं। अतः इन्द्रियों की अपने-अपने विषय को ग्रहण करने की शक्ति को ही यहाँ इन्द्रिय तेज कहा गया है।

भारतीय मनीषियों ने मनुष्य के जीवन का प्रयोजन आत्माज्ञान की प्राप्ति बताया है। अर्थात् मनुष्य शरीर के द्वारा परमात्मा को जानना ही मनुष्य जीवन का उद्देश्य है। इस विषय में शंकराचार्य ने लिखा है कि शरीर में स्थित इन्द्रियाँ और प्राण आत्मा से प्रेरित होकर आत्मा के लिए ही व्यापार करते हैं।[504] यह उसी प्रकार है जैसे स्वामी के द्वारा प्रेरित किये गये सेवक स्वामी के लिए ही कार्य किया करता है। उसी प्रकार आत्मा के द्वारा प्रेरित किये गये प्राण और इन्द्रियाँ आत्मा के लिए व्यापार किया करते हैं। यह व्यापार करना ही इन्द्रिय देवताओं के द्वारा उपासना करने के समान है।

पुरुष के शरीर में 10 बाह्यकरण और 4 अन्तःकरण हैं। इन करणों के द्वारा अपने-अपने विषयों का मापन किया जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में इन्द्रियों के लिए मात्रा शब्द का प्रयोग किया गया है। शंकराचार्य ने मात्रा शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है, '*मात्रा*

---

[502] पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।-कठ.उ.2.2.1

[503] सवेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।-कठ.उ.1.1.26

[504] यदर्था यत्प्रयुक्ताश्च सर्वे वायुकरण व्यापारा भवन्ति।- वहीं,2.2.3, शां.भा.

अभिमीयन्ते शब्दादयः इत्रि श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि'।[505] इन इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों से संयोग होता है। इनके संयोग से ही सुख और दुःख की उत्पत्ति होती है।

चक्षु इन्द्रिय से ज्ञान होता है। यहाँ पर चक्षु शब्द पांच प्रकार की ज्ञानेन्द्रियों का प्रतीक है। प्रश्न है कि ज्ञानेन्द्रियों की सामर्थ्य कितनी है? किन-किन विषयों को ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाशित कर सकती है? ज्ञानेन्द्रियों के सामर्थ्य की भी एक सीमा होगी तो वह सीमा क्या है? इस प्रश्न पर भी अनेकशः विचार हुआ है। मनीषियों ने ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का उल्लेख करके इनके सामर्थ्य की सीमा निर्धारित की है। जैसे चक्षु इन्द्रिय का कार्य है रूप को प्रकाशित करना। रक्त, हरित, कपिश, नील, श्वेत, कृष्ण, चित्र के भेद से सात प्रकार के रूप माने गये हैं। मुख्यतः इन सात रूपों या इनके मिश्रित रूपों को ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाशित कर सकती हैं। इसके अतिरिक्त भी कई सूक्ष्म विषय हैं जिसे चक्षु प्रकाशित नहीं कर सकती है। या दूसरी इन्द्रियों के विषय को प्रकाशित नहीं कर सकती हैं। इसलिए इन सात प्रकार के रूपों को ही चक्षुरिन्द्रिय का विषय माना जाता है। इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय से शब्दों का प्रकाशन होता है। त्वगिन्द्रिय से शीत-ऊष्ण आदि स्पर्श का प्रकाशन होता है। घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का, रसनेन्द्रिय से रस आदि का प्रकाशन होता है। भारतीय दर्शन में शरीरस्थ इन्हीं पांच प्रकार की ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान का साधन बताया गया है। एक वागिन्द्रिय है, जो अपने शब्द विषय को प्रकाशित करती है। वागिन्द्रिय को कर्मेन्द्रिय के अन्तर्गत रखा गया है। इसकी विशेषता है कि यह शब्द के माध्यम से दूसरी वस्तुओं के साथ-साथ अपना भी ज्ञान कराती है। इसी प्रकार अन्य कर्मेन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषयों को प्रकाशित करती हैं। कर्मेन्द्रियों के उनके अपने अलग-अलग व्यापार ही कर्म होते हैं। अलग-अलग व्यापारों को अस्तित्त्व में लाना ही कर्म का प्रकाशन है। व्यापारों का अस्तित्त्व अनित्य प्रकाश है।

अस्तित्त्व का अर्थ है सत्ता। जो भी सत्ता है, वह प्रकाश स्वरूप है। ब्रह्म की सत्ता नित्य अस्तित्त्व होने से नित्य प्रकाश है। माया से उत्पन्न होने के कारण अन्य सभी परिवर्तनशील अस्तित्त्व अनित्य प्रकाश है। सूर्य का प्रकाश, विद्युत् का प्रकाश ये सभी माया जनित होने से अनित्य अस्तित्त्व वाले हैं और अनित्य प्रकाश भी हैं।

---

[505] मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण सुखदुःखदाः।-भग.गी.2.14, शा.भा

अतः सभी कर्मेन्द्रियों के अलग-अलग व्यापार अनित्य अस्तित्त्व होने से अनित्य प्रकाश हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ आदि पांच कर्मेन्द्रियाँ अपने भिन्न-भिन्न व्यापारों (कर्मों) को प्रकाशित करने तक ही सीमित रहती हैं। प्रत्येक कर्मेन्द्रिय न तो अपने से पृथक् कर्मेन्द्रिय के विषय को प्रकाशित कर सकती है, न ही पंचकर्मेन्द्रियों के व्यापारों से पृथक् व्यापार और विषय को प्रकाशित कर सकती है। जैसे पाद् कर्मेन्द्रिय का व्यापार है गमन करना। इसलिए पाद् केवल गमन व्यापार को कर सकता है, न वह ग्रहण करने की सामर्थ्य रखता है। न वह उपस्थ के व्यापार आनन्द को ही प्राप्त कर सकता है। न ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया को ही कर सकता है। इसलिए कहा जाता है कि प्रत्येक इन्द्रिय का विषय और व्यापार निश्चित होता है।

अतः केनोपनिषद् के ऋषि ने कहा कि ब्रह्म का ज्ञान चक्षु आदि से नहीं हो सकता है। न तत्र चक्षुः गच्छति,[506] यच्चक्षुषा न पश्यति[507] के द्वारा इसी भाव की अभिव्यक्ति की गया है; क्योंकि ब्रह्म रूप रहित है। चक्षु इन्द्रिय केवल रूप का ग्रहण कर सकती है। ब्रह्म में रूप न होने से उसका ज्ञान चक्षु से नहीं हो सकता। बल्कि उस ब्रह्म की सहायता से चक्षु देखता है। चक्षु आदि इन्द्रियों में देखने की जो सामर्थ्य है, वह ब्रह्म के कारण ही है। ब्रह्म के बिना चक्षु अपने विषय का ज्ञान नहीं कर सकती है।[508] इसी प्रकार केनोपनिषद् में अन्य ज्ञानेन्द्रियों के विषय में भी कहा गया है। श्रोत्र से ब्रह्म ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि वह शब्द नहीं है। त्वक् से उसका ज्ञान नहीं हो सकता है; क्योंकि ब्रह्म स्पर्श स्वरूप नहीं है। घ्राण से उसका ज्ञान नहीं हो सकता है; क्योंकि वह गन्ध रूप नहीं है।[509] बल्कि इन इन्द्रियों को प्रकाशित करने वाला देव ही ब्रह्म है। चक्षु, श्रोत्र, मन, वाक् और त्वक् को मिलाकर इन्द्रिय पाङ्क्त बनाया गया है।[510]

पिप्पलाद ऋषि ने शरीर को धारण करने वाले तत्त्वों की चर्चा की है। उनके मत में आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी आदि पंचमहाभूत मन रूप अन्तःकरण वाक् आदि कर्मेन्द्रियाँ, चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ ये सभी शरीर को धारण करने वाले हैं, और इन सभी

---

[506] केन.उ.1.3
[507] वहीं,1.6
[508] येन चक्षूंषि पश्यति।- वहीं,1.6
[509] अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।-कठ.उ.1.3.15
[510] तै.उ.1.7.1

तत्त्वों को देव भी कहा गया है।[511] इन सभी इन्द्रिय देवताओं में शरीर को धारण करने के विषय में अभिमान भी देखा जाता है। किन्तु इन इन्द्रिय देवताओं का अभिमान प्राण के लिए क्षम्य नहीं है। प्राण कहता है कि तुम लोग मोह को मत प्राप्त हो। मैं ही प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान आदि पाँच भागों में विभक्त होकर शरीर को धारण करता हूँ। इस प्रकार अभिमान करता हुआ प्राण ऊपर उठने लगा। उसके उठने के साथ ही सभी ऊपर उठने लगे। फिर उसके बैठने के साथ सभी बैठने लगे। इसे एक उदाहरण के माध्यम से इस प्रकार समझाया गया है कि जैसे मधुमक्खियों के राजा के ऊपर जाने पर सभी ऊपर जाने लगते हैं एवं नीचे आने पर सभी नीचे आने लगते हैं। इस प्रकार प्राण के द्वारा कहे गये वचनों से सन्तुष्ट होकर वाक्, मन, चक्षु आदि सभी इन्द्रियाँ प्राण को श्रेष्ठ मानकर उसकी स्तुति करने लगे।[512]

लोकपालों की रचना करने से पहले परमात्मा ने विराट् पुरुष को रचा। विराट् पुरुष की आकृति पुरुषाकार थी। अर्थात् उस विराट् पुरुष के हाथ, पैर, मुख आदि थे। उस विराट् पुरुष के मुख से वागिन्द्रिय की उत्पत्ति हुई, उस वागिन्द्रिय से वाणी का अधिष्ठाता लोकपाल अग्नि उत्पन्न हुआ। फिर उस विराट् पुरुष में नासिकारन्ध्र प्रकट हुआ, नासिकारन्ध्र से प्राण और प्राण से वायु उत्पन्न हुआ। फिर उस विराट् पुरुष में नेत्र प्रकट हुए और नेत्र से चक्षु इन्द्रियाँ तथा चक्षुरिन्द्रियों से आदित्य उत्पन्न हुआ। यहाँ नेत्र और चक्षु इन्द्रिय का अलग-अलग उल्लेख होने से दोनों में भिन्नता का ज्ञान होता है। फिर कान उत्पन्न हुए तथा कानों से श्रोत्रेन्द्रियाँ, फिर श्रोत्र से दिशाएँ प्रकट हुई। फिर त्वक् प्रकट हुई, त्वक् से लोम उत्पन्न हुए, लोम से औषधि और वनस्पतियाँ उत्पन्न हुई। फिर हृदय उत्पन्न हुआ, हृदय से मन एवं मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई। फिर नाभि उत्पन्न हुई, नाभि से अपान वायु, अपान से मृत्यु उत्पन्न हुआ। फिर शिश्न प्रकट हुआ, शिश्न से रेतस् और रेतस् से आप् उत्पन्न हुआ।[513] इसे सारिणी रूप में इस प्रकार दिखाया जा सकता है-

---

[511] एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च।-प्रश्न.उ.2.1

[512] वहीं,2.4

[513] तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुषः आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ्निरभिद्यत त्वचोलोमानि लोमभ्यः औषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत

मुख	वागिन्द्रिय	अग्नि
नासिकारन्ध्र	प्राण	वायु
नेत्र	चक्षुरिन्द्रिय	आदित्य
कान	श्रोत्रेन्द्रिय	दिशाएँ
त्वक्	लोम	वनस्पति और इन्द्रियाँ
हृदय	मन	चन्द्रमा
नाभि	अपान	मृत्यु
शिश्न	रेतस्	आप्

इन्द्रिय अभिमानी देवता भी क्षुधा से पीड़ित होते हैं। इसलिए उन सब ने मिलकर अपने स्वामी से अपने आश्रय की याचना की। ताकि अपने आश्रय में रहते हुए अपनी क्षुधा की पूर्ति कर सके।[514]

इस प्रकार देवताओं के द्वारा याचना किये जाने पर परमात्मा ने पुरुषाकार शरीर की रचना की। परमात्मा ने देवताओं से कहा कि तुम सब अपने आयतन में प्रवेश कर जाओ। परमात्मा के इस प्रकार कहने पर सभी देवता अपने आयतनों में प्रवेश कर गये। जैसे अग्नि देवता ने वागिन्द्रिय होकर मुख में प्रवेश किया। वायु ने प्राण होकर नासिका रन्ध्र में प्रवेश किया। सूर्य ने चक्षु इन्द्रिय होकर नेत्र में प्रवेश किया। दिशाओं के देवता श्रोत्र इन्द्रिय होकर कर्ण में प्रवेश किया। औषधि और वनस्पतियों ने लोम होकर त्वक् में प्रवेश कर गये। चन्द्रमा मन होकर हृदय में प्रवेश कर गया। मृत्यु ने अपान का रूप धारण कर नाभि में प्रवेश कर गया। जल ने वीर्य होकर शिश्न में प्रवेश किया।[515]

इससे यह जाना जा सकता है कि पुरुष और विराट् पुरुष में एक प्रकार का सम्बन्ध है। वह यह है कि सभी इन्द्रिय देवता विराट् पुरुष की इन्द्रियों से उत्पन्न हुए और पुरुष की

हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्यु: शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आप:। -ऐ.उ.1.1.4

[514] वहीं,1.2.1

[515] अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायु: प्राणोभूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्दिश: श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्'।- वहीं,1.2.4

इन्द्रियों में आश्रय ग्रहण किया। ये इन्द्रिय देवता इन्द्रियों के माध्यम से विषयों का भोग करते हैं। जैसे चक्षु इन्द्रिय में बैठा हुआ अग्नि देवता रूप नामक विषय का भोक्ता होता है। घ्राणेन्द्रिय का देवता गन्ध नामक विषय का भोक्ता होता है। श्रोत्रेन्द्रिय का देवता शब्द विषय का ग्राहक है। मन में आश्रय ग्रहण किया हुआ चन्द्रमा संकल्प विकल्प को ग्रहण करने वाला होता है। इसी प्रकार अन्य देवताओं के विषय में भी समझना चाहिये; क्योंकि इसी उपनिषद् में आगे कहा गया है कि जब परमात्मा ने लोक और लोकपालों की रचना कर ली, तब लोकपाल की क्षुधा-पिपासा शान्त करने के लिये अन्न की रचना की।[516]

ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार परमात्मा ने जब अन्न का सृजन किया, तो वह अन्न भी मूर्तिमान् था। उस पुरुषाकार अन्न ने देखा कि परमात्मा ने उसका सृजन इसलिए किया है ताकि लोकपाल उसका भक्षण करके अपनी क्षुधा की तृप्ति कर सके। सभी लोकपाल उस अन्न की ओर मुख किये खड़े थे। इस प्रकार लोकपालों को अपना मृत्यु समझकर अन्न उन सबसे दूर भागने की कोशिश करने लगा। यह उसी प्रकार जैसे चूहा बिल्ली को देखकर भागता है। तब सभी लोकपालों ने एक-एक करके उस अन्न का भक्षण करने की कोशिश करने लगे। ये सभी लोकपाल अपनी श्रेष्ठता के क्रम में अन्न भक्षण करने की कोशिश की।

अग्नि देवता अन्य देवताओं की अपेक्षा प्रथम उत्पन्न हुए थे। इसलिए उन्होंने प्रथम प्रयास किया। किन्तु उन्होंने अन्न का ग्रहण नहीं कर सके। उस समय यदि ऐसा हो जाता तो क्या होता? इस पर ऋषि कहते हैं कि यदि उस समय ऐसा हो गया होता कि अग्नि वागिन्द्रिय से अन्न का भक्षण किया होता, तो आज लोग वागिन्द्रिय से अन्न का उच्चारण करके ही तृप्त हो जाते। मुख से ग्रहण करने की जरूरत ही न पड़ती।[517] इसी प्रकार विराट् पुरुष ने पुन: प्राण से ग्रहण करने की कोशिश की किन्तु प्राण से भी नहीं ग्रहण कर सका। यदि प्राण से अन्न ग्राह्य हो गया होता तो सभी लोग प्राणन क्रिया से ही तृप्त हो जाते। इसी प्रकार लोकपालों ने चक्षु, श्रोत्र, लोम, मन, शिश्न आदि इन्द्रियों से ग्रहण करने का प्रयास किया। किन्तु ग्रहण नहीं कर सका। फिर विराट् पुरुष ने उस अन्न को अपान से ग्रहण करना चाहा। उस अपान वायु ने मुख के छिद्र द्वारा अन्न का ग्रहण कर लिया। इसीलिये

---

[516] स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्च अन्नमेभ्य: सृजा इति।- वहीं,1.3.1

[517] वहीं,1.3.3

अन्न का भक्षण सदैव मुख के छिद्र द्वारा ही होता है।[518] इस प्रकार अपान वायु ने अन्न रूप जीवन वाला होने के अर्थ में प्रसिद्धि प्राप्ति की।

उपनिषद् में इन्द्रिय आदि देवताओं के प्रति देवता भी बताये गये हैं। यहाँ केवल चक्षु इन्द्रिय और उसके प्रति देवता आदित्य का उल्लेख है। शंकराचार्य ने केवल इन्हीं दो का उल्लेख किया है। मोक्ष के समय सभी इन्द्रिय देवता अपने-अपने प्रति देवताओं में लीन हो जाते हैं।[519]

देवताओं को प्रकाशक माना गया है- *'द्योतनात् देवा:'*[520] अर्थात् प्रकाशित होने के कारण उन्हें देवता कहा जाता है। इसलिए इन्द्रिय अभिमानी देवताओं का भी प्रकाश होना चाहिए। इस सन्दर्भ में श्वेताश्वतर उपनिषद् शांकरभाष्य में कहते हैं कि इन्द्रियों में जो विषय प्रकाशन की सामर्थ्य देखी जाती है। वह सामर्थ्य ही उन इन्द्रिय अभिमानी देवताओं का प्रकाश होता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के मन्त्र *'अग्नेर्ज्योति:'* अर्थात् अग्नि का प्रकाश पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है कि इन्द्रिय अनुग्राहक(दया करने वाला) अग्नि आदि देवताओं की जो समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करने की शक्ति है उस सबको हमारी वागादि इन्द्रिय में स्थापित करे।[521]

इससे ज्ञात होता है कि इन्द्रिय अभिमानी देवताओं का प्रकाश विषय प्रकाशन की सामर्थ्य रूप है। विषय को प्रकाशित करने की सामर्थ्य जितनी अधिक होगी। उस इन्द्रिय देवता का प्रकाश भी उतना ही अधिक होगा। इसी प्रकार रस को प्रकाशित करने की जो सामर्थ्य है वह वरुण देवता का प्रकाश है। भिन्न-भिन्न पुरुषों में इन्द्रिय सामर्थ्य भिन्न-भिन्न देखी जाती है। अत: प्रत्येक पुरुष में स्थित इन्द्रिय देवताओं के प्रकाश में अन्तर होता है।

उपनिषद् में एक बाह्य कारण का उल्लेख है, जो हमारी इन्द्रिय सामर्थ्य को बढ़ा सकता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि के अनुसार सवितृ देवता ऐसा करने में समर्थ्य हैं।

---

[518] वहीं,1.3.10

[519] देवाश्च सर्वे प्रति देवतासु।-मु.उ.3.2.7, शां.भा.

[520] सां.द.डॉ.रामनाथ झा,पृ.34

[521] मम मनो बाह्यविषय ज्ञानादुपसंहृत्य परमात्मन्येव संयोजयितुमनुग्राहकदेवतात्मनाम् अग्न्यादीनां यत्सर्ववस्तुप्रकाशनसामर्थ्यं। -श्वे.उ.2.1, शां.भा.

सवितृ देवता ऐसी शक्ति भी प्रदान कर सकते हैं कि इन्द्रिय देवता विषयों से निराशक्त होकर आत्माभिमुखी हो सकते हैं।[522] इसलिए शिष्य सवितृ देव से प्रार्थना करता है। ताकि सवितृ देव के द्वारा दी गयी शक्ति से सामर्थ्य प्राप्त करके शिष्य अपनी इन्द्रियों को आत्मचिन्तन में रत कर सके।[523]

3.3 मुख्यप्राण का देवत्व प्रतिपादन : इस प्राण की सर्व व्यापकता को दिखाते हुए कहा गया है कि यह प्राण ही अग्नि के रूप में तपता है। यह प्राण ही सूर्य होकर प्रकाशित होता है। यही मेघ होकर वर्षा करता है। यह प्राण ही इन्द्र होकर प्रजाओं का पालन करता है एवं असुरों का वध करता है। यह प्राण ही आवह-प्रवह आदि भेदों वाला वायु है। यह प्राण ही पृथिवी चन्द्रमा आदि रूप से सम्पूर्ण जगत् का धारक एवं पोषक भी है। इस प्राण को ही सब कुछ बताया गया है।[524] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राण और वायु में कुछ न कुछ भेद अवश्य है। वायु और प्राण का भेद दिखाते हुए शंकराचार्य ने लिखा है- *'एष वायुरावह प्रवहादिभेदः'।*[525] इस प्रकार वायु और प्राण में भेद किया जा सकता है।

प्राण को सम्बोधित करते हुए स्तुति की गयी है कि हे प्राण ! तुम ही प्रजापति हो। तुम ही गर्भ में संचार करते हो। तुम ही जन्म ग्रहण करते हो और तुम ही सभी इन्द्रियों में विद्यमान् रहते हो।[526] पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि हे प्राण ! तुम ही देवताओं के लिए हवि पहुंचाने वाले हो। पितरों को दी जाने वाली प्रथम स्वधा तुम ही हो। अंगों के रस स्वरूप प्राण अर्थात् अथर्वा ऋषि तुम ही हो।[527] प्राण का सर्वरूपत्व प्रतिपादित करते हुए लिखा गया है कि हे प्राण ! तुम ही इन्द्र हो। तुम अपने तेज से जगत् का संहार करने वाले रूद्र हो एवं सभी ओर से रक्षा करने वाले हो। तुम ही ज्योतिगण का अधिपति सूर्य भी हो।[528] हे प्राण ! जब तुम उत्पन्न हुए तो उस समय संस्कार करने वाले का अभाव था।

---

[522] सविता प्रसुवाति तान्करणानि । यथा करणानि विषयेभ्यो निवृत्तान्यात्माभिमुखान्यात्मप्रकाशमेवकुर्युस्तथानुजानातु सवितेत्यर्थः।- वहीं,2.3, शां.भा.

[523] युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितु: सर्वे। सुवर्गेयायशक्त्या।- वहीं,2.2

[524] प्रश्न.उ.2.5, शां.भा.

[525] वहीं,2.5

[526] वहीं,2.7

[527] प्राणो वाथर्वा।- वहीं,2.8, शा.भा

[528] वहीं,2.9

इसलिए तुम संस्कार हीन अर्थात् प्रारम्भ से ही शुद्ध स्वरूप हो। एकर्षि नायक अग्नि होकर तुम सम्पूर्ण हवियों के भोक्ता हो।[529] इसी मन्त्र के भाष्य में शंकराचार्य ने प्राण को वायु का पिता कहा है।[530]

यह प्राण ही वाणी में श्रोत्र, नेत्र, मन आदि में भिन्न-भिन्न रूपों में स्थित है।[531] इस प्राण-आत्मा की उत्पत्ति सत्य ब्रह्म से बतायी गयी है।[532] यदि यह कहें कि शरीर में प्राण का आगमन कैसे होता है तो इसका उत्तर देते हुए ऋषि ने लिखा है कि मन के संकल्पादि से पुरुष के शरीर में प्राण आ जाता है। शरीर में आने के पश्चात् मुख्यप्राण ही अन्य प्राणों को उनके स्थानों पर नियुक्त करता है। इसका उदाहरण देते हुए कहते है कि जैसे लोक में राजा अधिकारियों को नियुक्त करता है। वैसे प्राण भी इन्द्रियों में प्राण की नियुक्ति करता है।[533] नियुक्ति की प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए ऋषि ने पुनः लिखा है कि वह प्राण पायु और उपस्थ स्थानों पर अपान को नियुक्त करता है। मुख और नासिका में स्वयं स्थित होता है। नाभिदेश में समान को नियुक्त करता है।[534] व्यान वायु की स्थिति पूरे शरीर में होती है। पूरे शरीर में व्यान वायु कैसे व्याप्त होता है, इसका उल्लेख करते हुए लिखा गया है कि हृदय देश में 101 नाडियां हैं। उनमें से एक-एक की सौ-सौ शाखाएँ हैं। सौ-सौ भेदों में से प्रत्येक में 72-72 हजार शाखाएँ हैं। इन सभी में व्यान वायु व्याप्त रहता है।[535] हृदय से ऊपर की ओर एक नाड़ी जाती है। जिसमें उदान वायु का संचार होता है। जिसे सुषुम्ना नाड़ी कहा जाता है। यह उदान वायु ही जीव को शरीर से बाहर निकलने में मदद करता है। यह उदान वायु ही जीव को उसके पुण्य कर्मों के अनुसार ऊर्ध्व लोकों में तथा पाप कर्मों के अनुसार अधोलोकों में ले जाता है। यदि जीव के पुण्य और पाप कर्म बराबर मात्रा में हैं। तो जीव को मनुष्य लोक की प्राप्ति होती है।[536]

---

[529] वहीं,2.11

[530] अथवा मातरिश्वनो वायोस्त्वम्।- वहीं,2.11, शां.भा.

[531] या ते तनूर्वाचि प्रतिष्टिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि। या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरू मोत्क्रमी।। - वहीं,2.12

[532] आत्मनः एष प्राणी जायते। - वहीं,3.3

[533] वहीं,3.4

[534] वहीं,3.5

[535] वहीं,3.6

[536] अथैकयोर्ध्व उदानः पुष्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापं अभाभ्यामेव मनुष्य लोकम्।- वहीं,3.7

जल एवं चन्द्रमा से युक्त आधिदैविक मन का जिसमें प्रवेश होता है वह व्यथित नहीं होता है। वह न तो भय को प्राप्त होता है न विनाश को प्राप्त करता है।[537] ऋषि के मत में जो पुरुष इस त्र्यन्नात्मदर्शन को जानता है वह सभी भूतों का आत्मा हो जाता है। सभी भूतों का प्राण, सभी भूतों का वाक् और सभी भूतों का मन हो जाता है। इस प्रकार वह सर्वज्ञ हो जाता है। प्राण का अधिदैवत रूप सूर्य है। जो व्यक्ति प्राण का सूर्य के रूप में उपासना करता है, उसे सूर्य को निम्न रूपों में देखना चाहिए। जैसे यह प्राण ही सूर्य है। प्राण ही सूर्य के रूप में तपता है। यह प्राण ही प्रजाओं के रूप में उद्गान करता है। उदित होकर अन्धकार और भय का नाश करता है। इस प्रकार सूर्य के रूप में प्राण की उपासना करने वाला पुरुष अज्ञान रूप अन्धकार तथा जन्म-मरण रूप भय का नाश करने वाला होता है।[538]

प्राण के आधिदैविक स्वरूप को बताते हुए कहा गया है कि जल प्राण का शरीर है, जो कि आधार स्वरूप है। चन्द्रमा ज्योति है, जो कि आधार स्वरूप है। वहाँ जितना प्राण है, उतना ही जल है और उतना ही चन्द्रमा है। ऐसा समझना चाहिए।[539]

ऋषि के मत में अग्नि और आदित्य प्राण की उत्पत्ति में हेतु हैं। अग्नि माता है, आदित्य पिता है। दोनों के मिथुन से प्राण रूप प्रजा उत्पन्न होती है।[540] बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है कि *'तौ मिथुनं समैतां तत: प्राणोऽजायत स इन्द्र:'।*[541] अर्थात् आदित्य और अग्नि के परस्पर संसर्ग से प्राण उत्पन्न हुआ यह प्राण ही इन्द्र है।

श्रुति में एक स्थान पर प्राण को बल कहा गया है।[542] बल का देवता इन्द्र है। इसलिए प्राण का देवता इन्द्र है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि जो कोई बल का काम करता है, वह इन्द्र का ही कर्म होता है।

---

[537] बृ.उ.1.5.20, शां.भा.

[538] छा.उ.1.3.1

[539] अथैतस्य प्राणस्याप: शरीरं ज्योतिरूपमसौ चन्द्रस्तद्यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्र:।- बृ.उ.1.5.13

[540] मनसा आदित्येन प्रसूतं मित्रा, वाचाग्निना मात्रा प्रकाशितं कर्म करिष्यामि।- वहीं,1.5.12, शां.भा.

[541] वहीं,1.5.12

[542] प्राणों वै बलम्। -ब्र.सू.शां.भा.पृ.380

इस प्राण की सर्व व्यापकता को दिखाते हुए कहा गया है कि यह प्राण ही अग्नि के रूप में तपता है। यह प्राण ही सूर्य होकर प्रकाशित होता है। यही मेघ होकर वर्षा करता है। यह प्राण ही इन्द्र होकर प्रजाओं का पालन करता है एवं असुरों का वध करता है। यह प्राण ही आवह-पावह आदि भेदों वाला वायु है। यह प्राण ही पृथिवी, चन्द्रमा आदि रूप से सम्पूर्ण जगत् का धारक एवं पोषक भी है। इस प्राण को ही सब कुछ बताया गया है।[543] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राण और वायु में कुछ न कुछ भेद अवश्य है। अतः वायु और प्राण का अभेद न मान कर वायु को प्राण का सर्वोत्तम वाहक मानना चाहिए। वायु और प्राण का भेद दिखाते हुए शंकराचार्य ने लिखा है, *'एष वायुरावह प्रवहादिभेदः'।*[544]

शंकराचार्य ने ईशावास्योपनिषद् के भाष्य में अग्नि, सूर्य, मेघ के लिए प्राणी शब्द का प्रयोग किया है; क्योंकि इन सब में प्राण विद्यमान् होता है। जिसमें प्राण हो वही प्राणी है। इन सबमें प्राण की विद्यमानता का प्रमाण है 'क्रियावान् होना'। क्रिया वायु या प्राण का रूप है। यह क्रिया अग्नि में दहन और ज्वलन के रूप में पायी जाती है। सूर्य में प्रकाशन के रूप में पायी जाती है और मेघ में वर्षण क्रिया के रूप में पायी जाती है।[545]

इस मन्त्र के भाष्य से अन्य वस्तुएँ भी जिसमें क्रिया पायी जाती हो को भी प्राणी कहा जा सकेगा।

3.4 त्रिदेव का निरूपण : मुण्डकोपनिषद् के अनुसार सभी देवताओं में ब्रह्मा सर्वप्रथम उत्पन्न हुए। वह विश्व का रचयिता तथा त्रिभुवन का रक्षक था।[546] आचार्य शंकर ने इस मन्त्र का भाष्य करते हुए ब्रह्मा शब्द का अर्थ परमात्मा किया है। ब्रह्मा शब्द का अर्थ है परिवृढ़ अर्थात् गुणों में जो सबसे बढ़ा हुआ है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि

---

[543] प्रश्न.उ.2.5, शां.भा.
[544] वहीं,2.5
[545] अपः कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि अग्न्यादित्य पर्जन्यादीनां ज्वलन दहन प्रकाश अभिवर्षणादि लक्षणानि। -ईशा.उ.4, शां.भा.
[546] मु.उ.1.1.1

में सबसे आगे है, वही ब्रह्मा है। प्रकाशयुक्त होने के कारण इन्द्र आदि को देवता कहा जाता है।[547]

प्रजापति को सृष्टि का आरम्भक देवता माना गया है। ऐसा माना जाता है कि प्रजापति ने सर्वप्रथम वेदों का सृजन किया। इन वेदों से ही सृष्टि हुई। स्वयं उत्पन्न होने के कारण प्रजापति को स्वयंभू भी कहा जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि प्रजापति ने मन से त्रयी रूप वाणी का आलोचन किया।[548] महाभारत के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में स्वयंभू ने अनादि, अनन्त, नित्य और दिव्य वेदमयी वाणी का उत्सर्ग किया, जिससे अन्य सृष्टियाँ हुई।[549] मनु ने इस विषय में लिखा है कि उस महेश्वर ने आरम्भ में वेद शब्दों से ही भूतों के नाम, रूप और सत्कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति की।[550]

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।

वेद शब्देभ्य: एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥[551]

अर्थात् उसने आरम्भ में सबके पृथक्-पृथक् नाम और कर्म एवं अवस्थाओं का वेद शब्दों से ही निर्माण किया। इन स्मृतियों से ज्ञात होता है कि वेद से ही सृष्टि हुई है; क्योंकि जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु को बनाना चाहता है तो उसके पहले वह उस वस्तु के वाचक शब्द को मन से स्मरण करता है। तत्पश्चात् वस्तु का निर्माण करता है। अत: पहले शब्द रूप वेदों की सृष्टि हुई। जैसे उसने भू: ऐसा उच्चारण करके पृथिवी की सृष्टि की।

ब्रह्मा एक देवता का नाम है, जो ब्रह्म की सर्जनकारी शक्ति का अभिमानी देवता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार निर्गुण ब्रह्म ने सर्वप्रथम ब्रह्मा को उत्पन्न किया। उत्पत्ति काल में ब्रह्मा को सृष्टि का ज्ञान नहीं था। अत: ब्रह्म ने बाद में ब्रह्मा को वेदों का ज्ञान दिया। तब ब्रह्मा सृष्टि की रचना कर सके।[552] इसी मन्त्र में ब्रह्म को आत्मबुद्धि प्रकाशक

---

[547] ब्रह्मा परिवृढो महान्धर्मज्ञान वैराग्यैश्वर्यैः सर्वानन्यानतिशेते इति। देवानां द्योतनवताम् इन्द्रादीनां।-मु.उ.1.1.1, शां.भा.

[548] स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्स्।-बृ.उ.1.2.4

[549] अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यत: सर्वा: प्रवृत्तय:॥। -महा.भा.शा.233/24

[550] सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेद शब्देभ्य: एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥-मनु.1.21

[551] ब्र.सू.679

[552] यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै देवतात्मबुद्धिप्रकाशं।। -श्वे.उ.6.18

भी कहा गया है। जिसका अर्थ है कि वह ब्रह्म जीवात्मा की आत्मबुद्धि का विकास करने वाला है; क्योंकि जीव में आत्मविषयक बुद्धि का विकास तो परमात्मा की ही इच्छा से हो सकता है। सात्त्विक ज्ञान से सिर्फ अविद्या का निवारण हो सकता है। ऐसा ही केनोपनिषद् में भी कहा गया है कि *'आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दते अमृतम्'*[553] अर्थात् विद्या से सामर्थ्य की प्राप्ति होती है और परमात्मा की इच्छा से अमृतत्त्व की प्राप्ति हो सकती है।

पौराणिक भाषा में हम सभी ब्रह्मा, विष्णु और शिव को स्वतंत्र देवता के रूप में पढ़ते आये हैं। इन शक्तियों के उपासकों ने अपने देवताओं को ही सर्वोत्कृष्ट सत्ता के रूप में स्वीकृति दी है। किन्तु ये तीनों ही शक्ति एक ही ब्रह्म की तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं। तीन प्रकार के कार्यों का सम्पादन करने के लिए इन्हें तीन नामों से जाना जाता है। ब्रह्म की जगत् उत्पत्ति करने वाली शक्ति का नाम ब्रह्मा, जगत् की स्थिति की निमित्तभूता शक्ति का नाम विष्णु तथा लय की निमित्तभूता शक्ति का नाम शिव या महेश्वर है।[554]

तीन प्रकार के कार्यों के कारण ब्रह्म की एक ही शक्ति के तीन विभाग हैं। ब्रह्म की शक्ति त्रिगुणात्मिका है। यह शक्ति सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों से मिलकर बनी है। इन त्रिविध गुणों के कार्यों की यदि समानता के आधार पर तुलना की जाए तो क्रियाशील होने के कारण रजोगुण ब्रह्मा शक्ति से समानता रखती है; क्योंकि रजोगुण क्रियात्मक होने के कारण रचनाशील होता है और ब्रह्म शक्ति भी जगत् की रचना करने वाला होता है। दूसरा गुण सत्त्व गुण है, जो विष्णु शक्ति से समानता रखता है। सत्त्व गुण प्रकाशक है। प्रकाशक होने का अर्थ है अस्तित्त्व को बनाए रखना। जगत् के अस्तित्त्व को बनाये रखने वाली शक्ति विष्णु है। इसी प्रकार तमस् शक्ति महादेव से समानता रखती है।[555] इसी प्रकार का एक श्लोक विष्णु पुराण में भी आया है कि एक ही परमात्मा जब उत्पत्ति का कार्य करता है तो ब्रह्मा, स्थिति का कार्य करने पर विष्णु तथा संहार का काम करने पर महेश्वर के नाम से जाना जाता है-

सर्ग स्थित्यन्तकरणीं ब्रह्माविष्णुशिवात्मिकाम्।

---

[553] केन.उ.2.4

[554] देवस्य परमेश्वरस्यात्मभूतां जगदुदयस्थितिलयहेतुभूतां ब्रह्माविष्णुशिवात्मिकां शक्तिमित।।-श्वे.उ.1.3, शां.भा.

[555] सत्त्वेन विष्णू रजसा ब्रह्मा तमसा महेश्वरः। -श्वे.उ.1.3,शां.भा.

स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दन:॥[556]

श्रुति में प्रजापति के तीन पुत्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। देवता मनुष्य और असुर। ये तीनों तीन स्वभाव के थे। देवता सात्त्विक स्वभाव के, मनुष्य राजस् स्वभाव के, तो असुर तमस् स्वभाव के थे। एक बार तीनों ने प्रजापति के पास ब्रह्मचर्यवास किया। फिर उन्होंने कहा कि आप हमें उपदेश कीजिए। तब प्रजापति ने देवताओं से 'द' अक्षर कहा और पूछा कि समझ गये क्या? उन्होंने कहा- समझ गये। आपने हमसे दमन करो ऐसा कहा। अर्थात् इन्द्रियों का दमन करो। फिर मनुष्यों ने कहा कि आप हमें उपदेश कीजिए। तब प्रजापति ने मनुष्यों से 'द' अक्षर कहा। प्रजापति ने मनुष्यों से पूछा कि समझ गये क्या? मनुष्यों ने कहा हाँ समझ गये। आपने कहा है कि दान करो। प्रजापति ने कहा ठीक है अब तुम समझ गये। फिर ब्रह्मचर्यवास के बाद असुरों ने कहा कि आप हमें उपदेश कीजिए। प्रजापति ने उन असुरों से भी 'द' अक्षर ही कहकर पूछा कि समझ गये? असुरों ने कहा हाँ समझ गये। आपने कहा कि दया करो। तब प्रजापति ने कहा हाँ समझ गये। प्रजापति के इस उपदेश का अनुवाद मेघगर्जन रूपी दैवी वाक् आज भी द द द ऐसा करती है। इस प्रकार प्रजापति के द्वारा किये गये एक ही उपदेश को तीन प्रकृति वाले देवता, मनुष्य एवं असुरों ने तीन प्रकार से समझा।[557] इससे ज्ञात होता है कि सभी अपनी प्रकृति के अनुसार ही अर्थों को ग्रहण किया करते हैं।

वैदिक ऋषियों के मत में ब्रह्मलोक में जाने वाला पुरुष समस्त भोगों को संकल्प मात्र से प्राप्त कर लेता है। मन ही उसका दिव्य नेत्र होता है, जिससे सभी रूपों का दर्शन करता है। मन ही दिव्य श्रोत्र होता है। मन ही दिव्य घ्राण है। जिससे क्रमश: दिव्य शब्द एवं गन्धादि विषयों को ग्रहण करता है। इस प्रकार मन रूप दिव्य इन्द्रियों से सभी भोगों को ग्रहण करता हुआ स्थित रहता है। इस विषय में पूर्वपक्ष का मानना है कि भोगों का ग्रहण बिना शरीर के सम्भव नहीं है। तो फिर उन पुरुषों का शरीर होता है या नहीं? इस विषय में वादरायण जी उन पुरुषों के शरीर का अभाव स्वीकार करते हैं; क्योंकि श्रुति में इस प्रकार का कुछ निर्देश नहीं है। अत: यही मानना उचित है कि ब्रह्मलोकवासी पुरुषों का कोई शरीर नहीं होता है। वे मन से ही सभी भोगों को प्राप्त करते हैं। किन्तु इस विषय में आचार्य जैमिनि एक श्रुति का उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि उस ब्रह्मलोक में

---

[556] वि.पु. 1.2.66

[557] बृ.उ.5.2.1-3

निवास करने वाले पुरुषों का शरीर अवश्य होता है।[558] अर्थात् मुक्तात्मा एक प्रकार से होता है, तीन प्रकार से होता है, पाँच प्रकार का होता है, सात प्रकार का होता है, नौ प्रकार से और ग्यारह प्रकार का होता है। इस प्रकार का निर्देश होने से उन पुरुषों का शरीर से युक्त होना सिद्ध होता है।

दोनों आचार्यों (बादरि, जैमिनि) के विचारों को प्रामाणिक मानकर समन्वय करते हुए वेदव्यास ने कहा है कि दोनों ही संभव है। पुरुष अपने संकल्प के अनुसार ऐसा होता है। यदि वह शरीर धारण की इच्छा करता है तो शरीर युक्त होता है। यदि अशरीरी होने की इच्छा करता है तो वह अशरीरी होता है।[559] शरीर के बिना उपभोग कैसे होता है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य ने लिखा है कि जैसे स्वप्न में पुरुष मन से समस्त भोगों को प्राप्त करता है। उसी प्रकार ब्रह्मलोक में भी शरीर से रहित होकर भी दिव्य भोगों को प्राप्त करता है।[560] ब्रह्मलोक को प्राप्त हुआ पुरुष शरीर आदि के बन्धन से मुक्त होता है। ऐसा मुक्तात्मा पुरुष कहीं भी किसी के भी शरीर में प्रवेश कर सकता है। उसकी गति सर्वत्र होती है। जैसे एक ही अग्नि सभी दीपकों में स्थित होकर प्रकाशित होती है। जैसे एक ही विद्युत् सभी बल्वों में स्थित होकर प्रकाश देती है। उसी प्रकार मुक्तात्मा पुरुष एक साथ सभी शरीरों में प्रवेश करके भोगों को ग्रहण कर सकता है और इन्द्रिय विषयों को प्रकाशित कर सकता है।[561]

3.5 सूर्य का आधिदैवत रूप : कई प्रसंगों में सूर्य के अधिदैवत स्वरूप की चर्चा मिलती है। कठोपनिषद् में यमराज को वैवस्वत कहा गया है। सूर्य देवता का विवस्वत नाम है। सूर्य का पुत्र होने के कारण यमराज का दूसरा नाम वैवस्वत पड़ा।[562] इससे यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि अधिष्ठातृ देवताओं के पुत्र भी हुआ करते थे। ईशावास्योपनिषद् में सूर्य को देवता मानकर उसके लिए अनेक विशेषणों का प्रयोग किया गया है। मन्त्र 15 में सूर्य के लिए पूषन् शब्द का प्रयोग किया गया है; क्योंकि सूर्य ही प्राणियों और वनस्पतियों का पोषण करता है। अगले मन्त्र में सूर्य के लिए एकर्षे

---

[558] स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादश: स्मृत:। -छा.उ.7.26.2
[559] द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽत:। -ब्र.उ.4.4.12
[560] तन्वभावे संध्यवदुपपत्ते:।-ब्र.सू. 4.4.13
[561] प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति।- वहीं,4.4.15
[562] मृत्यवे वैवस्वताय त्वा त्वां ददामीति।-कठ.उ.1.1.4, शां.भा.

सम्बोधन का प्रयोग किया गया है; क्योंकि सूर्य अकेला ही चलता है। दिन रात के द्वारा सभी प्राणियों का नियमन करता है, इसलिए सूर्य के लिए यम सम्बोधन का प्रयोग किया गया है। किरण, प्राण तथा रसों को स्वीकार करना भी उसकी एक विशेषता है। अतः सूर्य सम्बोधन उसके लिए प्रयुक्त है। वह प्रजापति का पुत्र भी है अतः 'हे प्राजापत्य' सम्बोधन उसके लिए उपयुक्त है। वह सूर्य रश्मियों से युक्त है। वे रश्मियाँ सन्तप्त करने वाली होती है, जो किसी की भी दृष्टि से ब्रह्म को ओझल कर सकती हैं। ये रश्मियाँ ब्रह्म के स्वरूप को छिपाने वाली हैं। इस सूर्य को आदित्य भी कहते हैं; क्योंकि वह अदिति का पुत्र है। ऐसे आदित्य को हिरण्यमय स्वरूप वाला बताया गया है। उसका हिरण्यमय स्वरूप ही उसकी माया रूपा शक्ति है, जिसके द्वारा वह अपने अन्दर विद्यमान् ब्रह्मतत्त्व को छुपाये रखता है। अतः उस ब्रह्म का दर्शन करने के लिए आवश्यकता है कि उस ज्योतिर्मय माया रूप आवरण को हटाने की, जो कि वह आदित्य देवता स्वयं कर सकते हैं।

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्त्यधर्माय दृष्टये॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्युह रश्मीन्समूह। तेजो यन्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥[563]

इसी भाव को व्यक्त करते हुए कठोपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा जिसको चाहता है, उसके सम्मुख अपने स्वरूप को उद्घाटित कर देता है।[564]

ऋषियों ने अपने तप के बल पर आदित्य का अधिदैवत के रूप में दर्शन किया। उन्होंने देखा कि ज्योतिर्मय सूर्यमण्डल में एक हिरण्यमय चेतन पुरुष विद्यमान् हैं। पुरुष होने से सुवर्णमय शरीर और इन्द्रियों से युक्त है। सभी पुरुषों में श्मश्रु कृष्णवर्ण के होते हैं। किन्तु आदित्य मण्डलवर्ती पुरुष की दाढ़ी और मूँछें भी सुवर्णमय हैं। उसके केश भी ज्योतिर्मय हैं। इस प्रकार उसके शरीर के सभी अंग ज्योतिर्मय ही हैं।[565] आदित्य पुरुष के नेत्रों में

---

[563] ईशा.उ.15-16

[564] यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्। –कठ.उ.1.2.23

[565] य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः। - छा.उ.1.6.6

किञ्चित भिन्नता है। उसके नेत्र शरीर के अन्य अंगों की भाँति ज्योतिर्मय नहीं हैं, अपितु लाल रंग के हैं। पुण्डरीक (लाल कमल) के समान वर्ण वाला है।[566]

श्रुति में सूर्य का उल्लेख अनेक प्रकार से हुआ है। सूर्य को प्रमुख वैदिक देवता के रूप में जाना जाता है। भौतिक रूप में सूर्य को द्युलोक की अग्नि माना गया है। ब्रह्मज्ञानी पुरुषों ने सूर्य के तेज में अपने स्वरूप को देखा है।

ईशावास्योपनिषद् में एक भक्त आदित्य को अधिदैवत रूप में देखता है। आदित्य से अपनी चकाचौध कर देने वाली किरणों को अपने अन्दर में समेट लेने के लिए प्रार्थना करता है। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में भी एक स्थान पर आदित्य के आधिदैविक और आध्यात्मिक दोनों रूपों की चर्चा की गयी है। छान्दोग्योपनिषद् के ऋषि आदित्य के अधिदैवत रूप को ज्योतिर्मय रूप में देखा है। उस आदित्य देवता के सभी अंग ज्योतिर्मय हैं। यह आदित्य देवता सूर्य के मध्यभाग में दिखायी देता है। उसकी जो मूँछे है। वे भी ज्योतिर्मय हैं। उसके केश ज्योतिर्मय हैं। उसके हाथ और पैर इत्यादि नखाग्र पर्यन्त सभी कुछ प्रकाशमय है।[567] आदित्य के भीतर विद्यमान् पुरुष के नेत्रों का रंग लाल बताया गया है, जिसकी उपमा बन्दर के पुच्छ भाग की लालिमा से की गयी है।

सभी पापों से मुक्त उस देवता की जो उपर्युक्त प्रकार से वर्णित रूप में उपासना करता है। वह भी उसी के समान सभी पापों से मुक्त हो जाता है।[568] ऋषियों ने आँख में स्थित देवता को आदित्य का आध्यात्मिक रूप बताया है। सूर्य और नेत्र एक दूसरे से घनिष्ठता पूर्वक सम्बन्धित हैं। ऐसा श्रुति में कई बार आया है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में सूर्य की उत्पत्ति विराट् पुरुष के नेत्र से बताया गया है। उपनिषद् में एक स्थान पर आया है कि सूर्य नेत्र पर उपकार करता है। अतः इन श्रुति प्रमाणों के आधार पर सूर्य और नेत्र के बीच के सम्बन्ध को भलीभाँति जाना जा सकता है। ऋषियों ने आदित्य के आध्यात्मिक रूप को पुरुष के नेत्र में स्थित बताया है।[569] शरीर को अध्यात्मिक कहते हैं। इसलिए शरीर के

---

[566] तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी।- वहीं,1.6.7

[567] अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषों दृश्यते हिरण्यश्मश्रुः हिरण्यकेश आग्रनखात सर्व एव सुवर्णः। -ब्र.सू.314

[568] तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पापमभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद। –छा.उ.1.6.7, ...इति अधिदैवतम्।- वहीं,1.6.6-8

[569] अथाऽध्यात्मम् अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते। - वहीं,1.7.1-5

अंगभूत नेत्र में स्थित पुरुष को आदित्य का आध्यात्मिक रूप कहते हैं। शंकराचार्य पुरुष के इन दोनों आधिदैविक और आध्यात्मिक रूपों को परमात्मा का ही रूप मानते हैं। किन्तु स्थान और दृष्टि भेद से उसे आधिदैविक एवं आध्यात्मिक कहा गया है। संसारी पुरुष को आकाश में दिखायी देने वाले भौतिक पिण्ड को उस आदित्य का भौतिक रूप कहते हैं, जो पृथिवी पर स्थित सभी प्राणियों को प्रकाश और ऊर्जा देता है। सभी प्राणियों का पोषण करता है। भौतिक विज्ञान के नियमों के अनुसार सूर्य हाइड्रोजन और हीलियम नामक पदर्थों से बना हुआ एक पिण्ड मात्र है। जिसमें नाभकीय संलयन नामक क्रिया होने से अत्यधिक मात्रा में प्रकाश और ऊर्जा की प्राप्ति होती है।

सूर्य और नेत्र का परस्पर सम्बन्ध दिखाते हुए कहा गया है कि आदित्य पुरुष के जो पर्व हैं। वे अक्षिपुरुष के पर्व है।[570] इससे ज्ञात होता है कि आदित्य और चक्षु में परस्पर सम्बन्ध है और आदित्य नेत्र को प्रभावित करता है। तैत्तरीय आरण्यक में आदित्य मण्डल को तीन भागों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक भाग के अभिमानी देवताओं का भी उल्लेख है। श्रुति के अनुसार सूर्य में एक वर्तुलाकर मण्डल है, जो अधिक ऊष्मा देने वाला है। उस मण्डल में ऋक् तथा ऋक् अभिमानी देवताओं का वास होता है। इसलिए उस वर्तुलाकार मण्डल को ऋगात्मक कहा जाता है। उस मण्डल में एक भाग भास्वर वर्ण का है। जिसे सामात्मक कहा जाता है; क्योंकि उसमें सामाभिमानी देवताओं का वास होता है। मण्डल और भास्वर तेज के बीच भी एक देवता का वास होता है। जिसे यजुरात्मक के नाम से जाना जाता है।[571] इस प्रकार इस आदित्य देवता को ऋक्, यजुः सामात्मक माना गया है। श्रुति में प्रायः ऋक्, यजुः और साम वेदों का ही उल्लेख प्राप्त होता है। सम्भवतः इसीलिए इन तीनों वेदों को वेदत्रयी के नामों से जाना जाता है।

अतः आदित्य के उपर्युक्त तीन रूप बताये गये आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक आदित्य के इन तीनों रूपों में एक ही आत्मा प्रकाशित होता है। एक ही आत्मा तीन दृष्टियों से आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक तीन रूपों में जाना जाता है। इन तीनों में दिखायी देने वाला देव एक ही है, जो आत्मा है। जिसे परब्रह्म कहा जाता है। जिसके कारण आदित्य के तीनों रूप हैं। वह पुरुष या देव इन तीनों से पृथक् है। उस देव को आदित्य भी नहीं जानता है। आदित्य तो उस देव का शरीर मात्र है। आत्मा

---

[570] यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ। -ब्र.सू.320

[571] आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति तत्र ता ऋच्। -तै.आ.10.13

तो वह देव ही है। वह देव ही आदित्य पर शासन करता है। उसे अन्तर्यामी और अमृत के रूप में जाना जाता है।[572] इसी प्रकार एक और श्रुति प्राप्त होती है। जिसका उल्लेख शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में किया है- *'आदित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद'*[573] अर्थात् ब्रह्म उस आदित्य के भीतर वर्तमान है। किन्तु आदित्य उसे नहीं जानता है; क्योंकि ब्रह्म ही आदित्य की आत्मा है। जैसे अग्नि स्वयं को नहीं जलाती है। जीवात्मा खुद के स्वरूप को नहीं जानता है। उसी प्रकार आदित्य भी स्वयं को नहीं जानता है।

आदित्य का अधिदैवत रूप भेद से युक्त है। कौषीतकि उपनिषद् के ऋषि ने आदित्य की अभेद रूप से उपासना किया था। उन्होंने सूर्य को उसकी रश्मियों से भिन्न मानकर उपासना की, जिसके कारण उनको केवल एक पुत्र प्राप्त हुआ। कौषीतकि ऋषि कहते हैं कि जो पुरुष सूर्य को उसकी रश्मियों से अलग मानकर उपासना करते हैं। अर्थात् सूर्य अलग है और उसकी रश्मियाँ अलग हैं। ऐसा भेद देखते हुए उपासना करता है। तो उसे अनेकों पुत्रों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार भेदयुक्त उपासना को ही अधिदैवत उपासना के रूप में जाना जाता है।[574] इससे स्पष्ट होता है कि हमारी भेद और अभेद पूर्ण दृष्टि का भी हमारी पौरुष शक्ति पर प्रभाव पड़ता है और हमारे व्यवहार को प्रभावित करता है।

3.6 मन का आधिदैवत रूप : बृहदारण्यक उपनिषद् में मन के तात्त्विक रूप को बताते हुए कहा गया है कि अव्याकृत, अव्यक्त, अकृत्स्न परमतत्त्व ही मनन वृत्ति के कारण मन कहलाता है।[575] यह मन अन्तस्थ इन्द्रिय होकर उभयेन्द्रिय है। अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों है। दोनों प्रकार की इन्द्रियों का उपकारक है। मन इन्द्रियों के साथ भोगे गये विषयों तथा चेतना के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है; क्योंकि मन की अनुपस्थिति में इन्द्रियों से विषयों का ज्ञान नहीं होता है। इसीलिए कहा जाता है कि मनुष्य मन से देखता है, मन से सुनता है।[576] इससे ज्ञात होता है कि इन्द्रियाँ मन के अधीन होकर कार्य करती हैं। यदि मन उपस्थित न हो तो नेत्र द्वारा विषय को देखने पर भी उसका ज्ञान

---

[572] य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्याऽदित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमथत्येष त आत्मान्तर्याम्य मृतः। -बृ.उ.3.7.9

[573] ब्र.सू. 325

[574] छा.उ.1.5.2

[575] अकृत्स्नो हि स मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनान्येव-बृ.उ.1.4.7

[576] मनसा ह्येव पश्यति मनसा श्रृणोति हृदयेन हि रूपाणि जानाति।- वहीं,1.5.3

नहीं होता है। अत: स्पष्ट है कि मन के अभाव में इन्द्रियाँ प्रयोजन रहित होती हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् के एक मन्त्र में मन और हृदय दोनों से रूपों का ज्ञान होना बताया गया है *'मनसा ह्येव पश्यति मनसा श्रृणोति हृदयेन हि रूपाणि जानाति'।*[577] अर्थात् वह जीवात्मा मन से देखता है, मन से सुनता है, हृदय से ही रूपों को जानता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ पर मन और हृदय को एक दूसरे के पर्याय के रूप में वर्णित हैं। मन को दिव्य नेत्र भी कहा गया है।[578]

मन की दिव्यता इस दृष्टि से है कि मन अन्य सभी इन्द्रियों जैसे श्रवणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, वागिन्द्रिय से श्रेष्ठ है।[579] सभी इन्द्रियाँ अपने विषयों को प्राप्त करने के लिए मन के अधीन होती हैं। मन के सहयोग के बिना इन्द्रियाँ अपने विषयों को नहीं प्राप्त कर सकती हैं। मन इन्द्रियों की अपेक्षा सूक्ष्म होने से अधिक व्यापक है। वाणी भी मन के अधीन होती है। मन से प्रेरित होकर ही वाणी शब्द का उच्चारण करती है। इन्द्रियाँ केवल वर्तमान विषयों को ग्रहण कर सकती हैं। इसलिए उन्हें अदैव कहा जाता है। जबकि मन तीनों कालों भूतकाल, वर्तमानकाल तथा भविष्यकाल के विषयों को भी ग्रहण कर सकता है। इसलिए उसे दैवचक्षु कहा गया है।[580]

जीवात्मा भोक्ता है। किन्तु इस प्रक्रिया में जीवात्मा मन और इन्द्रियों का सहयोग लेता है।[581] मन को संयमित करने वाला पुरुष ही परम पद को प्राप्त होता है। मन की चञ्चलता परमपद प्राप्ति में बाधक है। अत: अप्रमत्त पुरुष आत्मतत्त्व को प्राप्त करने के लिए मनोनिग्रह को आवश्यक मानता है।[582] इसलिए मन का संयम आवश्यक है। मन के संयम के लिए युक्त आहार विहार को भी आवश्यक माना गया है। *'युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु'*[583] श्रीमद्भगवद्गीता के इस श्लोक में बताया गया है कि अन्न की शुद्धता से सत्त्व शुद्धि होती है। अधिक भोजन करने वाले या भोजन न करने वाले व्यक्ति का मन संयमित नहीं होता है। अत: मन को संयमित रखने के लिए युक्त आहार विहार आवश्यक

---

[577] वहीं,1.5.3
[578] मनोऽस्य दैवं चक्षु।-छा.उ.8.12.5,
[579] इन्द्रियेभ्य: परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मन:।-कठ.उ.1.3.10
[580] उपनिषद् वाङ्मय विविध आयाम,पृ.62
[581] आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्त्येत्याहुर्मनीषिण:।-कठ.उ.2.3.3
[582] मनोधारयेताप्रमत्त:।- वहीं,2.2.9
[583] भग.गी.6.17

है। संयमित मन से अन्त:करण शुद्धि होती है। अन्त:करण के शुद्ध होने पर सभी इन्द्रियाँ बाह्य विषयों से हटकर मन में निरुद्ध हो जाती हैं। और मनुष्य प्रणव रूपी नौका से सतत् संचरण शील जगत् के भयावह स्रोतों पार कर लेता है।[584] इस मन के द्वारा ही मनुष्य परम तत्त्व को प्राप्त कर सकता है।[585] परमगति को प्राप्त हुए पुरुष के बारे में बताया गया है कि उस पुरुष की पंचज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करती है।[586]

आचार्य शंकर ने ईशावास्योपनिषद् के 17 वें मन्त्र में विद्यमान् 'क्रतो' को मन का सम्बोधन माना है। *'ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर'*[587] इस पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है कि हे संकल्पात्मक मन ! तुम इस समय स्मरण करने योग्य विषयों को स्मरण कर और जो कुछ तुमने पहले किया है, उन पूर्वकृत कर्मों को भी स्मरण करो। *'हे क्रतो सङ्कल्पात्मक। स्मर यन्मम स्मर्तव्यं'* में शंकराचार्य ने क्रतो का अर्थ अग्नि संज्ञक ब्रह्म भी किया है। तारणीश झा ने क्रतु: को यज्ञ का वाचक मानकर 'ॐ क्रतो' सम्बोधन को यज्ञ के अध्यक्ष विष्णु का वाचक माना है।[588] इस प्रकार विद्वानों ने इस मन्त्र में विद्यमान् 'क्रतो' सम्बोधन का तीन अर्थ लिया है- 1- अग्निसंज्ञक ब्रह्म 2- संकल्पात्मक मन 3- यज्ञ के अध्यक्ष विष्णु।

मन का आधिदैविक रूप द्युलोक एवं आदित्य से युक्त होता है। आधिदैविक मन का प्रवेश जिसमें होता है, वह आनन्दी होता है। उसे शोक नहीं होता है।[589] कठोपनिषद् में उल्लेख हुआ है कि उसी आत्मा के द्वारा मनुष्य जाग्रत अवस्था में वस्तुओं को देखता है। स्वप्न में भी उसी आत्मा के द्वारा स्वप्नजगत् को देखा जाता है।[590]

---

[584] इन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य।–श्वे.उ.2.8

[585] मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन्। –कठ.उ.1.1.11

[586] यदा पंचावतिष्ठन्ति ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहु: परमां गति॥- वहीं,2.3.10

[587] ईशा.उ.17

[588] ईशा.उ.17, तारणीश

[589] दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति तद्वै दैवं मनो येनानन्द्येव भवत्यथो न शोचति।-बृ.उ.1.5.19

[590] स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।-कठ.उ.2.1.4

मन के आधिदैविक स्वरूप का उल्लेख करते हुए बतया गया है कि द्युलोक ही मन का स्वरूप है। मन का ज्योति रूप ही आदित्य है। जहाँ जितना मन है उतना ही द्युलोक है और आदित्य भी उतना ही है।[591]

3.7 अग्नि का देवत्व प्रतिपादन : कठोपनिषद् में अग्नि देवता का स्थान दो अरणियों के बीच बताया गया है; क्योंकि दो अरणियों के परस्पर घर्षण पूर्वक अग्नि की उत्पत्ति होती है। अरणियों से उत्पन्न इस अग्नि को ही दावाग्नि के नाम से जाना जाता है। समान्यतः दावाग्नि का अर्थ है जगंल की आग। जगंल से यहाँ लकड़ी अभिलक्षित है। अतः लकड़ी से उत्पन्न अग्नि को दावाग्नि समझनी चाहिए। अग्नि का दूसरा रूप वाड़वाग्नि है, जो कि समुद्र की अग्नि का नाम है। समुद्र शब्द भी जल का अभिलक्षक है। अन्तरिक्षीय विद्युत् भी वाड़वाग्नि में परिगणित होता है। अग्नि का तीसरा प्रकार जठराग्नि है, जो कि पेट की अग्नि है। कठोपनिषद् में दो अरणियों के बीच स्थित अग्नि को जातवेदा कहा गया है।[592] यही अग्नि का अधिदैवत रूप है।[593] ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में मुख से अग्नि की उत्पत्ति बतायी गयी है। इसलिए मुख में स्थित वाक् ही अग्नि का अध्यात्म रूप है।[594]

केनोपनिषद् के तृतीय खण्ड में अग्नि के देवत्व स्वरूप का उल्लेख प्राप्त हुआ है। जिसमें दिखाया गया है कि अग्नि देवता में अपनी दाहकत्व शक्ति के कारण अहंकार आ जाता है। चूँकि अहंकार ही पुरुष के पतन का कारण होती है। अतः अग्नि देवता के पतन को रोकने के लिए ब्रह्मदेव ने निश्चय किया। ब्रह्मदेव ने एक यक्ष का रूप धारण करके अग्नि के सम्मुख प्रकट होकर पूछा कि हे अग्नि ! तुम्हारी सामर्थ्य क्या है? अग्नि ने कहा कि मेरी सामर्थ्य यह है कि पृथिवी पर जो कुछ भी है उसे मैं जला सकता हूँ। तब ब्रह्मदेव ने अग्नि के सम्मुख एक तिनका रख दिया और कहा कि इसे जलाओ। अग्नि ने अनेकों बार तिनके

---

[591] अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्यस्तद्यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ। -बृ.उ.1.5.12

[592] अरण्योर्निहितो जातवेदा। -कठ.उ.2.1.8

[593] अग्न्यादयोऽधिदैवं।- वहीं,2.1.9, शां.भा.

[594] वागादयश्च अध्यात्म। - वहीं,2.1.9, शां.भा.

को जलाने की प्रयास किया। किन्तु जला नही सका और लज्जित होकर वापस चला गया।[595]

ईशावास्योपनिषद् का 18 वाँ मन्त्र अग्नि देवता को सम्बोधित है। यहाँ अग्नि सम्बोधन अग्नि के अधिष्ठातृ देवता या प्रकाशक ब्रह्म के लिए है।[596] शंकराचार्य ने केवल अग्नि ही लिखा है। यह अग्नि देवता उपासक को मुक्ति के लिए दक्षिण मार्ग से निवृत्त कर उत्तरायण मार्ग से ले जाने में समर्थ है। यह अग्नि के अधिष्ठातृ देवता प्राणियों के पूर्वकृत कर्म और ज्ञान को भी जानने वाला है।[597]

वैश्वानर शब्द का प्रयोग अग्नि के अधिदैवत रूप के अर्थ में होता है, *'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम् राजा हि कं भुवनानामभिश्री:'*[598] अर्थात् हमें वैश्वानर की सुमति में रहना चाहिए; क्योंकि वह सुख देने वाला भुवनों का राजा है।[599] इस श्रुति से ज्ञात होता है कि कोई चेतन पुरुष है, जो हमें सद्बुद्धि देने वाला है। हमें हितकार्यों से जोड़ने वाला है। ऐसा केवल अग्नि का अधिदैवत रूप हो सकता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में एक गार्ग्य गोत्र उत्पन्न पुरुष की चर्चा हुई है, जो अपने को ब्रह्मज्ञानी होने का दावा करता है। गार्ग्य ने काशीराज अजातशत्रु से कहा कि इस अग्नि में जो पुरुष दिखायी देता है। मैं उसी की ब्रह्म के रूप में उपासना करता हूँ। यह अग्नि विषासहि है; क्योंकि इस अग्नि में जो कुछ भी छोड़ा जाता है। उसे भस्म करके सहन कर लेता है। इस प्रकार अग्नि की उपासना करने वाला पुरुष भी विषासहि होता है। आचार्य शंकर ने अग्नि, वाक् और हृदय में एक ही देवता का निवास माना है।[600]

बृहदारण्यक उपनिषद् में अग्नि, वायु और आदित्य को प्रजापति से उत्पन्न हुआ कहा गया है।[601] उस प्रजापति ने अपने को अग्नि, वायु और आदित्य आदि तीन भागों में विभक्त किया और तीनों को महत्त्व प्रदान करने के लिये अग्नि को भी, वायु को भी और आदित्य

---

[595] केन.उ.3.3-6
[596] ईशा.उ.18, तारणीश
[597] अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। -ईशा.उ.18
[598] ऋ.सं.1.98.1
[599] ब्र.सू.पृ.510
[600] अग्नौ वाचि हृदि चैका देवता। -बृ.उ.2.1.7, शां.भा.
[601] वहीं,1.2.3, शां.भा.

को भी तीसरा ही बनाया। यह प्रजापति ही सम्पूर्ण भूतों का आत्मा है और इसे ही प्राण कहा जाता है। या कहें कि सभी भूतों का आत्मा होने से प्राण ही प्रजापति है।[602] अर्थात् यह प्राण ही मृत्यु रूप से अग्नि, वायु एवं आदित्य रूप में तीन हो गया।[603] इस प्रकार ऋषि ने अग्नि, वायु आदित्य को प्राण से उत्पन्न हुआ बताने के बाद अग्नि के विराट् स्वरूप का वर्णन किया है। उस विराट् अग्नि का पूर्वा दिशा सिर है। ईशान्या और आग्नेया दिशाएँ उसकी भुजाओं के समान हैं। अग्नि की पश्चिमा दिशा पुच्छ भाग के समान है। वायव्या और नैऋत्या दिशाएँ जंघाओं के समान हैं। दक्षिणा और उत्तरा दिशाएँ पार्श्व भाग हैं। द्युलोक इस विराट् अग्नि की पीठ है। अन्तरिक्ष उदर तथा पृथिवी इसका हृदय है।[604]

इससे स्पष्ट होता है कि प्राण का अधिष्ठातृ देवता प्रजापति है। यह प्राण ही अग्नि, वायु और आदित्य का उपादान कारण है; क्योंकि प्राण मृत्यु रूप से ही इन तीनों की रचना की। उपादान कारण में कारण स्वयं नष्ट होकर कार्य की उत्पत्ति करता है। जैसे मिट्टी स्वयं नष्ट होकर घट को उत्पन्न करती है। अर्थात् प्राण ही अग्नि, वायु और आदित्य है। इस उपनिषद् में अग्नि के विराट् स्वरूप का भी उल्लेख हुआ है, जिसमें अग्नि को पूर्व दिशा में सिर और पश्चिम दिशा में पैर करके लेटे हुए पुरुष के रूप में कल्पित किया गया है। यह पुरुष पेट के बल लेटा हुआ है। जिसके कारण ऊर्ध्व में समानता के कारण द्युलोक उसके पृष्ठ भाग के समान है। पृथिवी हृदय के समान है। अवकाश की समानता होने से अन्तरिक्ष ही विराट् अग्नि का उदर है।

3.8 वायु का देवत्व प्रतिपादन : केनोनिपषद् के तृतीय खण्ड में यक्ष उपाख्यान के अन्तर्गत वायु के देवत्व होने का उल्लेख प्राप्त होता है। देवताओं ने मिलकर वायु देवता से कहा कि वायु तुम जाकर देखो कि यह यक्ष कौन है? उसका परिचय प्राप्त करके आओ। वायु देवता यक्ष के पास गया। यक्ष ने पूछा कि तुम कौन हो? वायु ने कहा कि मैं वायु हूँ। मुझे लोग मातरिश्वा अर्थात् अन्तरिक्ष में गमन करने वाले के रूप में जानते हैं। यक्ष ने

---

[602] वहीं,1.2.3, शां.भा.

[603] स एष प्राण: सर्वभूतानामात्मापि अग्निवाय्वादित्य रूपेण विशेषत: स्वेनैव मृत्यवात्मना त्रेधा विहितो विभक्तो। - वहीं,1.2.3, शां.भा.

[604] स त्रेधात्मानं व्यकुरुतादित्यं तृतीयं वायु तृतीयं स एष प्राणस्त्रेधा विहित:। तस्य प्राची दिक्शिरोऽसौ चासौ चेमौ। अथास्य प्रतीची दिक्पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ।दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे द्यौ: पृष्ठमन्तरिक्षम् उदरमियमुर: । स एषोऽप्सु: प्रतिष्ठितो यत्र क्व चैति तदेव प्रतिष्ठित्येवं विद्वान्।- वहीं,1.2.3

पूछा कि तुम्हारी सामर्थ्य क्या है? वायु ने कहा कि मैं पृथिवी पर जो कुछ है उन सभी को ग्रहण कर सकता हूँ। यक्ष ने वायु के सम्मुख एक तिनका रखकर कहा कि इसे ग्रहण करो। वायु ने अनेक बार तिनके को ग्रहण करने की कोशिश की, किन्तु ग्रहण नहीं कर सका, और लज्जित होकर वापस लौट गया। आचार्य शंकर ने वायु शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि *'वानाद् गमनाद् गन्धनाद्वा वायुः'।*[605]

3.9 इन्द्र देवता का उल्लेख : कौषीतकि उपनिषद् में एक इन्द्र प्रतर्दन आख्यायिका का उल्लेख हुआ है। जिसमें इन्द्र अपने को प्राण कहा है। प्रज्ञात्मा को भी अपना स्वरूप बताया है। इन्द्र कहता है- *'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्वायुः'*[606] अर्थात् मैं प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा हूँ, मेरी आयुष् और अमृत रूप से उपासना करो।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी इन्द्र को वर्षा का देवता कहा गया है। इन्द्र और यज्ञ के बीच परस्पर सम्बन्ध होता है। यज्ञ से इन्द्र की वृद्धि होती है। अर्थात् यज्ञ से वर्षा होती है। इस प्रकार समझना चाहिए। इस प्रकार वर्षा आदि के द्वारा इन्द्र भी मनुष्यादि प्राणियों को प्रसन्न करता है।[607]

ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार परमात्मा ने पुरुष के मूर्धा को विदीर्ण करके जीव रूप में प्रवेश किया था। इसलिए जीव रूप में उस देवता का नाम इदन्द्र है। इदम् शब्द ब्रह्म के लिये प्रयोग होता है। मूर्धा को विदीर्ण करके प्रविष्ट हुआ था। इसलिए उसका नाम इदन्द्र हुआ। इस प्रकार इदन्द्र नाम होने पर भी देवता और ऋषि उसे परोक्ष रूप से इन्द्र कहते हैं। इसीलिये देवताओं को परोक्ष प्रिय माना जाता है।[608] क्योंकि देवता उनसे बड़े होने के कारण सीधे नाम नहीं लेते हैं। वे अप्रत्यक्ष रूप से इन्द्र कहकर परमात्मा का आह्वान करते हैं। ऐसा व्यवहार में भी देखा जाता है कि लोग अपने से बड़ों का नाम लेकर नहीं पुकारते हैं; क्योंकि बड़े लोग अप्रत्यक्ष रूप से अपना नाम लिया जाना पसन्द करते हैं।

---

[605] केन.उ.3.10, शा.भा

[606] कौ.उ.3.2

[607] देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। -भग.गी. 3.11

[608] तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम। तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः। -ऐ.उ.1.3.14

केनोपनिषद् के तृतीय खण्ड में इन्द्र का देवत्व प्रतिपादित किया गया है। यक्ष उपाख्यान में उल्लेख है कि एक बार यक्ष अग्नि देवता, वायु देवता और इन्द्रदेवता के अभिमान को कम करने के लिए परीक्षा लेने आया। उस परीक्षा में अग्नि देवता और वायु देवता फेल हुए और लज्जित होकर वापस चले गये। तत्पश्चात् इन्द्र को श्रेष्ठ समझकर देवताओं ने यक्ष को समझने के लिए इन्द्र को भेजा कि जाओ पता लगाकर आओ कि यह यक्ष कौन है? तत्पश्चात् इन्द्र यक्ष के पास गया। किन्तु यक्ष इन्द्र को बात करने का भी अवसर नहीं दिया और अन्तर्धान हो गया।[609] शंकराचार्य ने लिखा है कि *'इन्द्रः परमेश्वरो मघवा बलवत्त्वात्'*[610] अर्थात् बलवान् होने के कारण इन्द्र को मघवन् भी कहा जाता है।

ऋषि कहते हैं कि दक्षिण नेत्र में जो पुरुष है, उसका इन्ध नाम है। इस पुरुष को ही परोक्ष रूप से इन्द्र कहा जाता है। इसके पहले ऋषि ने कहा था कि आदित्य में रहने वाला पुरुष और नेत्र में रहने वाला पुरुष एक ही है। अत: दक्षिण नेत्र में उस पुरुष की विशेष स्थिति मानी गयी है।[611] इसी प्रकार वाम नेत्र में जो पुरुष होता है। उसे इन्द्र की पत्नी विराट् कहते हैं। यह अन्न होने से इन्द्र की भोग्या होती है।[612]

3.10 विद्या देवी का स्वरूप : केनोपनिषद् में यक्षोपाख्यान के अन्तर्गत आया है कि जब देवताओं ने यक्ष को नहीं जान सके तब इन्द्र देवता यक्ष के पास गये। किन्तु यक्ष ने इन्द्र से बात नहीं किया और अन्तर्धान हो गया तब कुछ देर इन्द्र ने प्रतीक्षा की। तब विद्या की अधिष्ठातृ देवी इन्द्र के सम्मुख प्रकट हुई और इन्द्र से बोली कि यह ब्रह्म थे। उन्हीं की विजय से तुम लोग विजयी हुए हो। तब इन्द्र ने जाना कि वह ब्रह्म थे। यक्ष को ब्रह्म रूप में इन्द्र ने सर्वप्रथम जाना। इसलिए इन्द्र देवताओं में श्रेष्ठ हुए।

इस यक्षोपाख्यान में विद्या देवी के स्वरूप पर भी किञ्चित् विचार किया गया है। विद्यादेवी इन्द्र के सम्मुख एक सुन्दर स्त्री के रूप में अवतरित हुई थी, जो कि हिमालय

---

[609] केन.उ.3.11

[610] वहीं,शां.भा.

[611] इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तं वा एतमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवा: परोक्षद्विष:। -बृ.उ.4.2.2

[612] अथैतद् वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषास्य पत्नी विराट् ....।। - वहीं,4.2.3

की पुत्री पार्वती (उमा) के समान दिखायी दे रही थी।[613] विद्या देवी उस समय सभी शोभायमान् वस्तुओं में सबसे अधिक शोभा सम्पन्न थी। इसलिए उनके लिए 'बहुशोभामाना' विशेषण का प्रयोग किया गया है। इस मन्त्र में विद्यमान् 'हेमवती' शब्द का अर्थ सुवर्ण आभूषणों वाली के समान अत्यंत शोभामयी अर्थ भी किया गया है।

3.11 ब्रह्म का अधिदैवत रूप : केनोपनिषद् में वर्णित यक्ष उपाख्यान में ब्रह्म ने यक्ष का रूप धारण करके अग्नि, वायु और इन्द्र देवता की सामर्थ्य की परीक्षा ली थी। आचार्य शंकर ने केनोपनिषद् के खण्ड तीन का भाष्य प्रारम्भ होने से पहले भूमिका के रूप में भाष्य लिखा है। वहाँ उन्होंने बताया है कि जो ब्रह्म यक्ष के रूप में प्रादुर्भूत हुआ था। वह ब्रह्म परमात्मा का प्रतीक है। इसलिए यहाँ ब्रह्म शब्द का परमात्मा अर्थ लिया जाना चाहिए। जो भी हो, किन्तु केनोपनिषद् के अनुसार ब्रह्म ने ही यक्ष का रूप धारण किया था। वही ब्रह्म का अधिदैवत रूप है। प्रादुर्भूत होते समय वह बिजली के समान चमक लेकर प्रकट हुआ था। जैसे बिजली क्षण भर में गायब हो जाती है, वैसे ब्रह्म भी अन्तर्धान हो गया।[614] इस पर भाष्य लिखते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है कि जिस प्रकार बिजली सघन अन्धकार को विदीर्य करके सब ओर प्रकाशित होती है। उसी प्रकार वह ब्रह्म देवताओं के सामने सब ओर प्रकाशयुक्त होकर व्यक्त हुआ।[615]

यह परमात्मा ऊपर-नीचे, इधर-उधर सभी दिशाओं को प्रकाशित करने वाला है। इसका स्वभाव ही प्रकाशक है। सूर्य के समान जहाँ भी होता है। वहाँ वस्तुओं को प्रकाशित करता है।[616] शासक के रूप में इस परमात्मा को एक देश के प्रधानमंत्री के समान समझा जा सकता है, जो अपने प्रतिनिधि के रूप में प्रत्येक क्षेत्र में अपने सेवकों को नियुक्त करता है।

---

[613] विद्या उमारूपिणी प्रादुर्भूत्स्त्रीरूपा।-केन.उ.3.11, शां.भा.

[614] तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युत्रदा इतीन्यमीमिषदा इत्यधिदैवतम्।-वहीं,4.4

[615] विद्युदिव सहसैव प्रादुभूतं ब्रह्म द्युतिमन्तस्माद्विद्युतो विद्योतनं यथा यदेतद्ब्रह्म, यथा घनान्धकारं विदार्य विद्युत्सर्वतः प्रकाशत एवं तद्ब्रह्म देवानां पुरतः सर्वतः प्रकाशवद्व्यक्तीभूतमतो।- वहीं,4.4, शां.भा.

[616] सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्प्रकाशयन्भ्राजते यद्वनड्वान्। एवं स देवो भगवान्वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येक:।-श्वे.उ.5.4

3.12 देवयान मार्ग के अभिमानी देवता : जो गृहस्थ पुरुष इस पञ्चाग्नि विद्या को जानता है और अपने आश्रम धर्मों का पालन करता है। वह मृत्यु के पश्चात् देवयान मार्ग को प्राप्त होता है। वह सर्वप्रथम ज्योति के अभिमानी देवता को प्राप्त होता है। फिर दिन के अभिमानी देवता को प्राप्त होता है। फिर शुक्लपक्ष के अभिमानी देवता को, उसके बाद उत्तरायण के अभिमानी देवता को प्राप्त होता है। उसके पश्चात् देवलोक को प्राप्त होते हैं। देवलोक से आदित्य को, आदित्य से विद्युत् सम्बन्धी देवता को प्राप्त होते हैं। आचार्य कहते हैं कि उन विद्युत् के अभिमानी देवताओं के पास एक मानस पुत्र आकर उस पुरुष को ब्रह्मलोक में ले जाता है।[617] इस प्रकार हम देखते हैं कि पञ्चाग्निविद्या का ज्ञाता पुरुष सर्वप्रथम प्रकाश के अभिमानी छोटे देवता से बड़े देवताओं को प्राप्त होता है। इस क्रम में ज्योति के अभिमानी देवता सबसे छोटे सिद्ध होते हैं और विद्युत् सम्बन्धी देवता आदित्य देवता से भे अधिक श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं। किसी मानस देवता का आकर पुरुष को ब्रह्मलोक ले जाने का यह भी अर्थ हो सकता है कि जीवात्मा ब्रह्म की इच्छा से ही ब्रह्मलोक को जा सकता है। स्वयं नहीं जा सकता है। इसीलिए केनोपनिषद् में कहा गया है कि *'आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दते अमृतम्'।*[618] अर्थात् आत्मा की इच्छा से ही आत्मज्ञान हो सकता है। इस प्रकार प्रकाश मार्ग का वर्णन किया गया। जो पुरुष ज्ञान की उपासना करता है, उसे इस उपर्युक्त देवयान मार्ग के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

3.13 शुक्लमार्ग के अभिमानी देवता : वेद में अग्नि और ज्योति दो प्रसिद्ध देवता हैं। इन दोनों देवताओं को काल का अभिमानी देवता माना जाता है। अभिमानी देवता का अर्थ है 'स्वामित्व'। जैसे सृष्टि का अभिमानी देवता ब्रह्मा है। ब्रह्मा इस सृष्टि के स्वामी हैं। शरीर होने से सम्पूर्ण सृष्टि पर उनका अधिकार है। इसलिए सृष्टि के अभिमानी देवता हैं। इसी प्रकार शुक्लमार्ग के अभिमानी देवताओं का भी उल्लेख है। ये सभी देवता अपने उसी नाम से जाने जाते हैं। जैसे दिन का देवता, शुक्लपक्ष के देवता, उत्तरायण के देवता आदि शुक्लमार्ग के अभिमानी देवताओं का उल्लेख है।[619] यह सृष्टि एक राज्यशासन के समान है। जिसका मुखिया हिरण्यगर्भ प्रजापति सम्पूर्ण सृष्टि का अध्यक्ष है और वह सृष्टि के छोटे क्षेत्रों को अभिमानी देवता को दे रखा है। जैसे सूर्य का अभिमानी

---

[617] बृ.उ.6.2.15
[618] केन.उ.2.4
[619] भग.गी. 8.24

देवता आदित्य, चन्द्रमा का अभिमानी देवता, दिन का अभिमानी देवता, उत्तरायण का अभिमानी देवता, रात्रि का अभिमानी देवता, दक्षिणायन का अभिमानी देवता, पुरुष के शरीर में विद्यमान् इन्द्रियों अभिमानी देवता आदि। ये सभी देवता अपने अधिकार क्षेत्र में कार्य करते हैं। आदित्य अपना कार्य दिन-रात्रि करता है। चन्द्रमा समय से उदय और अस्त होकर पृथिवी पर प्राण का संचार करता है। किन्तु ये सभी अभिमानी देवता एक हिरण्यगर्भ के प्रशासन में कार्य करते हैं और यह हिरण्यगर्भ भी ब्रह्म के प्रशासन में कार्य करता है।

इस प्रकार सभी देवता अपने क्षेत्र की विशालता और कनिष्ठता के क्रम में ज्येष्ठ एवं कनिष्ठ माने जाते हैं। जैसे ऋग्वेद में सम्वाद सूक्तियों के अन्तर्गत वाक्-मनस् सम्वाद सूक्ति में वाक् और मनस् का विवाद देखा जाता है। दोनों अपने को एक दूसरे से श्रेष्ठ सावित करना चाहते हैं। वाक् अपने को मनस् से श्रेष्ठ बताती है। तो मनस् अपने को वाक् से श्रेष्ठ कहता है। दोनों के बीच कलह इतना बढ़ गया कि दोनों अपने स्वामी ब्रह्मा के पास निर्णय के लिये गये। ब्रह्मा जी ने दोनों के विचारों को सुना और मनस् के पक्ष में अपना निर्णय सुनाया। जिससे वाणी बहुत दु:खी हुई। मनस् की श्रेष्ठता इसलिए है; क्योंकि वाणी मन की सहायता से बोलती है। इसी प्रकार कठोपनिषद् में भी आया है कि *'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्यचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत'।*[620] इसी प्रकार प्राण के सन्दर्भ में भी एक उल्लेख प्राप्त होता है कि जब प्राण ऊपर उठने लगता है तो सभी इन्द्रियाँ ऊपर उठने लगती हैं। जब प्राण नीचे आता है तब सभी इन्द्रियाँ भी नीचे बैठने लगती हैं। इससे प्राण के अभिमानी देवता की श्रेष्ठता सिद्ध होती है और सभी इन्द्रियाँ प्राण की स्तुति करती हैं।

ईशावास्योपनिषद् में एक 'सुपथा' शब्द का प्रयोग हुआ है। विद्वानों ने इस सुपथा का अर्थ सुन्दर मार्ग किया है। यह सुन्दर मार्ग क्या है और किस दृष्टि से सुन्दर कहा गया है? शंकराचार्य ने सुपथा का अर्थ दक्षिणमार्ग की निवृत्ति तथा एक ऐसा मार्ग जो शुभ हो और मोक्षदायक हो किया है। इस प्रकार के शुभमार्ग से जाने वाला पुरुष मुक्ति को प्राप्त करता है।[621] श्रीमद्भगवद्गीता में प्रकाशमार्ग और अन्धकारमार्ग का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। जिसमें कहा गया है कि अग्नि के देवता, ज्योति (प्रकाश) के देवता, दिन के

---

[620] बृ.उ.3.8.9

[621] सुपथेति विशेषणं दक्षिणमार्ग निवृत्त्यर्थम्। -ईशा.उ.18, शां.भा.

देवता, पक्ष का देवता और उत्तरायण के देवता प्रकाश के देवता हैं। प्रकाश का मार्ग इन्हीं देवताओं के अधिकार में है।[622] इन देवताओं के मार्गों से जाने वाला पुरुष क्रमशः ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार कृष्णमार्ग का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि धूमाभिमानी देवता, रात्रि का अभिमानी देवता, कृष्णपक्ष के देवता और दक्षिणायन मार्ग अभिमानी देवता ये सभी अन्धकार मार्ग के देवता कहे गये हैं। इस प्रकार के मार्ग से जाने वाले पुरुष चन्द्रलोक को प्राप्त करते हैं। वहाँ वे अपने पुण्यकर्मों का सुख भोगकर पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं।[623] श्रीमद्भगवद्गीता के अगले श्लोक में प्रकाशमार्ग तथा अन्धकारमार्ग से जाने के फल का निर्देश है। जिसमें कहा गया है कि शुक्लमार्ग से गया हुआ पुरुष पुनः लौटकर नहीं आता है। जबकि कृष्णमार्ग से गया हुआ पुरुष पुनः लौट आता है।[624]

3.14 कृष्ण मार्ग के अभिमानी देवता : जो पुरुष कर्म की उपासना करता है। वह धूमयान मार्ग को प्राप्त करता है। श्रुति का दृढ़ मत है कि ज्ञान से ही मुक्ति संभव है, कर्म से नहीं। अत: जो पुरुष श्रुति सम्मत यज्ञ, दान और तप किया करता है। वह मृत्यु के पश्चात् सर्वप्रथम धूम के अभिमानी देवता को प्राप्त होता है। धूम से रात्रि देवता को, रात्रि से कृष्णपक्ष के अभिमानी देवता को प्राप्त होता है। कृष्णपक्ष से दक्षिणायन के देवता को प्राप्त होता है। दक्षिणायन से पितृलोक को, पितृलोक से चन्द्रमा के अभिमानी देवता को प्राप्त होता है। आचार्य कहते है कि चन्द्रमा को प्राप्त होकर वह पुरुष अन्न हो जाता है। उस अन्न का देवता गण भक्षण किया करते हैं। वे सभी अन्न को प्राप्त हुए पुरुष अपने कर्मानुसार यथा समय रहते हैं। फिर कर्म के क्षीण होने पर आकाश को प्राप्त हो जाते हैं। फिर आकाश से वायु को, वायु से वृष्टि को प्राप्त होते हैं। पुन: वृष्टि से पृथिवी को प्राप्त होकर अन्न हो जाते हैं। उस अन्न का पुरुष रूप अग्नि में होम किया जाता है। उस होम से उत्पन्न वीर्य का स्त्री रूप अग्नि में हवन किया जाता है। फिर वह पुरुष के रूप में उत्पन्न होता है।[625]

---

[622] भग.गी. 8.24
[623] वहीं, 8.25
[624] वहीं, 8.26
[625] बृ.उ.6.2.16

तात्पर्य यह है कि यज्ञ, दान, तप के द्वारा पुरुष मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सकता है, अपितु उसे पुन: एक मार्ग विशेष से लौट आना पड़ता है। जो पुरुष इन दोनों मार्गों को जानते हैं, वे इनमें से किसी न किसी एक मार्ग को प्राप्त होते हैं। जो नहीं जानते है, वे कीट, पतंग, सूक, मच्छर आदि हो जाते हैं।

3.15 चेतन तत्त्व की देव रूप में कल्पना : केनोपनिषद् के मन्त्र में ऋषि ने अपना किञ्चित् अनुमान भी दिया है। उनके मत में निश्चय ही कोई देवता होगा जो इन सभी इन्द्रियों का अधिष्ठाता है; क्योंकि इन इन्द्रियों में विषय को प्रकाशित करने के लिए जो प्रकाश होता है, वह स्वयं अपना प्रकाश नहीं है; क्योंकि सभी इन्द्रियाँ अचेतन हैं। लेकिन ये इन्द्रियाँ चेतन के समान अपने विषय को प्रकाशित करती हैं। फिर इन्द्रियों में वह चेतनता कहाँ से आती है। क्या कोई चेतन प्रकाश का देवता है? जिससे सामर्थ्य प्राप्त करके इन्द्रियों में प्रकाशित करने की शक्ति आती है। इस प्रकार केनोपनिषद् में अनेक प्रकार के प्रश्नों के द्वारा उस कारण देव की ओर संकेत किया गया है।[626]

3.16 जीवात्मा का देवत्व प्रतिपादन : कठोपनिषद् में एक स्थान पर जीवात्मा को बुद्धि रूपी गुहा में स्थित बताया गया है। वैसे यह एक प्रश्न हो सकता है कि जीवात्मा की शरीर में स्थिति कहाँ होती है? क्या जीवात्मा पूरे शरीर में व्याप्त रहता है अथवा किसी एक स्थान पर स्थित हुआ पूरे शरीर को प्रकाशित करता है? इसी विषय में कठोपनिषद् में कहा गया है कि यह जीवात्मा बुद्धि रूपी गुफा में निवास करता है। जिसे बहुत कठनिता से देखा जा सकता है। वह एक पुरातन देवता है। अध्यात्म योग के द्वारा ही उस देवता को जाना जा सकता है। अध्यात्म योग का अर्थ चित्त को अन्तर्मुखी करके आत्मा में लगाना।[627]

3.17 आत्मा का देवत्व प्रतिपादन : कठोपनिषद् में एक स्थान पर आत्मा के लिए भी देव शब्द का प्रयोग किया गया है। यमराज ने नचिकेत को आत्मा विषयक ज्ञान देते हुए उस आत्मा को गति रहित और गतियुक्त दोनों बताते हैं। वह कहते है कि यह आत्मा एक जगह स्थिर होकर भी सब जगह पहूँचनें वाला है। यह सोता रहता है फिर

---

[626] चक्षुश्रोत्रं क उ देवो युनक्ति।-केन.उ.1

[627] गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं।-कठ.उ.1.2.12, शां.भा.

भी दूसरी जगह पहुँच जाता है।[628] उपनिषद् प्रायः आत्मा के विषय में इस प्रकार की विरोधी धर्मों का कथन करती रहती है। ऐसी जगहों पर ब्रह्म और अपर ब्रह्म दो दृष्टियों से कहा जाता है। गतिशीलता, शयन करना आदि अपर ब्रह्म की विशेषताएँ है। इन धर्मों से विपरीत होना ही परब्रह्म है। इसी भाव को ईशोपनिषद् में भी व्यक्त किया गया है।[629] कठोपनिषद् में एक देवतामयी अदिति का उल्लेख आया है। यह अदिति बुद्धि रूपी गुफा में रहने वाली है।[630]

किसी पदार्थ में अधिदैवत भाव रखने का अर्थ है कि उसमें देवत्व की दृष्टि रखना। अर्थात् अचेतन पदार्थों में चेतन दृष्टि रखना। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में वायु में अधिदैवत दृष्टि देखी जा सकती है। इसमें कहा गया है कि जिस समय जल सूखता है तो वायु में ही लीन हो जाता है। वायु ही इन्हें अपने में लीन कर लेता है। यहाँ 'लीन कर लेता है' आदि चेतन के धर्म का आरोप किया गया है।[631] अत: कहा जा सकता है कि अचेतन में चेतन के धर्मों का आरोप करके चेतनवत व्यवहार करना ही अधिदैवत उपासना कही जाती है। अधिदैवत उपासना में यह आवश्यक नहीं है कि पुरुष के समान उसके सभी अंगों की भी कल्पना की जाय। कहीं-कहीं अधिदैवत उपासना में पुरुष के कुछ ही अंगों की गयी होती है।

अध्यात्म दर्शन के समान देवताओं ने भी व्रत धारण किया। जैसे अग्नि ने व्रत लिया कि मैं सदैव जलता ही रहूँगा। सूर्य ने निश्चय किया कि मैं सदैव तपता ही रहूँगा। चन्द्रमा ने सोचा कि मैं प्रकाशित होता रहूँगा। इसी प्रकार अन्य देवताओं ने भी जिसका जो कर्म था, अपने उस कर्म के अनुसार व्रत धारण किया। किन्तु सभी देवगण मृत्यु से युक्त हो गये। इसीलिए सूर्य, चन्द्र दिन के अन्त में अस्त हो जाते हैं। अग्नि भी बुझ जाती है। किन्तु उनमें से एक देवता वायु मृत्यु से युक्त नहीं हुआ। इसलिए वह सदैव चलता रहता है।[632] अध्यात्म दर्शन में प्राण मृत्यु से युक्त नहीं हुआ। अत: अधिदैवत दर्शन में वायु अमृत है और अध्यात्म दर्शन में प्राण अमृत है। अत: सभी देवता इसी की उपासना करते हैं। प्राण

---

[628] असीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति।-कठ.उ.1.2.21

[629] तदेजति तन्नैजति...।। -ईशा.उ.5

[630] या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी।। -कठ.उ.2.1.7

[631] यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्तिवायुर्ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्त इत्यधिदैवतम्। -छा.उ.4.3.2

[632] अथाधिदैवतं ....देवता यद्वायुः। -बृ.उ.1.5.22

का अधिदैवत रूप वायु है। सूर्य वायु के ही अधीन रहता है। इस वायु या प्राण से उदित होता है और प्राण में ही अस्त होता है।[633]

3.18 महाभूतों के अधिष्ठातृ देवता : उपनिषद् में महाभूतों के अधिष्ठातृ देवताओं का कथन है। जैसे पृथिवी की अधिष्ठातृ देवी पृथिवी देवता हैं। पृथिवी जिनका शरीर है। पृथिवी देवता पृथिवी को नियन्त्रित करती हैं। किन्तु पृथिवी अपनी आत्मा को उसी प्रकार नहीं जानती हैं। जैसे पुरुष अपने को नहीं जानता है। पृथिवी स्वयं अपने को नहीं जानती है; क्योंकि वह पृथिवी देवता चेतन रूप में ब्रह्म है। पृथिवी का वास्तविक नियन्त्रक यह ब्रह्म ही है।[634] इसी प्रकार आकाश, वायु, अग्नि और जल आदि के भी देवता होते हैं, जो उनके अधिष्ठातृ के रूप में जाने जाते हैं। ये देवता ही महाभूतों के नियन्त्रक हैं। 'भौतिक आकाश' आकाश देवता का शरीर है। 'भौतिक वायु' वायु देवता का शरीर है। 'भौतिक अग्नि' अग्नि देवता का शरीर है। 'भौतिक जल' जल देवता का शरीर है। इन देवताओं की आत्मा के रूप में ब्रह्म ही इन सबका अन्तर्यामी है।[635]

कणाद मुनि ने वायुलोक, सूर्यलोक, जल देवता आदि का कथन किया है। उनके मत में वायुलोक एक स्थान विशेष है। जहाँ पर निवास करने वाले प्राणियों का शरीर वायुवीय होता है। इसी प्रकार सूर्यलोक है, जहाँ के निवासियों का शरीर अग्नि से बना होता है। जल के देवता वरूण हैं। जललोक के निवासियों का शरीर जलीय होता है। किन्तु उन्होंने आकाश महाभूत के अधिष्ठातृ देवता का उल्लेख नहीं किया है। इन देवताओं का भी नियमन करने वाला अद्वैतब्रह्म है।[636]

इस प्रकार पृथिवी आदि महाभूतों का एक अधिदेवता सिद्ध होता है। किन्तु उन सभी अधिदेवताओं का अन्तर्यामी परमात्मा है। महाभूतों के अधिदेवता स्वयं अन्तर्यामी नहीं हो सकते हैं। यदि ऐसा होता तो पृथिवी की अधिष्ठातृ देवी स्वयं को 'मैं पृथिवी हूँ' इस प्रकार न जानती।[637] कहीं-कहीं रूप रहित अदृश्य अन्तर्यामी को शरीर और पैरों से युक्त

---

[633] यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छतीति प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति। -बृ.उ.1.5.23

[634] यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यां अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्थ पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः। - वहीं, 7.1.2

[635] य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूताणि योऽन्तरो यमयति। -ब्र.सू.पृ. 470

[636] अन्तर्याम्यधिदैवादिष तद्धर्मव्यपदेशात् ।- वहीं, पृ. 470

[637] पृथिवी देवता ह्यहमस्मि पृथिवीत्यात्मानं विजानीयात्।- वहीं,पृ.474

बताया गया है। जिससे भ्रम होता है कि भूताधिदेवता ही अन्तर्यामी हैं, ऐसा कथन किया गया है। किन्तु जहाँ भी अन्तर्यामी के लिए शरीर, हाथ, पैर आदि का उल्लेख है वहाँ अधिदेवताओं के शरीर, हाथ, पैर को ही उस अन्तर्यामी के अंग समझना चाहिए; क्योंकि अन्तर्यामी भूतात्माओं तथा अधिदेवतात्माओं की समष्टि रूप हैं। सभी अधिदेवतात्माओं का शरीर उस अन्तर्यामी परमात्मा का शरीर है।[638] इसीलिए परमात्मा को हजारों हाथों वाला, हजारों पादों वाला और हजारों शिरों वाला बताया गया है। इस विषय में शंकराचार्य कहते है- *'तत्कार्यकरणैरेव तस्य कार्यकरणवत्त्वोपपत्ते:'*[639] अर्थात् जिनका वह नियन्त्रण करता है, उनके शरीर और इन्द्रिय द्वारा ही वह शरीर और इन्द्रियों वाला ही होता है।

उपनिषद् में पृथिवी को भी चेतन माना गया है। पृथिवी का एक चेतन अधिष्ठातृ देवता है, जो चिन्मात्र प्रकाशवाला है, अमरण धर्मा है। इसी प्रकार पृथिवी तत्त्व प्रधान स्थूल शरीर में रहने वाला देव भी तेजोमय अमृतस्वरूप है। उपनिषद् कहती है कि ये दोनों ही पुरुष एक हैं। दोनों ही आत्मा पद वाच्य हैं।[640]

पृथिवी देवता पृथिवी की एक अधिष्ठातृ देवी हैं। भौतिक पृथिवी ही उस देवी का शरीर है। भौतिक पृथिवी रूप शरीर में रहने के कारण ही भौतिक पृथिवी उसका आयतन कही जाती है। अग्नि उस देवता की दर्शन शक्ति है। वह देवता अग्नि से अवलोकन का कार्य करता है। अत: अग्नि उसका लोक है। मन उसकी ज्योति है। ज्योति स्वरूप मन के द्वारा वह संकल्प विकल्प करता है। यही पृथिवी का अधिदैवत रूप है, जो कि केवल पृथिवी स्थानीय है। पृथिवी में रहने वाला एवं पृथिवी का अभिमानी देवता कहा जाता है। किन्तु इस देवता को शासित करने वाला ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने उसे अमृत शब्द से कहा है।[641]

उपनिषद् कहती है कि पृथिवी एक सजीव पिण्ड है। जिसे पृथिवी देवता के रूप में जाना जाता है। किन्तु उस पृथिवी देवता का भी नियमन करने वाला परमात्मा है। जिसे

---

[638] वे.सा.,व्या.आद्याप्रसाद मिश्र,पृ.45

[639] ब्र.सू.,शां.भा.,पृ.475

[640] अस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमय: पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमय: पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा इदममृतं इदं ब्रह्मेदं सर्वम्। -बृ.उ.2.5.1

[641] पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मन: परायणं स वै वेदिता स्यात् ...तस्य का देवता इत्यमृतमिति।- वहीं, 3.9.10

आत्मा, अन्तर्यामी और अमृत कहा जाता है। उस अमृत तत्त्व को पृथिवी भी नहीं जानती है। जैसे मनुष्य अपने भीतर स्थित परमात्म तत्त्व को नहीं जानता है। उसी प्रकार पृथिवी देवता भी अपने भीतर स्थित परमात्मा तत्त्व को नहीं जानती है।[642] यही स्थिति जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्युलोक, आदित्य, दिशा, चन्द्रमा, तारा, आकाश, तम, तेज आदि के विषय में भी समझना चाहिए।[643] अर्थात् उपर्युक्त प्रत्येक जलादि में उसका अधिष्ठातृ एक देवता निवास करता है। यह जल अग्नि आदि आधिभौतिक पदार्थ तत्तद् अधिदेवताओं के शरीर हैं। किन्तु उस अधिदेवता को भी नियमित करने वाला एक अन्तर्यामी पुरुष भी है। जिसे आत्मा कहा जाता है। वह आत्मा अमृत है। अधिदैवत पदार्थों में कहे जाने से यह अधिदैवत दर्शन है। इसी प्रकार सभी भूतों में वर्तमान रहने वाला जो सभी भूतों के भीतर है। सभी भूत जिसके शरीर हैं एवं भीतर रहकर जो सभी भूतों का नियमन करता है। वह आत्मा है और वह अमृत है।[644]

इसी प्रकार अध्यात्म दर्शन भी कहा गया है। प्राण, वाणी, नेत्र, श्रोत्र, मन, त्वक्, विज्ञान, वीर्य आदि आध्यात्मिक तत्त्वों का भी एक अधिष्ठातृ देवता बताया गया है, जो उन आध्यात्मिक तत्त्वों को नियमित करने वाले होते हैं। किन्तु उन देवताओं को भी नियमित करने वाला एक तत्त्व है। जिसे आत्मा कहा जाता है। वह आत्मा ही सबका अन्तर्यामी एवं अमृत स्वरूप है।

आयतन होने से इस देवता का शरीर भौतिक आकाश है। श्रोत्र रूप दर्शन शक्ति के द्वारा अवलोकन करता है। मन रूप ज्योति के द्वारा संकल्प-विकल्प करता है। अत: इसे आकाश का अभिमानी देवता कहा जाता है। याज्ञवल्क्य के अनुसार श्रोत्र में प्रतिश्रवण के रूप में रहने वाला एवं आकाश का देवता दोनों एक ही है। इस देवता का भी देवता दिशाएँ हैं;

---

[642] य: पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं य: पृथिवीमन्तरो यमत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत:।- वहीं, 3.7.3

[643] वहीं, 3.7.4-14

[644] य: सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदु: यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं य: सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष इत्यादि।- वहीं, 3.7.15

क्योंकि दिशाओं के द्वारा यह निष्पन्न होता है।[645] यह आकाश देवता प्राण ब्रह्म के चतुर्थ भेद के रूप में कहा गया है।

भौतिक जल ही जल में रहने वाले देवता का शरीर है। आचार्य शंकर के मत में वापी, कूप, तडाग आदि में जल देवता की विशेष स्थिति होती है। बुद्धि ही इसकी दर्शन शक्ति है और मन ज्योति है। याज्ञवल्क्य के मत में जल के अधिष्ठातृ देवता और वरुण देवता में भेद है; क्योंकि जल में रहने वाले देवता का भी देवता वरुण है। यह वरुण उस जल देवता का शासक है। वापी आदि के जल की निष्पत्ति में वरुण ही कारण है।[646] इस प्रकार यह जल देवता प्राण ब्रह्म का सप्तम भेद है।

3.19 विभिन्न देवताओं के रूप में परमात्मा का वर्णन : श्रीमद्भगवद्गीता

में कई स्थानों पर सर्वव्यापक अज्ञान शक्ति को आधिदैवत रूप दिया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में सर्वव्यापक अज्ञान शक्ति को माया शब्द से बोधित किया गया है। यह माया भगवान् विष्णु की वैष्णवी शक्ति है, जिसे त्रिगुणात्मिका कहा गया है। श्रीकृष्ण ने इस माया को अपनी ही शक्ति बताया है। जिसमें फँसकर जीव बार-बार पुनर्जन्म के चक्र में पड़ता रहता है।[647]

यह संसार एक ऐसे प्रशासन की भाँति है, जिसका एक मात्र शासक परमात्मा ब्रह्म है। वह ब्रह्म ही अपने द्वारा प्रतिष्ठित अनेक देवताओं के द्वारा भिन्न-भिन्न क्षेत्रों पर शासन करता है। ब्रह्म ने सर्वप्रथम ईक्षण करके लोकों का सृजन किया। ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार सर्वप्रथम उन्होंने अम्भ, मरीचि, मर और आप् इन चार लोकों की सृष्टि की। इन चारों लोकों की सृष्टि हो जाने के बाद उन-उन लोकों के प्रशासक लोकपालों की रचना की आवश्यकता हुई। फिर परमात्मा ने लोकों की रक्षा करने के लिए विराट् से लोकपालों की रचना की।[648]

---

[645] आकाश एव यस्य आयतनं श्रोत्रं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मन: परायणं स वै वेदिता स्यात्। ...तस्य का देवता इति दिश इति होवाच।- वहीं, 3.9.13

[646] आप एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मन: परायणं स वै वेदिता स्यात् । तस्य का देवता इति वरुण इति होवाच।- वहीं, 3.9.16

[647] दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया –भग.गी.7.24

[648] ऐ.उ.1.1.3

श्वेताश्वतर उपनिषद् में एक 'हर' संज्ञक देव का उल्लेख हुआ है, जो जीवात्मा का नियन्त्रक है।[649] यह देव परमात्मा ही है; क्योंकि अन्य उपनिषदों में परमात्मा को ही जीव का नियन्त्रक बताया गया है। अविद्या आदि का हरण करने से उस परमात्मा को हर के नाम से बताया गया है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में परमात्मा के लिए रुद्र शब्द का प्रयोग हुआ है।[650] और प्रार्थना के अवसर पर ऋषि ने हे रुद्र ! और हे गिरिशन्त ! इन दो सम्बोधनों का प्रयोग भी किया है। सम्बोधन वस्तुत: मूर्तिमान् चेतन तत्त्व के लिए ही किया जाता है। उस मूर्तिमान् परमात्मा के रुद्र स्वरूप की दो मूर्तियाँ हैं। एक घोरा रूप और दूसरी मंगलमयी रूप।[651] उनमें से मंगलमयी मूर्ति को शान्त और पुण्य प्रकाशिनी कहा गया है।[652] इसी मन्त्र में रुद्र देवता के लिए हे गिरिशन्त! सम्बोधन का प्रयोग आया है। जिसकी व्युत्पत्ति करते हुए शंकराचार्य ने लिखा है- *'हे गिरिशन्त गिरौ स्थित्वा शं सुखं तनोतीति।*[653] अर्थात् पर्वतों पर रहकर जो सुख का विस्तार करने वाला है। यहाँ रुद्र देवता की मूर्ति को पुण्य प्रकाशिनी कहा गया है। सम्भव है कि परमात्मा का यह रूप पुण्य कर्मों से प्राप्त होने वाले फलों को प्रकाशित करने वाला हो, और गिरिशन्त सम्बोधन से ज्ञात होता है कि रुद्र देवता पर्वतों में वास करने वाले हैं। पर्वतों पर निवास करने वाले प्राणियों के सुख समृद्धि के अधिष्ठातृ देवता हों। सम्भवत: परमात्मा के आक्रामक रूप को रुद्र शब्द से कहा गया है; क्योंकि आगे रुद्र के लिए गिरिशन्त: सम्बोधन का प्रयोग करके कहा गया है कि तुम जीवों की ओर फेंकने के लिए हाथ में जो बाण धारण किये रहते हो उसे मत फेंको।[654]

यहाँ शंकराचार्य ने गिरित्र शब्द का अर्थ किया है- *'गिरित्र गिरिं त्रायत' इति'।* अर्थात् पर्वत की रक्षा करने के कारण भगवान् गिरित्र हैं। इससे पता चलता है कि परमात्मा का रुद्र रूप पर्वतों की रक्षा करने वाला होता है। वह अपने हाथों में बाण भी धारण करता

---

[649] क्षरं प्रधानममृताक्षरं हर: क्षरात्मानावीशते देव एक:। -श्वे.उ.1.10

[650] वहीं,3.2-4

[651] तस्यैते तनुवौ घोरान्या शिवान्या।- वहीं, 3.5, शां.भा.

[652] या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी। तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि। - वहीं, 3.5

[653] वहीं, 3.5, शां.भा.

[654] यामिषु गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे। शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसी: पुरुषं जगत्॥- वहीं, 3.6

है। जिस जीव से पर्वतों को भय होता है। उन जीवों की ओर अपने बाणों को छोड़ते हैं। जिससे पर्वत निर्भय हो जाते हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में रुद्र के दक्षिण मुख की भी चर्चा हुई है। रुद्र देवता का यह मुख प्राणियों की रक्षा करने वाला है। इसलिए ऋषि रुद्र को सम्बोधित करते हुए दक्षिण मुख से अपनी रक्षा करने के लिए निवेदन करते हैं।[655] सम्भवत: रुद्र देवता दो मुखों वाले हैं। उनमें से दक्षिण मुख रक्षा करने वाला है। अथवा यह भी हो सकता है कि उत्तरदिशा का मुख अमृतत्त्व प्रदान करने वाला हो और दक्षिणदिशा का मुख कृष्णमार्गीय होने से पुनर्जन्म से बाँधने वाला हो। अर्थात् रुद्र देवता का दक्षिण मुख मृत्यु प्रदान करने वाला हो। जिसके कारण ऋषि उस मुख से बचने के लिए परमात्मा से प्रार्थना करता है। यही भाव आगे के मन्त्र से प्राप्त होता है। जिसमें ऋषि परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हे रुद्र ! तुम कुपित होकर हमारे पुत्र, पौत्र, आयु, गौ और अश्वों को क्षय न करना। हमारे वीर सेवकों का वध न करना।[656]

हिरण्यगर्भ सूक्ति के अनुसार हिरण्यगर्भ अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न हुआ प्रथम तत्त्व है। ऐसा माना जाता है कि सृष्टि के आरम्भ में अद्वैतब्रह्म से एक सुवर्णमय पिण्ड उत्पन्न हुआ था। फिर उस तेजस्वी पिण्ड से विराट् पुरुष की उत्पत्ति हुई। सुवर्णमय पिण्ड अत्यधिक चमकीले पीले वर्ण का होने से इसे कपिल ऋषि के नाम से जाना जाता है। किन्तु सांख्य दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल को इससे भिन्न समझना चाहिए।[657] ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्म से सर्वप्रथम उत्पन्न हुए सुवर्णमय पिण्ड हिरण्यगर्भ में वैदिक ज्ञान का अभाव था; क्योंकि इसी उपनिषद् में आगे कहा गया है कि जो प्रारम्भ में ब्रह्मा को रचता है। फिर उस ब्रह्मा के लिए वेदों को प्रेरित करता है।[658] वेद सृष्टि विज्ञान है। सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व ब्रह्म ने ब्रह्मा को सृष्टि विज्ञान रूप वेद को दिया। जिसके आधार पर ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना की।

---

[655] हे रुद्र ! यत्ते दक्षिणमुखमुत्साहजननं ध्यातमाह्लादकरम् । अथवा दक्षिणस्यां दिशि भवं दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यं सर्वदा।- वहीं, 4.21, शां.भा.

[656] वहीं, 4.22

[657] ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत। - वहीं, 5.2

[658] यो ब्राह्मणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। - वहीं, 3.6.18

श्वेताश्वतर उपनिषद् में इन्द्रादि देवताओं और हिरण्यगर्भ को उत्पन्न करने वाला रुद्र को बताया गया है। रुद्र तो यद्यपि परमात्मा ही है। फिर भी इन्द्रादि देवताओं तथा हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति के सन्दर्भ में परमात्मा के लिए रुद्र शब्द का प्रयोग अपना महत्त्व रखता है।

इन्द्रिय देवता रूप प्रजाओं का नियन्त्रक होने के कारण मुख्यप्राण की प्रजापति संज्ञा है। उपनिषद् में इस प्रजापति को 16 कलाओं वाला बताया गया है। जिनमें 15 रात्रियाँ ही 15 कलाएँ हैं और 16वीं कला को ध्रुवा के नाम से कहा गया है, जो कि नित्य है। शुक्लपक्ष में यह प्रजापति वृद्धि को प्राप्त होता है और कृष्णपक्ष में क्षीण होता है। ऋषि के मत में यह प्रजापति आमावस्या की रात्रि में अपनी 16वीं ध्रुवा नामक कला से इन सब प्राणियों में अनुप्रविष्ट होकर फिर प्रात:काल उत्पन्न होता है।[659]

3.20 वर्णानुसार देवताओं का वर्गीकरण : बृहदारण्यक उपनिषद् में क्षत्रिय देवताओं जैसे इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु तथा ईशान आदि देवताओं की उत्पत्ति ब्रह्म से बतायी गयी है। प्रारम्भ में अकेला होने के कारण ब्रह्म विभूतियुक्त कार्यों को करने में समर्थ नहीं हुआ। इस कारण उस ब्रह्म ने सर्वप्रथम क्षत्रिय देवताओं को उत्पन्न किया। इसी कारण राजसूय आदि यज्ञों में इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र आदि क्षत्रिय देवताओं की प्रधानता होती है और ब्राह्मण नीचे बैठकर क्षत्रिय की उपासना करता है। क्षत्रिय के यश से ब्राह्मण का यश होता है। ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण ही क्षत्रिय की योनि है।

क्षत्रिय ब्राह्मण से श्रेष्ठ होने पर भी उसे हिंसित करने का अधिकार नहीं है। जो क्षत्रिय ब्राह्मण की हिंसा करता है, वह अपनी ही उत्पत्ति स्थान का नाश करता है और वह पाप का भागी होता है।[660] आचार्य शंकर ने इन क्षत्रिय देवताओं की विशिष्टता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि यह इन्द्र देवताओं का राजा होता है। जलचरों के अधिपति को वरुण कहते हैं। ब्राह्मणों के राजा को सोम कहते हैं। रुद्र को पशुपति के नाम से जाना

---

659 स एष संवत्सर: प्रजापति: षोडशकलस्तस्य रात्रय: एव पञ्चदश कला:। -बृ.उ.1.5.14

660 तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुण: सोमो रुद्र: पर्यन्यो यमो मृत्युरीशान इति। तस्मात्क्षत्रापरं नास्ति तस्माद्... ।। - वहीं,1.4.11

जाता है। विद्युतादि का नायक मेघ कहलाता है। पितरों का राजा यम है। रोगादि का स्वामी मृत्यु होता है। प्रकाशों का स्वामी ईशान है।[661]

इससे ज्ञात होता है कि श्रुति प्रत्येक जाति के जीवों का एक राजा स्वीकार करती है। क्षत्रिय धर्म से युक्त होने के कारण उस समुदाय या जाति विशेष का राजा क्षत्रिय ही होता है। यहाँ विशेष ध्यातव्य यह है कि प्रकाश का भी शासक ईशान को क्षत्रिय देवता स्वीकार किया गया है। ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण हैं। केवल पृथिवी पर ही नहीं अपितु देवलोक में भी ब्राह्मणादि चारों वर्ण हैं। उन वर्णों में सर्वप्रथम उत्पन्न होने से क्षत्रिय अवश्य श्रेष्ठ है। किन्तु ब्राह्मण भी कम नहीं है; क्योंकि ब्राह्मण तो साक्षात् ब्रह्म का ही अवतार है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार क्षत्रिय देवताओं के बीच ब्रह्म अग्नि रूप ब्राह्मण के रूप में उपस्थित हुआ और मानुषी वर्णों के बीच ब्रह्म ने ब्राह्मण के रूप में अवतार ग्रहण किया।[662] इतना ही नहीं मनुष्यों में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी ब्रह्म ही हैं।[663] आचार्य शंकर के मत में ब्रह्म ही कर्म के आधार भूत अग्नि के रूप में स्थित है।[664]

उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म जब ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि देवताओं की रचना करने के बाद भी विभूति युक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ तब उसने वैश्य जातीय देवताओं को उत्पन्न किया। वैश्य जातीय देवताओं में वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत आदि को उत्पन्न किया।[665]

तीनों वर्णों को उत्पन्न करने के बाद भी वह ब्रह्म विभूति युक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। फिर उसने शूद्र वर्ण को उत्पन्न किया। देवताओं के बीच शूद्र वर्णीय देवता पूषा हैं अत: उन्हें उत्पन्न किया। पृथिवी को ही पूषा देवता कहा जाता है; क्योंकि ये ही सबका पोषण करती है।[666]

---

[661] इन्द्रो देवानां राजा, वरुणो यादसाम्, सोमो ब्राह्मणानां, रुद्र: पशूनाम्, पर्जन्यो विद्युतादीनाम्, यम: पितृणाम्, मृत्यु: रोगादीनाम्, ईशानो भासाम्, इत्येवमादीनि देवेषु क्षत्राणि। - वहीं,1.4.11, शां.भा.

[662] तदग्निनैव देवेषु ब्रह्मा भवद् ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्य:। - वहीं, 1.4.15

[663] क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्य: शूद्रेण शूद्र:।।- वहीं, 1.4.15

[664] तदर्थमेव हि तद्ब्रह्म कर्माधिकरणत्वेनाग्निरूपेण व्यवस्थितम्।- वहीं, 1.4.5, शां.भा.

[665] स नैव व्यभवत्स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति। - वहीं, 1.4.12

[666] स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च। - वहीं, 1.4.13

3.21 सोमदेवता का उल्लेख : उपनिषद् में बताया गया है कि अमावस्या की रात्रि में प्रजापति अपनी 16 वीं कला के द्वारा सभी प्राणियों में व्याप्त रहता है। आचार्य शंकर के मत में आमावस्या की रात्रि में सभी प्राणियों में व्याप्त रहने वाला यह देवता सोम ही है। अत: सोमदेवता के प्रति सम्मान का भाव बनाये रखने के लिए उस रात्रि किसी भी जीव यहाँ तक कि गिरगिट के मारने का निषेध किया गया है।[667]

3.22 स्वरादिवर्णों की देवात्मकता : छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णों को तीन भागों में विभाजित कर उनके देवताओं का कथन किया गया है। प्रथम स्वरवर्ण हैं, सभी स्वर इन्द्र की आत्मा होने से इन्द्र रूप ही हैं। ऐसा समझना चाहिए। ऊष्मवर्ण प्रजापति के समान हैं। अर्थात् प्रजापति के आत्मा हैं। स्पर्शवर्णों को मृत्यु की आत्मा कहते हैं।[668] ऋषि का कहना है कि वर्णों का दोषयुक्त उच्चारण करने पर तद् वर्ण सम्बन्धी देवता के द्वारा दण्ड का भागी होना पड़ता है। जैसे यदि कोई स्वरों का गलत उच्चारण करेगा तो वह इन्द्र देवता के द्वारा दण्ड का भागी होगा। ऊष्मवर्णों का उच्चारण गलत होने पर उच्चारण करने वाला पुरुष प्रजापति देवता के द्वारा दण्ड का भागी होता है। इसी प्रकार स्पर्श वर्णों का उच्चारण गलत होने पर पुरुष मृत्यु देवता के द्वारा दण्ड का भागी होता है। इससे ज्ञात होता है कि प्रत्येक वर्ण के अधिष्ठानभूत देवता होते हैं।

3.23 वाक् का अधिदैवत् रूप : वाक् के अधिदैवत रूप को दो भागों में देखा जा सकता है। प्रथम प्रकाशात्मक जो कि अग्नि है। दूसरा अप्रकाशात्मक जिसे पृथिवी कहा जाता है। सभी पुरुषों की वाणी का उपादान यह दैवी वाक् ही है। अग्नि और पृथिवी से युक्त होकर दैवी वाक् पुरुष में प्रवेश करती है। यह दैवी वाक् अनृतादि दोषों से रहित होती है। इस दैवी वाक् से युक्त पुरुष जो कुछ भी कहता है। वही हो जाता है।[669]

प्रजापति की अन्न रूप वाक् के दो प्रकार हैं, जिनमें प्रथम कार्य या आधार या अप्रकाश रूप है। जबकि दूसरा रूप करण, आधेय या प्रकाश रूप है। उन दोनों में वाक् का

---

[667] बृ.उ.गीताप्रेस, पृ.360

[668] छा.उ.2.22.3

[669] पृथिव्यै चैनमग्नेयश्च दैवी वागाविशति सा वै देवी वाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति। -बृ.उ.1.5.18

अप्रकाशित रूप पृथिवी है और प्रकाशित रूप अग्नि है। जहाँ जिस मात्रा में वाक् है, उतनी ही मात्रा में पृथिवी है और उतनी ही मात्रा में अग्नि भी है।[670]

3.24 काम देवता का उल्लेख : प्राण ब्रह्म के दूसरे भेद में काम देवता का उल्लेख है। आयतन होने से काम ही जिसका शरीर है। बुद्धि के द्वारा देखने के कारण हृदय(बुद्धि) ही जिसकी दर्शन शक्ति के समान है, जो ज्योति स्वरूप मन के द्वारा संकल्प-विकल्प करने वाला है। काम का अधिष्ठातृ वह देवता स्त्री से उद्दीपन को प्राप्त करता है। अत: स्त्री उसका भी देवता है, ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा।[671]

3.25 रूप का अधिष्ठातृ देवता : इस देवता का शरीर रूप है। चक्षु ही इसकी दर्शन शक्ति है। जिसके द्वारा लोकन करता है। मन रूप ज्योति के द्वारा संकल्प-विकल्प करता है। अत: इसे रूप के अभिमनी देवता के रूप में जाना जाता है। याज्ञवल्क्य के मत में आदित्य में जो पुरुष रहता है और रूप में जो पुरुष रहता है, दोनों एक ही हैं। यह सत्य से नियन्त्रित होता है। अत: सत्य इसका देवता है।[672] यह देवता प्राण ब्रह्म का तीसरा भेद है।

आचार्य शंकर के मत में पुन: रूप के देवता का उल्लेख करने से विशिष्ट रूप का ग्रहण किया गया है। रूप इस देवता का शरीर है। नेत्र इसकी दर्शन शक्ति है और मन रूप ज्योति के द्वारा संकल्प-विकल्प करता है। आदर्श के भीतर रहने वाला पुरुष और यह देवता दोनों एक ही हैं। इसके पूर्व अदित्य के अन्तरवर्ती देवता से समानता दिखायी गयी थी। इस विशिष्ट रूप का देवता असु के द्वारा नियन्त्रित होता है, ऐसा याज्ञवल्क्य ऋषि का मत है।[673]

---

[670] तस्यै वाच: पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निस्तद्यावत्येव वक्तावती पृथिवी तावानयमग्नि:। - वहीं, 1.5.11

[671] काम एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्....तस्य का देवता इति स्त्रिय:। - वहीं, 3.9.11

[672] रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मन: परायणं स वै वेदिता स्यात्.....तस्य का देवता इति सत्यमिति। - वहीं, 3.9.12

[673] रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मन: परायणं स वै वेदिता स्यात् ....तस्य का देवता इत्यसुरिति होवाच। - वहीं, 3.9.15

3.26 तमस् का अधिष्ठातृ देवता : इस देवता का शरीर तमस् है। आचार्य शंकर ने तमस् का अर्थ रात्रि आदि का अन्धकार किया है। अन्धकार स्वरूप शक्ति से युक्त इस देवता की दर्शन शक्ति हृदय है। जिसके द्वारा यह लोकन करता है। मन रूप ज्योति के द्वारा संकल्प-विकल्प करता है। याज्ञवल्क्य के अनुसार छायामय पुरुष और यह देवता एक ही है। मृत्यु इस देवता का भी देवता है; क्योंकि अधिदैवत मृत्यु इसका शासक है। उसी से इसकी निष्पत्ति होती है।[674] आचार्य शंकर लिखते है कि *'मृत्युरधिदैवतं तस्य निष्पत्तिकारणम्'।*[675] इस प्रकार तमस् का अधिष्ठातृ देवता प्राण ब्रह्म के पंचम भेद के रूप में उल्लिखित किया गया है। अधिदैवत मृत्यु के द्वारा इसकी उत्पत्ति होने के कारण उसी के द्वारा यह शासित और नियन्त्रित होता है।

3.27 वीर्य का अधिष्ठातृ देवता : पुरुष का वीर्य ही इस देवता का शरीर है। हृदय ही दर्शन शक्ति है और मन रूप ज्योति से संकल्प-विकल्प करता है। पुत्र रूप शरीर में इस देवता की विशेष स्थिति होती है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि प्रजापति इस देवता का भी देवता है; क्योंकि प्रजापति से इसकी निष्पत्ति होती है। आचार्य शंकर के मत में प्रजापति पिता है; क्योंकि प्रजापति से ही पुत्र की उत्पत्ति होती है।[676]

3.28 मृत्यु के देवता यम : अद्वैतवेदान्त के अनुसार मृत्यु एक क्रिया है। जिसमें सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से पृथक् हो जाता है। ऐसा होने पर प्राण रहित शरीर अचेतन हो जाता है। जिसे लोक व्यवहार में मृत्यु की संज्ञा दी जाती है। कठोपनिषद् में इस मृत्यु के अधिष्ठातृ देवता यमराज का उल्लेख आया है, जिनके लिए नचिकेता ने *'हे मृत्यो!'*[677] सम्बोधन का प्रयोग किया है।

3.29 आदर्शनिष्ठ पुरुष का ब्राह्मणत्व प्रतिपादन : राजा अजातशत्रु के द्वारा न स्वीकार करने पर गार्ग्य ने पुन: कहा कि इस दर्पण में जो पुरुष दिखायी देता है। मैं

---

[674] तम एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वसात्मन: परायणं स वै वेदिता स्यात् ....तस्य का देवता इति मृत्युरिति होवाच।- वहीं, 3.9.14

[675] वहीं, शां.भा.

[676] रेत एव यस्य आयतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मन: परायणं स वै वेदिता स्यात् ...तस्य का देवता इति प्रजापतिरिति होवाच। - वहीं, 3.9.17

[677] कठ.उ.1.1.10

उसी का ब्रह्म के रूप में उपासना करता हूँ। इस दर्पण निष्ठ पुरुष को 'रोचिष्णु' कहा जाता है, जिसका अर्थ है- देदीप्यमान्, जो इस प्रकार उपासना करता है। वह भी रोचिष्णु होता है। तेजस्वी एवं देदीप्यमान होता है। आचार्य शंकर के मत में स्वच्छ दर्पण, स्वच्छ खड्गादि तथा शुद्ध हृदय में एक ही देवता का निवास होता है।[678]

3.30 छायामय पुरुष का ब्राह्मणत्व प्रतिपादन : गार्ग्य ने कहा कि यह जो छायामय पुरुष है। मैं उसी की ब्रह्म के रूप में उपासना करता हूँ। मृत्यु इस छायामय ब्रह्म का विशेषण है, जो मृत्यु के रूप में उपासना करता है। वह अपनी सारी आयु का भोग करता है। समय से पहले मृत्यु नहीं आती है।[679] आचार्य शंकर के मत में छाया अर्थात् बाह्य अंधकार। शरीर अन्तरवर्ती आवरण रूप अज्ञान तथा हृदय में एक ही देवता निवास करता है।[680]

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि प्रकाश तत्त्व की बनी हुई वे चेतन मूर्तियाँ जो एक क्षेत्रविशेष को प्रकाशित करती हैं, नियन्त्रित करती हैं और दूसरे क्षेत्र से पृथक् करती हैं। ऐसी चेतन मूर्तियों को देवता कहते हैं, उन देवताओं से सम्बन्धित प्रकाश आधिदैविक प्रकाश है।

---

[678] आदर्शे प्रसादस्वभावे चान्यत्र खड्गादौ हार्दे च सत्त्वशुद्धि स्वाभाव्ये चैका देवता।- वहीं,2.1.9, शां.भा.

[679] वहीं,2.1.12

[680] छायायां बाह्ये तमस्यध्यात्मं च आवरणात्मकेऽज्ञाने हृदि चैका देवता।- वहीं,2.1.12, शां.भा.

चतुर्थ अध्याय

प्रस्थानत्रयी शांकरभाष्य में आध्यात्मिक प्रकाश विमर्श

'अध्यात्मं भवमाध्यात्मिकम्'[681] के अनुसार अध्यात्म (आत्मा में) होने वाले को आध्यात्मिक कहते हैं। अध्यात्म शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। किन्तु इसका मुख्य अर्थ आन्तरिक ही लिया जाता है। उदाहरण के लिए त्रिविध दु:खों में अधिभौतिक एवं आधिदैविक को बाह्य तथा आध्यात्मिक को आन्तरिक बताया गया है। *'तत्राध्यात्मिकं द्विविधं शारीरं मानसं च....सर्वं चैतदान्तरिकोपाय साध्यत्वादाध्यात्मिकं दु:खम्। बाह्योपायसाध्यं दु:खं द्वेधा आधिभौतिकं आधिदैविकं च'*[682]। अर्थात् त्रिविध दु:खों में एक को आध्यात्मिक कहा गया है; क्योंकि वह आन्तरिक उपायों से साध्य रहता है। बाह्य उपायों से साध्य दु:ख दो प्रकार के हैं- आधिभौतिक तथा आधिदैविक। आध्यात्मिक दु:ख द्विधा विभक्त हैं- शारीरिक एवं मानसिक। इससे स्पष्ट होता है कि अध्यात्म में आत्म शब्द से शरीर और मन का अर्थ लिया जाता है।

'आध्यात्मिक्यश्चतस्र: प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्या: बाह्या: विषयोपरमात्पञ्च, नव तुष्टयोऽभिमता:'[683] अर्थात् तुष्टियाँ नव प्रकार की बतायी गयी हैं। जिन में चार आध्यत्मिक एवं पांच को बाह्य कहा गया है। यहाँ आध्यात्मिक से आचार्यों ने अनेक अर्थ लिए हैं- *'प्रकृतिव्यतिरिक्तमात्मानमधिकृत्य यस्मात् तास्तुष्टयस्तस्मादाध्यात्मिक्य:'*।[684] अर्थात् प्रकृति से भिन्न आत्मा के विषय में होने से आध्यात्मिक कहा गया है।

---

[681] पा.सू.4.3.60, वार्तिक, भारतीय दर्शन बृहत् कोश, बच्चूलाल अवस्थी
[682] त.कौ.सां.का.1, वहीं, बच्चूलाल अवस्थी
[683] सां.का.50
[684] त.कौ., वहीं, बच्चूलाल अवस्थी

'यदनात्मन्यात्मबुद्धिरवस्थाप्यते सा खलु आध्यात्मिकी'[685] अर्थात् अनात्मा में आत्मबुद्धि स्थापित करने से तुष्टि भेद को आध्यात्मिक कहते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्य में आचार्य शंकर ने अध्यात्म का अर्थ स्वभाव किया है। वे कहते हैं कि परब्रह्म का प्रत्येक शरीर में जो प्रत्यगात्मभाव है, वही स्वभाव है। शरीर को आश्रय बनाकर जो प्रत्यगात्म भाव से उसमें रहने वाला है और परिणाम में परमार्थ ब्रह्म ही है, वही तत्त्व स्वभाव है और उसे ही अध्यात्म कहते हैं।[686] इस दृष्टि से शरीरनिष्ठ प्राण, इन्द्रियाँ, मन, अविद्या, जीवात्मा, बुद्धि, चित्त आदि अध्यात्म से सम्बन्धित होने के कारण आध्यात्मिक तत्त्व हैं। इनसे सम्बन्धित प्रकाश को आध्यात्मिक प्रकाश की श्रेणी में रखा गया है।

4.1 विद्या एवं अविद्या की अवधारणा : कठोपनिषद् में विद्या और अविद्या की विशेषता का वर्णन करते हुए विद्या को कल्याण करने वाली तथा अविद्या को प्रिय लगने वाली बताया गया है। इसका अर्थ है कि अविद्या कभी कल्याणकारी नहीं होती है और विद्या कभी प्रिय नहीं लगती है। अविद्या के विषय इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाते हैं। बहिमुर्खी इन्द्रियों के द्वारा आत्मज्ञान कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता है। आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए योग, ध्यान आदि विधियों के द्वारा इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करना पड़ता है, जो कि औषधि तुल्य कटु होता है। अत: विद्या को प्रिय नहीं कहा गया है। अविद्या संसार में आसक्ति पैदा करती है, जबकि विद्या संसार से होने वाली आसक्ति को नष्ट करती है और परमात्मा की ओर उन्मुख करती है। अत: विद्या और अविद्या को दो विपरीत दिशाओं में जाने वाले मार्ग के समान बताया गया है।[687]

आत्मज्ञान की प्राप्ति में अन्तर्मुखी मन सबसे बड़ा कारण है। इन मन आदि इन्द्रियों को योग आदि के द्वारा अन्तर्मुखी करके आत्मज्ञान की ओर उन्मुख किया जा सकता है। परमात्मा ने पृथिवी पर जब मनुष्य की सृष्टि की तभी उन्होंने इन्द्रियों को बहिर्मुख कर

---

[685] यु.दी., वहीं, बच्चूलाल अवस्थी

[686] भग.गी.8.1,शां.भा.

[687] दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येतिज्ञाता। -कठ.उ.1.2.4

दिया। कठोपनिषद् ऋषि के मत में स्वयंभू ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी करके हिंसित कर दिया। अत: जीव आत्मा को न देखकर स्वभावतः बाह्य विषयों को देखता है।[688]

विद्याओं में सर्वश्रेष्ठ विद्या ब्रह्मविद्या कही गयी है। ब्रह्म शब्द परमात्मा का वाचक होने से इसे परमात्मा सम्बन्धिनी विद्या कहते हैं। इस विद्या की विशेषता है कि इसे जानने वाले पुरुष के लिए न देखा गया भी देखे गये के समान हो जाता है और न सुना गया भी सुने हुए के समान हो जाता है।[689] ब्रह्मविद्या विषयक प्रश्न शौनक ऋषि ने अङ्गिरा से किया था कि भगवन्! क्या है जिसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है।[690] लोक में प्रचलित कोई भी विद्या ऐसी नहीं है, जो मूल कारण का ज्ञान कराये। इस जगत् में प्रचलित प्रत्येक विद्या अपूर्ण है। कोई विद्या पूर्ण नहीं हैं। अन्य सभी विद्याएँ अपरा प्रकृति से सम्बन्धित होने से अपराविद्या के नाम से जानी जाती हैं। जबकि ब्रह्मविद्या जगत् के मूल कारण ब्रह्म का ज्ञान कराती हैं। अतः इसे पराविद्या या ब्रह्मविद्या के नाम से जाना जाता है। वेद, वेदांग, इतिहास, पुराण आदि समस्त विद्याएँ अपरा के अन्तर्गत पठित हैं, जबकि उपनिषद् को पराविद्या कहा जाता है। जिसके चिंतन, मनन और निदिध्यासन के द्वारा ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त की जा सकती है। अत: श्वेतकेतु के पिता कहते हैं कि क्या तुमने उस विद्या को सीखा है, जिसके जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है, न देखा हुआ भी देखा हुआ सा हो जाता है और न सुना हुआ भी सुने हुए के जैसा हो जाता है।[691]

पराविद्या और अपराविद्या का भेद प्रकट करते हुए लिखा है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष अपराविद्या के अन्तर्गत पठित हैं। जिससे अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है, वह पराविद्या है। शंकराचार्य उपनिषद् को पराविद्या के अन्तर्गत रखते हैं। उपनिषद् के पराविद्यात्व को स्पष्ट करते

---

[688] पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयंभुः तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्। -वहीं,2.1.1
[689] येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्। -छा.उ.6.1.3
[690] कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति -मु.उ.1.1.3
[691] येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति। -छा.उ.6.1.3

हुए लिखा है कि उपनिषद् वेद्य अक्षर विषयक विज्ञान ही पराविद्या है। उपनिषद् की शब्द राशि नहीं।[692]

विद्या और अविद्या दो अलग-अलग तत्त्व नहीं हैं। दोनों एक रस्सी के दो सिरे के जैसे हैं। विद्या और अविद्या दोनों ही माया के अंश है। ब्रह्म की शक्ति माया को तीन रूपों में देखा जा सकता है; सत्त्व, रजस् और तमस्। सत्त्व रूप ही विद्या है और तमस् रूप ही अविद्या है। रजस् इन दोनों के बीच की स्थिति है, जो दोनों को क्रियाशील करने वाला होता है। जितनी भी अपराविद्यायें हैं, सभी सत्त्व गुण प्रधान होने से स्वरूप को प्रकाशित करने वाली होती हैं। सत्त्व, रजस् और तमस् पृथक् न होकर परस्पर मिले हुए होते हैं। किन्तु प्रधानता की दृष्टि से इन्हें अलग करके देखा जाता है। सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों ही ब्रह्म की अज्ञान शक्ति के अन्तर्गत परिगणित हैं। अज्ञान शक्ति का अंश होने से ब्रह्म के स्वरूप को उद्घाटित करने में असमर्थ हैं। ब्रह्म तो योग्य पुरुष के सम्मुख अपने स्वरूप को स्वत: प्रकाशित कर देता है।[693] सत्त्व गुण ब्रह्म के स्वरूप को प्रकाशित करने में असमर्थ है; क्योंकि सत्त्व गुण ब्रह्म के प्रकाश से प्रकाशित होता है। कार्य होने से सत्त्वगुण अपने कारण ब्रह्म को नहीं प्रकाशित कर सकता है। सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीनों अव्यक्त रूप से शक्ति के रूप में अक्षर ब्रह्म में स्थित हैं। शक्तिमान् होने से ब्रह्म अपने तीनों गुणों का शासक होता है।[694]

जिससे कोई सत्ता प्रकट होती है, दिखाई देती है या हमारे ज्ञान का विषय बनती है, वह प्रकाश है। इसी प्रकार ब्रह्मविद्या का भी प्रकाश देखा जाता है; क्योंकि ब्रह्मविद्या से ब्रह्म का ज्ञान होता है। ब्रह्मविद्या ब्रह्म की प्रकाशिका है। सर्वाधिक प्रकाश युक्त होने से ब्रह्मविद्या को सभी विद्याओं का राजा कहा जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में इस ब्रह्मविद्या को राजविद्या के नाम से कहा गया है।[695] आचार्य ने इस पर भाष्य करते हुए लिखा है कि *'राजविद्या विद्यानां राजा दीप्यतिशयत्वात् दीप्यते हि इयम् अतिशयेन ब्रह्मविद्या*

---

[692] उपनिषद् वेद्याक्षर विषय हि विज्ञानमिह परा विद्येति प्राधान्येन विवक्षितं नोपनिषच्छब्दराशि-मु.उ.1.1.5,शां.भा.

[693] यमेवैष वृणुते तेन...आत्मा विवृणुते तनूँस्वाम-कठ.उ.1.2.23

[694] क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्य:। -श्वे.उ.5.1

[695] भग.गी.9.2

सर्वविद्यानाम्'।[696] अर्थात् अतिशय प्रकाशयुक्त होने के कारण समस्त विद्याओं का राजा है। इससे ज्ञात होता है कि सभी विद्याओं में कुछ न कुछ प्रकाश होता है, जो अपने विषयों को प्रकाशित करता है। सभी विद्याओं का प्रकाश एक समान नहीं होता है। कुछ में ज्यादा प्रकाश होता है। कुछ में कम प्रकाश होता है। उन सभी में ब्रह्मविद्या ऐसी है, जिसमें सर्वाधिक प्रकाश होता है और वह सर्वश्रेष्ठ वस्तु ब्रह्म को प्रकाशित करने वाली होती है। यह सबसे अधिक पवित्र और उत्तम है। यह ब्रह्मज्ञान सबको पवित्र करने वाला है। ब्रह्मविद्या की श्रेष्ठता इस बात में भी है कि अन्य विद्याओं का फल अनित्य है। किन्तु इस ब्रह्मविद्या का फल नित्य है। इसका कभी नाश नहीं होता है।

अज्ञानवश जीव शरीर के धर्मों को अपने में आरोपित कर लेता है। जीव अपने को जिस रूप में मानता है, वही होता है। जीव स्वरूपतः ब्रह्म स्वरूप है। अतः ब्रह्म की विशेषताओं से युक्त है। किन्तु अज्ञानता के कारण वह अपने को अन्य धर्मों से युक्त मानने लगता है। अपने स्वरूपगत धर्मों के अतरिक्त अन्य धर्मों का स्वयं में आरोप कर लेना ही अविद्या है। इसे ही उपाधि कहते हैं। आचार्य शंकर के मत में शास्त्र तथा आचार्य आदि के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान करके चिंतन, मनन, निदिध्यासन आदि के द्वारा अज्ञान जन्य धर्मों से रहित होने से चित्तशुद्धि होती है। इस प्रकार अपने स्वरूप का अनुभव ही ब्रह्म विज्ञान है। शंकराचार्य कहते हैं कि जैसे सर्प के बाध होने से रस्सी के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता हैं। उसी प्रकार अविद्या जन्य कर्तृत्व, भोक्तृत्व, राग, द्वेष आदि दोषों से हुई मलिनता रूपी दोषों का बाध करके विद्या उसके विपरीत पाप राहित्य आदि गुणों वाले परमेश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन करती है।[697] इस प्रकार विद्या चित्त शुद्धि का साधन है। विद्या से शुद्ध हुए चित्त में परमात्मा की अभिव्यक्ति आसानी से हो जाती है।

ईशावास्योपनिषद् में विद्या और अविद्या के फल पर विचार किया गया है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासतेः।

ततोभूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥[698]

---

[696] वहीं,9.2,शां.भा.
[697] ब्र.सू.पृ.634
[698] ईशा.उ.9,शां.भा.

यहाँ शंकराचार्य ने अविद्या का अर्थ अग्निहोत्र आदि कर्म किया है और विद्या शब्द से उपासना अर्थात् देवता सम्बन्धी ज्ञान अर्थ किया है। अग्निहोत्रादि कर्म का ही तत्परता से अनुष्ठान करने वाले पुरुष अन्धकार में प्रवेश करते हैं।[699] इससे ज्ञात होता है कि केवल कर्म में रत रहने वाले पुरुषों को पितृलोक की प्राप्ति होती है, जो कि अज्ञानयुक्त होने के कारण अन्धकारमय बताया गया है। दूसरा विद्या मार्ग है। देवता सम्बन्धी ज्ञान को विद्या या उपासना मार्ग बताया गया है। कर्म को छोड़कर जो केवल देवताओं की सेवा सत्कार में लगे रहते है। जैसे-मन्दिर बनवाना, प्रतिदिन जल देना, पूजा पाठ करना ऐसे पुरुष सोचते है कि उन्हें मोक्ष प्राप्त होता, किन्तु ऐसा नहीं हैं। ईशावास्योपनिषद् के अनुसार ऐसे पुरुष उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं। जैसा कि बृहदारण्यक में बताया गया है 'विद्यया देवलोकः'।[700] देवलोक में सुख सुविधाओं की अधिकता के कारण आत्मज्ञान का स्मरण भी नहीं होता है। इसलिए उस देवलोक को पितृलोक से भी अधिक अन्धकारमय बतलाया गया है। ईशावास्योपनिषद् कहती है कि दोनों कर्मों को साथ-साथ करना आवश्यक है। आत्मज्ञान प्राप्ति के मार्ग में पृथक्-पृथक् दोनों कर्मों का अनुष्ठान अहितकर है। कर्म और उपासना दोनों का अनुष्ठान करना चाहिए। ऐसा करने वाला पुरुष कर्म से मृत्यु को पार करता है और उपासना कर्म से अमृतत्त्व का भोग करता है।[701]

पराविद्या को ब्रह्मविद्या कहते हैं; क्योंकि ब्रह्म ही सबसे पर है। उससे पर कुछ भी नहीं है। ब्रह्मविद्या से सभी विद्याओं का ज्ञान स्वतः हो जाता है। मुण्डकोपनिषद् में शिष्य ने गुरु से प्रश्न क्रिया कि ऐसा क्या है, जिसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है। जानने के लिए कुछ शेष नहीं रहता है *'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'।*[702] इस प्रकार गुरु ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्व के लिए सभी विद्याओं में प्रधान ब्रह्मविद्या का उपदेश किया।[703] मुण्डकोपनिषद् में इस ब्रह्मविद्या की ही प्रशंसा की गयी है।

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरंयेषु कर्म।

---

[699] ...सोऽयं मनुष्यलोक: पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको। - बृ.उ.1.5.16

[700] वहीं,1.5.16

[701] अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते। -ईशा.उ.11

[702] मु.उ.1.13

[703] ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह। - वहीं,1.1.1

एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥[704]

अर्थात् ये विनाशी अस्थिर यज्ञरूप 18 हैं। जिनमें कर्म अवर(हल्का) कहा गया है। जो मूढ़ इनका श्रेय रूप से अभिनन्दन करते हैं, वे फिर जरा और मृत्यु को प्राप्त होते हैं।[705] अतः ब्राह्मण पुरुष को चाहिए कि कर्म से प्राप्त हुए लोकों की परीक्षा करके यह निश्चय करना कि कर्म से मोक्ष नहीं होता है। फिर ब्रह्म को जानने के लिए हाथ में समिधा लेकर गुरु के पास जाना चाहिए।[706]

अश्वमेध यज्ञ में अश्व की प्रधानता होती है। अत: इस यज्ञ को श्रुति में अश्वमेध नाम से कहा गया है। इस यज्ञ का देवता प्रजापति है। अश्व होने के कारण इसके अंगों की भी कल्पना की गयी है। जैसे अश्व के सिर, नेत्र, श्रोत्र, पाद, पुच्छ, पृष्ठ आदि अनेक अंग होते हैं। उसी प्रकार इस अश्वमेध संज्ञा वाले यज्ञ के अंगों का उल्लेख है। उषा अर्थात् ब्रह्ममुहूर्त को इस अश्वरूप यज्ञ का सिर कहा है। जैसे अश्व के शरीर में उसका सिर प्रधान होता है। उसी प्रकार इस अश्वमेघ यज्ञ में ब्रह्ममुहूर्त समय प्रधान होता है। नेत्रों का अभिमानी देवता सूर्य होने से सूर्य ही इस यज्ञ का नेत्र है। अश्व प्राणादि वायु से जीवित रहता है। वैसे यह यज्ञ भी वायु से प्रज्वलित होता है। अत: वायु ही इस अश्वमेध यज्ञ का प्राण है। वैश्वानर अग्नि ही इसका खुला हुआ मुख है। द्वादश महीनों से युक्त संवत्सर ही इस यज्ञ का शरीर है। अश्व के विभिन्न अंगों से अश्वमेध यज्ञ के अंगों की समानता दिखलाते हुए शंकर ने कहा है कि ऊर्ध्वत्व में समानता के कारण द्युलोक ही पृष्ठ भाग के समान है। छिद्र रूपता में समानता के कारण अन्तरिक्ष ही उसका उदर भाग है। पृथिवी पाद रखने का स्थान है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि चारों दिशाएँ इसके पार्श्व भाग के समान हैं। छ: ऋतुएँ ही अंगों के समान हैं। शुक्लत्व में समानता होने के कारण नक्षत्र ही अश्वरूप यज्ञ की अस्थियाँ हैं। सूर्य जो प्रात: काल उदित होकर मध्याह्न काल पर्यन्त ऊपर की ओर जाता है। वह यज्ञ रूप अश्व के नाभि से ऊपर का भाग है। मध्याह्न से सायंकाल पर्यन्त जो नीचे की ओर जाता है। वह यज्ञ रूप अश्व के नाभि के नीचे वाला उदर है। अश्व के द्वारा जम्हाई लेते समय अंगों का झाड़ना आदि में कम्पन्न की समानता बिजली से है।

---

[704] वहीं,1.2.7
[705] ब्र.सू.पृ.493
[706] मु.उ.1.2.12

अर्थात् बिजली ही अश्व के द्वारा अंगों के झाड़ने से उत्पन्न हुआ कम्पन्न है। जो वर्षा है, वह यज्ञ रूप अश्व के द्वारा मूत्र का त्याग करना है।[707]

कठोपनिषद् में एक स्थान पर अग्नि के एक ऐसे प्रकार की चर्चा की गयी है, जो स्वर्ग को प्राप्त कराने वाली है। किन्तु उस अग्नि के स्वरूप विशेष को ऋषि ने गुप्त रखा है। केवल अग्नि विज्ञान की चर्चा करके आगे बढ़ गये हैं।[708] यमराज ने उस स्वर्ग की साधनभूत अग्नि को नचिकेताग्नि नाम दिया। उस नचिकेताग्नि के स्वरूप पर किञ्चित् उल्लेख करते हुए लिखा गया है कि उस अग्नि का चयन तीन बार करना होता है। ऐसा करने वाला पुरुष त्रिणाचिकेत के नाम से जाना जाता है। तीन बार अनुष्ठान करने का अर्थ है- ज्ञान, अध्ययन और अनुष्ठान। अर्थात् गुरु के मुख से नचिकेताग्नि का ज्ञान प्राप्त करना, पुनः चिंतन के द्वारा सुनिश्चित करना एवं पुनः उसका अनुष्ठान करने वाला व्यक्ति त्रिणाचिकेत के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार तीन प्रकार से अनुष्ठान करने वाला पुरुष माता, पिता और गुरु से सम्बन्ध प्राप्त होकर जन्म मृत्यु को पार कर देवत्व भाव को प्राप्त हो जाता है।

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू॥

ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाँ शान्तिमत्यन्तमेति॥[709]

अविद्या परमात्मा की शक्ति है। परमात्मा के आश्रित रहती है। समस्त जीवों की महासुषुप्ति अवस्था है। महाप्रलय में सभी जीव इसी अविद्या शक्ति में सोते हैं। बीज सदृश्य होने से 'बीज-शक्ति' के नाम से जानी जाती है। परमात्मा की शक्ति मूलत: अविद्या स्वरूप है। विद्या से अविद्या का नाश होता है। इस अविद्या के कारण जीवों के कर्माशय महासुषुप्ति में भी बने रहते हैं। विद्या के द्वारा अविद्या का नाश हो जाने से जीवों के कर्माशयों की फल उत्पन्न करने की शक्ति क्षीण हो जाती है। जिससे पुनर्जन्म

---

[707] उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिर:। सूर्यश्चक्षुर्वात: प्राणोव्यात्तमग्निर्वैश्वानर: संवत्सर आत्माश्वस्य मेध्यस्य। द्यौ: पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यं दिश: पार्श्वे अवान्तर दिश: पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्य होत्राणि प्रतिष्ठा नक्षात्राणि अस्थीनि नभो मांसानि। ऊवध्यं सिकता: सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन्पूर्वार्धो निम्लोचञ्जघनार्धो यद्विजृम्भते तद्विद्योतते यद्विधूनते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक्। -बृ.उ.1.1.1

[708] कठ.उ.1.1.13

[709] वहीं,1.1.17

नहीं होता है।[710] माया को अव्यक्त भी कहा जाता है; क्योंकि वह ब्रह्म से भिन्न या अभिन्न है ऐसा कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। महत् शब्द का अर्थ कुछ लोग 'हिरण्यगर्भ की बुद्धि' भी करते हैं। वस्तुत: दोनों एक ही बात है। हिरण्यगर्भ का अर्थ सृष्टि का अध्यक्ष ईश्वर और उसकी बुद्धि से तात्पर्य कारण शरीर अर्थात् हिरण्यगर्भ का चित्त। ईश्वर का चित्त अर्थात् कारण शरीर और जीवात्मा का कारण शरीर दोनों एक ही है। सुषुप्ति में जीवात्मा जब अपने कारण शरीर में होता है। तब वह ईश्वर के समकक्ष होता है। किन्तु जीवात्मा की यह स्थिति अर्थात् सुषुप्ति तमस् प्रधान होने से जीवात्मा को न तो अपने स्वरूप का ज्ञान होता है न ही सुख-दु:ख और किसी अन्य पदार्थ का भान होता है। सचेत होकर विद्या आदि के द्वारा जब इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है, तब वह ईश्वर के समान सर्वज्ञ, सर्वेश्वर हो जाता है। अत: महत् का अर्थ हिरण्यगर्भ परमात्मा या जीवात्मा कहने पर दोनों का एक ही अर्थ कारण शरीर समझना चाहिए।[711] इस कारण शरीर रूपी महत् से अव्यक्त अर्थात् अविद्या श्रेष्ठ है; क्योंकि ब्रह्म की अविद्या शक्ति से ही ईश्वर का कारण शरीर बनता है। जब ईश्वर शब्द का उच्चारण किया जाता है, तब उससे चेतन और अचेतन शरीर का बोध होता है। चेतन शुद्ध अद्वैत ब्रह्म है और अचेतन ईश्वर का शरीर या चित्त है। समष्टि अज्ञान से जनित होने के कारण ईश्वर (हिरण्यगर्भ परमात्मा) से अव्यक्त की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। उस अज्ञान से श्रेष्ठ ब्रह्मरूप पुरुष है; क्योंकि अव्यक्त उस ब्रह्म की ही शक्ति है।[712] ब्रह्म ही अन्तिम सत्य है। उससे परे कुछ भी नहीं है।

श्रीमद्भगवद्गीता में प्रकाश शब्द 'प्रकट होने' के अर्थ में आया है।[713] परमात्मा का सभी प्राणियों के समक्ष प्रकट होने में योगमाया प्रतिबन्धिका है। इस योगमाया के कारण ही सभी प्राणी ईश्वर को नहीं देख पाते हैं। इस योगमाया की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है 'योगो गुणानां युक्ति: घटनं सा एव माया' अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों का मिश्रण ही योग है और वही माया है। इस योगमाया से ढका हुआ ईश्वर जीवों को दिखायी नहीं देता है। इसी प्रकार जीव भी अज्ञान से आवृत्त होता है। किन्तु

---

710 विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात्। अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महा सुषुप्ति: यस्यां स्वरूप प्रतिबोधरहिता: शेरते संसारिणो जीवा:। -ब्र.सू.पृ.790

[711] यदा हिरण्यगर्भो बुद्धिर्महान् यदा तु जीवो महान्। - वहीं,पृ.791

[712] अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति:। -वि.चू.4.25

[713] भग.गी.7.25

ईश्वर योगमाया से ढ़का हुआ होने पर भी अपने ज्ञान को बनाये रखता है। जबकि जीव तमस् के प्रभाव से बाह्य विषयों की ओर उन्मुख होकर अपना ज्ञान खो देता है।[714]

सांख्यदर्शन के आचार्य प्रकृति को स्वतंत्र मानते हैं। किन्तु अद्वैतवेदान्त में आचार्य शंकर कहते है कि प्रकृति स्वतंत्र नहीं है, अपितु ब्रह्म की शक्ति ही प्रकृति है। इस प्रकृति को ही माया कहते हैं।[715] इसी माया शक्ति के प्रभाव से पुरुष परमात्मा के प्रकाश को नहीं देख पाता है। सांख्य में प्रकृति को एक माना गया है। किन्तु अद्वैतवेदान्त में प्रकृति व्यक्ति भेद से भिन्न-भिन्न है।[716] अतः श्रीमद्भगवद्गीता में जो यह कहा गया है कि योगमाया से आवृत्त हुआ मैं सबको दिखायी नहीं देता हूँ, *'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृत्तः'।*[717] यहाँ पर माया शब्द का अर्थ सार्वभौमिक समष्टि अज्ञान है।

उपनिषद् के भाष्य में आचार्य शंकर ने एक स्थान पर माया शब्द का अर्थ प्रज्ञा किया है। *'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'*[718] पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है- *'इन्द्रः परमेश्वरो मायाभिः प्रज्ञाभिः'*[719] अर्थात् ईश्वर अपनी प्रज्ञा से अनेक रूपों में हो जाता है। यह प्रज्ञा अविद्याजनित है, *'एक रूप एव प्रज्ञानघनः सन्नविद्याप्रज्ञाभिः'।*[720] अज्ञान में भी किञ्चित् प्रकाश होता है, जो हमारी दृष्टि में चकाचौंध उत्पन्न करता है। जैसा कि ईशोपनिषद् भी कहा गया है, *'हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं'।*[721]

अद्वैतवेदान्त में माया की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। आचार्य शंकर ने जगत् की व्याख्या करने के लिये माया का सहयोग लिया है। उनके माया विषयक सिद्धांत की पृष्ठभूमि उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता और गौडपादकारिका है। आचार्य ने विवेकचूड़ामणि में माया सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट करते हुए लिखा है-

---

[714] न असौ योगमाया मदीया सती मम ईश्वरस्य मायाविनौ ज्ञानं प्रतिबध्नाति। - वहीं,7.25, शां.भा.

[715] अजडस्य बोधात्मनः स्वप्रकाशस्य तिरर्सकया आवरणं तदात्मिका जगद् विक्षेपोपादानं प्रकृतिः – संक्षे.शा.,1.136 सु.टी.

[716] आवरणशक्तिस्तावदल्पोपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलोकयितृ.....। वे.सा.16

[717] भग.गी.7.25

[718] बृ.उ.2.5.19, शां.भा.

[719] वहीं,शां.भा.

[720] वहीं,शां.भा.

[721] ईशा.उ.15

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति: अनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।

कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते॥[722]

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।

सांगाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा॥[723]

बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में आचार्य शंकर ने बताया है कि इस माया शब्द का प्रयोग प्रज्ञा नाम रूप जनित मिथ्या अभिमान के अर्थों में भी हुआ है- 'मायाभि: प्रज्ञाभि: नामरूपभूतकृत मिथ्याभिमानैर्वा'।[724]

माया शब्द का प्रयोग वैदिक काल से ही होता रहा है। ऋग्वेद में माया शब्द के बहुश: प्रयोग मिलते हैं।[725] ऋग्वेद में माया शब्द का प्रयोग देवताओं की अलौकिक शक्ति एवं कार्य कुशलता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। बृहदारण्यक-उपनिषद्, प्रश्नोपनिषद् तथा श्रीमद्भगवद्गीता में माया शब्द का प्रयोग इन्द्रजाल के अर्थ में हुआ है।[726] अद्वैतवेदान्त में मायावाद सिद्धांत के प्रवर्तक के रूप में गौडपाद को जाना जाता है। इनकी दृष्टि में संसार वास्तविक दृष्टि से सत्य नहीं है, अपितु माया से निर्मित है। आत्मा ही द्रष्टा और दृश्य दोनों रूपों में विभक्त हुआ सा दिखायी देता है। जगत् में दृश्यमान सभी नामरूपात्मक प्रपंच माया के द्वारा आत्मा पर अध्यारोपित हैं। अत: वास्तविक सत् आत्मा ही है। यह जगत् शुक्ति में रजत् की भाँति भ्रम मात्र है।[727] गौडपाद का यह मायावाद आचार्य शंकर के भाष्यों में पूर्णत: पुष्पित पल्लवित हुआ है। भाष्यकार ने माया और अविद्या में भेद नहीं किया है। माया के पर्याय के रूप में आचार्य ने तम, मोह, अव्याकृत, अव्यक्त, अप्रतिबोध आदि पदों का भी प्रयोग किया है।[728] पंचपादिकाकार पद्मपाद ने भी माया और अविद्या दोनों शब्दों को एक ही अर्थ में स्वीकार किया है। इसके लिए उन्होंने प्रकृति,

---

[722] वि.चू.110

[723] वहीं,111

[724] बृ.उ.2.5.19, शां.भा. पृ.613

[725] इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते –ऋ.सं.6.47.18, महीं मायां वरुणस्य प्रवोचम्। -ऋ.सं.5.95.5,

[726] तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया। -प्रश्न.उ.1.16, ईश्वर: सर्वभूतानां....भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया। -भग.गी.18.61

[727] अनादिमायया सुप्तो यदा जीव: प्रबुध्यते। अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥ -मा.उ.1.16

[728] आचार्य शंकरकृत ब्रह्मसूत्र अध्यासभाष्य, कपिल गौतम, शोधप्रबन्ध, पृ.52

अव्याकृत, अग्रहण, अव्यक्त, तम, कारण, लय, शक्ति, महासुषुप्ति, निद्रा, अक्षर तथा आकाश शब्द का भी प्रयोग किया है।[729] किन्तु शंकरोत्तर वेदान्त में जीव और ईश्वर का भेद प्रतिपादित करने के लिए अविद्या और माया में भेद की आवश्यकता अनुभव की गयी।

स्वामी विद्यारण्य के मत में जीव और ईश्वर दोनों ही विशुद्ध ब्रह्म के प्रतिबिम्ब स्वरूप हैं। किन्तु इन दोनों प्रतिबिम्बों में परस्पर भेद दिखायी देता है। ऐसा तभी सम्भव है, जब दोनों की उपाधियाँ भिन्न हों। एक ही उपाधि में एक ही बिम्ब का दो प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं है। अत: जीव और ईश्वर रूप प्रतिबिम्बों में भेद दिखाने के लिये उनकी उपाधियों अविद्या और माया में भी भेद मानना ही पड़ेगा। उनके मत में माया शुद्ध सत्त्व प्रधान है। जबकि अविद्या में सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से अभिभूत रहता है।[730] इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकराचार्य और उनके शिष्यों पद्मपादाचार्य, सुरेश्वराचार्य के साथ ही भामतीकार और विवरणकार ने भी माया और अविद्या शब्दों को परस्पर पर्याय के रूप में उद्धृत किया है। किन्तु आगे के आचार्यों ने जीव और ईश्वर का भेद प्रतिपादन के लिए अविद्या और माया में भेद किया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में माया शब्द का कई बार प्रयोग हुआ है। श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा है कि यद्यपि मैं अजन्मा हूँ और समस्त भूतों का स्वामी हूँ तथापि मैं प्रकृति को अपने वश में करके अपनी माया से प्रकट होता हूँ।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥[731]

माया की असाध्यता की ओर ध्यान आकृष्ट कराते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है कि मेरी माया गुणमयी है। इसे पार करना कठिन है। किन्तु जो व्यक्ति मेरी शरण प्राप्त कर लेते हैं। वे

---

[729] येयं श्रुतिस्मृतिइतिहासपुराणेषु नामरूपमव्याकृतमविद्यामायाप्रकृति: अग्रहणम् अव्यक्तं तम: कारणं लय: शक्ति महासुषुप्ति: निद्राक्षरं आकाश इति च तत्र तत्र बहुधा गीयते। -पं.पा.वि.पृ.18

[730] सत्त्वशुद्धिविशुद्धिभ्यां माया विद्ये च द्वे मते। माया बिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वर: अविद्यावश गस्त्वन्यस्तद्वै चित्र्यादनेकधा॥ –पंचदशी,तत्त्वविवेक 1.16,17

[731] भग.गी.4.6

इस माया को पार कर जाते हैं।[732] इससे स्पष्ट होता है कि माया में मोहिनी शक्ति होती है जिससे मोहित होकर प्राणी इस माया जाल में पड़ा रहता है। और अनेक प्रयासों के बावजूद वह इस संसार माया का निषेध नहीं कर पाता है। यहाँ गुणमयी का अर्थ सत्त्व, रजस् और तमस् है। इन तीनों गुणों से अन्तर और बाह्य सृष्टि की रचना हुई है। यहाँ माया शब्द दो अर्थों में प्रयोग हुआ है। प्रथम जगत् की रचना करने वाली त्रिगुणात्मिका सृष्टि या बाह्य सृष्टि। दूसरी जीवात्मा को बन्धन में डालने वाली मोहिनी शक्ति। इसमें बाह्य सृष्टि सबके लिए समान होती है। जबकि मोहिनी शक्ति प्रतिव्यक्ति भिन्न-भिन्न होती है। मोहिनी शक्ति ज्ञान को आवृत्त कर लेने वाली होती है।[733] गौडपाद ने माण्डूक्य-कारिका में कहा है कि जिस प्रकार स्वप्न और गन्धर्वनगर अज्ञानजन्य और काल्पनिक होता है उसी प्रकार तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में यह जगत् भी माया से उत्पन्न और काल्पनिक होता है।[734] गौडपाद ने पुन: इस कल्पित सृष्टि के विषय में कहा है कि स्वयं प्रकाश यह आत्मा अपनी ही माया से कल्पना करता है। और फिर उन काल्पनिक भेदों को स्वयं ही जानता है।[735]

इस प्रकार यह आत्मा अपनी ही माया से नानात्व की कल्पना करता हुआ अपने स्वरूप को भूलकर जीवभाव को प्राप्त हो जाता है। पुन: यह जीव जब अपनी माया से जागता है तो उसे पुन: उसे अपनी वास्तविक स्वरूप का भान होता है।[736]

माया शक्ति की विशेषताओं को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत दिखाया जा सकता है-

१- माया को ईश्वर की शक्ति बतायी गयी है। ब्रह्म ही माया से परिच्छिन्न होकर ईश्वर भाव को प्राप्त होता है। इस प्रकार शक्ति और शक्तिमान् के समान माया ईश्वर की शक्ति है और ईश्वर से अपृथक् है।

---

[732] दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ - वहीं,7.14

[733] न मां दुष्कृतिनो मूढा: प्रपद्यन्ते नराधमा:। माययाप तज्ञानाना आसुरं भावमाश्रिता:॥ - वहीं,7.15

[734] स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा। तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणै:॥ मा.उ.2.31

[735] कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देव: स्वमायया। स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चय:॥ -वहीं,2.12।

[736] अनादिमायया सुप्तो यदा जीव: प्रबुध्यते। अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥ - वहीं,1.16

२- माया का आश्रय और विषय ब्रह्म है। अर्थात् माया ब्रह्म के आश्रित रहती है और ब्रह्म में ही भेदों को उत्पन्न करती है। किन्तु ब्रह्म माया के स्पर्श से दूर रहता है। जैसे मृगतृष्णा के जल से रेगिस्तानी भूमि भीगती नहीं है।

३- माया अनादि है। ब्रह्म की शक्ति होने से ब्रह्म की अनादिता से माया का अनादि होना सिद्ध होता है।

४- माया को अव्यक्त शब्द से भी कहा जाता है; क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व और प्रलय के पश्चात केवल ब्रह्म ही विद्यमान् रहता है। माया उसमें अव्यक्त भाव से रहती है। सृष्टि काल में व्यक्त होकर जगत् की रचना करती है।

५- माया अघटनघटनापटीयसी है। ब्रह्म जैसे अखण्ड एकरस अनन्त तत्त्व से कुछ भी उत्पन्न होना तर्क से सिद्ध नहीं होता है। किन्तु उसकी माया शक्ति इस अघटनीय कार्य को घटित करने में समर्थ है।[737]

६- माया सांख्य की प्रकृति के समान जड़ है। किन्तु सांख्य की प्रकृति की भाँति न नित्य है न स्वतंत्र है।

७- अद्वैत में माया को अनिर्वचनीय कहा गया है। इसे सत्, असत्, उभयात्मक ब्रह्म से भिन्न, अभिन्न, उभयात्मक तथा सांग, अनंग आदि कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

८- यह माया व्यवहारिक दृष्टि से सत् दिखायी देती है। किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से इसका कोई अस्तित्त्व नहीं है।

९- यह जगत् ब्रह्म का विवर्त रूप है। जैसे रस्सी में सर्प और शुक्ति में चाँदी की प्रतीति। यह विवर्त माया से ही सम्भव होता है।

१०- माया आवरण और विक्षेप रूप है। अपनी आवरण शक्ति से अपरिमित ब्रह्म को भी आवृत्त सा कर लेती है और विक्षेप शक्ति से जगत् प्रपंच को उत्पन्न करती है।

११- माया को अविद्या भी कहते हैं। इस अविद्या के कारण ही ब्रह्म अपने स्वरूप को भूलकर जीवभाव को प्राप्त होता है।

१२- माया नामरूपात्मक होकर जगत् का विस्तार करती है।

---

[737] प्रस्थानत्रयी शांकरभाष्य में सांख्य सिद्धान्त समीक्षा, रामकिशोर महोलिया, लघुशोधप्रबन्ध, पृ.58

१३- माया त्रिगुणात्मक है। सत्त्व, रजस् और तमस् गुण से युक्त है।

१४- इस माया का ज्ञान अनुमान से होता है। कार्य रूप जगत् को देखकर इसके कारण के रूप में माया का अनुमान किया जाता है।

१५- यह माया समस्त द्वैत का उपादान कारण है और उसका आश्रय लेकर ही ब्रह्म जगत् का कारण कहलाता है।[738]

टीकाकारों में मूलत: भामतीकार एवं विवरणकार का मत अविद्या के नानात्व के सम्बन्ध में मतभेद रखता है। विवरणकार मूलाविद्या के एकत्व के समर्थन में हैं। किन्तु भामतीकार वाचस्पतिमिश्र अविद्या के अनेकत्व को स्वीकार करने के पक्ष में हैं। भामतीकार ने अनेक जीववाद को स्वीकार करते हुए प्रत्येक जीव में भिन्न-भिन्न अविद्या को स्वीकार किया है। जैसे एक ही बिम्ब का मणि, कृपाण आदि में भिन्न-भिन्न प्रतिबिम्ब दिखायी देता है। उसी प्रकार एक ही ब्रह्म अनेक अविद्या रूप उपाधियों में जीव के रूप में प्रतिबिम्बित हो रहा है।[739] वाचस्पति कहते हैं कि अविद्या के नानात्व होने पर ही जीवों के बन्धन और मोक्ष की व्यवस्था हो सकती है। अन्यथा एक जीव में विद्या के उदय होने पर सभी जीवों की मुक्ति हो जायेगी। किन्तु अविद्या का नानात्व मानने पर इस दोष का निवारण हो जाता है। नानात्व मानने पर जिस जीव में विद्या का उदय होता है, उसी जीव की मुक्ति होती है जीवान्तर की नहीं।

विवरणकार प्रकाशात्मयति ने मूलाविद्या के नानात्व को स्वीकार नहीं किया है। उनके मत में मूलाविद्या एक ही है। किन्तु अवस्था भेद से उसमें नानात्व देखा जाता है। इस अवस्था में नानात्व से ही जिस जीव में विद्या का उदय होता है, उसी को मोक्ष मिलता है और जिसमें नहीं होता है, वह बद्ध रहता है। अत: जीव का बद्ध या मुक्त होना मूलाविद्या की अवस्थायें मात्र हैं।[740]

---

[738] बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक 1.4.37, प्रस्थानत्रयी शांकरभाष्य में सांख्य सिद्धान्त समीक्षा, रामकिशोर महोलिया, लघुशोधप्रबन्ध, पृ.59

[739] यथा हि बिम्बस्य मणिकृपाणादयो गुहा: एवं ब्राह्मणोऽपि प्रतिजीव भिन्नाविद्या गुहा इति। - भा.टी.पृ.421

[740] अथवा मूलाज्ञानस्यैव अवस्था भेद: रजताद्युपादानानि शुक्तिकाज्ञानै: सहाध्यासेन निवर्तन्ते इति कथ्यताम्'-पं.पा.वि. पृ.99

इस प्रकार भामतीकार प्रतिजीव में अविद्या का नानात्व स्वीकार करते हैं, जबकि विवरणकार मूलाविद्या को एक मानते हैं और अवस्थाभेद से नानात्व स्वीकार करते हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में माया शब्द ब्रह्म की आश्रयभूता प्रकृति के लिए आया है। माया से युक्त होने के कारण उस ब्रह्म को मायावी के नाम से जाना जाता है। यह मायावी परमात्मा ही अपनी माया रूप शक्ति के द्वारा सम्पूर्ण जगत् का शासक है। उपनिषद् में ब्रह्म की मायावी शक्ति को जाल शब्द से कहा गया है और इस जाल से युक्त होने के कारण ब्रह्म जालवान् भी है।[741]

4.2 अद्वैतवेदान्त में अध्यास निरूपण : शांकर वेदान्त में अध्यास का अत्यधिक महत्त्व है। अध्यास के बिना अद्वैतवेदान्त महत्त्वहीन है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र का प्रारम्भ अध्यास के निरूपण से करते हैं। अध्यास अज्ञान या भ्रम का पर्यायवाची शब्द है।[742] अध्यास की अवस्था में दो वस्तुओं में इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है कि एक का धर्म दूसरे में और दूसरे का धर्म पहले में प्रतीत होने लगता है। अध्यास के उदाहरण के रूप में आचार्य ने तप्त लौहपिण्ड[743] को दिया है। गर्म लौहपिण्ड में अग्नि और लोहे के धर्मों का परस्पर अध्यास हो जाता है। अग्नि का कोई आकार नहीं है। फिर भी उसका आकार लौहपिण्ड के समान दिखाई देता है। उसी प्रकार लोहा स्वभावत: गर्म न होने पर भी गर्म प्रतीत होता है।

इसी प्रकार का अध्यास आत्मा और शरीर में होता है। आत्मा स्वयं प्रकाशमान् है, जबकि शरीर अज्ञान एवं जड़ स्वरूप है। दोनों में परस्पर तादात्म्य हो जाने के कारण एक के धर्म का दूसरे में अध्यास हो जाता है। अध्यास हो जाने के कारण जड़ शरीर चेतनवत् तथा चेतन निराकार आत्मा शरीर के आकार का दिखाई देता है। इस प्रकार शरीर में देहात्म बुद्धि का कारण अध्यास देखा जाता है।[744]

---

[741] य एको जालवानीशत ईशनीभि: सर्वांलोकानीशत ईशनीभि:। -श्वे.उ. 3.1
[742] अद्वै.ऐ.वि.103
[743] प्रतप्तायसपिण्डवत्। आत्मबोध, 62
[744] अद्वै.ऐ.वि.104

अध्यास शब्द अधि उपसर्ग पूर्वक आस्(अस्) धातु से घञ् प्रत्यय के योग से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'में होना' अर्थात् किसी वस्तु में दूसरी वस्तु का होना। किसी एक वस्तु के स्थान में किसी दूसरी वस्तु का मिथ्या ग्रहण होना। जैसे अन्धेरे कमरे में यथार्थ रज्जु पर मिथ्या सर्प का आ बैठना अध्यास है। इसी प्रकार की क्रिया सीप में चांदी का आभास होना, मरुस्थल में जल प्रतीत होना, पाण्डुरोग में सफेद वस्तु का पीली दिखाई देना आदि स्थानों पर अध्यास के कारण ग्रहण होता है।745 एक अन्य व्युत्पत्ति के अनुसार अधि उपसर्ग पूर्वक क्षेपणार्थक असु धातु से घञ् प्रत्यय *'भावे'*[746] करने पर अर्थ होता है विक्षेप, जो कि अद्वैतवेदान्त में अज्ञान या माया का कार्य है। सदानन्द के मत में इस अध्यास की निवृत्ति ही अद्वैतवेदान्त का प्रयोजन है।

आचार्य शंकर ने अध्यास का लक्षण देते हुए लिखा है *'स्मृतिरूपः परत्रपूर्व दृष्टावभासः'।747* अर्थात पूर्वकाल में देखी गई किसी वस्तु का दूसरी जगह भासित होना अध्यास है। यह अध्यास स्मृति रूप होता है। अर्थात पूर्व देखी गई वस्तु का स्मरण होता है। परत्र पर शब्द से सप्तम्यर्थ में त्रल प्रत्यय करने पर बनता है, जिसका अर्थ होता है, अपने से भिन्न अधिकरण में। पूर्वदृष्टावभास से आशय – पूर्वदृष्ट का संस्कारवश अवभास या बाधितज्ञान अर्थात् जो स्मृतिरूप तथा पूर्वदृष्ट सर्प का संस्कारवश परत्र अर्थात् रज्जु में जो अवभास है, वह अध्यास है। अवभास से आशय अव+बाधित+भास्। अर्थात् यह ज्ञान कालान्तर में रज्जुज्ञान से बाधित हो जाता है।

आचार्य शंकर के मत में यह जगत् भी अध्यास रूप है। जगत् की स्मृति नहीं होती हैं, अपितु स्मृति रूप मात्र है।748 शंकराचार्य ने अध्यास की एक दूसरी परिभाषा भी दी है *'अध्यासो नाम अतस्मिन् तद्बुद्धिरित्यवोचम्'।749* अर्थात जिसमें जो नहीं है, उसमें उस प्रकार की बुद्धि अध्यास है। अर्थात् सर्प रज्जु में नहीं है। तथापि रज्जु में सर्प वाला ज्ञान अध्यास है।

---

[745] वहीं,पृ.1.5
[746] अष्टा.,3.3.18
[747] ब्र.सू.अध्यासभाष्य, पृ.32
[748] अद्वै.ऐ.वि.105
[749] ब्र.सू.शां.भा.पृ.54

आचार्य शंकर अध्यास के कारण के रूप में अविवेक को मानते हैं। विवेक तब होता है, जब सत् वस्तु के धर्म सत् में तथा असत् वस्तु के धर्म असत् में दिखाई देते हैं। किन्तु अविवेक के कारण सत् वस्तु के धर्म असत् में तथा असत् वस्तु के धर्म सत् में दिखाई देने लगते हैं। इस विपरीत क्रिया को अध्यास कहते हैं और यह अध्यास नामक क्रिया अविवेक या अज्ञान के कारण होती है।[750]

यह अविवेक अविद्या रूप है।[751] विवरणकार के मत में अविद्या अध्यास का उपादान कारण है। अविद्या का अध्यास के प्रति उपादानकारणत्व की व्याख्या करते हुए प्रकाशात्मयति कहते हैं कि अविद्या और अध्यास में परस्पर अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध है। अविद्या के रहने पर अध्यास रहता है और न रहने पर अध्यास भी नहीं रहता है। जैसे सुषुप्तिकाल में अध्यास नहीं होता है। किन्तु जाग्रतावस्था में अविद्या के कारण अध्यास होता है।[752]

भामतीकार ने *'तमेतमेवं लक्षणं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते'*[753] पंक्तियों पर टीका करते हुए अविद्या को अध्यास का मूल कारण कहा है। उनके मत में आत्मा और अनात्मा विषयक अध्यास ही अनर्थकारी है। शुक्ति-रजत् का अध्यास नहीं। इस आत्मा अनात्मा के अध्यास का मूल कारण अविद्या है, जिसके निवारण के लिये सभी वेदान्त शास्त्रों की प्रवृत्ति होती है। आत्मा-अनात्मा विषयक अध्यास की निवृत्ति ज्ञान से ही हो सकती है।[754]

---

[750] युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयो: विषयविषयिणो: तम: प्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयो: इतरेतरभावानुपपत्तौ। -ब्र.सू. अध्यास भाष्य, रत्नप्रभाभाषानुवाद, पृ.12

[751] मिथ्याज्ञाननिमित्त: सत्यानृतेमिथुनीकृत्य अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहार:। -ब्र.सू.शां.भा.पृ.26

[752] ननु कथं मिथ्याज्ञानमध्यासस्योपादानम्? तस्मिन् सति अध्यासस्य उदयात् असति चानुदयादिति ब्रूम:। -पं.पा वि.पृ. 19

[753] ब्र.सू.शां.भा. 42

[754] अविद्या ही सर्वानर्थबीजमिति श्रुतिस्मृतिपुराणादिषु प्रसिद्धम् तदुच्छेदाय वेदान्ता: प्रवृत्ता इति वक्षति। प्रत्यागात्मन्यनात्माध्यास एव सर्वानर्थहेतुर्न पुन: रजतादि-विभ्रमा इति सा एवाविधा, तत्स्वरूपं चाविज्ञातं न शक्यमुच्छेतुमिति तदेव व्युत्पाद्यं नाध्यासमात्रम्। -भा.टी. पृ.41

अध्यास के भेद- आचार्य शंकर ने अपने भाष्यों में शब्दत: कहीं भी अध्यास के भेदों की चर्चा नहीं की है। किन्तु आचार्य शंकर की निम्नलिखित पंक्तियों को उद्धृत करते हुए टीकाकारों ने अध्यास के भेदों की चर्चा की है।[755]

भामतीकार ने अध्यास के दो भेदों पर चर्चा की है। 1- अहंकाराध्यास(धर्मी अध्यास) 2- ममकाराध्यास (धर्माध्यास)। द्वितीय अध्यास ममकारा या धर्माध्यास को ही समस्त अनर्थों का मूल कहा है।[756] भामतीकार इस विषय में कहते हैं कि जब आत्मा में देह, इन्द्रिय, अन्त:करण आदि बाह्य पदार्थों से तादात्म्य करके मम शरीरं, मम इन्द्रियाणि, स्थूलोऽहं, कृशोऽहं आदि व्यवहार करने लगता है। देह के धर्मभूत पुत्र या पत्नी के स्वामित्व का अपने ऊपर आरोप करके व्यवहार करता है। इसी प्रकार पुत्र भार्या की सफलता विफलता होने पर अपने आपको सफल विफल मानता है। इस प्रकार पुत्र आदि बाह्य पदार्थों के धर्म स्वामित्व परम्परा से आत्मा में अध्यस्त हो जाते हैं।[757]

इस प्रकार भामतीकार के मत में अनात्मा रूप अन्त:करण, शरीर, इन्द्रिय, पुत्र, भार्यादि के स्वामित्व के धर्मों का आत्मा पर आरोप ही धर्माध्यास है। भामतीकार ने अहंकाराध्यास या धर्मी अध्यास की चर्चा करते हुए लिखा है कि इस अध्यास में सर्वप्रथम अहंप्रत्ययी अन्त:करण का आत्मा में अध्यास होता है। इस प्रकार अन्त:करण से तादात्म्य स्थापित करके प्रत्यगात्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व का आरोप होता है।[758]

---

[755] पुत्रभार्यादिषु सकलेषु विकलेषु वा अहमेव सकलो विकल: वेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यवस्यति। एवमहप्रत्ययिनमशेष स्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यागात्मन्यध्यवस्यति'।- आचार्य शंकरकृत ब्रह्मसूत्र अध्यासभाष्य, कपिल गौतम, शोधप्रबन्ध, पृ.46

[756] तत्राहमिति धर्मितादात्म्याध्यासमात्रं ममेत्यनुत्पादितधर्माध्यासं नार्थहेतुरिति धर्माध्यासमेव ममकारं साक्षादशेषानर्थ संसार-कारणमुदाहरण प्रपञ्चेनाह पुत्रभार्यादिषु। -भा.टी.पृ.50, आचार्य शंकरकृत ब्रह्मसूत्र अध्यासभाष्य, कपिल गौतम, शोधप्रबन्ध, पृ.46

[757] स्वस्य खलु साकल्यात् स्वामीश्वर: सकल: सम्पूर्णो भवति। तथा स्वस्य वैकल्येन स्वाम्यवैकल्यात् स्वामीश्वरो विकलो सम्पूर्णो भवतीति। बाह्यधर्मा: ये वैकल्यादय: स्वाम्यप्रणालिकया संचारिता: शरीरे तानात्मन्यध्यस्यतीत्यर्थ:। -भा.टी.पृ.50, आचार्य शंकरकृत ब्रह्मसूत्र अध्यासभाष्य, कपिल गौतम, शोधप्रबन्ध, पृ.47

[758] एवमहप्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मानमध्यस्य। अहं प्रत्ययो वृत्तिर्यस्मिन्नन्त:करणादौ सोऽहम्प्रत्ययी तं स्वप्रचारसाक्षिणि इति चैतन्योदासीनताभ्यां अन्त:करण प्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मनि अध्यस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वे उपपादिते। -भा.टी.पृ 51 कपिल 47

विवरणकार ने अध्यास के भेदों की चर्चा नहीं की है।[759] तथापि विवरण प्रस्थान में रत्नप्रभाकार गोविन्दानन्द यति ने अध्यास के भेदों की चर्चा की है। गोविन्दाचार्य ने अध्यास के पाँच भेद किये हैं।

1-**अर्थाध्यास**- *लोक्यते मनुष्योऽहमित्यभिन्यते इति लोको अर्थाध्यास:।*[760] अर्थात् मैं मनुष्य हूँ। ऐसे अभिमान के विषय को लोग जो कहते हैं, वह अर्थाध्यास है।

2-**ज्ञानाध्यास**- *तद्विषयोव्यवहारोऽभिमान इति ज्ञानाध्यासो दर्शित:।*[761] अर्थात् लोकविषयक व्यवहार या अभिमान लोकव्यवहार इसे ही ज्ञानाध्यास कहते हैं।

3-**अन्योन्याध्यास**- *'अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकाम्'* पंक्ति में आचार्य ने अन्योन्याध्यास के विषय में बताया है। जाड्य तथा चैतन्यादि धर्मों का क्रम से अहंकार और आत्मा धर्मी हैं। आपस में अत्यन्त भिन्न उन दोनों धर्मियों (अहंकार, आत्मा) का परस्पर भेद ज्ञान न होने से एक में दूसरे का तादात्म्य और एक में दूसरे के धर्मों का विनिमय होने से अध्यास करके लोक व्यवहार होता है। इसे अन्योन्याध्यास कहते हैं।[762]

4-**तादात्म्याध्यास**-*'अत्र अहमिदं इत्यनेन मनुष्योऽहम् तादात्म्याध्यासो दर्शित:'*[763] सत्ता के एक होने पर भी दो मिथ्या भेदों में परस्पर तादात्म्य दिखायी देता है- *'सत्तैक्ये सति मिथो भेदस्तादात्म्यम्। अत्र मनुष्योऽहं इति ऐक्यांशभानम्'।*[764] अर्थात् मैं मनुष्य हूँ इसमें मैं (आत्मा) और मनुष्य में ऐक्य रूप अंश का भान होता है।

5-**संसर्गाध्यास**- *'ममेदं इति संसर्गाध्यास । ममेदं इति भेदांश रूप संसर्गभानमिति।*[765] 'मेरा यह' में भेदांश रूप संसर्ग का भान होता है। इसलिए यह संसर्गाध्यास होता है।

---

[759] आचार्य शंकरकृत ब्रह्मसूत्र अध्यासभाष्य, कपिल गौतम, शोधप्रबन्ध, पृ.47
[760] ब्र.सू.रत्नप्रभा, पृ.27,
[761] वहीं,पृ.27
[762] जाड्य चैतन्यादिधर्माणां धर्मिणौ अहंकारात्मनौ तयोरत्यन्तं भिन्नयो: इतरेतरभेदाग्रहणे अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यतादात्म्यमन्योन्यधर्मांश्च व्यत्यासेन अद्यस्य लोकव्यवहार इति योजना।- वहीं,पृ.27
[763] वहीं, पृ.27
[764] वहीं, पृ.27
[765] वहीं, पृ.31

गोविन्दाचार्य ने अध्यास के उपर्युक्त पाँचो भेद आचार्य शंकर द्वारा उल्लिखित पंक्तियों 'अहमिदं ममेदं नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः' के आधार पर किये हैं।

भ्रम सिद्धांत में आचार्यों के द्वारा दिए गए सिद्धांतों के अनुसार एक विषय का दूसरे विषय पर अध्यास सम्भव है। किन्तु अविषय प्रत्यगात्मा में विषय और उसके धर्मों का अध्यास कैसे होगा? यहाँ एक विषय है तो दूसरा विषयी प्रत्यगात्मा है। विषयी आत्मा तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी नहीं है। इसलिए अविषय आत्मा में अहंकार आदि विषय और उनके जड़त्व आदि धर्मों का अध्यास कैसे हो सकता है? यदि अध्यास को सिद्ध करने के लिए आत्मा को विषय मान लिया जाए तो भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने पर अनेक श्रुति वाक्य बाधित हो जायेंगे, जिसमें आत्मा को अविषय कहा गया है जैसे- *'न चक्षुषा गृह्यते'*[766] आदि। *'यच्चक्षुषा न पश्यति'।*[767] *'न तत्र चक्षुर्गच्छति'।*[768]

इस प्रकार की शंका उपस्थित होने पर आचार्य शंकर ने कहा है कि *'न तावदयमेकान्तेनाविषयः अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात् अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः'।*[769] अर्थात यह आत्मा सर्वथा अविषय रूप नहीं है; क्योंकि वह अस्मत् प्रत्यय का विषय है, अपरोक्ष है और प्रत्यगात्म रूप से प्रसिद्ध हैं। स्वप्रकाश होने से सबको प्रत्यक्ष है। इसके अतिरिक्त यह भी कोई नियम नहीं है कि बाह्य विषय पर किसी दूसरे विषय का ही अध्यास हो, जो वस्तु इन्द्रिय के सामने उपलब्ध नहीं है, उस पर भी अध्यास देखा जाता है। आकाश ऐसी ही उपलब्ध वस्तु है, जो चक्षु इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं है। फिर भी लोग उस पर तलमलीनता आदि का अध्यास करते हैं। इसी प्रकार आत्मा भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं है, तो भी उस पर अहंकार सुख-दुःख एवं अनात्मा शरीर का अध्यास कर दिया जाता है।[770] एक और शंका यह हो सकती है कि अधिष्ठान और अध्यस्त दोनों का सादृश्य होने पर ही अध्यास सम्भव है। परन्तु आत्मा और अनात्मा में कोई सादृश्य नहीं देखा जाता है। इसलिए अध्यास होना असम्भव है। किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि अध्यास होने के लिए सादृश्य गुण जरूरी हो। जैसे मरुस्थलीय रेत और जल में कोई सादृश्य नहीं होता

---

[766] मु.उ.1.8
[767] केन.उ. 1-6
[768] वहीं,1.3
[769] ब्र.सू.शां.भा.1.1, पृ.40
[770] अद्वै.ऐ.वि.पृ.109

है फिर भी अध्यास हो जाता है। आकाश और मलिनता में भी कोई सादृश्य नहीं है। फिर भी अध्यास हो जाता है।[771]

आचार्य ने अनात्मा का आत्मा पर होने वाले अध्यास को चार भागों में बाँटा है।

1-बाह्यधर्मों का आत्मा पर अध्यास- पुत्र, भार्या आदि के पूर्ण या अपूर्ण होने पर मैं पूर्ण या अपूर्ण हूँ। इस प्रकार बाह्य धर्मों का आत्मा में अध्यास होता है।

2-शरीर के धर्मों का आत्मा पर अध्यास- मैं मोटा हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं कृश हूँ आदि शरीर के धर्मों का आत्मा पर अध्यास होता है।

3-इन्द्रिय धर्मों का आत्मा पर अध्यास- मैं मूक हूँ, मैं अन्धा हूँ, मैं बधिर हूँ, आदि इन्द्रिय धर्मों का आत्मा पर अध्यास करना।

4-अन्त:करण के धर्मों का आत्मा पर अध्यास- अद्वैतवेदान्त में अन्त:करण के चार रूप बताये गये हैं-

निगद्यतेऽन्त:करणं मनोधीरहंकृतिश्चित्तमिति स्ववृत्तिभि:।

मनस्तु संकल्पविकल्पनादिभिर्बुद्धि: पदार्थाध्यवसायधर्मत:॥[772]

अत्राभिमानादहमित्यहंकृति: स्वार्थानुसंधानगुणेन चित्तम्॥[773]

आत्मा शुद्ध चेतन स्वरूप है, जबकि माया का कार्य रूप यह शरीर जड़ रूप है। किन्तु आत्मा इस शरीर के साथ ऐक्य स्थापित किए रहता है। इसलिए आत्मा शरीर के दु:ख से दु:खी होता है और शरीर के सुख से सुखी होता है। इस विषय में योगानन्द जी ने लिखा है कि आत्मा का शरीर और मन से एक रूप होना ही हमारे दु:ख, पीड़ा और प्रतिबन्धों का मूल कारण है। इस एकरूपता के कारण ही हम सुख-दु:ख जैसी उत्तेजनाओं का अनुभव करते हैं।[774] योगानन्द जी इस विषय में जीवन को एक नाटक की भाँति देखने

---

[771] वहीं
[772] वि.चू.95
[773] वहीं,96
[774] धर्मविज्ञान, पृ.43

का उपदेश देते हैं। जब दु:ख की भूमिका है तो दु:ख पूर्ण और हर्ष की है तो हर्ष पूर्ण अभिनय करना चाहिए। परन्तु भीतर में नाटक से एक रूप नहीं होना चाहिए।[775]

अध्यास को ठीक प्रकार से समझने के लिए आचार्य शंकर ने उसकी कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया है, जिस पर ध्यान देना आवश्यक है *'अयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूप: कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तक: सर्वलोक प्रत्यक्ष:'।*[776] अर्थात् यह अध्यास अनादि, अनन्त, नैसर्गिक, मिथ्याज्ञान रूप, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि का प्रवर्तक सर्वलोक प्रत्यक्ष है।

अध्यास अविद्या का पर्याय है। अविद्या अनादि है। अज्ञान में पड़ा व्यक्ति यह नहीं जानता है कि उसका अज्ञान कब से प्रारम्भ हुआ? उसी प्रकार जैसे कलम का मूल्य पता न होने पर वह नहीं कह सकता है कि मूल्य के विषय में वह अज्ञान कब से प्रारम्भ हुआ? उसके आदि बिन्दु का ज्ञान न होने से अध्यास का अनादि होना सिद्ध होता है। अध्यास अनन्त भी है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि अध्यास नष्ट नहीं होता है। शंकराचार्य स्वयं कहते हैं कि ज्ञान से यह नष्ट हो जाता है। अत: अध्यास के अनन्त होने का तात्पर्य है कि एक व्यक्ति का अध्यास नष्ट होने पर भी अन्य व्यक्तियों का अध्यास बना ही रहता है। शंकराचार्य के इस मत की व्याख्या करते हुए नारायण स्वामी ने कहा है कि जिसकी सत्ता ही नहीं है। उसका अन्त कैसे हो सकता है?[777]

आचार्य शंकर ने अध्यास का तीसरा विशेषण नैसर्गिक दिया है। इसे किसी ने उत्पन्न नहीं किया है। न तो ईश्वर ने, न प्रकृति ने, न जीव ने ही उत्पन्न किया है। यह अध्यास स्वाभाविक है। जैसे मरुस्थल में दिखाई देने वाले जल को किसी ने उत्पन्न नहीं किया होता है। न देखने वाला, न बालू, न ही सूर्य ने अपितु यह प्रकृति का नियम है कि सूर्य के प्रकाश में रेगिस्तान के बालू में जल दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार नैसर्गिक रूप से अन्त:करण और चैतन्य के संयोग से अध्यास की उत्पत्ति होती है।[778]

---

[775] वहीं,पृ.42
[776] ब्र.सू.शां.भा.1.1, पृ.56
[777] अद्वै.ऐ.वि.पृ.113
[778] वहीं

अध्यास के नैसर्गिक होने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह सत्य है, अपितु वह स्वयं मिथ्याज्ञान रूप है। अध्यास में स्थित व्यक्ति को आत्मा अनात्मा तथा अनात्मा आत्मा के समान भासित होती है और मिथ्याज्ञान होते हुए भी यह अध्यास सत् प्रतीत होता है। ज्ञान के स्वत: प्रमाण होने से मिथ्याज्ञान भी सत् प्रतीत होता है। अपने इस गुण के कारण मिथ्याज्ञान के प्रति शंका नहीं होती है और व्यक्ति अपने राग द्वेष से उत्पन्न समस्याओं में फँसा रहता है।[779]

अध्यास ही अविद्या है और अविद्या से अहंकार, विषयों की आसक्ति, कामना, कर्म, कर्ताभाव कर्मानुसार सुख-दु:ख की प्राप्ति, उनका भोग, भोक्तृत्व, वासनाएँ, पुनर्जन्म का चक्र प्रवर्तित होता है। जब तक अध्यास रहता है, जीव संसार सागर में डूबा रहता है और जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है।[780]

कर्ता-भोक्ता का भाव सभी मनुष्यों को अनुभव हो रहा है। इससे ज्ञात होता है कि ये सभी अध्यास में स्थित हैं और उसके कारण संसार दु:खों से पीड़ित है।

भ्रम सिद्धांत : अद्वैतवेदान्त में वस्तु में अवस्तु की होने वाली प्रतीति को अध्यारोप के नाम से जाना जाता है। भारतीय दर्शन में अध्यारोप को समझने के लिये अनेक सिद्धांत प्रतिपादित किये गये हैं, जिसे भ्रम सिद्धांत के नाम से जाना जाता है। आचार्य शंकर का भ्रम विषयक सिद्धांत अनिर्वचनीयख्यातिवाद कहलाता है। अनिर्वचनीयख्याति को समझने से पहले अन्य आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित भ्रम विषयक सिद्धान्तों को भी समझना आवश्यक है।

१- **अख्यातिवाद** : भ्रम की व्याख्या करने के लिये प्रभाकर मीमांसकों ने अख्यातिवाद का सिद्धांत दिया है। इसे विवेकख्याति भी कहते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार सभी ज्ञान सत्य हैं। भ्रम किसी मिथ्या वस्तु का ज्ञान नहीं है। भ्रम दो वस्तुओं के पृथक् ज्ञान का अभाव है। रज्जु में सर्प की प्रतीति होना भ्रम कहलाता है। इस स्थिति में रज्जु का प्रत्यक्ष होता है और सर्प का स्मृति ज्ञान होता है। विवेक के अभाव में रज्जु को ही सर्प मान लिया जाता है। प्रभाकर इसे स्मृति-प्रमोष (स्मृति में बाधा)

---

[779] वहीं
[780] वहीं

उत्पन्न होना मानते हैं। उनके मत में किसी ज्ञान को मिथ्या मानना उसे ज्ञान न मानने के बराबर है। किन्तु यह मत आचार्यों को स्वीकार नहीं है; क्योंकि जब सर्प ज्ञान स्मृति मात्र है तो वह दिखायी क्यों देता है। यदि स्मृति होते हुए भी दिखायी देना माना जायेगा तो प्रत्यक्ष और स्मृति में अन्तर नहीं रह जायेगा।[781]

२- **विपरीतख्यातिवाद** : भाट्टमीमांसकों ने विपरीतख्यातिवाद का सिद्धांत दिया है। इस मत में कभी-कभी मिथ्या विषय भी प्रत्यक्ष के समान भासित होने लगता है। जब हम रस्सी में सर्प का प्रत्यक्ष करते हैं और कहते हैं कि 'यह सर्प है' तो यहाँ उद्देश्य और विधेय दोनों ही यथार्थ हैं। वर्तमान रस्सी को सर्प की कोटि में लाया जाता है। वस्तुत: सत्ता दोनों की है। भ्रम इस बात को लेकर रहता है कि हम दो यथार्थ किन्तु पृथक् वस्तुओं में उद्देश्य-विधेय का सम्बन्ध स्थापित कर देते हैं। भ्रम इसी सम्बन्ध या संसर्ग को लेकर रहता है न कि विषयों को लेकर, जो वास्तविक पदार्थ है। ऐसे भ्रम के कारण लोग विपरीत आचरण करते हैं। अत: इसे विपरीतख्यातिवाद कहा जाता है।[782]

३- **असत्ख्यातिवाद** : माध्यमिक बौद्धों ने असत्ख्यातिवाद का सिद्धांत दिया है। अर्थात् भ्रम असत् है। असत् वस्तु का सत् के समान भासित होना असत्ख्याति है। यदि हमें रजत में चाँदी की प्रतीति हो रही है तो इसका अर्थ है कि वहाँ चाँदी की सत्ता न होने पर भी चाँदी की प्रतीति संस्कारों के कारण हो रही है। अत: माध्यमिक बौद्धों के अनुसार यथार्थ में वस्तु की कोई सत्ता नहीं होती है। फिर भी वह सत् की तरह प्रतीत होता है। माध्यमिक के अनुसार असत् वस्तु का सत् के समान प्रतीत होना ही शून्य है। समस्त जगत् की प्रतीति इसी प्रकार होती है। संस्कारों के कारण बाहर वस्तु न होते हुए भी हम देखते हैं। संस्कार पूर्व प्रत्यक्ष से निर्मित होते हैं और प्रत्यक्ष पूर्व संस्कारों से। इस प्रकार संस्कार और प्रत्यक्ष अन्योन्याश्रित हैं। किन्तु दोनों ही नि:स्वभाव और शून्य हैं।[783]

४- **आत्मख्यातिवाद** : योगाचार बौद्धों के मत में क्षणिक विज्ञान ही सत् है। इसके अतिरिक्त न कोई बाह्य पदार्थ है न ही आत्मतत्त्व । बाहर जो कुछ भी दिखायी दे

---

[781] वहीं,पृ.158
[782] वहीं
[783] वहीं

रहा है, वह हमारे विज्ञान का ही प्रक्षेप है। अत: शुक्ति में जो रजत की प्रतीति होती है, वह प्रतीति शुक्ति के कारण नहीं अपितु विज्ञान में स्थित रजत वासनायें हैं। अनादि अविद्या से रजत की वासनायें उत्पन्न हुई हैं और वे वासनायें ही बाहर जगत् में रजत की भाँति प्रक्षेप करती हैं। इस प्रकार भ्रांति का कोई बाहरी कारण नहीं अपितु वह आत्मगत है। योगाचार के मत में विज्ञान के रूप में शुक्ति और उस पर अध्यस्त रजत दोनों सत् हैं किन्तु बाह्य पदार्थ के रूप में दोनों असत् हैं।

इस सिद्धांत में सबसे बड़ा दोष यह है कि बाह्य पदार्थ न मानने के कारण यथार्थज्ञान और भ्रान्ति में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। जैसे रजत की कल्पना मिथ्या है वैसे शुक्ति भी मिथ्या हो जायेगी। मिथ्या शुक्ति पर मिथ्या रजत की भ्रान्ति नहीं कहा जा सकता है।[784]

५- **अन्यथाख्यातिवाद** : भ्रम विषयक नैयायिकों का सिद्धांत अन्यथाख्यातिवाद है। उनके मत में भ्रान्ति प्रस्तुत वस्तु और समझी गयी वस्तु का गलत संयोग है। अन्यथा का अर्थ है 'अन्य प्रकार से' और 'अन्य स्थान से'। भ्रम में ये दोनों ही बातें होती हैं। प्रस्तुत वस्तु अन्य प्रकार से दिखायी देती है। और दिखायी देने वाली वस्तु अन्य स्थान में विद्यमान् होती है। इस मत के अनुसार शुक्ति और रजत दोनों ही सत् हैं। किन्तु दोनों का संयोग गलत है। इसलिए भ्रम है। शुक्ति को रजत समझ लिया जाता है और रजत अन्य स्थान में होता है। इसमें त्रुटि का कारण प्रत्यक्षकर्ता का मन है। शुक्ति को देखकर रजत की स्मृति आ जाने से 'ज्ञान-लक्षण-प्रत्यक्ष' होता है। यह अलौकिक प्रत्यक्ष का एक प्रकार है। इस प्रकार नैयायिक रजत का प्रत्यक्ष भी सत्य मानते हैं। भ्रम और यथार्थ में अन्तर करते हुए नैयायिक कहते हैं कि जो वस्तु व्यवहार में आये वह सत् और जो व्यवहार में न आये वह असत् या भ्रम है।[785]

६- **सदसत्ख्यातिवाद** : सांख्यदर्शन के अनुसार भ्रम एक अंश में सत् और दूसरे अंश में असत् है। इस प्रकार यह सत् और असत् का संयोग है। 'यह रजत है' इस भ्रान्तिज्ञान में 'यह' शब्द शुक्ति का वाचक है और वह सत् है। रजत की प्रतीति असत् है क्योंकि वहाँ रजत नहीं है फिर भी रजत दिखायी देता है। परीक्षा करने

---

[784] वहीं

[785] वहीं,पृ.159

पर वह बाध भी हो जाता है। इसलिए वह मिथ्या है। इस प्रकार भ्रम में सत् और असत् दोनों वस्तुएँ सम्मिलित होती हैं। विज्ञानभिक्षु सदसत्ख्याति को स्वीकार करते हुए इसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से करते हैं। उनके अनुसार रजत सत् है क्योंकि वह रजत् विक्रेता की दूकान पर मिलने वाली सत् वस्तु है। किन्तु शुक्ति में उसका आरोप असत् है। इस प्रकार रजत ही सत् और असत् दोनों है। उसका भ्रम ही सदसत्ख्याति है।

७- **सत्ख्यातिवाद** : रामानुज इस सिद्धांत के समर्थक हैं। इनके अनुसार शुक्ति में रजत् की प्रतीति भ्रान्ति नहीं है। वह आंशिक सत्य है। यदि पूर्ण सत्य ज्ञान हो तो भ्रान्ति नहीं हो सकती। आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य बनाना ही भ्रम का निवारण है। सत्य का ज्ञान भ्रम का बाध नहीं करता है। वरन उसे पूर्णता प्रदान करता है।[786]

८- **अनिर्वचनीयख्यातिवाद** : आचार्य शंकर ने भ्रम की व्याख्या करने के लिये अनिर्वचनीयख्यातिवाद का सिद्धांत दिया है। इस सिद्धन्त को प्रतिपादित करने से पूर्व उन्होंने अन्य आचार्यों के मतों को उद्धृत किया है। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य के अध्यासभाष्य में उन्होंने *'अन्यत्रान्यधर्माध्यास:'*[787] के द्वारा विज्ञानवादी बौद्धों के मतों का खण्डन किया है। इसी पंक्ति से न्याय-वैशेषिक के मतों का भी खण्डन हो जाता है। फिर उन्होंने *'यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम'*[788] के द्वारा सांख्य और मीमांसकों के अख्यातिवाद का निवारण किया है। तीसरा सिद्धांत *'यत्र यदध्यास: तस्यैव विपरीतधर्मत्त्वकल्पनामाचक्षते'*[789] के द्वारा माध्यमिक बौद्धों का खण्डन किया है।

शंकराचार्य भ्रम को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि *'स्मृतिरूप: परत्रपूर्वदृष्टावभास:'*[790] अर्थात् स्मृति रूप पूर्व दृष्ट का अन्य अधिष्ठान में प्रतीति (अवभास) ही अध्यास है। इसमें भी एक अधिष्ठान माना गया है और उस पर एक अध्यारोप स्वीकार किया गया है। अधिष्ठान रूप शुक्ति है और उस पर अध्यारोपित रजत है। यह रजत स्मृतिरूप पूर्वदृष्ट है। किन्तु जिस समय अविद्या

---

[786] वहीं,पृ.160
[787] ब्र.सू.शां.भा. अध्यासभाष्य पृ.32
[788] वहीं,पृ.36
[789] वहीं,पृ.37
[790] वहीं,पृ.32

के कारण रजत सत्य प्रतीत होता है, वह स्मृति नहीं प्रतीत होता है। उसे सत् नहीं कह सकते क्योंकि उसका बाध होता है। वह असत् भी नहीं है क्योंकि वह आकाश कुसुम जैसा न होकर प्रत्यक्ष दिखायी देता है। उसे सत् और असत् दोनों भी नहीं माना जा सकता क्योंकि इन दोनों रूपों का परस्पर विरोध है। शंकर ऐसी वस्तु को अनिर्वचनीय मानते हैं, जो न सत् है, न असत् और न उभयात्मक। भ्रम भी ऐसा ही होने के कारण अनिर्वचनीयख्याति कहलाता है। रजत एक अवभास है इसलिए उसकी प्रातिभासिक सत्ता मानी जाती है।[791]

एक दूसरे स्थान पर शंकराचार्य ने *'अतस्मिन् तद् बुद्धि:'*[792] कहकर अध्यास का लक्षण किया है। अर्थात् जिसमें जो नहीं है, उसमें उसकी प्रतीति अध्यास कहलाती है। जैसे आत्मा में देह के धर्मों का अध्यास करके कहा जाता है, मैं मोटा हूँ, मैं कृश हूँ, मैं जाता हूँ आदि। मोटा होना, कृश होना, जाना आदि शरीर के धर्म हैं। किन्तु इन सबका अध्यास 'मैं' रूप आत्मा में कर दिया जाता है। इसी प्रकार आत्मा में इन्द्रियों के धर्मों का अध्यास करके कहा जाता है कि मैं गूँगा हूँ, मैं काना हूँ, मैं नपुंसक हूँ, मैं बहरा हूँ, मैं अन्धा हूँ आदि। गूँगा, काना, नपुंसक आदि इन्द्रियों के धर्म हैं। इन सभी धर्मों का आत्मा में आरोप कर दिया जाता है। इसे ही आत्मा में अनात्मा का अध्यास करना हुआ। यदि इस प्रकार का अध्यास न हो तो निर्लिप्त, निष्क्रिय आत्मा के द्वारा व्यवहार ही नहीं हो सकता; क्योंकि आत्मा स्वयं कुछ भी करने में असमर्थ है। क्रिया अज्ञान का कार्य है।[793]

4.3 सात्त्विक ज्ञान : सात्त्विक ज्ञान बुद्धि का पर्याय है, जो कि निश्चयात्मिका वृत्ति से युक्त होती है। निश्चियात्मिका वृत्ति से युक्त न होने पर भी ब्रह्मज्ञान निश्चय करने में स्वतंत्र है; क्योंकि ब्रह्मज्ञान स्वयं प्रकाश है। श्रुति में उसे *'स्वयंज्योति'*[794] कहा गया है। बुद्धि ब्रह्मज्ञान से प्रेरित होती है। बुद्धि स्पन्दन युक्त है, जबकि ब्रह्मज्ञान स्पन्दन रहित अवस्था है।

---

[791] अद्वै.ऐ.वि.पृ.163

[792] वहीं,पृ.54

[793] ब्र.सू.शां.भा.पृ.47

[794] यानि ह्येव जाग्रत पश्यति तानि सुप्त इत्यत्रायं पुरुष: स्वयं ज्योति: भवति। -बृ.उ.4.3.14

वस्तुतः सात्त्विक ज्ञान विद्या है और तामसिक ज्ञान अविद्या है। या ऐसा समझे कि सत्त्वगुण प्रकाशक होने से विद्या है और तमोगुण आवरक होने से अविद्या है। श्रीयुक्तेश्वर जी ने सात्त्विकज्ञान को धनात्मक आवेश तथा तामसिक ज्ञान को ऋणावेश रूप माना है, जो कि चुम्बक के दो ध्रुव के समान हैं। किन्तु इन दोनों के बीच एक ऐसी स्थिति भी होती है, जहाँ पर न ऋणात्मक प्रभाव होता है, न ही धनात्मक प्रभाव होता है। उस आवेश शून्य बिन्दु को रजोगुण प्रधान बताया गया है। सात्त्विक ज्ञान और तामसिक ज्ञान दो विरोधी तत्त्व हैं। जहाँ सात्त्विक ज्ञान होता है, वहाँ तामसिक ज्ञान नहीं होता है। जहाँ तामसिक ज्ञान होता है, वहाँ सात्त्विक ज्ञान नहीं होता है। किन्तु यह एक क्रमिक अवस्था है। सात्त्विक ज्ञान के बाद तत्काल न तामसिक ज्ञान का अन्तिम बिन्दु आ जाता है। न तामसिक ज्ञान के बाद तत्काल सात्त्विक ज्ञान आ जाता है। सात्त्विक ज्ञान के सर्वश्रेष्ठ बिन्दु तथा तामसिक ज्ञान के सर्वश्रेष्ठ बिन्दु के बीच के किसी भी बिन्दु पर सत्त्व और तमस् मिले होते हैं। सत्त्व से तमस् की ओर जाने पर सत्त्व की मात्रा घटने लगती है और तमस् की मात्रा बढ़ने लगती है। बीच में एक ऐसा भी बिन्दु है जहाँ न सत्त्व का प्रभाव है, न तमस् का प्रभाव है। उसे ही रजो बिन्दु कहा जाता है।[795]

सत्त्व गुण में प्रकाशित करने की शक्ति चेतन तत्त्व से आती है और तमोगुण में आवरक शक्ति भी उसी चेतन ब्रह्म से आती है; क्योंकि उसी के प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित होता है।[796] यही बात केनोपनिषद् में भी कही गयी है, *'आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्'।*[797] आचार्य शंकर ने इस पर भाष्य करते हुए 'वीर्यं' का अन्वय विद्यया के साथ किया है अर्थात् *'विद्यया विन्दते वीर्यं आत्मना विन्दते अमृतम्'।*[798] आचार्य शंकर के मत में अमृतत्व अर्थात् ब्रह्म अनुभूति स्वयं से ही प्राप्ति होती है। उसकी प्राप्ति में कोई अन्य कारक कार्य नहीं करता है। विद्या से केवल अज्ञान को दूर करने की सामर्थ्य मिलती है। विद्या योग्यता प्रदान करती है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि वह आत्मा जिसको वरण कर लेता है, उसके सम्मुख स्वयं को प्रकट कर देता है।[799] वह त्रिगुणातीत ज्ञान निरपेक्ष है। सात्त्विक ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता है। निरपेक्ष ब्रह्मज्ञान योग्य पुरुष के

---

[795] तंत्र विज्ञान, विज्ञानभैरव तंत्र, पांचवा खण्ड, पृ.148

[796] तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। -मु.उ.2.2.10

[797] केन.उ.2.4

[798] वहीं,शां.भा.

[799] यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्। -कठ.उ.1.2.23

सम्मुख अपने स्वरूप को स्वतः प्रकट कर देता है। लेकिन योग्यता सात्त्विक ज्ञान से ही आती है। यदि योग्यता न हो तो उपासक निर्गुण ब्रह्म के तेज को, उसके प्रकाश को सहन नहीं कर सकता है। यह सहन करने की शक्ति सात्त्विक ज्ञान से आती है। इसी को केनोपनिषद् में *'विद्यया विन्दते वीर्यं*[800] शब्द से कहा गया है। ओशो रजनीश के शब्दों में *'उपाय बुद्धत्व नहीं देते हैं, वे तुम्हें बुद्धत्व झेलने के योग्य बनाते हैं, वे तुम्हें क्षमता और बल देते हैं कि तुम बुद्धत्व को झेल सको'।*[801]

4.4 ईश्वरीय स्वप्न रूप जगत् : भारतीय मनीषियों ने इस जगत् को ईश्वरीय स्वप्न के रूप में प्रतिपादित किया है। तारे, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी आदि सभी ईश्वर के स्वप्न हैं। किन्तु माया के कारण मनुष्य इन्हें वास्तविक समझता है। इन पुरुषों में ईश्वर एक जाग्रित पुरुष है। जिसे इस जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान है। अत: योग में ईश्वर को पुरुष विशेष कहा गया है।[802] असत्य जगत् में सत्य की अनुभूति कराना ही माया का कार्य है। माया नापने का कार्य करती है। नापने की प्रक्रिया द्वैतता के सिद्धांत पर कार्य करती है। फल का संकल्प ही चित्त विक्षेप का कारण है। फल का संकल्प न करना ही सन्यास है। चित्त का विक्षेप रहित होना ही चित्त समाधान है। जिसे योग कहते हैं।[803]

जिस प्रकार स्वप्न निद्रा के अधिकार में होता है। जब तक हम नींद में होते है। स्वप्न को वास्तविक समझते हैं। उसमें किसी प्रकार का बदलाव नहीं कर सकते। स्वप्न में हम स्वप्नजगत् के नियमों का पालन किया करते हैं। स्वप्नजगत् के नियमों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता है। उसी प्रकार यह व्यवहारिक जगत् अविद्या के अधिकार में बताया गया है। अविद्या के अधिकार में ये सभी वस्तुएँ वास्तविक और नित्य प्रतीत होती हैं। किन्तु सभी कुछ अनित्य होता है। अविद्या के अधिकार में कुछ भी नित्य नहीं है। व्यवहारिक दृष्टि से सभी पदार्थों की उत्पत्ति होती है। उनका विनाश भी होता है। किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से तो सब कुछ आत्मा रूप है। सभी वस्तुएँ अज हैं।

संवृत्या जायते सर्वं शाश्वतं नास्ति ते न वै।

---

[800] केन.उ.2.4

[801] तं.वि.,पृ.134

[802] क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुषविशेष ईश्वर:। -यो.सू.1.24

[803] योग: चित्त समाधानम्। -भग.गी.171

सद्भावेन ह्यजं सर्वमुच्छेदस्तेन नास्ति वै॥[804]

स्वप्न में स्थित पुरुष सभी दिशाओं में अनेक जीवों को देखा करता है। अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्, जरायुज् आदि अनेक जीव दिखायी देते हैं। किन्तु ये सभी जीव उस स्वप्नद्रष्टा पुरुष के मन का विलास मात्र होता है। उसका चित्त ही दृश्य और द्रष्टा में विभक्त हो जाता है। सभी दृश्य पदार्थ उस स्वप्न द्रष्टा से पृथक् नहीं होते हैं। फिर भी पृथक् दिखायी देते हैं। उसी प्रकार जाग्रत अवस्था के जीव भी परमात्मा के मन के विलास मात्र हैं।[805] स्वप्न जगत् मेरे मन का विलास है तो यह व्यवहारिक जगत् ईश्वर के मन का विलास है। स्वप्न में जैसे हमारा मन द्रष्टा और दृश्य दो भागों में विभक्त हो जाता है। उसी प्रकार परमात्मा के स्वप्न में परमात्मा का चित्त द्रष्टा और दृश्य दो भागों में विभक्त हो गया है। स्वप्न में जगत् वास्तविक प्रतीत होता है और जागने पर मिथ्या हो जाता है। उसी प्रकार यह जगत् भी वास्तविक दिखायी दे रहा है। आत्मज्ञान प्राप्त होने पर मिथ्या हो जायेगा। स्वप्न जगत् में हम सुख दु:ख का अनुभव करते हैं। उसी प्रकार हम इस भौतिक जगत् में भी सुख दु:ख की अनुभूति करते हैं। आत्मज्ञान प्राप्त हो जाने पर इस भौतिक जगत् की निवृत्ति हो जाती है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में एक स्थान पर कहा गया है कि मन इस स्थूल जगत् से संस्कार ग्रहण करके स्वप्न देखता है।[806] प्रश्नोपनिषद् में मन को परमदेव कहा गया है; क्योंकि यह मन सभी प्रकाशनशील इन्द्रियों से श्रेष्ठ है।[807] वहीं फिर कहा गया है कि स्वप्नकाल में यह देव अपनी महिमा का अनुभव करता है।[808]

4.5 अन्तर्ज्ञान का प्रकाश : ज्ञानयज्ञ को सभी प्रकार के द्रव्ययज्ञो से श्रेष्ठ बताया गया है; क्योंकि द्रव्ययज्ञों से जो फल प्राप्त होता है, वे सभी फल ज्ञानयज्ञ से स्वयमेव प्राप्त हो जाते है। इस विषय में शंकराचार्य एक उदाहरण देते हैं, जैसे चौपड़ के खेल में कृतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग, कलियुग नामक चार पासे होते हैं। अनमें से सर्वश्रेष्ठ कृतयुग पासे को

---

[804] मा.उ.4.57
[805] वहीं,4.63
[806] अस्यलोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय। -बृ.उ.4.3.9
[807] परे देवे मनस्येकीभवति। -प्रश्न.उ.4.2
[808] अत्रैष देव: स्वप्ने महिमानमनुभवति। - वहीं,4.5

जीत लेने पर सभी पासे स्वयमेव जीत लिये जाते हैं। इसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मविद्या रूप ज्ञानयज्ञ से सभी यज्ञों का फल स्वयमेव प्राप्त हो जाता है।[809] योगानन्द ने अन्तर्ज्ञान को भी प्रमाण की कोटि में रखा है। भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने प्रमाणों की संख्या भिन्न-भिन्न मानी है। शंकराचार्य नें कुमारिल भट्ट के द्वारा स्वीकृत छः प्रकार का प्रमाण मानते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण, उपमान प्रमाण, शब्द प्रमाण, अनुपलब्धि प्रमाण तथा अर्थापत्ति प्रमाण ये छः प्रकार के प्रमाण हैं, जिसके द्वारा लौकिक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। अनुमान, उपमान आदि पांच प्रकार के प्रमाण प्रत्यक्ष पर ही आधारित है। इसलिए मुख्यतः केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही ठहरता है, जो इन्द्रियों पर आधारित होने से केवल वर्तमान वस्तु का ही ज्ञान करा सकता है। किन्तु अन्तर्ज्ञान से प्रत्यक्ष के अतरिक्त दूर देश के विषयों का भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में इस अन्तर्ज्ञान को 'अन्तर्ज्योति' शब्द से कहा गया है।[810] शंकराचार्य ने इस पर भाष्य करते हुए लिखा है। कि 'अन्तरात्मा एव ज्योतिः प्रकाशो यस्य सा अन्तर्ज्योतिः'[811] अन्य प्रमाणों से कुछ सीमित वस्तुओं को ही जाना जा सकता है। किन्तु अन्तर्ज्योति के द्वारा सभी ज्ञेय वस्तु के बारे में जाना जा सकता है; क्योंकि आत्मा के लिए कोई देश, काल अवच्छेदक नहीं है।

योगानन्द के अनुसार अन्तर्ज्ञान एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा हम इन्द्रियातीत जगत् का बोध प्राप्त करते है। इस जगत् में असंख्य पदार्थ ऐसे हैं, जिनका ज्ञान इन्द्रियों से नहीं हो सकता है। किन्तु इन सभी पदार्थों का ज्ञान अन्तर्ज्ञान से सम्भव है। अन्तर्ज्ञान की पहुँच प्रत्येक पदार्थ तक है। अन्तर्ज्ञान कोई विचार नहीं, कोई तर्क नहीं, मन का कोई संकल्प विकल्प नहीं, बुद्धि का कोई व्यापार नहीं है, न ही कोई ऐन्द्रिक प्रक्रिया है। अन्तर्ज्ञान आत्मा की आवाज है, जो प्रत्येक जीवित पुरुष का स्वरूप है। अतः प्रत्येक पुरुष को यह अन्तर्ज्ञान स्वभावतः प्राप्त है। इस प्रकार अन्तर्ज्ञान अन्दर से आता है और विचार बाहर से आता है। अन्तर्ज्ञान चरम सत्य को प्रत्यक्ष रूप से दिखाता है, जबकि वस्तु विषयक

---

[809] भग.गी.4.33
[810] वहीं,5.24
[811] वहीं,शां.भा.

विचार अप्रत्यक्ष ही होता है। अन्तर्ज्ञान किसी विलक्षण सामञ्जस्य द्वारा चरम सत्य को सम्पूर्णता में देखता है, जबकि विचार उसे अंशो में काट कर देखता है।[812]

श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन के द्वारा पूछे जाने पर कि स्थिर बुद्धि का क्या लक्षण है? स्थिर बुद्धि वाला पुरुष किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करता है? वह किस प्रकार बोलता है, कैसे व्यवहार करता है इत्यादि? अर्जुन के द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर श्रीकृष्ण ने स्थिर बुद्धि वाले पुरुष के लक्षण बताये हैं। स्थित बुद्धि वस्तुतः मुक्त पुरुष को कहते हैं; क्योंकि मुक्त पुरुष की बुद्धि विचलित नहीं होती है। जो पुरुष मुक्त नहीं होता है, उसका मन अनेक प्रकार की कामनाओं में लगा रहता है। माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार यह सम्पूर्ण जगत् आत्मा का कल्पना मात्र है।[813] मन के भिन्न-भिन्न प्रकार के स्पन्दन से जगत् की सृष्टि होती है। मन का स्पन्दन युक्त होना ही अस्थिर बुद्धि का लक्षण है। श्रुति के अनुसार मन में यह स्पन्दन अविद्या से उत्पन्न होता है। मन को जब आनन्द की प्राप्ति होती है। तब स्पन्दन में कमी आती है। स्पन्दन की कमी से मन को आनन्द की अनुभूति होती है। इस आनन्द को प्राप्त करने के लिए मन अनेक सांसारिक विषयों में भागता रहता है। किन्तु सांसारिक पदार्थ मन को स्थायी आनन्द नहीं दे सकते हैं। सांसारिक पदार्थों से जुड़ने के लिए मन को आयास करना पड़ता है। इस आयास से दुःख की प्राप्ति होती है।

अतः मन को स्थिर रखने के लिए या मन की स्पन्दन रहित अवस्था प्राप्त करने के लिए दो चीजें आवश्यक हैं। प्रथम आयास न करना पड़े। जैसा की सांसारिक पदार्थों से जुड़ने के लिए आयास करना पड़ता है। दूसरा कि उसे नित्यानन्द की प्राप्ति होती रहे, तभी वह मन स्पन्दन रहित अवस्था को प्राप्त हो सकता है। मन का स्पन्दन रहित होना ही स्थिर बुद्धि का लक्षण है। अतः मन की स्पन्दन रहित अवस्था प्राप्त करने के लिए श्रीमद्भगवद्गीता में उपाय भी बताये गये हैं। उन उपायों में से एक उपाय है, अपने से ही अपने में सन्तुष्ट रहना।[814] किन्तु मनुष्य की इन्द्रियाँ स्वभावतः बहिर्मुखी ही होती हैं। यदि वह अन्तर्मुखी हों तो निश्चय ही स्थिर मति की अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है।

---

[812] धर्मविज्ञान, पृ.70
[813] मा.उ.वै.प्र.12
[814] भग.गी.2.55

पूर्ण संतुष्टि प्राप्त करने के लिए जरूरी है कि अपने से ही अपने को देखा जाये।[815] इसी को लाहिड़ी ने कहा है कि *'मन को मन से देखना चाहिए'।*[816] साधारणतः मनुष्य मन के द्वारा ही वस्तुओं को देखने का अभ्यस्त होता है। वह जानता है कि इन्द्रियों के पीछे मन कार्य करता है। अनन्यमनस्क होकर किसी वस्तु को नहीं देखा जा सकता है। किन्तु केनोपनिषद् ऋषि कहते है। कि मन के पीछे भी देखने वाला कोई और है और वह ब्रह्म है।[817]

मन के द्वारा मन को देखने की प्रक्रिया में प्रथम मन साधन रूप आत्मा होगा और दूसरा मन अन्तःकरण होगा। इस प्रक्रिया में अन्तःकरण के पीछे आत्मा की अनुभूति प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार की बुद्धि स्थित हो जाने पर पुरुष स्थितप्रज्ञ कहलाता है। यदि पुरुष प्रतिक्षण अपने मन का निरीक्षण करे और देखे कि वर्तमान समय में उसका मन कहाँ है? तो निश्चय ही वह अपने मन के पीछे स्वयं को पायेगा। इस प्रक्रिया में मन को कोई आयास नहीं करना पड़ता है। यह स्पन्दन रहित अवस्था ही स्थितप्रज्ञ कही जाती है। अत्यधिक आनन्द युक्त होने से अन्य कामनाओं का परित्याग हो जाता है। तब मन को सांसारिक वस्तुओं में आनन्द प्राप्त करने के लिए आयास नहीं करना पड़ता है। प्रारम्भ में अभ्यास न होने से मन बार-बार विचलित हो जाता है। किन्तु अभ्यास हो जाने पर पुरुष अपने में ही सन्तुष्ट रहने लगता है। यही स्थिति स्थित-प्रज्ञ कही जाती है।[818]

जब पुरुष अपने में ही सन्तुष्ट हो जाता है, तब उसे किसी दूसरे विषय की इच्छा नहीं होती है। तुष्टि पुरुष की स्वाभाविक स्थिति होती है। सृष्टि का नियम है कि जो वस्तु जितनी अधिक ऊर्जा से युक्त होगी, जितनी अधिक शक्ति सम्पन्न होगी वह उतनी ही अस्थिर, असन्तुष्ट, असन्तुलित होती है। उसी प्रकार इस संसार में भी धन, वैभव, सिद्धि, ऐश्वर्य आदि सभी कुछ शक्ति सम्पन्न होने से पुरुष को अस्थिर अर्थात् असन्तुष्ट बना देता है।[819]

---

[815] अत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते। - वहीं,2.55

[816] पुराण पुरुष योगीराज श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी, पृ.173

[817] यन्मनसा न मनुते येनाहुः मनो मतम्। -केन.उ.1.5

[818] प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ - भग.गी.2.55।

[819] वहीं,2.66

वस्तु हमेशा अपनी अस्थिर अवस्था से स्थिर अवस्था में जाने की चेष्टा करती है। जीवात्मा भी अस्थिर या असन्तुष्ट अवस्था में है। वह स्थिर अवस्था में जाने के लिए आनन्द की खोज करता रहता है। अज्ञान की प्रबलता के कारण जीवात्मा का मन अपने में आनन्द की खोज न करके बाह्य वस्तुओं में आनन्द की खोज करता है। पुनः वह वस्तु की इच्छा करता है। इच्छित वस्तु की प्राप्ति होने पर सुख तथा इच्छित वस्तु की अप्राप्ति, नाश या वियोग होने पर दुःख की प्राप्ति होती है। जिस पुरुष को ज्ञान प्राप्त हो गया है, वह बाहरी वस्तुओं में आनन्द की खोज न करके अपने में ही आनन्द की प्राप्ति करता है।[820] वह अपने में ही सन्तुष्ट रहता है। आत्मसन्तुष्ट पुरुष बाहरी वस्तुओं से सुखी-दुःखी नहीं होता है। प्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर सुखी नहीं होता है और वियोग होने पर दुःखी नहीं होता है। ऐसा पुरुष ही स्थिर बुद्धि वाला कहा जाता है।[821]

श्रीमद्भगवद्गीता में कामना को ज्ञानी पुरुष का वैरी बताया गया है। ज्ञानी पुरुष का धन ज्ञान है। इस ज्ञान के रहते हुए भी ज्ञानी पुरुष कभी-कभी पाप कर्मों में लिप्त हो जाता है। इस प्रकार के उदाहरण लोक में देख कर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रश्न किया कि मनुष्य के न चाहते हुए भी कभी-कभी पाप कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है, ऐसा क्यों होता है? इसके पीछे कोई कारण तो अवश्य होगा, जो मनुष्य को पाप कर्मों में प्रवृत्त करता है। इस प्रश्न के उत्तर के रूप में श्रीकृष्ण ने काम को पाप कर्मों में प्रेरक बताया है। इस काम के वशीभूत होकर ही पुरुष न चाहते हुए भी पाप कर्मों को करने लगता है। काम ज्ञानी पुरुष की बुद्धि को आच्छादित कर देता है।[822] काम शरीर में विद्यमान् इन्द्रिय, मन और बुद्धि में रहता है। इनको आश्रय करके ही मनुष्य के ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को अनेक प्रकार से मोहित किया करता है।[823]

अज्ञान और ज्ञान दो विरोधी तत्त्व हैं। अज्ञान तमस् प्रधान होने से वस्तु स्वरूप को आवृत्त करने वाला होता है। जबकि ज्ञान सत्त्व प्रधान होने से वस्तु के स्वरूप को अनावृत्त करने वाला होता है। ज्ञान और अज्ञान दोनों एक रज्जु के दो छोर की तरह हैं। अद्वैतवेदान्त में सदानन्द के द्वारा दिये गये अज्ञान शक्ति के लक्षण के अन्तर्गत त्रिगुणात्मक शब्द होने से

---

[820] अशान्तस्य कुतः सुखम्। - वहीं,2.66
[821] वहीं,2.56
[822] आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा। - वहीं,3.39, शां.भा.
[823] वहीं,3.40

सात्त्विक ज्ञान भी अज्ञानशक्ति में समाहित है। अर्थात् सत्त्व प्रधान ज्ञान तथा तमस् प्रधान अज्ञान ये दोनों ही ब्रह्म की अज्ञान शक्ति के अन्तर्गत परिगणित हैं। त्रिगुणात्मक होने से ज्ञान कभी अज्ञान को तिरोहित कर देता है। तो कभी अज्ञान ज्ञान को तिरोहित कर देता है। इस प्रकार सात्त्विक ज्ञान भी कभी-कभी अज्ञान से तिरोहित हो जाता है। किन्तु त्रिगुणातीत ब्रह्मज्ञान कभी भी अज्ञान से तिरोहित नहीं होता है। सात्त्विक ज्ञान ब्रह्मज्ञान को प्रकाशित नहीं कर सकता है। किन्तु ब्रह्मज्ञान सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि ब्रह्मज्ञान सूर्य की भाँति सभी ज्ञेय वस्तुओं को प्रकाशित कर देता है।[824] इस विषय में श्रुति में बार-बार उल्लेख प्राप्त होता है, यथा 'एकस्मिन्विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति'[825] आदि।

श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञान की तुलना एक दीपक से की गयी है। जिस प्रकार तेल, बत्ती और अग्नि से बना हुआ दीपक अन्धकार का निवारक होता है, उसी प्रकार ज्ञान भी अज्ञान का निवारक होता है। अत: अन्धकार को दूर करके प्रकाश फैलाने की दृष्टि से ज्ञान और दीपक में परस्पर समानता दिखाई देती है। जिस प्रकार दीपक बत्ती, तेल आदि से मिलकर बना होता है, उसी प्रकार शरीर में सात्त्विक ज्ञान की अभिव्यक्ति में अनेक कारण होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने ज्ञान दीपक की कल्पना करते हुए कहा है कि ज्ञान दीपक में भक्ति का प्रसाद ही घृत है। वह ज्ञान दीपक मेरे स्वरूप की भावना के अभिनिवेश रूप वायु की सहायता से प्रज्वलित होता है।

जिसमें ब्रह्मचर्य आदि साधनों के संस्कारों से युक्त बुद्धि ही बत्ती है। आसक्ति रहित अन्त:करण जिसका आधार है। जो विषयों से हटे हुए और राग द्वेष रूप कालुष्य से रहित हुए चित्त रूप वायु रहित अपवारक में स्थित है और जो निरंतर अभ्यास किए हुए, एकाग्रता रूप ध्यान जनित, पूर्ण ज्ञान स्वरूप प्रकाश से युक्त है। उस ज्ञान दीपक द्वारा मैं मोह का नाश कर देता हूँ।[826] दीपक की लौ ही मुख्यतया दीपक होती है; क्योंकि उस लौ से ही अन्धकार दूर होता है। दीपक और ब्रह्मतत्त्व दोनों ही प्रकाश स्वरूप हैं।

---

[824] यथादित्यः समस्तं रूपजाताम् अवभासयति तद्वद् ज्ञानं ज्ञेयं वस्तु सर्वं प्रकाशयति। - वहीं,5.16, शां.भा.

[825] मु.उ.1.1.3, शां.भा.

[826] तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ -भग.गी.10.11, शां.भा.

अद्वैतवेदान्त में बुद्धि शब्द का प्रयोग ज्ञान के अर्थ में हुआ है।[827] किन्तु यहाँ पर बुद्धि शब्द का अर्थ सात्त्विक ज्ञान से है न कि निर्गुण ब्रह्मज्ञान। शांकरभाष्य में बुद्धि का लक्षण करते हुए कहा गया है कि *'बुद्धिः अन्तःकरणस्य सूक्ष्माद्यर्थावबोधन सामर्थ्यं तद्वन्तं बुद्धिमान् इति ही वदन्ति'*[828] अर्थात् सूक्ष्म से सूक्ष्मतर आदि पदार्थों को समझने वाली अन्तःकरण की ज्ञानशक्ति का नाम बुद्धि है। पुनः उसी स्थान पर ज्ञान का भी लक्षण दिया गया है *'ज्ञानमात्मादि पदार्थानाम् अवबोधः'।*[829] अर्थात् शास्त्र या आचार्य के द्वारा किसी पदार्थ के विषय में जो अवबोध होता है, उसे ज्ञान कहा जाता है।

उपनिषद् में ज्ञानमार्ग को सूक्ष्म, विस्तीर्ण और पुरातन बताया गया है। ऋषियों ने इस ज्ञानमार्ग का वर्ण भी बताया है। कुछ लोग शुक्लवर्ण का बताते हैं। कुछ लोग नीलवर्ण, पिङ्गलवर्ण, हरित तो कुछ लोग लोहित वर्ण का बताते हैं। आचार्य शंकर के मत में यह केवल ब्रह्मज्ञानियों का दृष्टिकोण मात्र है। वस्तुतः शुक्ल, नील, पिङ्गलत्व आदि श्लेषमादि रस से परिपूर्ण शुषुम्नादि नाड़ियाँ ही हैं; क्योंकि इससे पूर्व बृहदारण्यक उपनिषद् के ऋषि ने नाड़ियों के वर्ण रक्त, पिङ्गलादि बता चुके हैं।[830] सम्भव है कि ऋषि द्वारा कथित 72000 नाड़ियों में से कुछ नाड़ियाँ ही ज्ञानमार्ग हों। सूक्ष्म, विस्तीर्ण एवं पुरातनादि इन नाड़ियों की विशेषता है। अतः ये नाड़ियाँ भी पुरातन सिद्ध होती हैं। इस मार्ग को अत्यधिक तेजस्वी कहा गया है; क्योंकि अत्यधिक तेज स्वरूप इन नाड़ियों से परमात्मतेज स्वरूप ब्रह्मवेत्ता के जाने का उल्लेख मिलता है।[831]

4.6 मन का ज्योतिर्मय स्वरूप : पाश्चात्य दार्शनिकों ने मन और आत्मा में कोई भेद नहीं किया है। वे मन को ही आत्मा कहते हैं। किन्तु वैदिक दर्शन में मन और आत्मा को पृथक्-पृथक् बताया गया है। मन ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का सहायक होता है। इसलिए उभयेन्द्रिय है। उपनिषद् में मन को दिव्यचक्षु कहा गया है।[832] दिव्यचक्षु कहे जाने से यह भी सम्भव है कि मन चक्षु की सहायता के बिना भी देखने में समर्थ हो। यह

---

[827] वहीं,10.4
[828] वहीं,शां.भा.
[829] वहीं, शां.भा.
[830] तस्मिन् शुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च। -बृ.उ.4.4.9
[831] वहीं,4.4.9
[832] छा.उ. 8.12.5-6

मन स्थूल या सूक्ष्म शरीर का नेत्र न होकर आत्मा का चक्षु कहा गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि यह आत्मा मन रूप दिव्य नेत्रों से ब्रह्मलोक के समस्त भोगों को देखता हुआ रमण करता है।[833] इससे स्पष्ट होता है कि ब्रह्मलोक में निवास करने वाले पुरुष को संकल्प मात्र से सभी भोगों की प्राप्ति होती है। इसके पहले भी छान्दोग्य उपनिषद् के ऋषि ने प्रतिपादित किया था कि अन्तिम समय में पुरुष जिसका चिंतन करता है, वह उसे ही प्राप्त होता है। यदि पितृलोक का चिंतन करता है तो पितृलोकों को प्राप्त होता है। यदि ब्रह्म का चिंतन करेगा तो ब्रह्म के लोकों की प्राप्ति होती है। अर्थात् संकल्प मात्र से सभी वस्तुएँ उसे प्राप्त हो जाती हैं।[834] तैत्तिरीय उपनिषद् में मन को ज्योति रूप बताया गया है और यह भी बताया है कि घृत आदि का सेवन करने वाले पुरुष का मन तेजस्वी होता है।[835] शुक्लयजुर्वेद के शिवसंकल्प सूक्त में मन को दूरगामी ज्योतियों में अद्वितीय ज्योति स्वरूप बताया गया है।[836]

केनोपनिषद् में एक ओर जहाँ मन के अधिष्ठातृ देवता के रूप में चेतन ब्रह्म को प्रतिपादित किया गया है। वही दूसरी ओर कठोपनिषद् में मन का साधनत्व भी प्रतिपादित किया गया है। वस्तुतः मनुष्य के शरीर में मन एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। जिसके महत्त्व को किसी भी तरह नकारा नहीं जा सकता है। भारतीय मनीषीजनों के द्वारा यह अनुभव सिद्ध है कि बिना मन की एकाग्रता के आत्मतत्त्व को नहीं जाना जा सकता है। एकाग्रता का तत्पर्य है स्पन्दन युक्त मन का ठहराव। जैसा कि शंकराचार्य ने विवेकचूड़ामणि में स्वीकार किया है कि मन अन्तःकरण की एक वृत्ति का नाम है। एक अन्तःकरण अपनी वृत्ति भेद से अहंकार, चित्त, बुद्धि और मन इन चार नामों से जाना जाता है। वृत्ति का अर्थ है- व्यापार या स्पन्दन। स्पन्दन को ही अंग्रेजी में वाइब्रेशन के नाम से जाना जाता है। अन्त:करण के स्पन्दन की एक निश्चित दर का नाम मन है। जिस प्रकार सूर्य प्रकाश के स्पन्दन दरों में अन्तर होने से प्रकाश का रंग बदल जाता है, उसी प्रकार अन्त:करण के स्पन्दन दरों में अन्तर होने से कार्य में भेद के आधार पर मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि संज्ञाएँ बदल जाती हैं। अतः निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि अन्तःकरण की एक विशेष स्पन्दन दर का नाम मन है। इस स्पन्दन दर की मात्रा में कमी

---

[833] वहीं,8.12.5-6

[834] संकल्पादेवास्य पितर: समित्तिष्ठन्ति। - वहीं,8.2.1

[835] मनो ज्योतिर्जुषताम्। -तै.उ.1.6.3.3

[836] शु.य.वा.सं.34.1

आने पर मन की एकाग्रता बढ़ती है अथवा स्पन्दन दर की मात्रा में वृद्धि होने पर एकाग्रता बढ़ती है। यह भी सम्भव है कि आवृत्ति (स्पन्दन दर) बढ़ने पर एकाग्रता बढ़ती हो; क्योंकि जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में आवृत्ति बढ़ने के साथ प्रकाश की शक्ति बढ़ती जाती है। उसी प्रकार मन की एकाग्रता बढ़ने पर मन की शक्ति बढ़ने का उल्लेख मिलता है।

प्राणी के शरीर में मन एक ऐसा तत्त्व है, जो इस भौतिक जगत् तथा आत्मा के बीच की कड़ी है। आत्मा से प्रेरित होकर यह मन अपने विषयों का संकल्प-विकल्प किया करता है, जिसे केनोपनिषद् में *'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतं'*[837] के द्वारा कहा गया है। यहाँ केनोपनिषद् का तात्पर्य निर्गुण ब्रह्म में है; क्योंकि त्रिगुणातीत ब्रह्म का चिंतन मन के द्वारा किया ही नहीं जा सकता है। जो कठोपनिषद् में कहा गया है कि *'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन'*[838] अर्थात् मन से ही इस तत्त्व को जाना जा सकता है। यहाँ परमात्मा का कथन किया गया है। परमात्मा सगुण ब्रह्म है, जिसका चिंतन मन के द्वारा किया जा सकता है। परमात्मा के गुणों का श्रवण, चिंतन, मनन और निदिध्यासन करने से पुरुष परमात्मा के समान हो जाता है; क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि जो जैसा सोचता है, वह वैसा ही हो जाता है। अत: कठोपनिषद् में यमराज के द्वारा आत्मोपदेश करना सार्थक होगा। आत्मोपदेश के बाद उस परमात्मा के गुणों का चिंतन, मनन, निदिध्यासन करने पर ही परमात्मा का ज्ञान हो सकेगा। यह चिंतन, मनन और निदिध्यासन मन के सहयोग के बिना सम्भव नहीं है।

मन सभी लोकों की प्राप्ति का साधन है। मन के द्वारा ही इस लोक और परलोक की सभी वस्तुओं की प्राप्ति होती है। ऋषियों ने मृत्यु के समय की मनोस्थिति का अधिक महत्त्व बतलाया है। देह त्याग के समय अज्ञानी पुरुष का मन जिस प्रकार का संकल्प करता है। वह पुरुष उसी रूप को प्राप्त करता है। यह इस पर निर्भर करता है कि साधक अपने जीवन में एक ही निगुण ब्रह्मोतत्त्व की किस रूप में उपासना की है। जिस रूप में उपासना करता है। उसका चित्त मृत्यु से पूर्व उसी रूप का चिंतन करता है और उसी लोक को प्राप्त होता है। इस विषय में श्रुति कहती है कि *'तं यथा यथोपासते तदेव भवति'।*[839]

---

[837] केन.उ.1.5
[838] कठ.उ.2.1.11
[839] ब्र.सू.शां.भा.पृ.276

छान्दोग्योपनिषद् में भी इसी प्रकार का मन्त्र आया है, जिसमें कहा गया है कि पुरुष इस लोक में जैसा संकल्प करता है, परलोक में जाकर वैसा ही होता है।[840] श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे कुन्ती पुत्र! मनुष्य जिस भाव का स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह मनुष्य उसी भाव को प्राप्त होता है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥[841]

अतः निष्कर्ष पूर्वक कहा जा सकता है कि शरीर त्याग पूर्वक् ईश्वर के नाम का उच्चारण करते रहना चाहिए। भावों के साथ ईश्वर का ध्यान करते रहते पर अन्तकाल में भी ईश्वर की स्मृति बनी रहती है, जिससे उच्च लोकों की प्राप्ति होती है।

मन शब्द की व्युत्पति देते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है- 'मनुते इति मनः' अर्थात् मनन क्रिया करने के कारण उसका नाम मन हुआ। मन ज्ञान शक्ति के विकास का एक साधारण साधन है; क्योंकि इससे आत्मा मनन करता है। कर्ता होने की स्थिति में जीवात्मा जब मनन क्रिया करता है। तब मन संज्ञा से अभिहित होता है- *'मन्वानो मनो मनुते इति। ज्ञानशक्तिविकासानां साधारणं करणं मनो मनुतेऽनेनेति। पुरुषस्तु कर्ता सन्मन्वानो मन इत्युच्यते'।*[842]

यद्यपि ब्रह्म समस्त जड़ जगत् का कारण है। वह मन का भी कारण है। फिर भी मन के द्वारा उसे देखने का कथन है।[843] किन्तु यहाँ 'देखना चाहिए' ऐसा कहा गया है न कि 'देखा जा सकता है' ऐसा। कार्य होने से मन अपने कारण ब्रह्म को नहीं जान सकता है।[844] मनुष्य के शरीर में ज्ञान का साधन मन है। अतः ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने में मन का सहयोग होता है। मन से कल्पना करके जीवात्मा उस ब्रह्म से तदाकाराकारित होकर अभेद की अनुभूति कर सकता है। ब्रह्मज्ञान तो ब्रह्म की इच्छा पर निर्भर करता है। वह चाहे तो अपने स्वरूप को प्रकट कर दे, चाहे तो न भी करे। ईशोपनिषद् में साधक प्रार्थना

---

[840] यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति। -छा.उ.3.14.1

[841] भग.गी.8.6

[842] बृ.उ.1.4.7, शां.भा.

[843] मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन्। - वहीं,4.4.19

[844] यन्मनसा न मनुते येनाहुः मनोमतम्। -केन.उ.1.5

करता है कि परमात्मा स्वयं उसके सम्मुख अपने स्वरूप का उद्घाटन करे।[845] इसी प्रकार केनोपनिषद् में कहा है कि विद्या से सामर्थ्य को प्राप्त हुए पुरुष को स्वयं(आत्मा) से अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है।[846] अत: विद्या का कार्य समर्थ बनाना है। उपनिषद् में वर्णित पराविद्या का मन से चिंतन करके योग्यता प्राप्त होती है। फिर परमात्मा उस योग्य पुरुष के सम्मुख अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है। इसलिए ऋषि कहते हैं कि मन से ही उसका चिंतन करना चाहिए। मन के द्वारा ब्रह्म के अप्रमेयत्व, ध्रुवत्व, निर्मलत्व, सूक्ष्मत्व, अजन्मत्व, महानता, अविनाशित्व आदि का चिंतन करने से पुरुष तदाकार होकर ब्रह्म प्राप्ति के योग्य हो जाता है।[847]

बृहदारण्यक उपनिषद् में मन, वाक् और प्राण को प्रजापति का अन्न बताया गया है। किन्तु यहाँ अन्न शब्द का क्या अर्थ है। आचार्य शंकर ने स्पष्ट नहीं किया है। पिता ने मन, वाक् और अन्न को अपने लिए किया।[848] अब मन की सत्ता वास्तव में है भी या नहीं इसे निश्चय करने के लिए एक व्यवहारिक दृष्टान्त दिया गया है कि जब किसी के सामने से कोई पुरुष गमन किया। फिर उससे पूछा गया कि क्या तुमने उसे देखा तो उसका उत्तर होता है कि नहीं, मेरा मन अन्यत्र था। इसलिए मैंने नहीं देखा। इससे सिद्ध होता है कि मन होता है। पुरुष मन से ही देखता है, मन से सुनता है और मन से ही स्वाद भी लेता है। इन्द्रियाँ तभी अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ होंगी, जब उससे मन जुड़ा हो। इस प्रकार मन का अस्तित्त्व सिद्ध करने के उपरान्त उसका स्वरूप बताते हुए ऋषि कहते हैं कि काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय, यह सब मन का व्यापार है।[849] काम का अर्थ है- स्त्री आदि से सम्बन्ध की अभिलाषा। किसी वस्तु का नील, पीत आदि भेद से कल्पना करना संकल्प है। विचिकित्सा संशय ज्ञान को कहते हैं। श्रद्धा का तात्पर्य है- जिनका फल अदृष्ट है, उन कर्मों और देवताओं में आस्तिकता का भाव रखना। इससे विपरीत भाव रखना अश्रद्धा कहलाता है। धीरज रखना धृति है, इसके विपरीत भाव अधृति है। इसी प्रकार बुद्धि एवं भय ये सभी भाव मन के ही हैं,

---

[845] तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये। -ईशा.उ.15

[846] आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्। -केन.उ.2.4

[847] बृ.उ.4.4.20

[848] त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुतान्यत्रमना ... । - वहीं,1.5.3

[849] काम: संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृतिर्हीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव। - वहीं,1.5.3

अर्थात् मन के व्यापार हैं।[850] अत: स्पष्ट हुआ कि इन सभी व्यापारों से युक्त मन पिता प्रजापति का ही अन्न है।

ईशावास्योपनिषद् में मन को गति धर्म से युक्त बताया गया है। अध्यात्म में इन्द्रियों तथा मन को भी गति करने वाला कहा गया है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि गति करने वाले समस्त पदार्थों में मन की गति सर्वाधिक होती है। किन्तु इस मन्त्र में ब्रह्म की गति को मन से भी तीव्र बतायी गयी है।[851] किन्तु ब्रह्म की गति की यह विशेषता है कि वह न चलते हुए भी मन से तीव्र गति से चलने वाला है; क्योंकि ब्रह्म आकाश के समान सर्वव्यापक होने से मन जहाँ भी जाता है। ब्रह्म वहाँ पर पहले से विद्यमान् होता है। आध्यात्मिक जगत् में ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ तत्त्व बताया गया है। अतः जब तक दूसरा प्रमाण नहीं प्राप्त हो जाता तब तक ब्रह्म को ही सर्वधिक तीव्र गति करने वाला तत्त्व माना जाना चाहिए और मन की गति को दूसरे स्थान पर रखा जाना चाहिए।

चिंतन, स्मरण या विचार का नाम संकल्प है। संकल्प बन्धन भी उत्पन्न करता है और मोक्ष भी प्रदान करता है। अन्तिम समय में जीव का संकल्प जैसे होता है। वैसी ही गति उसे प्राप्ति होती है। यदि लौकिक चिंतन होगा तो उसे पुनर्जन्म की प्राप्ति होगी। यदि परमार्थ विष्णु का संकल्प होगा तो विष्णु के परमपद की प्राप्ति होगी। संकल्प से कामना उत्पन्न होती है। कामना ही आसक्ति है। आसक्ति यदि परमार्थ वस्तु से होगी तो जीवात्मा का जुड़ाव परमार्थ से हो जायेगा।[852]

इस संकल्प को काम का मूल माना गया है। पुरुष जब किसी वस्तु के विषय में सोचता है, स्मरण करता है। तब उस वस्तु के प्रति कामना उत्पन्न होती है। उस वस्तु के विषय में कामना ही जीव को अपने से बाँध लेती है। इसलिये बन्धन से मुक्त होने के लिये जरूरी है कि वस्तु की कामना ही न की जाये। किन्तु उस कामना का भी मूल संकल्प है। संकल्प करने से ही कामना उत्पन्न होती है। अत: कामना को नष्ट करने के लिये उसके मूल संकल्प को ही त्याग देना जरूरी है। मनु ने इस विषय में कहा है- *'संकल्प मूल: कामो वै यज्ञा:*

---

[850] वहीं,1.5.3, शां.भा.

[851] अनेजदेकं मनसो जवीयो। -ईशा.उ.4

[852] भग.गी.8.6

संकल्प सम्भवा:'।[853] इसी प्रकार महाभारत में भी आया है, जिसमें कहा गया है कि हे काम! मैं तेरे मूल कारण को जानता हूँ। तू नि:सन्देह संकल्प से ही उत्पन्न होता है। अब मैं तेरा संकल्प नहीं करूँगा और तू मुझे प्राप्त नहीं होगा।

काम: जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।

न त्वां संकल्पयिष्यामि समूलो न भविष्यसि॥[854]

इस प्रकार हम देखते हैं कि निष्काम कर्म का सम्पादन करते समय फल में आसक्ति का परित्याग करना पड़ता है। आसक्ति का अर्थ है- कामना, जो कि पुरुष को कर्मफल से जोड़ देती है और पुनर्जन्म का कारण बन जाती है। अर्थात् फल की कामना का परित्याग करना आवश्यक है। फल की कामना का मूल है फल का चिंतन करना। यदि हम फल का चिंतन न करें तो कामना नहीं बनेगी और कर्म अपना संस्कार नहीं छोड़ सकेगा। अत: फल के विषय में किञ्चितमात्र सोचे बिना कर्म करना ही निष्काम कर्म कहलाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि *'स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते'।*[855] अर्थात् वह जैसी कामना वाला होता है वैसे निश्चय वाला होता है और जैसा निश्चय करता है, वैसा ही कर्म करता है। मनु इस विषय में कहते हैं कि जीव जो-जो कर्म करता है, वह सब काम की ही चेष्टा है।[856]

ऐतरेय उपनिषद् में प्रज्ञान रूप मन के 16 रूप बताये गये हैं। प्रज्ञान रूप मन इन 16 रूपों में मुख्यतया कार्य करता है। सर्वप्रथम ऋषि ने हृदय और मन का एकीकरण स्थापित करते हुए कहा है कि यह हृदय ही मन है।[857] इस हृदय रूप मन का प्रथम रूप संज्ञान है, जिसका अर्थ है चेतनता या चेतन भाव। यह हृदय आज्ञान भी है न कि अज्ञान। यहाँ आज्ञान का अर्थ है आज्ञा करना या प्रभुता, जिसे ईश्वरभाव कहा जाता है। कला आदि का ज्ञान प्राप्त करने पर यह विज्ञान कहलाता है। कभी-कभी मन के द्वारा जब निर्णय लिया जाता है, निश्चय किया जाता है, तब प्रज्ञान कहते हैं अर्थात् प्रतिभा। ग्रन्थ

---

[853] मनु.2.3
[854] महा.शां.177.25
[855] बृ.उ.4.4.5
[856] यद्यद्धि कुरुतेकर्म तत्तत्कामस्य चेष्टितम्। -मनु.2.4
[857] तदेवैतद् हृदयंमनश्च,एकमेव तदनेकधा। एतेनन्त:करणेन।-ऐ.उ.3.1.2,शां.भा.

धारण की शक्ति मन में होती है, इसलिये इसे मेधा कहा जाता है। इन्द्रिय रूप साधन के द्वारा विषय उपलब्ध करने के क्रम में इसे दृष्टि कहते हैं; क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा जब विषय का ग्रहण किया जाता है, तो उसके पीछे मन ही कार्य करता है। मन की प्रेरणा से ही शरीर और इन्द्रियों में जागृति उत्पन्न होती है। इसलिये मन को धृति भी कहा जाता है।

मनन करने पर यह मन मति कहलाता है। मनन करने में स्वतंत्र होने के कारण इसे मनीषा कहते हैं। चित्त का रोगादि से दु:खी होने पर इसे जूति कहा जाता है। स्मरण करने पर स्मृति कहलाता है। विचार करने पर इसका व्यापार संकल्प कहलाता है। अध्यवसाय करने पर क्रतु कहलाता है। श्वास, उच्छवास क्रिया भी मन के कारण ही होती है। अत: मन को अशु कहते हैं। अप्राप्त विषय की आकांक्षा होने पर इसे काम कहते हैं। मन को वश भी कहते हैं। उपर्युक्त नाम प्रज्ञान रूप ब्रह्म या अन्त:करण के हैं, *'यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूति: स्मृति: संकल्प: क्रतुरसु: कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति'।*[858] इसी प्रकार का उल्लेख कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में आया है कि मन प्रज्ञा द्वारा वाणी पर आरूढ़ होकर वाणी से सम्पूर्ण नामों को प्राप्त करता है। प्रज्ञा द्वारा चक्षुरिन्द्रिय पर आरूढ़ होकर समस्त रूपों को प्राप्त करता है। यहाँ प्रज्ञा का अर्थ बुद्धि है।[859] बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि मन से ही देखता है, मन से सुनता है, हृदय से ही रूपों का ज्ञान प्राप्त करता है।[860] वहीं फिर बताया गया है कि काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि और भय ये सभी मन के ही रूप हैं।[861]

मन को उभयेन्द्रिय माना गया है। यह कर्मेन्द्रिय भी है और ज्ञानेन्द्रिय भी है। मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों के साथ रहता है। यह मन इन्द्रियों के पीछे से कार्य करता है। मन एक ऐसी नलिका (माध्यम) का कार्य करता है, जो प्रज्ञात्मा और इन्द्रियों को जोड़ने का कार्य करती है। इन्द्रिय-विषय मन के द्वारा ही प्रज्ञात्मा तक पहुँचता है।

---

[858] वहीं,3.1.2

[859] प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति प्रज्ञयाचक्षु: समारुह्य चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति। -कौ.उ.3.6

[860] मनसा ह्येव पश्यति मनसा श्रृणोति हृदयेन हि रूपाणि जानाति। -बृ.उ.1.5.3

[861] वहीं

वागिन्द्रिय की पहुँच प्रत्येक वस्तु तक है। अद्वैत ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य जितनी भी द्वैत वस्तुएँ हैं, सभी सीमित हैं। इन सभी सीमित वस्तुओं तक वाणी की पहुँच है। किन्तु यह वाणी भी मन के साथ ही कार्य करती है। वाणी जिस भी वस्तु को शब्द प्रदान करती है। वहाँ मन की स्थिति अवश्य होती है। तैत्तिरीय उपनिषद् के ऋषि ने बताया है कि द्वैत जगत् के अतिरिक्त अद्वैत ब्रह्म को भी वाणी ने शब्द देने की कोशिश की थी। किन्तु उसे वह शब्द न दे सकी। अत: वह वाणी मन के साथ हताश होकर लौट आई।[862]

स्वप्न मन के अधीन होता है। यह मन के द्वारा रचा गया संसार होता है। स्वप्नावस्था जाग्रत और सुषुप्ति के बीच की अवस्था है। इस अवस्था में सभी ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय मन में लय हो जाती हैं और प्राणादि वायु अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। अद्वैतवेदान्त में इसे तैजस् कहा गया है। स्वप्न में मन उन्हीं विषयों को पुनः अनुभव करता है। जाग्रत अवस्था में जिसे वह देखा है, स्वप्न में उसे ही सुनता है, जो जाग्रत में सुन चुका है। अर्थात् जाग्रत अवस्था में इन्द्रियों के द्वारा अनुभव किये गये को स्वप्न में पुनः अनुभव करता है। किन्तु ऋषि कहते हैं कि सदैव यह आवश्यक नहीं है कि इन्द्रिय अनुभूत विषयों का ही स्वप्न में अनुभव हो। कभी-कभी यह देखे गये, न देखे गये भी, सुने गये, न सुने गये विषयों को भी, सत् एवं असत् सभी पदार्थों को देखता है। स्वप्न में मन स्वयं विषय और विषयी बन जाता है। स्वयं ही स्वयं को देखता है। स्वयं सर्वरूप होकर स्वयं को देखता है। स्वप्नावस्था में यही मन का देवत्व कहलाता है।[863]

प्रश्नोपनिषद् में पुरुष की स्वप्नावस्था से सुषुप्तावस्था में पहुँचने की वैज्ञानिक प्रक्रिया का उल्लेख प्राप्त होता है। स्वप्न के समय मन में स्थित वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है। वही मन जब नाड़ी में रहने वाले पित्तनामक सौरतेज से अभिभूत होने लगता है, तब वह स्वप्नावस्था से सुषुप्तावस्था में प्रवेश करता है।[864] सुषुप्तावस्था में वह पूर्णतः पित्त के तेज से अभिभूत हो जाता है। तब सभी इन्द्रियाँ मन में उसी प्रकार लीन हो जाती है। जैसे

---

[862] यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। -तै.उ.2.9.1

[863] अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद् दृष्टंदृष्टमनुपश्यतिश्रुतं श्रुतमेवार्थमनुश्रृणोति। देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्व: पश्यति॥ प्रश्न.उ.4.5।

[864] वहीं,4.3

सूर्यास्त के समय सूर्य किरणें सूर्य में लय हो जाती है। जैसा कि प्रश्नोपनिषद् के चतुर्थ प्रश्न के चतुर्थ मन्त्र में कहा जा चुका है। सुषुप्ति काल में इन्द्रियों के सहित मन की किरणों का हृदय में उपसंहार हो जाता है। सुषुप्ति में मन शरीर के प्रत्येक अंश में उसी प्रकार व्याप्त करके स्थित हो जाता है। जैसे अग्नि काष्ठ में व्याप्त हो जाती है। आचार्य शंकर कहते है कि उस समय मन नाम वाला देव स्वप्नों को नहीं देखता है।[865] इससे निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं कि मन के स्वप्नावस्था से सुषुप्तावस्था तक पहुंचते समय नाड़ी में रहने वाले पित्त नामक सौरतेज से मन का तेज अभिभूत हो जाता है, जिससे कि मन की वासना का स्फुरण नहीं हो सकता है। तथा वासना का स्फुरण न हो सकने के कारण मन स्वप्न नहीं देखता है। शंकराचार्य के इस भाष्य से मन से उत्पन्न होने वाली किरणों का ज्ञान होता है। इन किरणों के हृदय में उपसंहार हो जाने पर मन सुषुप्ति में पहुंच जाता है।

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में एक स्थान पर आचार्य शंकर ने मन और जीव के बीच सम्बन्ध बताते हुए मन को जीव की उपाधि बताया है। शरीर के हृदय भाग में मन की स्थिति बताई है। अत: जीव भी हृदय में रहता है। ऐसा माना जा सकता है।[866]

मन और प्राण एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। वैदिक ऋषियों के अनुसार मन की चंचलता प्राण की चंचलता पर निर्भर करती है। मन को नियंत्रित कर लेने पर प्राण का नियन्त्रण स्वतः हो जाता है। प्राण को नियन्त्रित कर लेने पर मन स्वतः नियंत्रित हो जाता है। इस विषय में छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि मन प्राण के अधीन है।[867]

भारतीय मनीषियों ने मनुष्य शरीर में मन और इन्द्रियों का विशेष स्थान स्वीकार किया है। विशेषकर अध्यात्म की उपासना करने वाले पुरुषों के लिए मन, इन्द्रियों तथा उनके बीच के परस्पर सम्बध को जानना अत्यंत आवश्यक है; क्योंकि इन इन्द्रियों के अधीन हो जाने पर पुरुष उसी प्रकार पथभ्रष्ट हो जाता है। जैसे- एक रथ के स्वाधीन घोड़े रथी को पथभ्रष्ट कर देते हैं। कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय की तीसरी वल्ली में रथरूपक कल्पना

---

[865] स यदा मनो रूपो देवो यस्मिन् काले सौरेण पित्ताख्येन तेजसा नाडी शयेन सर्वतोऽभिभूतो भवति तिरस्कृतवासना द्वारो भवति तदा सह करजैः मन सो रश्मयो हृद्युपसंहृता भवन्ति। - वहीं,4.6, शां.भा

[866] मनौपाधिकश्च जीवः मनश्च प्रायेण हृदये प्रतिष्ठितमित्यतो जीवस्यैवेदं हृदयेऽन्तरवस्थान स्यात्। - ब्र.सू.पृ.597

[867] प्राण बन्धनं हि सौम्य मनः। -छा.उ.6.8.2

में इन्द्रियों को रथ में घोड़े का स्थान दिया गया है। कठोपनिषद् के रथरूपक से इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, आत्मा तथा शरीर के बीच सम्बन्ध को आसानी से समझा जा सकता है।

प्रश्नोंपनिषद् में मन और इन्द्रियों के बीच सम्बन्ध को एक उदाहरण के द्वारा समझाया गया है। जैसे सूर्य के अस्त हो जाने पर सूर्य की किरणें सूर्य में सिमट जाती हैं। सूर्योदय के समय पुनः सूर्य से निकलकर फैल जाती हैं। उसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ मन के अधीन होती हैं। स्वप्न के समय सभी इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती हैं। पुनः जागते हुए पुरुष की इन्द्रियाँ मन से निकल कर अपने स्थानों पर फैल जाती हैं। अपने विषय को प्रकाशित करने के कारण इन इन्द्रियों को देव कहा जाता है। सभी इन्द्रियाँ मन के अधीन होती है, इसलिए मन को परमदेव कहा गया है। इन्द्रियाँ जब मन में एकीभाव को प्राप्त हो जाती है, तब पुरुष न सुनता है, न देखता है, न घ्राण करता है, न स्वाद लेता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न हाथों से ग्रहण ही करता है, न जननेन्द्रिय से आनन्द लेता है, न कोई चेष्टा ही करता है।[868] इससे इन्द्रियों का मन के अधीन होना सिद्ध होता है।

उपनिषद् में इन्द्रियों से विषय की तथा विषय से मन की श्रेष्ठता बतायी गयी हैं।[869] किन्तु कायर पुरुष का मन इन्द्रियों और उसके विषयों से पराजित हो जाता है। इन इन्द्रियों में इतनी शक्ति होती है कि विद्वान् पुरुष के मन को भी विषयों की ओर आकर्षित कर लेती हैं।[870] इसी प्रकार कायर पुरुष की बुद्धि भी मन से पराजित हो जाती है। कठोपनिषद् के रथरूपक में बुद्धि को सारथि अर्थात् इन्द्रिय रूपी घोड़ो को नियन्त्रित करने वाला बताया गया है। संयमी पुरुष विवेक बुद्धि से अपने मन को नियन्त्रित करता है। बाह्यविषयों से मन को हटाकर आत्मज्ञान में नियोजित करता है। किन्तु जिस पुरुष की बुद्धि कलुषित होती है। बुद्धि में स्थित पूर्वजन्म के संस्कार अच्छे नहीं होते हैं। ऐसे पुरुष की बुद्धि मन के द्वारा किये गये राग द्वेष से युक्त कार्यों का समर्थन करती है। ऐसे पुरुषो की बुद्धि विवेक पूर्ण निर्णय लेने में असमर्थ होती है।[871]

मन से श्रेष्ठ बुद्धि है। बुद्धि से श्रेष्ठ महान् आत्मा (महत् तत्त्व) है। महत् तत्त्व से मूल प्रकृति श्रेष्ठ है और अव्यक्त से भी पुरुष श्रेष्ठ है। किन्तु पुरुष से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।

---

[868] प्रश्न.उ.4.2

[869] कठ.उ.1.3.10

[870] भग.गी.2.60

[871] इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि। - वहीं,2.67

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥[872]

वेदान्तसार में ज्ञानेन्द्रियों के साथ मन को मनोमय कोश कहा गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में बताया गया है कि यह मनोमय कोश भी अन्नमय कोश के समान पुरुषाकार ही होता है। इस पुरुषाकार मनोमय कोश का सिर यजु: है। ऋक् को दक्षिण पक्ष, साम को उत्तरपक्ष, आदेश को आत्मा तथा अथर्ववेद के मन्त्रों को पुच्छ कहा गया है।[873] मनोमय कोश, प्राणमय कोश में व्याप्त होता है। इसलिए यह प्राणमय कोश शरीर का आत्मा है।[874] इसी प्रकार प्राणमय शरीर अन्नमय शरीर का आत्मा होता है।

ऋक्, यजु:, साम, अथर्व आदि मन्त्रों का मनोमय कोश से कैसे सम्बन्ध है? इसका उल्लेख करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि ये सभी वैदिक मन्त्र उच्चारण करने से पूर्व मनोवृत्ति के रूप में सामने आते हैं। मन का ऋक् विषयक व्यापार होने के बाद वाक् से उच्चारण किया जाता है। इसी प्रकार मन की यजु: विषयक वृत्ति यजुर्वेद के मन्त्र हैं। मन की साम विषयक वृत्ति सामवेद के मन्त्र हैं और ऋक् विषयक वृत्ति ऋग्वेद के मन्त्र हैं। इस प्रकार मन की यजु:वृत्ति ही मनोमय कोश का शीर्ष स्थानीय है।[875]

भारतीय दर्शन में मन को उभयेन्द्रिय माना गया है। यह मन अन्तर्विषयों का ज्ञान कराने के कारण ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्म में लिप्त होने से कर्मेन्द्रिय कहा जाता है। यह मन कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का सहायक भी होता है। कर्मेन्द्रिय से असमर्थ होने पर मन के द्वारा भी कर्म किया जा सकता है। कुछ लोग कर्मेन्द्रियों को रोककर मन के द्वारा पाप कर्मों का चिंतन किया करते हैं। जिससे चित्त पर उन पाप कर्मों का संस्कार पड़ जाता है। उसका फल भी उसे भोगना पड़ता हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में ऐसे पुरुषों को मिथ्याचारी बताया गया है।[876]

---

[872] कठ.उ.1.3.10

[873] आत्मा मनोमय:। स वा एष पुरुषविध एव । तस्य यजुरेव सिर:। ऋक् दक्षिण: पक्ष:। सामोत्तर: पक्ष:। आदेशात्मा। अथर्वांगिरस: पुच्छं प्रतिष्ठा। -तै.उ.2.3.1

[874] तस्यैष एव शारीर आत्मा य: पूर्वस्य। - वहीं,2.4.1

[875] वहीं,2.3.1, शां.भा.

[876] भग.गी.3.6

अद्वैतवेदान्त में अन्तःकरण के संकल्प-विकल्पात्मक व्यापार को मन कहा गया है। अर्थात् संकल्प विकल्पात्मक व्यापार का नाम मन है। संकल्प-विकल्प के अतिरिक्त भी अन्तःकरण के अन्य व्यापारों का नाम मन है। जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि *'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिः अधृतिर्ह्रीर्धीरित्येतत्सर्वं मन एव'।*[877] इससे ज्ञात होता कि मन केवल इन्हीं व्यापारों तक सीमित रहता है। किन्तु ब्रह्म इनमें से एक भी नहीं है। इसलिए मन चेतन ब्रह्म तक नहीं पहुँच सकता है। अपने मनन का विषय नहीं बना सकता है।

मनन एक व्यापार है, जो दशों इन्द्रियों के विषय से सम्बन्धित होता है; क्योंकि मन का सम्बन्ध सभी इन्द्रियों से होता है।[878] अतः मन को ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों के अन्तर्गत रखा गया है। अद्वैतवेदान्त में मन को भी चेतन रूप बताया गया है। मन का प्रकाशक चैतन्य ज्योति रूप है। जिससे प्रकाशित होकर मन संकल्प-विकल्प, श्रद्धा-अश्रद्धा आदि व्यापार किया करता है।[879] मन उसी विषय का मनन करता है, जो ज्ञानेन्द्रियों का विषय बनता है।

अश्वल ने पूछा कि यह अन्तरिक्ष निरालम्बन है। अतः यजमान किस आलम्बन से स्वर्गलोक में चढ़ता है। याज्ञवल्क्य ने कहा कि चन्द्रमा यज्ञ का मन है और यह मन ब्रह्मा ऋत्विज् है अन्य कोई नहीं। अतः यजमान ब्रह्मा रूप मन के द्वारा स्वर्गलोक को जाता है।[880]

अश्वल ने पूछा कि ब्रह्मा यज्ञ की दक्षिण दिशा में बैठकर कितने देवताओं के द्वारा यज्ञ की रक्षा करता है। तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि एक देवता के द्वारा यज्ञ की रक्षा करता है और वह देवता मन है। यहाँ मन को अनन्त कहा गया है। विश्वदेव को भी अनन्त कहा गया है। इस मन के द्वारा यजमान अनन्त लोकों को जीत लेता है।[881]

---

[877] बृ.उ.1.5.3

[878] मनुतेऽनेनेति मनः सर्वकरणसाधारणं सर्वविषय व्यापकत्वात्। -केन.उ.1.5, शां.भा.

[879] अन्तस्थेन हि चैतन्य ज्योतिषावभासितस्य मनसो मनन सामर्थ्यः। - वहीं,1.5, शां.भा.

[880] ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेण मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा स मुक्तिः इत्यादि। -बृ.उ.3.1.6

[881] स एकेति मन एवेत्यनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति। - वहीं,3.1.9

पुन: जबाला के पुत्र सत्यकाम ने राजा जनक के प्रति जो मन को ब्रह्म के रूप में प्रतिपादित किया था राजा जनक ने उसको बताया। याज्ञवल्क्य ने कहा कि मन ही ब्रह्म है। यह ब्रह्म का एक ही पाद है। मन ही उसका आयतन है। आकाश उसकी प्रतिष्ठा है। आनन्द के रूप में उसकी उपासना करनी चाहिए। याज्ञवल्क्य के मत में जो पुरुष मन का परब्रह्म के रूप में उपासना करता है। मन उसका कभी परित्याग नहीं करता है।[882] शंकराचार्य ने मन को भी ब्रह्म की ही उपाधि मानते हैं। जैसे ये सभी भौतिक वस्तुएँ ब्रह्म की उपाधियाँ हैं। वैसे मन भी ब्रह्म की उपाधि है, जो गतिशील है।[883]

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि हे सोम्य! पुरुष की वाणी मन में लय हो जाती है। मन प्राण में, प्राण तेज में लय हो जाता है। यह तेज परदेवता में लीन हो जाता है। पूर्वपक्ष की ओर से प्रश्न किया गया है कि यह जो वाणी का मन में लय कहा गया है, वह स्वरूपत: लय होना कहा गया है अथवा केवल वृत्तियों का लय होता है?[884] इस विषय में ब्रह्मसूत्रकार ने सूत्र दिया है *'वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च'।885* अर्थात् वाणी का स्वरूपत: मन में लय हो जाता है। अपने मत की पुष्टि के लिए पूर्वपक्ष छान्दोग्य उपनिषद् के मन्त्र[886] का उल्लेख करते हैं। इस पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने कहा है कि वाणी स्वरूपत: मन में लीन नहीं होती है, अपितु वाणी की वृत्तियाँ लीन हो जाती हैं। यह वाणी अपनी शान्त वृत्तियों के साथ मन के साथ हो जाती है। जैसे अग्नि का जल में लय नहीं होता है, अपितु जल की उपस्थिति में अग्नि का व्यापार शान्त हो जाता है। कोई भी कार्य अपने उपादान कारण में ही स्वरूपत: लय होता है। वाणी का उपादान कारण मन नहीं है; क्योंकि ऐसी कोई श्रुति नहीं प्राप्त होती है। जहाँ मन को वाणी का उपादान कारण बताया गया हो। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार वाणी शब्द सभी ज्ञानेन्द्रियों का प्रतिनिधित्व करता है।[887] अत: यही समझना चाहिए कि सभी इन्द्रियाँ चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, रसना, घ्राण आदि सभी अपनी शान्त वृत्तियों से युक्त होकर मन के साथ हो जाती है।

---

[882] वहीं,4.1.6

[883] मन उपाधिकत्वाद्धि। -केन.उ.4.5, शां.भा.

[884] अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मन: प्राणे प्राणस्तेजसि तेज: परस्यां देवतायाम्। -छा.उ.6.8.6

[885] वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च। -ब्र.सू.4.2.1

[886] छा.उ.6.8.6

[887] वहीं,6.8.6

अत: यही समझना चाहिए कि इन्द्रियों की वृत्तियों का ही लय होता है न कि इन्द्रियों का। इसके लिए बादरायण ने सूत्र दिया है, 'अतएव च सर्वाण्यनु'।[888] प्रश्नोपनिषद् में कहा भी है कि जीवात्मा मन में लीन हुई इन्द्रियों के साथ अन्य शरीर को प्राप्त होता है।[889] यहाँ 'इन्द्रियै:' इस शब्द से ज्ञात होता है कि इन्द्रियों का स्वरूपत: लय नहीं होता है, अपितु इन्द्रियाँ उसके साथ होती हैं। इसी प्रकार उन इन्द्रियों के साथ मन प्राण में लय हो जाता है और प्राण तेज में, तेज परदेवता में लय हो जाता है। अर्थात् इन्द्रियाँ मन के साथ, इन्द्रियों के सहित मन प्राण के साथ एवं प्राण जीवात्मा के साथ स्थित हो जाता है। इस प्रक्रिया में इन्द्रियों, मन एवं प्राण की वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं।

ये सभी तत्त्व अपना व्यापार नहीं करते हैं। ब्रह्मसूत्रकार आचार्य बादरायण का कथन है कि जीवात्मा के गमन आदि से सिद्ध होता है कि प्राण, मन और इन्द्रियों के साथ अपने स्वामी जीवात्मा में स्थित हो जाता है, *'सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्य:'*।[890] आचार्य शंकर ने लिखा है कि अन्तकाल में जीवात्मा जब ऊर्ध्व होता है। तब प्राण, वाक्, इन्द्रियाँ आदि सभी आत्मा के अभिमुख हो जाते हैं।[891]

बृहदारण्यक उपनिषद् में प्राण और इन्द्रियों के परस्पर संवाद में सभी इन्द्रियों के क्रमश: उत्क्रमण करने पर प्राण उत्क्रमण नहीं करता है। किन्तु जब प्राण शरीर से उत्क्रमण करने लगता है, तब सभी इन्द्रियाँ भी उसी के साथ उत्क्रमण करने लगती हैं।[892] इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियाँ प्राण पर आश्रित हैं। प्राण ही उनका स्वामी है। आचार्य शंकर के मत में जिसकी जिससे उत्पत्ति नहीं होती है। उसका उसमें वृत्ति से प्रलय होता है। स्वरूपत: प्रलय नहीं होता है।[893] वह प्राण पुन: जीवात्मा में लीन हो जाता है। जीवात्मा तेज में लीन हो जाता है। यहाँ तेज शब्द से सूक्ष्मभूत का ग्रहण है। केवल तेजस् का ग्रहण नहीं है, अपितु जीवात्मा प्राण, मन, इन्द्रियों के साथ सूक्ष्मभूत में लीन हो जाता है। सभी सूक्ष्मभूत तेजस् के नाम से कहे गये हैं; क्योंकि स्वप्नावस्था में भी इसे तेजस् के नाम से

---

[888] ब्र.सू.4.2.1

[889] तस्मादुपशान्ततेजा: पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानै: -प्र.उ.3.9

[890] ब्र.सू.4.2.4

[891] एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्र एतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति'

[892] प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्कामन्ति। - वहीं,4.4.2

[893] यस्य यतो नोत्पत्तिस्तस्य तस्मिन् वृत्तिप्रलयो न स्वरूप प्रलय इति। - वहीं,4.2.4, शां.भा.

कहा जाता है। अत: बृहदारण्यक उपनिषद् में इस जीवात्मा को पृथिवीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय कहा गया है।[894]

इस प्रकार निष्क्रमण के समय प्राण, मन और इन्द्रियाँ जीवात्मा के साथ पंच सूक्ष्मभूत में स्थित हो जाता है। उसके उपरान्त वह सूक्ष्म शरीर मूर्धा की ओर जाने वाली नाड़ी से निष्क्रमण करता है। यहाँ तक आत्मज्ञानी और साधारण पुरुष दोनों का निष्क्रमण समान रूप से होता है। पुन: आत्मज्ञानी पुरुष के सूक्ष्म शरीर का ब्रह्म में स्वरूपत: लय हो जाता है। साधारण पुरुष के सूक्ष्म शरीर का स्वरूपत: लय नहीं होता है, अपितु वृत्तियों के द्वारा लय को प्राप्त करता है। कर्म संस्कारों के कारण स्वरूपत: लय नहीं होता है; क्योंकि साधारण जीवों का बार-बार जन्म लेने का उल्लेख प्राप्त होता है। यदि स्वरूपत: जीव का लय हो जायेगा तो यह श्रुति असत्य हो जायेगी। अत: यही समझना चाहिए कि मुक्ति प्राप्त होने तक जीवात्मा के तैजस् शरीर का स्वरूपत: लय नहीं होता है, अपितु सूक्ष्म शरीर की वृत्तियों का ही लय होता है।[895] सूक्ष्म शरीर को तैजस् कहते हैं। तैजस् होने के कारण उसकी अपनी ऊष्मा होती है। इस ऊष्मा के कारण ही सूक्ष्म शरीर गर्म प्रतीत होता है। सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से जब पृथक् हो जाता है। तब स्थूल शरीर में शीतलता आ जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि स्थूल शरीर में विद्यमान् ऊष्मा सूक्ष्म शरीर की ऊष्मा होती है।[896]

4.7 प्राण का स्वरूप प्रतिपादन : जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु के लौकिक और पारमार्थिक दृष्टि से दो रूप होते हैं। उसी प्रकार प्राण के भी लौकिक और पारमार्थिक दो रूप है। लौकिक रूप से प्राण को हम पंचवायु के रूप में जानते हैं। पारमार्थिक रूप से प्राण भी चेतन ब्रह्म तत्त्व ही है। केनोपनिषद् में ब्रह्म के लिए *'प्राणस्य प्राण:'*[897] शब्द का प्रयोग है। इसी आधार पर ऋषियों और विद्वानों ने कई जगहों पर ब्रह्म के लिए प्राण शब्द का प्रयोग किया है, जिसके कारण यह जानना कठिन है कि प्राण शब्द वायु के लिए प्रयोग हुआ है अथवा परमात्मा के लिए। इसी प्रकार कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में एक

---

[894] वहीं,4.4.5
[895] तदापीते: संसारव्यपदेशात्। - वहीं,4.2.8
[896] अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा। - वहीं,4.2.11
[897] केन.उ.1.2

स्थान पर प्राण के लिए प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर, अमृत शब्द का प्रयोग है।[898] यहाँ संशय होता है कि क्या वायु के रूप में प्रसिद्ध प्राण प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर और अमृत हो सकता है। इसका निश्चय ब्रह्मसूत्र में हुआ है, *'प्राणस्तथाऽनुगमात्'।*[899] शंकराचार्य ने यहाँ प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर, अमर आदि विशेषताओं के आधार पर प्राण शब्द का अर्थ परमात्मा किया है।

छान्दोग्य उपनिषद् में उषस्ति ऋषि ने प्राण को सभी भूतों का कारण माना है। उनके मत में प्राण से ही सभी भूत उत्पन्न होते हैं, प्राण में गति करते हैं और प्राण में ही विलीन हो जाते हैं।[900] यहाँ पर शंकराचार्य ने प्राण का अर्थ 'प्राणस्य प्राण:' अर्थात् परमात्मा किया है। इससे स्पष्ट होता है कि उपनिषद् ऋषि मुख्य प्राण को वायु से भिन्न मानते थे। मुख्य प्राण भी इन्द्रियों के समान ब्रह्म से उत्पन्न होता है।[901]

प्राण शक्ति शरीर को चलाने वाली जीवन विद्युत् है, जो शुद्ध चेतन तत्त्व को अचेतन शरीर से जोड़कर शरीर को सक्रिय बनाती है। यह शक्ति मस्तिष्क से प्रवाहित होकर शरीर में स्थित छः केन्द्रों से प्रवाहित होकर सम्पूर्ण शरीर में प्रवाहित होती है। योगानन्द जी ने लिखा है, प्राण शक्ति मस्तिष्क से प्रवाहित होकर इन केन्द्रों के माध्यम से बाहरी इन्द्रियों तथा आन्तरिक अंगों में प्रवेश करके इन्हें जीवन से प्रकम्पित रखती है। यहीं पर प्राण शक्ति के लिए प्राण धारा और जीवन विद्युत् शब्द का भी प्रयोग किया गया है। अर्थात् जिस प्रकार भौतिक विद्युत् सभी मशीनों को गतिशील कर देती है। उसी प्रकार प्राण शक्ति भी शरीर में जीवन को गातिशील बना देती है, 'अणु से सूक्ष्म वह मेधावी ऊर्जा (प्राण या जीवन शक्ति) जो शरीर में जीवन को सक्रिय बनाती है और कायम रखती है'।[902] भौतिक विद्युत् केवल मशीन को गतिशील बनाने का ही काम नहीं करती है। आज यह विद्युत् जीवन के सभी क्षेत्रों में सूचनाओं के आदान प्रदान में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। उसी तरह प्राण विद्युत् भी शरीर के अन्तर्गत सूचनाओं के आदान प्रदान में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान को मस्तिष्क तक पहुँचाने का

---

[898] स एष प्राण एवं प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः। -कौ.उ.3.8
[899] ब्र.सू.1.1.28
[900] सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते। -छा.उ. 1.11.5
[901] श्रेष्ठश्च-ब्र.सू.2.4.8
[902] धर्म विज्ञान, पृ.55

काम भी करती है।[903] निद्रावस्था में जब शरीर के सवेदी अंग काम करना बन्द कर देते है। उस समय यह प्राण विद्युत् का प्रवाह ज्ञानेन्द्रियों और मस्तिष्क के बीच आंशिक रूप से कम हो जाता है। प्राण विद्युत् का प्रवाह कम हो जाने से इन्द्रियों के विषय की सूचना मस्तिष्क तक नहीं पहुँच पाती है। अत: निद्रावस्था में हमें विषयों का अनुभव नहीं हो पाता है। लेकिन प्राण विद्युत् का प्रवाह आंशिक रूप से ही बन्द होती है। अत: बाहरी हस्तक्षेप से यह विद्युत् पुनः प्रवाहित हो जाती है और मस्तिष्क निद्रा से पुनः जाग जाता है और शरीर के सभी अंग पुनः अपनी स्वाभाविक अवस्था में सक्रिय हो जाते हैं।[904]

प्राण तत्त्व शरीर को नियंत्रित करने का काम करता है। शरीर यदि शयन कर रहा है तो वह शयन ही करता रहे, जागता क्यों है? भूमि पर पड़ा हुआ शरीर उठता कैसे है? रूका हुआ पुरुष गतिशील कैसे होता है? या चलता हुआ पुरुष रूकता कैसे है? आदि प्रश्न मस्तिष्क में उठते हैं। इस विषय में शंकराचार्य कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् के एक मन्त्र को उदधृत करते हैं। उनके मत में प्रज्ञात्मा-प्राण शरीर को शयन तथा आसन से उठाता है; क्योंकि वाक् आदि इन्द्रियों में देह धारण की सामर्थ्य नहीं है। मन भी अकेले शरीर को धारण नहीं कर सकता है। मन का कार्य संकल्प-विकल्प करना, ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करना आदि इसके कार्य हैं। प्राण ही एक ऐसा तत्त्व है, जो रजोगुण प्रधान होता है। मन, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, शरीर आदि को सक्रिय करने का कार्य प्राण ही करता है। इस प्रज्ञात्मा प्राण में भी यदि अहं तथा शरीर के प्रति ममत्व का भाव न हो तो निश्चय ही शरीर को सक्रिय करने में असमर्थ होगा। कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् इस विषय में कहती है कि अहं और ममत्व के कारण ही प्राण शरीर को शयन तथा आसन आदि से उठाता है।[905] वस्तुतः इस शरीर में अहं एक ऐसा तत्त्व है, जो शरीर को संचालित करता है। अहं के कारण ही आत्मा और शरीर का एकत्व बना रहता है। यदि जीवात्मा शरीर को अपना स्वरूप न माने तो बन्धन ही नहीं होगा। बन्धन न होने पर शरीर में गति नहीं होगी। जीवात्मा अपने को शरीर से पृथक् मानेगा। जीवात्मा का अपने को शरीर से पृथक् जानना ही मोक्ष की अवस्था होती है। इसके विपरीत शरीर के साथ एकत्व स्थापित करके अन्यों से अपने को पृथक् करना ही अहं है।

---

[903] वहीं, पृ.56

[904] वहीं, पृ.56

[905] अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति। -कौ.उ.1.2.3

प्राण और आयु का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। शरीर में जब तक प्राण रहता है, तब तक आयु बनी रहती है। प्राण के निकलते ही शरीर की आयु भी समाप्त हो जाती है। लोक में भी प्राण निकलने का अर्थ आयु समाप्त होने से लिया जाता है। इस विषय में शंकराचार्य कहते हैं कि जब तक शरीर में प्राण है तभी तक आयु रहती है।[906] इससे जाना जा सकता है कि प्राण ही शरीर को आयु देता है और प्राण ही शरीर से आयु का हरण करता है।

प्राण और इन्द्रियों में प्राण को मुख्य माना गया है; क्योंकि सभी इन्द्रियाँ प्राण पर आश्रित है।[907] इतना अवश्य है कि प्राण शरीर को क्रियाशील बनाता है। चेतन आत्मा तथा अचेतन शरीर को जोड़ने का कार्य करता है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि शरीर प्राण से ही जीता है। प्राण तो एक निश्चित क्रम में कारण है। किन्तु अन्तिम रूप में कारण तो केवल जीवात्मा ही है। इस विषय में एक श्रुति भी है कि शरीर केवल प्राण और अपान वायु से ही नहीं जीता है, अपितु ये दोनों जिसमें आश्रित हैं उससे जीता है।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतौ उपाश्रितौ॥[908]

यहाँ प्राण का अर्थ है, श्वास छोड़ने की क्रिया और अपान का अर्थ है, श्वास लेने की क्रिया। प्रायः यह देखा जाता है कि जब तक श्वास चलती रहती है, तब तक शरीर बना रहता है। जैसे ही श्वास बन्द होती है, शरीर से जीवात्मा निकल जाती है। इससे पता चलता है कि श्वास से ही जीवन चलता है। किन्तु ऐसा नहीं है यह जीवात्मा पर निर्भर है। जीवात्मा के कारण ही शरीर में जीवन बना रहता है। पहले जीवात्मा है फिर प्राण है तब शरीर है, ऐसा समझना चाहिए।

ईशावास्योपनिषद् का यह चतुर्थ मन्त्र अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें वायु और उसके कार्यों का विभाग किया गया है।[909] इस मन्त्र में मातरिश्वा शब्द का अर्थ वायु है। मातारि का अर्थ है- अन्तरिक्ष में, श्वयति अर्थात् गमन करता है। इस प्रकार वायु को अन्तरिक्ष में गमन करने वाला बताया गया है। यह वायु उस चेतन ब्रह्म की उपस्थिति में अपनी सत्ता

---

[906] यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणों वसति तावदायुः। -ब्र.सू.शां.भा.पृ.381
[907] मुख्य प्राणेऽपिप्रज्ञासाधन प्राणान्तराश्रयत्वादुपपन्नमेव। - वहीं,पृ.388
[908] ब्र.सू.शां.भा.पृ.391
[909] तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति। -ईशा.उ.4

धारण करता है। इस मन्त्र में ब्रह्म को वायु का धारक बताया गया है। शंकराचार्य ने इस मन्त्र के भाष्य में वायु को सभी प्राणों का पोषक बताया है।[910] यह वायु क्रिया रूप भी है। इस वायु के अधीन ही समस्त इन्द्रियाँ और शरीर है। इसी वायु में सभी कुछ विद्यमान् है। इस सूत्र संज्ञक वायु को सम्पूर्ण जगत् का विधाता भी बताया गया है। यह वायु ही अग्नि, सूर्य, मेघ आदि प्राणियों के कर्मों को भी विभक्त करता है। सम्भवतः वायु के क्रिया स्वरूप होने के कारण अग्नि, सूर्य, मेघ आदि में पाये जाने वाली ज्वलन, प्रकाशन, वर्षा आदि को भी वायु का ही रूप माना गया है। अर्थात् अग्नि में जो ज्वलन और दहन की क्रिया पायी जाती है। सूर्य में जो प्रकाशित करने की क्रिया पायी जाती है। मेघ में जो वर्षा करने की क्रिया पायी जाती है। ये सभी क्रियाएँ वायु के ही रूप हैं। वायु के कारण ही ये सभी अपनी क्रियाएँ सम्पन्न करते हैं। किन्तु इस वायु का भी आधार ब्रह्म है ऐसा समझना चाहिए।[911]

इस मन्त्र के शांकरभाष्य के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं कि वायु ही प्राण है। इस वायु के कारण ही सभी प्राणियों में क्रियात्मक व्यापार पाया जाता है। यानि अग्नि में दहन क्रिया, सूर्य में प्रकाशन क्रिया, मेघ में वर्षण क्रिया, वायु का ही दूसरा रूप है। यह वायु ही सभी प्राणियों का आधार तत्त्व है। यही सबको धारण करता है। सबका विधाता होने से इसे 'सूत्र' भी कहते हैं। अन्तरिक्ष में गमन करने के कारण इसे मातरिश्वा कहा जाता है। अन्ततः निष्कर्ष रूप में आचार्य शंकर ने यह भी कहा है कि इस वायु को धारण करने वाला ब्रह्म है। जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषद् में भी कहा गया है, *'भीषास्माद्वातः पवते'।*[912]

प्रश्नोपनिषद् के अनुसार हिरण्यगर्भ ने सर्वप्रथम रयि और प्राण को उत्पन्न किया। इस रयि और प्राण से ही अन्य प्रजाओं की सृष्टि होती है।[913] यहाँ पर प्राण शब्द ऊष्णता का वाचक है और भोक्ता के लिए प्रयोग किया गया है। रयि, जो कि सोम अर्थात् अन्न का

---

[910] वायुः सर्व प्राणभृत्। -ईशा.उ.4, शां.भा.

[911] यदाश्रयाणि कार्यकरण जातानि यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च यत्सूत्रसंज्ञकं सर्वस्य जगतो विधारयितृ स मातरिश्वा अपः कर्माणिं प्राणिनां चेष्टालक्षणानि अग्न्यादित्य पर्जन्यादीनां ज्वलनदहनप्रकाशाभिवर्षणादिलक्षणानि दधाति विभजति इत्यर्थः। -ईशा.उ.4, शां.भा.

[912] तै.उ.2.8.1

[913] प्रश्न.उ.1.4

वाचक है यह भोग्य पदार्थों के लिए प्रयोग किया गया है। पैप्पलाद ऋषि ने आगे भी प्राण शब्द का प्रयोग अग्नि, सूर्य के लिए किया है। वहीं अगले मन्त्र में स्पष्ट रूप से लिखा है कि आदित्य ही प्राण है और रयि चन्द्रमा है।[914]

निश्चय ही प्राण वायु से भिन्न है; क्योंकि प्राण और वायु का अलग-अगल प्रयोग मिलता है। यदि प्राण और वायु एक होते तो प्राण के स्थान पर वायु शब्द का प्रयोग करने पर भी अर्थ की संगति बैठ सकती थी। किन्तु ऐसा नहीं होता। वायु प्राण का सर्वोत्तम वाहक होने से वायु को ही प्राण कह दिया जाता है। इसी प्रकार इन्द्रियों में प्राण की प्रधानता देखी जाती है। अतः कई जगहों पर इन्द्रियों के लिए भी प्राण शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है। जैसे विराट् पुरुष से सात प्राण उत्पन्न हुए।[915] ये सात प्राण मस्तक में सात इन्द्रियाँ हैं। दो कर्ण, दो नेत्र, दो घ्राण, एक रसना इन इन्द्रियों में भी प्रकाश होता है। उस प्रकाश से ही इन्द्रियों के विषय प्रकाशित होते हैं। अत: इन्द्रियगत प्रकाश को दीप्ति कहते हैं। इन सातों इन्द्रियों की दीप्ति को पुरुष से उत्पन्न हुआ बताया गया है।[916]

साधारण रूप से प्राय: यही समझा जाता है कि हमारा शरीर अन्न, जल, वायु से जीवित रहता है। इसके अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ की जरूरत नहीं होती है। अन्न, जल में विद्यमान् ऊर्जा शरीर को जीवित रखती है। किन्तु भारतीय मनीषियों के विचार इससे भिन्न है। भारतीय मनीषियों ने स्वयं के अनुभव के आधार पर यह बताया है कि शरीर केवल अन्न और जल से जीवित नहीं रहता है; क्योंकि मृत शरीर को पुन: अन्न, जल देते रहने पर भी उसे जीवित नहीं किया जा सकता है। शरीर में जब तक जीवन शक्ति कार्य करती रहती है, तब तक अन्न, जल भी अपना कार्य करता है। शरीर के जीवनशक्ति से रहित हो जाने पर अन्न, जल का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है। योगानन्द जी के मत में शरीर को जीवित रखने वाली शक्ति प्राण है। प्राण ही जीवन शक्ति है, जो शरीर में जीवन शक्ति का संचार करती है।[917] योगानन्द जी के अनुयायियों ने प्राण को एक दूसरा नाम 'लाइफट्रोन' का नाम दिया है, अर्थात् जीवनशक्ति। योगानन्द जी के मत में प्राण के

---

[914] आदित्यों ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा" रथिर्वा एतत् सर्वं यन्मूर्तं चामूर्त च तस्मामूर्विरेव रयिः। -वहीं,1.5

[915] सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्। -मु.उ.2.1.8

[916] वहीं,2.1.8

[917] मा.खो.पृ.63

दो रूप हैं, एक सर्वव्यापी स्रोत जो कि ब्रह्माण्डीय ऊर्जा है और सभी जीवों में चारों ओर से व्याप्त है। उसका दूसरा रूप प्रति व्यक्ति में व्याप्त है। योगानन्द जी प्राण को भौतिक तन और अभौतिक मन के बीच की कड़ी मानते थे।[918] योगानन्द जी अपने अनेक सिद्धांतों की पुष्टि ईशा मसीह के द्वारा कहे गये वाक्यों से की है। इस विषय में जीसस ने कहा है कि 'मनुष्य रोटी से ही नहीं बल्कि ईश्वर के मुख से निकलने वाले प्रत्येक शब्द से जीवित रहेगा।[919]

रजोगुण प्रधान होने से प्राण क्रिया-शक्ति से युक्त है। प्राण से ही अचेतन वस्तुओं में क्रिया-शक्ति आ जाती है। प्राण को अचेतन और चेतन के बीच की कड़ी मानी जाती है। प्राण चेतन और अचेतन वस्तुओं को जोड़ने का कार्य करता है। अत: कठोपनिषद् में जगत् की चेष्टा करने के पीछे प्राण को कारण बताया गया है। अर्थात् प्राण के कारण ही यह जगत् चेष्टा करता है।[920] यद्यपि शंकराचार्य ने यहाँ पर प्राण शब्द का अर्थ 'प्राणस्य प्राण:' अर्थात् परमात्मा किया है। परमात्मा के कारण ही जगत् चेष्टा करता है। किन्तु यहाँ विचार करने योग्य बात यह है कि ऋषि ने यहाँ प्राण शब्द का ही प्रयोग क्यों किया? मनसो मनो यद्, चक्षुषश्चक्षु आदि के द्वारा मन या चक्षु भी कहा जा सकता था। सम्भवत: यहाँ प्राण शब्द के प्रयोग का कारण यह है कि अद्वैत की दृष्टि से गतिशील जगत् के प्रति प्राणस्य प्राण: अर्थात् परमात्मा कारण है। किन्तु द्वैत की दृष्टि से जगत् की गतिशीलता के प्रति रजोगुण प्रधान प्राण ही कारण है। अत: जगत् व्यापार के प्रति प्राण और परमात्मा दोनों को कारण मानना चहिये। हाँ इतना अवश्य है कि जीवित रहने के प्रति चेतन आत्मा ही कारण है; क्योंकि जीवन का अर्थ ही आत्मा है। जीवन का दूसरा नाम आत्मा है। इसलिये आत्मा के बिना जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। कठोपनिषद् में कहा भी है कि कोई भी प्राणी प्राण या अपान से जीवित नहीं रहता है। ये पंच प्राण जिस पर आश्रित हैं, उससे जीवित रहते हैं।

न प्राणेन न अपानेन मर्त्यो जीवति कश्चन्।

---

[918] वहीं,पृ.63

[919] मत्ती.4.4(बाइबल),मा.खो.पृ.63पर उद्धृत

[920] यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति नि:सृतम्। -कठ.उ.2.3.2

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥[921]

उपनिषदों में ब्रह्म के लिए प्राण शब्द का भी प्रयोग मिलता है। केनोपनिषद् में शिष्य गुरु से प्रश्न करता है कि प्राण, इन्द्रियाँ, मन आदि में जो व्यापार होता है। वह व्यापार किसकी प्रेरणा से होता है। ये सभी अचेतन होने से स्वयं व्यापार नहीं कर सकते हैं। तब ऋषि इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि जिससे प्रेरित होकर प्राण प्राणन् किया करता है। वह प्राण का भी प्राण है। अर्थात् प्राण का भी शासक है। प्राण का भी कारण है। वह कारण ब्रह्म ही है। छान्दोग्य उपनिषद् में 'प्राणस्य प्राणः' के आधार पर ब्रह्म को प्राण मानकर उसकी सर्व कारणता प्रतिपादित किया गया है।[922] अर्थात् प्राण से ही सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं और प्राण में ही लीन हो जाते है। यही देवता प्रस्ताव में अनुगत है। यहाँ सम्भवतः प्राण को प्रधान मानने वाले लोगों की प्राण से आसक्ति हटाने के लिए और उसके कारण पर ध्यान देने के लिए कहा गया है।

छान्दोग्य उपनिषद् में एक दूसरे स्थान पर जीवात्मा के लिए प्राण शब्द का प्रयोग हुआ है और मन को उस जीवात्मा रूप प्राण की उपाधि कहा गया है। यह जीवात्मा रूप प्राण सुषुप्ति में ब्रह्म के समकक्ष हो जाता है। ऐसा ऋषि का मन्तव्य है।[923] केनोपनिषद् के समान बृहदारण्यक उपनिषद् में भी प्राण-वायु के प्रेरक के रूप में प्राण को ही बताया गया है। किन्तु यहाँ भी प्राण का अर्थ प्राण-वायु का कारण है। ब्रह्मसूत्रकार उस कारण का प्रतिपादन करने हुए लिखा है, '*अतएव प्राणः*'[924]। इस सूत्र पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर लिखते है,'अतएव तल्लिंगात् प्राणशब्दमपि परं ब्रह्म भवितुमर्हति'।[925] पुरुष जब स्वप्न की अवस्था में होता है। तब भी उसका मन कार्य करता रहता है। मन को ऊर्जा देने वाला प्राण भी सक्रिय होता है। मन पूर्ण शान्त नहीं होता है। किन्तु पुरुष जब गहन सुषुप्ति की अवस्था में होता है। तब पुरुष का मन अपने कारण में लीन हो जाता है। वाणी अपने कारण मन में लीन हो जाती है। मन अपने कारण प्राण में तथा प्राण भी अपने

---

[921] ब्र.सू.शां.भा.पृ.391

[922] कतमा सा देवतेति। प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता। -छा.उ.1.11.4-5

[923] प्राण बन्धनं हि सौम्य मनः। - वहीं,6.8.2

[924] ब्र.सू.1.1.23

[925] ब्र.सू.शां.भा.पृ.339

कारण ब्रह्म रूप प्राण में लीन हो जाता है। अतः कहा जाता है कि सुषुप्तिकाल में वाणी अपने कारण के साथ प्राणात्मा में लीन हो जाती है।[926]

जगत् की सभी गतियाँ रजोगुण के कार्य हैं। रजोगुण के अभाव में गति, कम्पन्न, स्पन्दन आदि सम्भव नहीं है। इसी प्रकार जीवित शरीर में जो गति दिखायी देती है। वह भी रजोगुण प्रधान प्राण के कारण ही होता है।[927] प्राण ही चेतन आत्मा और अचेतन शरीर को जोड़ने का कार्य करता है। प्राण के स्पन्दन से जगत् अनेक रूपों में दिखायी देता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि आदित्यादि देवता प्राण की भिन्न-भिन्न अवस्थायें हैं।[928] प्राण के कारण ही यह शरीर आत्मा से जुड़ा हुआ जीव कहलाता है। सिद्ध पुरुष प्राण को नियन्त्रित करके अपनी आत्मा को शरीर से पृथक् कर लेता है। जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि हे सोम्य! जीव प्राण पर निर्भर है।[929] अर्थात् प्राण के रहते ही जीवात्मा की स्थिति बनी रहती है। प्राण के पृथक् होने पर शरीर का आत्मा से सम्पर्क टूट जाता है और जीवात्मा आत्मा का रूप ले लेती है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में अन्नमय कोश में स्थित प्राणमय कोश को भी पुरुषाकार माना गया है। इस पुरुषाकार प्राणमय कोश का प्राण ही सिर है। व्यानवायु दक्षिण पक्ष है, अपान वायु उत्तरपक्ष है। आकाश को इस शरीर का आत्मा कहते हैं और पृथिवी पुच्छ के समान है। संत रविशंकर के मत में प्रत्येक मनुष्य में दु:ख का कारण प्राणमय शरीर का छोटा होना है। उनके मत में हमारे स्थूल शरीर के चारों ओर प्राणमय शरीर होता है। यह प्राणमय शरीर स्थूल शरीर से लगभग दो गुना बड़ा होता है। जब किसी कारण से यह प्राणमय शरीर अपने मूल रूप से छोटा होने लगता है, तब हम दु:ख, निराशा, हताशा, अवसाद आदि से ग्रस्त हो जाते है। इन सबसे बचने के लिए आवश्यक है कि हम अपने प्राणमय शरीर को छोटा होने से बचाएँ। यदि यह प्राणमय शरीर किसी कारण विशेष से छोटा हो सकता है। तो कोई ऐसा कारण विशेष अवश्य होगा, जो इसे विस्तार दे सकता है। सत्संग, भक्ति, प्राणायाम ऐसे ही कारण विशेष हैं, जिससे प्राणमय शरीर का विस्तार

---

[926] यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैनम् वाक्सर्वैनामभिः सहाप्येति। -कौ.उ.3.3

[927] ब्र.सू.शां.भा.पृ.862

[928] प्राणावस्थाविशेषत्वादादित्यादि देवतात्मनाम्। -बृ.उ.3.9.9

[929] प्राणबन्धनं हि सोम्यमनः। -छा.उ.6.8.2

होता है। अत: पुरुष को सत्संग, प्राणायाम, भक्ति इत्यादि के द्वारा अपने प्राणमय शरीर का सदैव विस्तार करना चाहिए। इस शरीर के विस्तार होने पर उत्साह प्रसन्नता और आनन्द की प्राप्ति होती है, जिससे हमारी परमात्मा के बीच दूरी कम होती है और हम अन्तत: मोक्ष की ओर अग्रसर होते है।[930]

तैत्तिरीयोपनिषद् में यह भी कहा गया है कि देवगण प्राण के ही अनुगामी होकर प्राणन् क्रिया करते हैं। मनुष्य और पशु आदि भी प्राणन् क्रिया से ही चेष्टावान् होते हैं। प्राण से ही प्राणियों की आयु निश्चित होती है।[931] दार्शनिक ओशो रजनीश ने कहा है कि जब तक प्राणी जीवित रहता है, तब तक प्राण की दिशा बाहर से भीतर की ओर होती है। अर्थात् श्वास, प्रश्वास के माध्यम से प्राण बाहर से भीतर जाता है। किन्तु आयु समाप्त होने पर छ: माह पूर्व प्राण की दिशा ठीक विपरीत हो जाती है। श्वास प्रश्वास के माध्यम से प्राण अन्दर से बाहर की ओर आने लगता है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार प्राणमय कोश पंचप्राण और पंचकर्मेन्द्रियों से मिलकर बनता है। किन्तु वेदान्त में प्राणमय कोश के आकार प्रकार पर चर्चा नहीं हुई है।

आदित्य को बाह्य प्राण कहा जाता है। यह मनुष्य के शरीर में नासिका और नेत्रेन्द्रिय स्थित वायु को प्रभावित करता है। पृथिवी देवता पुरूष के अपान वायु को आकर्षित करता है। पृथिवी और द्युलोक के बीच आकाश है। आकाश पुरुष के समान वायु को प्रभावित करता है। इसी प्रकार बाह्य वायु व्यान वायु को प्रभावित करता है; क्योंकि बाह्य वायु और व्यान वायु व्यापकत्व में समानता रखते हैं।[932]

अधिदैवत प्राण बाह्य प्राण है। आध्यात्मिक प्राण चाक्षुष प्राण है। शंकराचार्य ने लिखा है कि पृथिवी का अभिमानी देवता शरीर के अपान वायु को आकर्षित किये रहता है। अन्यथा शरीर अपने भारीपन के कारण गिर जाता या अवकाश मिलने पर उड़ जाता।[933] लोक प्रसिद्ध आदित्य रूप तेज को उदान कहते है। अत: जिसका तेज (शारीरिक उष्मा)

---

[930] नवभारत टाइम्स, 19 जुलाई 2015, पृ.9

[931] प्राणं देवा अनुप्राणन्ति। मनुष्या: पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायु:। -तै.उ.2.3.1

[932] आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानम् वष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः। -प्रश्न.उ.3.8

[933] अन्यथा हि शरीरं गुरूत्वात्पतेत्सावकाशे वोदगच्छेत॥ - वहीं,शां.भा

शान्त हो जाता है, वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।[934] आदित्यगत तेज और शरीर के उदान वायु परस्पर सम्बन्धित हैं। आदित्य अपने प्रकाश से उदान वायु को अनुगृहीत करता है।[935]

पिप्पलाद ऋषि प्राण के विषय का उपसंहार करते हुए लिखा है कि जो पुरुष प्राण की उत्पत्ति, आगमन, स्थान, व्यापकता, बाह्य एवं आध्यात्मिक भेद से पांच प्रकार की स्थिति जान जाता है, वह अमरत्व प्राप्त कर लेता है। अर्थात् प्राण की उत्पत्ति परमात्मा से होती है। पुरुष के शरीर में प्राण का आगमन संकल्प से होता है। शरीर में पायु आदि पांच स्थानों पर रहता है। एक सम्राट के समान मुख्य प्राण अन्य प्राणों को इन्द्रिय स्थानों पर स्थापित करता है। इस प्रकार जानता हुआ पुरुष अमरत्व को प्राप्त करता है।[936]

प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान आदि पुरुष के जाग्रत अवस्था के प्राण भेद हैं। सुषुप्तावस्था में इन पंचप्राणों के नाम भेद हो जाते हैं। सभी इन्द्रियों के सो जाने पर भी यह प्राणाग्नि शरीर रूपी पुर में प्रज्ज्वलित होती रहती है। उस अवस्था में अपान वायु को गार्हपत्य अग्नि के नाम से जाना जाता है, व्यान वायु अन्वाहार्य पचन अग्नि, प्रणयन के कारण प्राण को आह्वनीय अग्नि कहा जाता है।[937]

जिस प्रकार शकट को खींचने के लिए उसमें अश्व लगा रहता है। उसी प्रकार रथ रूपी शरीर को खींचने के लिए प्राण होता है। यहाँ अश्व का अर्थ प्राण और शक्ति है, जो किसी कार्य को सिद्ध करने के लिए आवश्यक होता है। इससे ज्ञात होता है कि प्राण शरीर को शक्ति और ऊर्जा देकर उसे गतिशील बनाने का कार्य करता है।[938]

प्राणी शब्द से ज्ञात होता है कि जिसमें प्राण होता है, उसे ही प्राणी कहा जाता है। शरीर की सभी क्रियायें प्राण पर निर्भर हैं। यह प्राणवायु नासिकारन्ध्र में स्थित होता है; क्योंकि इसी से प्राणी जीवित रहते हैं। दूसरी ओर इस प्राण का कारण परब्रह्म को बताया गया

---

[934] प्र.उ.3.9

[935] यस्मात्तेजः स्वभावो बाह्यतेजोऽनुगृहीत उत्क्रान्तिकर्ता - वहीं,शां.भा

[936] उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा। अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञानयामृतमश्नुते। -प्रश्न.उ.3.12

[937] वहीं,4.3

[938] यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः। -छा.उ.6.12.3

है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि कोई मनुष्य न प्राण से जीवित रहता है न अपान से, अपितु किसी अन्य ही तत्त्व से जीवित रहता है।[939]

इसीलिए परब्रह्म को 'प्राणस्य प्राणम्' कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि प्राण तत्त्व भी स्वयं अचेतन है। उस प्राण को भी चेतन बनाने वाला परब्रह्म है। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि देवता उस प्राण रूप सच्चिदानन्द परब्रह्म से उत्पन्न होते हैं। उसी में स्थित रहते हैं। जैसे रथ की नाभि में अरे केन्द्रित रहते हैं।[940] यह भी बताया गया है कि प्राण ही इन्द्रियों का प्रेरक है जैसे- मधुकर का दृष्टांत। कहीं प्राण को नासिकारन्ध्र में स्थित हुआ बताया गया है। कहीं प्राण से सूर्य, चन्द्र की उत्पत्ति दिखायी गयी है। तो कहीं 'प्राणस्य प्राणः' कहकर सबके आधार तत्त्व के रूप में परब्रह्म को दिखाया गया है। इन सभी साक्ष्यों से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सभी तत्त्वों का आधारभूत सच्चिदानन्द परब्रह्म है। परब्रह्म सर्वव्यापी प्राण(परमात्मा) को प्रेरणा देकर सूर्य, चन्द्र को उत्पन्न करता है। इस सर्वव्यापी प्राण का सूक्ष्मरूप नासिकाग्र भाग में जीवात्मा के रूप में स्थित होता है। इस जीवात्मा रूप प्राण से शक्ति प्राप्त करके इन्द्रियाँ अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं।

प्राण का सर्व आश्रयत्व प्रतिपादित करते हुए लिखा गया है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, यज्ञ, क्षत्रिय, ब्राह्मण आदि सभी कुछ प्राण में ही स्थित हैं। उसी प्रकार जैसे रथ की नाभि में तीलियाँ प्रतिष्ठित होती है।[941]

मुण्डकोपनिषद् के एक मन्त्र के अनुसार यह सारा भूत प्राणमय है। ब्रह्मा से लेकर स्थावर जंगम पर्यन्त सभी कुछ प्राणमय ही है। प्राण का भी जो प्राण है, ऐसा परमात्मा ही सभी भूतों के रूप में भासमान हो रहा है।[942] शंकराचार्य ने यहाँ प्राण का अर्थ परमात्मा किया है, 'योऽयं प्राणस्य प्राणः'।[943] इस मन्त्र से यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह सारा जगत् परमात्मा का ही प्रकाश है। यह सम्पूर्ण जड़ चेतन जगत् उस परमात्मा के अस्तित्त्व का प्रमाण है। जिस प्रकार धूप और प्रकाश सूर्य के अस्तित्त्व का प्रमाण होता है।

---

939 न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रिता॥ -कठ.उ.2.2.5

940 अरा इव रथनाभौ प्राणे: प्रणीयते। -प्रश्न.उ.2.6
941 वहीं,2.6
942 प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति। -मु.उ.3.1.4
943 वहीं.शां.भा.

उसी प्रकार यह जगत् रूप प्रकाश आत्मा का प्रकाश है, जो कि सूर्य के प्रकाश से भिन्न है। अतः यह जगत् रूप प्रकाश सूर्य के प्रकाश से भिन्न एक अन्य प्रकार का प्रकाश है।

मुख्य प्राण ही सभी इन्द्रिय प्राणों का पोषक है। अर्थात् प्रजापति ही इन्द्रिय देवताओं का पोषण करता है। एक बार सभी देवताओं ने मिलकर प्राण से कहा कि तुमने जो अन्न का आगान किया है, यह तो तुम्हारे लिए ही है। हमें भी इसी में भागी बनाओ। तब प्राण ने कहा कि तुम लोग भागीदार बनने के लिए मुझमें प्रवेश कर जाओ और अन्न का भक्षण करो। तब सभी देवताओं ने बहुत अच्छा ऐसा कहकर प्राण में ही प्रतिष्ठित हो गये। इसलिए प्राण जो भी अन्न खाता है। उससे वे देवता भी तृप्त होते हैं।[944] इससे ज्ञात होता है कि मुख्य प्राण ही सभी वागादि इन्द्रिय देवताओं का पोषण करता है। अपने विषयों का प्रकाशन करने के कारण वागादि इन्द्रियाँ ही देवता हैं।[945]

सभी अंगों का सार प्राण को बताया गया है। प्राण ही अंगों का रस है। प्राण के रहते सभी अंग ऊर्जा और स्फूर्ति प्राप्त करते हैं। प्राण के न रहने से सभी अंग सूख जाते हैं। अत: यह प्राण ही अंगों का रस है। न कि वाक्, घ्राण, चक्षु आदि इन्द्रियाँ। यद्यपि इन सब में प्राण होता है। इन्हें भी प्राण शब्द से कहा जा सकता है। तथापि ये सभी अंगों के रस नहीं हो सकते। प्राण इन इन्द्रियों का भी सार है। अत: यह मुख्य प्राण या प्रजापति ही अंगों का रस कहा गया है।[946] इससे सिद्ध होता है कि यह मुख में रहने वाला प्राण ही सभी अंगों का आत्मा है। सभी इन्द्रियों का आत्मा है। सभी जीव प्राण से जीवित होते हैं। अत: प्राणी संज्ञा से कहे जाते हैं। अत: वाक्, चक्षु, श्रोत्र आदि सभी प्राणों को त्यागकर मुख्य प्राण ही उपासनीय है, ऐसा समझना चाहिए।

बृहती नाम वाणी का है। बृहती छन्द में 36 अक्षर होते हैं। जबकि अनुष्टुप छन्द में 32 अक्षर होते हैं। एक स्थान पर स्पष्ट रूप से वाक् को अनुष्टुप कहा गया है।[947] अत: उपनिषद् में जो वाक् को बृहती छन्द कहा गया है, वह नि:संदिग्ध है। अनुष्टुप बृहती के अन्तर्गत ही पठित है। प्राण के द्वारा ही वाणी का पोषण किया जाता है। 'पालनात् पति'

---

[944] बृ.उ.1.3.18

[945] ते वागादयो देवा: स्वविषयद्योतनाद्देवा:। - वहीं,शां.भा.

[946] सोऽयास्य अङ्गिरसोऽङ्गानां हि रस: प्राणो वा अङ्गानां रस: प्राणो हि वा अङ्गानां रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गानां रस:। -बृ.उ.1.3.19

[947] वाग्वा अनुष्टुप। -नृ.उ.1.1

इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्राण वाणी का पति सिद्ध होता है; क्योंकि प्राण से रहित पुरुष में शब्दोच्चारण की सामर्थ्य नहीं होती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि *'एष उ एव बृहस्पतिर्वाग्वैबृहती तस्या एष पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः'।*[948] अत: वाक्, चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों का पोषण करने से प्राण ही इन सभी देवताओं का पति है।

वाक् को ब्रह्म भी कहते हैं। ब्रह्म अर्थात् यजु:; क्योंकि यजु: मन्त्र भी एक प्रकार की वाणी ही है। अत: प्राण ब्राह्मणस्पति: भी है।[949] प्राण को साम भी कहते हैं; क्योंकि स्त्रीलिंगवाची शब्द 'सा' वाक् का प्रतीक है और 'अम' प्राण का वाचक है; क्योंकि अम और प्राण दोनों ही पुलिंग शब्द हैं।[950]

प्राण आत्मा का तीसरा अन्न है। शरीर के विभिन्न अंगों में विद्यमान् वायु ही प्राण है। किन्तु स्थान की दृष्टि से इसके अलग-अलग नाम हैं। मुख और नासिका में प्रवाहित होने वाली वायु का नाम प्राण है। प्राणन् अर्थात् बहिर्गमन के कारण इसे प्राण नाम से जाना जाता है। नाभि स्थानीय वायु का नाम अपान है। इसकी गति नीचे की ओर होती है। इसका कार्य मल, मूत्र का बहिर्गमन करना है। व्यान वायु पूरे शरीर में व्याप्त होती है। आचार्य शंकर के मत में व्यान-वायु प्राण और अपान के सन्धि स्थल पर होती है। किसी कार्य को करने में जो शक्ति लगायी जाती है, वह शक्ति व्यान वायु के कारण होती है। प्राण आदि के उत्क्रमण के समय ऊपर की ओर गमन करने वाली वायु का नाम उदान है। यह वायु पादतल से मस्तक पर्यन्त विद्यमान् रहती है। खाये-पिये गये अन्न का समीकरण करने के कारण इस वायु को समान कहा जाता है।[951] इस प्रकार ये पाँच वायु शरीर के सन्तुलन को बनाये रखने में सहायक होती है। इनमें से मुख में रहने वाली वायु ही मुख्य प्राण के नाम से कही गयी है। इन उपर्युक्त तीन प्रकार के आध्यात्मिक अन्नों मन, वाक् और प्राण को प्राजापत्य कहा जाता है; क्योंकि ये सभी प्रजापति से उत्पन्न हुए हैं।

---

[948] बृ.उ.1.3.20

[949] एष उ एव ब्राह्मणस्पतिर्वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पति: तस्माद् ब्राह्मणस्पति:। - वहीं,1.3.21

[950] स उ एव साम वाग्वै सामैष सा चामश्चेति तत्साम्न: सामत्वम्। - वहीं,1.3.22

[951] वहीं,1.5.3, शां.भा.

गार्ग्य ने अजातशत्रु से कहा कि गतिमान पुरुष के पीछे जो शब्द सुनाई देता है। मैं उसी की ब्रह्म के रूप में उपासना करता हूँ। अजातशत्रु ने कहा कि इस सुनाई देने वाले शब्द का प्राण नाम है। जो इसकी उपासना करता है, वह पूर्ण आयु को प्राप्त करता है।[952]

राजा जनक ने कहा कि मुझसे शुल्ब के पुत्र उदंग ने 'प्राण ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है। याज्ञवल्क्य ने कहा यह प्राण एक पाद वाला ब्रह्म है। प्राण ही इस प्राण ब्रह्म का शरीर(आयतन) है। आकाश इसकी प्रतिष्ठा है। अत: प्रिय के रूप में इसकी उपासना करनी चाहिए। पुन: याज्ञवल्क्य ने कहा कि प्राण ही प्रियता है। प्राण ही परम ब्रह्म है।[953]

ईशावास्योपनिषद् के एक मरणोन्मुख उपासक प्रार्थना करता है कि जब यह मेरा शरीर भस्म हो जाये तब मेरा प्राण वायु मुख्य प्राण को प्राप्त हो जाय।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तंशरीरं।

ॐ क्रतो स्मर कृतंस्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर॥[954]

इस मन्त्र में शरीरस्थ प्राण के अर्थ में वायु शब्द का प्रयोग किया गया है। दूसरा अनिलम् शब्द का विशेषण अमृतं शब्द है। इसलिए अनिलं शब्द परब्रह्म का वाचक बनता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वायु शब्द शरीरस्थ जीवात्मा और परब्रह्म दोनों के लिए प्रयोग होता है। आचार्य शंकर अविनाशी मुख्य प्राण को अधिदैव का रूप मानते हैं। तारणीश झा ने स्थूल शरीर से निकलने वाले इस प्राण का अर्थ सप्तदश अवयवात्मक लिंग शरीर किया है; क्योंकि मृत्यु के समय यह लिंग शरीर ही स्थूल शरीर से पृथक् होता है।[955]

अद्वैतवेदान्त में शरीरस्थ वायु के प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान पाँच भेद किये गये हैं। कठोपनिषद् के एक मन्त्र के अनुसार आत्मा ही शरीर में स्थित प्राण और अपान वायु का प्रेरक है।[956] इस पर शंकराचार्य ने भाष्य करते हुए लिखा है कि 'ऊर्ध्वं

---

[952] बृ.उ.2.1.10
[953] वहीं,4.1.3
[954] ईशा.उ.17
[955] वहीं,17, तारणीश झा
[956] ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। -कठ.उ.2.2.3

हृदयात्प्राण प्राणवृत्ति वायुमुन्नयत्यूर्ध्वं गमयति। तथापानं प्रत्यगधोऽस्यतिक्षिपति (य) इति वाक्य शेषः'।[957] आचार्य शंकर ने इस भाष्य में 'य' के द्वारा प्राण और अपान के अधिष्ठातृ के रूप में परमात्मा को स्थापित किया है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि आचार्य शंकर ने यहाँ अन्य व्यान, उदान और समान वायु को क्यों नहीं कहा? केवल प्राण और अपान का प्रेरक ही क्यों माना है?

बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णित है कि एक बार प्राण और इन्द्रियों के बीच अपनी श्रेष्ठता को लेकर विवाद खड़ा हो गया। चक्षु ने कहा कि मैं श्रेष्ठ हूँ। श्रोत्र ने कहा कि मैं तुम लोगों से श्रेष्ठ हूँ। इसी प्रकार मन और प्राण ने भी कहा कि मैं श्रेष्ठ हूँ। वे सब एक साथ ब्रह्मा के पास गये और बोले कि हम सब में वसिष्ठ कौन है? तब ब्रह्मा ने कहा तुममें से जिसके निकलने पर शरीर अपने आपको पापी मानता है। तुझमें से वही वसिष्ठ है। ब्रह्मा जी के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर सभी इन्द्रियाँ अपना-अपना वसिष्ठत्व प्रतिपादित करने के लिए एक-एक करके निकलना प्रारम्भ कर दिया। सर्वप्रथम वाक् ने निर्गमन किया। एक वर्ष तक शरीर से बाहर रही। एक साल बाद फिर आकर देखा तो शरीर वैसे के वैसे वर्तमान था। वह बोली कि मेरे न रहते हुए तुम लोग कैसे जीवित रहे? तब सब ने मिलकर कहा कि जिस प्रकार मूक पुरुष वाणी से न बोलते हुए भी प्राण से प्राणन् क्रिया करता है, नेत्र से देखता है और श्रोत्र से सुनता है। उसी प्रकार हम जीवित रहे। यह सुनकर वाक् ने पुन: शरीर में प्रवेश किया।

इसके अनन्तर चक्षु ने शरीर से उत्क्रमण किया और एक वर्ष तक शरीर से बाहर रहने के बाद पुन: आकर पूछा कि तुम लोग मेरे न रहते कैसे जीवित रहे? तब सभी लोगों ने मिलकर कहा कि जिस प्रकार एक नेत्रहीन पुरुष चक्षु से न देखते हुए प्राण से प्राणन् क्रिया करता है, श्रोत्र से सुनता है और वाणी से बोलता है। उसी प्रकार हम जीवित रहे। ऐसा सुनकर चक्षु ने शरीर में प्रवेश किया। फिर श्रोत्र ने शरीर से उत्क्रमण किया। वह भी एक वर्ष तक प्रवास करने के बाद पुन: लौट आया और पूछा कि मेरे न रहते हुए आप लोग कैसे जीवित रहे? उन सब ने मिलकर कहा कि जैसे एक बधिर पुरुष कानों से न सुनते हुए भी प्राणों से प्राणन् क्रिया करता है। चक्षु से देखता है और वाणी से सुनता है। उसी प्रकार हम सब जीवित रहे। ऐसा सुनकर श्रोत्र अहंकार हीन होकर शरीर में पुन:

---

[957] वहीं,शां.भा.

प्रवेश किया। तदनन्तर मन ने शरीर से उत्क्रमण किया। एक वर्ष प्रवास करने के उपरान्त पुन: लौट आया और पूछा कि मेरे न रहते हुए तुम लोग कैसे जीवित रहे? उन सब ने मिलकर कहा जिस प्रकार मुग्ध पुरुष मन से न समझते हुए भी प्राण से प्राणन् क्रिया करता है, चक्षु से देखता है, श्रोत्र से सुनता है। उसी प्रकार हम सभी जीवित रहे। ऐसा सुनकर मन ने पुन: प्रवेश किया। फिर क्रम प्राप्त रेतस् ने शरीर से उत्क्रमण किया। एक वर्ष प्रवास करके पुन: लौट आया और कहा कि तुम सब मेरे न रहते कैसे जीवित रहे? उन सब ने मिलकर कहा कि जिस प्रकार नपुंसक लोग रेतस् से प्रजा न उत्पन्न करके भी प्राण से प्राणन् क्रिया करते हैं, नेत्र से देखते हैं, श्रोत्र से सुनते हैं और मन से मनन क्रिया करते हैं। उसी प्रकार हम सभी जीवित रहे। ऐसा सुनकर रेतस् ने पुन: शरीर में प्रवेश किया। फिर क्रम प्राप्त प्राण का क्रम आया। प्राण ने जैसे शरीर से उत्क्रमण करना चाहा, तुरन्त अन्य सभी प्राण डगमगाने लगे। जैसे एक घोड़ा कई खूँटो को उखाड़ देता है। उसी प्रकार अन्य सभी प्राण उखड़ने लगे। तब सभी प्राणों में हाहाकार मच गया। वे सभी मुख्य प्राण से प्रार्थना करने लगे। नहीं आप मत जाइये। आपके बिना हम जीवित नहीं रहेंगे। आप हमारे स्वामी हैं।

तब प्राण ने कहा कि तुम सब मुझे भेंट प्रदान करो। तब सभी इन्द्रिय प्राणों ने अपने अहंकार का भेंट प्रदान किया। किस प्रकार किया? वागिन्द्रिय ने कहा- मैं जो वशिष्ठा हूँ, वह वसिष्ठ तुम्हीं हो। नेत्र ने कहा- मैं जो प्रतिष्ठा हूँ, सो तुम्हीं उस प्रतिष्ठा से युक्त हो। श्रोत्र ने कहा- मैं जो सम्पद् हूँ, मूलत: वह सम्पद् तुम्हीं हो। मन ने कहा- मैं जो आयतन हूँ, मुख्यतया वह आयतन तुम्हीं हो। रेतस् ने कहा- मैं जो प्रजाति हूँ, सो वह प्रजाति तुम्हीं हो। फिर प्राण ने पूछा कि ऐसे गुणों से युक्त मेरा अन्न क्या है? सब ने मिलकर कहा- लोक में कीट, पतंग, कृमि आदि से लेकर जितने भी प्राणी हैं, उन सब का जो कुछ भी अन्न है। वह सब तुम्हारा अन्न है।[958] प्राण और इन्द्रियों का यह संवाद छान्दोग उपनिषद् में भी आया है। किन्तु वहाँ पर श्रेष्ठत्व के लिए संवाद वर्णित है। यहाँ वसिष्ठत्व प्रतिपादन के लिए संवाद हुआ है। वहाँ ब्रह्मा ने कहा है कि तुममें से जिसके निकलने पर शरीर निश्चेष्ट हो जाता है। यहाँ शरीर के पापी होने का निर्देश है। वहाँ रेतस् का उल्लेख नहीं है। किन्तु यहाँ रेतस् का भी उल्लेख है।

---

[958] बृ.उ.6.1.7-14

वैश्वानर से तैजस् को, तैजस् से हृदयात्मा को, हृदयात्मा से प्राणात्मभाव को प्राप्त हुए विद्वान् की सर्वात्मकता को प्रतिपादित करते हुए श्रुति में कहा गया है कि उस विद्वान् के पूर्वा दिक् पूर्व प्राण हैं। दक्षिणा दिक् दक्षिण प्राण हैं। पश्चिमा दिक् पश्चिम प्राण हैं। उत्तरा दिक् उत्तर प्राण है। ऊर्ध्वा दिक् ऊर्ध्व प्राण, नीचे के दिक् नीचे के प्राण हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण दिशाएँ सम्पूर्ण प्राण हैं। [959]

प्राण को अमृत कहा गया है। यह अमृत रूप प्राण असत्य से नहीं अपितु सत्य से आच्छादित है। यहाँ नाम और रूप को सत्य कहा गया है। इन दोनों से ही प्राण आच्छादित है।[960] इस प्रकार यहाँ प्राण के अमृत रूप का उल्लेख प्राप्त होता है और इस प्राण के आच्छादक के रूप में नाम और रूप को बताया गया है। आचार्य शंकर ने अविद्या के विषयों को दो भागों में विभाजित किया है। अविद्या का प्रथम विषय प्राण है, जो कि शरीर के भीतर रहता है। शरीर को एक स्तम्भ की भाँति धारण करने वाला है। यह प्राण प्रकाशक होने के साथ अमृत स्वरूप भी है; क्योंकि यह मृत्यु से रहित अमरण धर्मा है। अविद्या का दूसरा विषय बाह्य कार्य रूप प्रपंच है, जो अप्रकाशक है। मृतिका के समान मरण धर्मा है एवं सत्य शब्द का वाच्य कहा गया है। आचार्य के अनुसार प्राण ही बाह्य कार्य भेदों में अनेक प्रकार से फैला हुआ है। जिसे एक देव के रूप में देखा जाता है। जिसे सूर्य, विराट्, वैश्वानर, आत्मा, पुरुषविध, प्रजापति, क और हिरण्यगर्भ आदि शरीर प्रधान शब्दों से जाना जाता है।[961]

उपनिषद् ऋषि के अनुसार प्रजापति ने कर्म के आधारभूत साधनों (करणों) की रचना की। उन सभी चक्षु, प्राण, श्रोत्र आदि करणों में परस्पर स्पर्धा होने लगी। वाक् ने संकल्प किया कि मैं बोलती ही रहूँगी। उसको ऐसा देखकर चक्षु ने भी संकल्प किया कि मैं देखता ही रहूँगा। इस प्रकार सभी इन्द्रियों ने अपने-अपने कर्मों के अनुसार व्रत धारण किया। किन्तु ऐसा नहीं होता है। वाक् सदैव नहीं बोलती है। न चक्षु ही सदैव देखा करती है; क्योंकि मृत्यु ने श्रम का रूप धारण करके इन इन्द्रियों को व्याप्त कर लिया। अत: वाक्

---

[959] तस्य प्राची दिक् प्राञ्च: प्राणा उदीची दिक् उदञ्च: प्राणा ऊर्ध्वा दिक् ऊर्ध्वा प्राणा अवाची दिक् अवाञ्च: प्राणा सर्वा दिशा सर्वे प्राणा:। - वहीं,4.2.4

[960] तदेतदमृतं सत्येनच्छन्नं प्राणो वा अमृतं नाम रूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्न:। - वहीं,1.6.3

[961] तस्यैव बाह्य: पिण्ड एक: साधारण: विराड् वैश्वानर आत्मा पुरुषविध: प्रजापति: को हिरण्यगर्भ: इत्यादिभि: पिण्डप्रधानै: शब्दैराख्यायते सूर्यादिप्रविभक्तकरण:। - वहीं,2.1, सम्बन्ध भाष्य

श्रमित होती है। चक्षु श्रमित हो जाती है। श्रोत्र भी हमेशा श्रवण नहीं करता है। वह भी श्रमित हो जाता है। किन्तु इस मृत्यु ने जब प्राण को व्याप्त करने की कोशिश की, तब वह व्याप्त नहीं हो सका। अत: प्राण कभी श्रमित नहीं होता है। तब सभी इन्द्रियों ने उस प्राण को जानने की जिज्ञासा की और अपने से श्रेष्ठ स्वीकार किया। तब इन्द्रियों ने जाना कि यह प्राण है, जो संचार करते और न करते हुए भी व्यथित नहीं होता है। न क्षीण ही होता है। तब इन्द्रियों ने उस प्राण के समान होने का निश्चय किया और उस प्राण के समान ही हो गयी। अत: उन इन्द्रियों को गौण रूप से प्राण कहा जाता है। इस प्रकार जानने वाला पुरुष अपने कुल में पूजित होता है।[962]

प्राण ने अपने लिए अन्न का आगान किया। अत: जो कुछ भी खाया जाता है, वह प्राण के द्वारा ही खाया जाता है। अन्न का तात्पर्य है, जो अन अर्थात् प्राण के द्वारा खाया जाता है।[963] इस खाये हुए अन्नाद्य से बने हुए शरीर में ही प्राण प्रतिष्ठित है। अत: शरीर ही प्राण की प्रतिष्ठा है।[964]

मुख्य प्राण मृत्यु को दूर करने वाला है। इसलिए इसका एक नाम 'दूर' भी है। असुरों के द्वारा पाप से विद्ध होने के कारण वाक्, चक्षु, घ्राण आदि भी मृत्यु से युक्त हो गये थे। तब मुख्य प्राण ने वाक् आदि के पाप रूप मृत्यु को दूर करके उनके देवत्व भाव को प्राप्त करा दिया। इस मुख्य प्राण ने सर्व प्रथम वाक् देवता को मृत्यु से मुक्त कर दिया। यह वाक् जिस समय मृत्यु से मुक्ति प्राप्त की उस समय यह अपने देवत्व भाव अग्नि को प्राप्त हो गयी। अत: अग्नि को मृत्यु से रहित देखा जाता है।[965] फिर प्राण ने घ्राण में रहने वाले प्राण को मृत्यु से मुक्त किया। यह प्राण जब मृत्यु से मुक्त हुआ, तब वायु देवता के भाव को प्राप्त हो गया। अत: वायु को मृत्यु स्पर्श नहीं करती है।[966] फिर प्राण ने चक्षु का अतिवहन करके मृत्यु से परे कर दिया, जिससे यह चक्षु जो पाप से विद्ध थी अब अपने आदित्य भाव को प्राप्त करके मृत्यु से परे होकर तपता है।[967] फिर प्राण ने श्रोत्र का अतिवहन करके मृत्यु से पार कर दिया। यह श्रोत्र भी अपने पाप भाव को त्यागकर दिक् रूप देव

---

[962] अथातो व्रत मीमांसा ....इत्यध्यात्मम्। - वहीं,1.5.21
[963] अन इति प्राणस्याख्या प्रसिद्धा स्वरान्त: अन: शब्द: प्राणपर्याय:। - वहीं,1.3.17, शां.भा.
[964] अथात्मनेऽन्नाद्यमागायद्धि किञ्चान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यत इह प्रतिष्ठति। - वहीं,1.3.17
[965] बृ.उ.1.3.12
[966] वहीं,1.3.13
[967] वहीं,1.3.14

भाव को प्राप्त हो गया। इसी कारण दिक् मृत्यु से परे होकर दीप्तिमान् रहती है।[968] फिर प्राण ने मन का अतिवहन किया। यह मन जिस समय मृत्यु से परे हुआ तब यह चन्द्रमा हो गया। अत: चन्द्रमा मृत्यु से परे होकर प्रकाशमान् रहता है।[969]

उद्गीथ का अध्यात्मिक रूप प्राण है। प्राण की उद्गीथ के रूप में उपासना करनी चाहिए। यह मुख्य प्राण भी ॐ की ध्वनि करते हुए गमन करता है।[970] आदित्य और रश्मियों की भाँति प्राण की भी भेद और अभेद दृष्टि से उपासना करने पर भिन्न-भिन्न फल होते हैं। जैसे प्राण और वाक् को एक मानकर उपासना करने वाले पुरुष को एक पुत्र की प्राप्ति होती है। जबकि प्राण और वाक् की भेद रूप में उपासना करने पर अनेक पुत्रों की प्राप्ति होती है।[971]

अश्वल ने कहा कि यह सब कुछ पूर्वपक्ष और अपरपक्ष से व्याप्त है। इन दोनों के द्वारा ही सब कुछ वश में किया हुआ है। किस साधन के द्वारा यजमान इनसे पार हो सकता है? तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि वायु रूप प्राण के द्वारा यजमान पूर्वपक्ष और अपरपक्ष से पार हो सकता है। वायु ही यज्ञ का प्राण है और यह प्राण उद्गाता है। उद्गाता ही पूर्वपक्ष और अपरपक्ष से मुक्ति दिला सकता है।[972] आचार्य शंकर के अनुसार चन्द्रमा में वृद्धि और क्षय का कारण वायु है। अत: यह वायु तिथियों का कर्ता चन्द्रमा को भी करने वाला है। इसलिए वायु को प्राप्त हुआ पुरुष तिथ्यादि रूप काल से भी पार हो जाता है।

शंकराचार्य के मत में नासिकारन्ध्र स्थित वायु का नाम प्राण है और उस प्राण के द्वारा गन्ध को अपना विषय बनाया जाता है। किन्तु इस कार्य में प्राण स्वयं स्वतंत्र नहीं है। प्राण भी किसी की अनुमति से कार्य करता है। प्राण अपने उस शासक को अपना विषय नहीं बना सकता। प्राण में सिर्फ गन्ध का ज्ञान करने की सामर्थ्य है। इस प्राण में जो प्राणन् शक्ति है, वह उसी चेतन तत्त्व से आती है। उस चेतन तत्त्व के अभाव में प्राण

---

[968] वहीं,1.3.15
[969] वहीं,1.3.16
[970] छा.उ.1.5.3
[971] वहीं,1.5.4
[972] उद्गात्वर्त्विजा वायुना प्राणेन प्राणो वै यज्ञस्य उद्गाता तद्योऽयं प्राण: स वायु: स उद्गाता स मुक्ति: सातिमुक्ति:। -बृ.उ. 3.1.5

अपना कार्य नहीं कर सकेगा। केनोपनिषद् ऋषि के मत में प्राण का वह आधार भूत तत्त्व ही ब्रह्म है।[973]

इसी भाव को व्यक्त करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि क्षेत्रज्ञ ही सभी क्षेत्रों को प्रकाशित करता है।[974] यहाँ क्षेत्रं का अर्थ पंचज्ञानेन्द्रियाँ है और क्षेत्री का अर्थ उसमें रहने वाला या उस इन्द्रिय को प्रकाशित करने वाला देवता है।

4.8 चक्षु इन्द्रिय और आदित्य : चक्षु को सभी रूपों का सामान्य कहा जाता है। यह शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश आदि रूपों का कारण है। सभी रूपों में सम होने से इसे साम कहा जाता है। सभी रूपों को धारण करने के कारण इसे ब्रह्म कहा जाता है।[975]

बृहदारण्यक उपनिषद् में नेत्र अन्तरवर्ती सप्त अक्षितियों का वर्णन है। अक्षयता का कारण होने के कारण इनको अक्षिति कहा जाता है। इन अक्षितियों को बताते हुए ऋषि ने कहा है कि नेत्र में जो रक्तवर्ण की रेखायें दिखायी देती हैं। वे रेखायें रुद्र देवता के अनुगत हैं। धूमादि के संयोग से जो जल निकलता है, उस जल से मेघ अनुगत है। कानीनका के द्वारा ही आदित्य अनुगत है। कानीनका के द्वारा ही आदित्य मध्यम प्राण में प्रवेश करता है। नेत्र में दिखायी देने वाले कृष्ण वर्ण के द्वारा अग्नि अनुगत है। शुक्लवर्ण से इन्द्र, नीचे के पलक द्वारा पृथिवी, ऊपर के पलक द्वारा द्युलोक अनुगत है। ये सातों प्राण के अन्न होकर उपस्थित होती हैं।[976]

अश्वल के द्वारा याज्ञवल्क्य से यह पूछे जाने पर कि यह सब कुछ दिन और रात्रि से व्याप्त है। सब कुछ दिन रात्रि के अधीन है। क्या ऐसा कोई साधन है, जिसके द्वारा इस दिन रात्रि का अतिक्रमण किया जा सके? तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि चक्षु रूप आदित्य के

---

[973] यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। -केन.उ.1.8
[974] क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति। -भग.गी.13.33
[975] अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि ...। -बृ.उ.1.6.2
[976] वहीं,2.2.2

द्वारा इस दिन रात्रि का अतिक्रमण हो सकता है। आदित्य ही यज्ञ का चक्षु है और वह चक्षु अध्वर्यु है। अत: अध्वर्यु ही दिन और रात्रि से मुक्त कर सकता है।[977]

राजा जनक ने कहा कि वृष्ण के पुत्र बर्कु ने मुझसे 'चक्षु ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है। याज्ञवल्क्य ने कहा कि चक्षु भी ब्रह्म का एक ही पाद है। आयतन होने से चक्षु ही उसका शरीर है। आकाश उसकी प्रतिष्ठा है। अत: सत्य के रूप में उसकी उपासना करनी चाहिए। चक्षु की परब्रह्म के रूप में उपासना करने वाले पुरुष को चक्षु कभी त्याग नहीं करता।[978] पुन: राजा जनक ने कहा कि भारद्वाज गोत्र उत्पन्न गर्दभी विपीत ने मुझसे श्रोत्र ही ब्रह्म है ऐसा कहा है। तब याज्ञवल्क्य ने फिर बताया कि यह भी ब्रह्म का एक ही पाद है। आयतन होने से श्रोत्र ही जिसका शरीर है। आकाश प्रतिष्ठा है और अनन्त के रूप में इसकी उपासना करनी चाहिए; क्योंकि दिशाएँ ही श्रोत्र हैं और दिशाएँ अनन्त हैं। अत: श्रोत्र की अनन्त तथा परब्रह्म के रूप में उपासना करने वाले पुरुष को श्रोत्र कभी त्याग नहीं करता है।[979]

बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार सत्य ब्रह्म ही आदित्य है। आदित्य में दिखायी देने वाला पुरुष तथा दक्षिण नेत्र का पुरुष दोनों एक दूसरे में प्रतिष्ठित हैं। कैसे प्रतिष्ठित हैं? इसे बताते हुए ऋषि ने कहा कि आदित्य अपनी रश्मियों के द्वारा नेत्र में प्रतिष्ठित है और चाक्षुष पुरुष प्राणों के द्वारा आदित्य में प्रतिष्ठित है। जिस समय दक्षिण नेत्र में स्थित पुरुष उत्क्रमण करने लगता है। उस समय इस मण्डल को शुद्ध रूप में देखता है और रश्मियाँ उसके पास नहीं आती हैं।[980] आचार्य शंकर के मत में अध्यात्म पुरुष और अधिदैव पुरुष दोनों एक दूसरे के उपकारक होते हैं। इसलिए इन दोनों को एक दूसरे में

---

[977] चक्षुषादित्येन चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षु: सोऽसावादित्य: सोऽध्वर्यु: स मुक्ति: सातिमुक्ति:। - वहीं,3.1.4

[978] वहीं,4.1.4

[979] वहीं,4.1.5

[980] तद् यत्तत् सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठित: प्राणैरयममुष्मिन् स यदोत्क्रमिष्यन् भवति शुद्धमेवैतन्मण्डले पश्यति नैनमेते रश्मय: प्रयायन्ति। - वहीं,5.5.2

प्रतिष्ठित बताया जाता है।[981] अत: आदित्य पुरुष और चाक्षुष पुरुष को एक दूसरे में प्रतिष्ठित बताया है; क्योंकि दोनों एक दूसरे के उपकारक हैं।

उपनिषद् पुरुष के स्वरूप का वर्णन करती हुई कहती है कि इस पुरुष का रूप हल्दी में रंगे हुए वस्त्र के समान है। सफेद ऊनी वस्त्र भी इससे समानता रखता है। इन्द्र गोप के समान लाल वर्ण का है। यह पुरुष वर्ण में अग्नि की ज्वाला, श्वेतकमल और बिजली की समानता रखता है।[982]

जनक के दरबार में बैठे हुए विद्वानों की सभा में अश्वल के चुप हो जाने के पश्चात् जारत्कार और आर्तभाग ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि ग्रह और अतिग्रहों की संख्या कितनी है। ऐसा पूछे जाने पर याज्ञवल्क्य ने कहा कि ग्रह आठ हैं और अतिग्रह भी आठ हैं। उनमें से प्रथम ग्रह घ्राण में स्थित प्राण है और अतिग्रह अपान है। यह प्राण अपान के द्वारा ही गन्धों को सूँघता है।[983] द्वितीय ग्रह वाक् है एवं अतिग्रह नाम-रूप है; क्योंकि प्राणी वाक् से ही नामों का उच्चारण करता है। तृतीय ग्रह जिह्वा है और उसका अतिग्रह रस है। चतुर्थ ग्रह चक्षु है और रूप उसका अतिग्रह है। पंचम ग्रह श्रोत्र है एवं उसका अतिग्रह शब्द है। इसी क्रम में षष्ठ ग्रह मन एवं अतिग्रह काम है। सप्तम ग्रह हस्त है एवं अतिग्रह कर्म है। अष्टम् ग्रह त्वक् है एवं अतिग्रह स्पर्श है।[984] इस प्रकार सिद्ध हुआ कि ग्रहों के द्वारा ही अष्ट अतिग्रहों का ग्रहण किया जाता है।

अयन का अर्थ प्रलय स्थान है। जैसे सभी जलों का प्रलय स्थान समुंद्र होता है। उसी प्रकार सभी इन्द्रियों को उनके विषयों का प्रलय स्थान कहा गया है। सभी स्पर्शों का प्रलयस्थान त्वक् है। समस्त गन्धों का प्रलय स्थान घ्राण है; क्योंकि घ्राण ही सभी गन्धों को ग्रहण करती है। जिह्वा सभी रसों का प्रलय स्थान है; क्योंकि सभी रसों की परिसमाप्ति जिह्वा में होती है। चक्षु सभी रूपों का अयन है। श्रोत्र सभी शब्दों का अयन है। मन सभी संकल्पों का अयन कहा गया है। सभी विद्याओं की परिसमाप्ति बुद्धि में होती है। अत: बुद्धि सभी विद्याओं का अयन है। सभी कर्म हाथ से किये जाते हैं। अत: हाथ सभी कर्मों

---

[981] चाक्षुषश्चादित्ये प्रतिष्ठितौ अध्यात्माधिदैवतयोरन्योन्योपकार्योपकारकत्वात्। - वहीं,5.5.2, शां.भा.

[982] तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम्। यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं रथा सकृद्विद्युतं सकृद्विद्युत्तेवं। - वहीं,2.3.6

[983] प्राणो वै ग्रह: सोऽपानेनातिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धान जिघ्रति। - वहीं,3.2.2

[984] वहीं,3.2-9

का प्रलय स्थान है। उपस्थ सभी आनन्दों का प्रलय स्थान है। पायु सभी विसर्गों का स्थान है। सभी मार्गों का अयन दोनों चरण हैं और वाक् सभी वेदों का प्रलय स्थान है।[985]

4.9 विज्ञानमय कोश : वेदान्तसार के अनुसार बुद्धि के साथ पंचज्ञानेन्द्रियों को विज्ञानमय कोश के नाम से जाना जाता है। मनोमय शरीर का आत्मा यह विज्ञानमय शरीर ही है। अत: विज्ञानमय शरीर मनोमय शरीर का कारण हुआ। यह विज्ञानमय शरीर भी मनोमय के समान पुरुषाकार ही होता है। पुरुषाकार होने से सिर, दक्षिणपक्ष, वामपक्ष, मध्यभाग, पुच्छ आदि भागों से युक्त बताया गया है। वेद के अर्थ के विषय में निश्चयात्मिका बुद्धि सम्पन्न पुरुष को सबसे पहले कर्तव्य कर्म में श्रद्धा उत्पन्न होती है। सम्पूर्ण कर्मों में प्रथम होने के कारण विज्ञानमय शरीर के सिर के समान है। ऋत् को विज्ञानमय कोश का दक्षिण पक्ष बताया गया है। सत्य उत्तरपक्ष है, योग मध्यभाग है। मह: को पुच्छ के समान कहा गया है।[986] यह विज्ञानमय शरीर मनोमय शरीर की आत्मा है। विज्ञानमय शरीर के कारण ही मनोमय शरीर का अस्तित्त्व होता है। अत: कारण के रूप में विज्ञानमय कोश मनोमय कोश को प्रभावित करता है।

विज्ञान बुद्धि को कहते हैं। इस विज्ञान से युक्त जीवात्मा ही विज्ञानमय है।[987] जीवात्मा जब अपनी सुषुप्ति अवस्था में होता है। तब यह घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, त्वक् आदि इन्द्रियों के विज्ञान को ग्रहण कर लेता है। अजातशत्रु के मत में जीवात्मा जब सोता है, तो यह हृदय के भीतर स्थित आकाश में ही शयन करता है। तब इसे स्वपिति अर्थात् सोता है ऐसा कहा जाता है। स्व अर्थात् आत्मा, अपिति प्राप्त हो जाता है। अर्थात् अपनी आत्मा को प्राप्त हो जाता है। ऐसा छान्दोग्य उपनिषद् में भी कहा गया है कि उस स्थिति में जीवात्मा सत् को प्राप्त हो जाता है।[988] जीवात्मा की इस सुषुप्तावस्था में प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन गृहीत रहते हैं।[989] इससे पता चलता है कि जीवात्मा से ही इन

---

[985] बृ.उ.,4.5.12

[986] तस्य श्रद्धा एव शिर:। ऋतं दक्षिण: पक्ष:। सत्यमुत्तर: पक्ष:। योग आत्मा । मह: पुच्छं प्रतिष्ठा। -तै.उ.2.4.1

[987] विज्ञानं विज्ञायतेऽनेनेत्यन्त:करणं बुद्धि: उच्यते तन्मय: तत्पायो विज्ञानमय:। -बृ.उ.2.1.16, शां.भा.

[988] छा.उ.6.8.1

[989] एष विज्ञानमय: पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन्छेते। -बृ.उ.2.1.17

इन्द्रियों को प्रकाश प्राप्त होता है। इन्द्रियों में जो प्रकाश है वह जीवात्मा अर्थात् विज्ञानमय का ही प्रकाश है, जिसके द्वारा अपने प्रकाश को समेट लेने पर ये सभी इन्द्रियाँ गृहीत हो जाती हैं।

4.10 वाक् का ज्योति स्वरूप : बृहदारण्यक उपनिषद् के ऋषि वाणी को भी प्रकाशक मानते हैं।[990] अर्थात् वाणी रूप ज्योति से ही पुरूष व्यापार करता है। एक बार जनक ने पूछा कि अग्नि रूप ज्योति के बुझ जाने पर पुरुष के लिए कौन सी ज्योति होती है? तब याज्ञवल्क्य ने वाक् को पुरुष की ज्योति के रूप उल्लेख किया। अर्थात् वाक् रूप ज्योति के द्वारा ही बैठता है, इधर उधर जाता है, कर्म करता है और लौट आता है। इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं कि शब्द के द्वारा ही श्रोत्रेन्द्रिय दीप्त होती है। श्रोत्रेन्द्रिय के दीप्त होने पर मन में विवेक उत्पन्न होता है और पुरुष शब्द होने की दिशा में ही चेष्टा करता है।[991]

मन, वाक् और प्राण ये तीन आध्यात्मिक अन्न को पिता प्रजापति ने अपने लिए उत्पन्न किया था। इनमें वाक् को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्राणियों के स्वरयन्त्रों से जितने भी वर्णादि ध्वनि उत्पन्न होती है। बाजे, मेघादि का गर्जन या अन्य कोई शब्द यह सब वाक् ही है।[992] यह वाक् अपने अभिधेय को प्रकाशित करने वाली है। अभिधेय के समान प्रकाश्य नहीं है। दीपक के समान यह स्वयं प्रकाश स्वरूपा है। जैसे दीपक के प्रकाश को खुद के अस्तित्त्व का भान कराने के लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती है, अपितु स्वयं वह अपने अस्तित्त्व का भान करा देती है। जबकि संसार की अन्य वस्तुएँ जैसे घट, पट, वृक्ष आदि का ज्ञान अन्य प्रकाश स्रोत पर निर्भर है। प्रकाश के बिना इन सभी जड़ पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता है। इस प्रकार प्रकाशकत्व ही वाक् का कार्य सिद्ध होता है।

उपनिषद् के अनुसार वाक् सभी नामों का कारण है। सभी नामों में यह वाक् ही व्याप्त रहती है। अत: इसे नामों का सामान्य कहा जाता है। सभी नामों को वाक् से ही उत्पन्न

---

[990] वाचैवायं ज्योतिषास्ते। - बृ.उ.,4.3.5

[991] वागेवास्य ज्योतिर्भवतीति वाचैवायं ज्योतिषास्ते पल्यते कर्म कुरुते विपल्येतीति। - वहीं,4.3.5, शां.भा.

[992] य: कश्च शब्दो वागेव सा। - वहीं,1.5.3

बताया गया है। सभी नामों को धारण करने के कारण इसे नामों का ब्रह्म कहा जाता है।[993]

यज्ञ में वाक् को होता का स्थान दिया गया है। यह होता यज्ञ में ऋग्वेद के मन्त्रों का पाठ करता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य से अश्वल के द्वारा यह पूछे जाने पर कि यह सम्पूर्ण जगत् तो मृत्यु से व्याप्त है। मृत्यु ही इन सबको स्वाधीन किये हुए है। इस मृत्यु का अतिक्रमण कैसे किया जा सकता है? तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि अग्नि और वाक् रूप होता के द्वारा मृत्यु का अतिक्रमण किया जा सकता है। वस्तुत: यह वाक् ही अग्नि भी है और होता भी है। इन सबमें वाक् ही प्रधान है। अत: वाक् ही मृत्यु से परे कर सकती है।[994] यहाँ वाक् को होता कहा गया है। इसे ऐसा भी समझा जा सकता है कि होता ही यज्ञ का वाक् है।

एक बार विदेहराज जनक की सभा में याज्ञवल्क्य ऋषि का आगमन हुआ। राजा जनक ने उनका स्वागत सत्कार किया। राजा जनक ने जो कुछ भी पूर्व आचार्यों से सुना था, सब कुछ याज्ञवल्क्य के सम्मुख कह दिया। जनक ने कहा कि मुझसे शिलिन के पुत्र जित्वा ने कहा है कि यह वाक् ही ब्रह्म है। तब याज्ञवल्क्य ने कहा राजन! यह तो एक पाद वाला ही ब्रह्म है। वाक् ही उसका आयतन अर्थात् शरीर है और आकाश प्रतिष्ठा है। प्रज्ञा समझकर उसकी उपासना करनी चाहिए; क्योंकि वाक् से ही बन्धु बान्धव का ज्ञान होता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस वेद, इतिहास, पुराण आदि समस्त विद्याएँ इस वाक् से ही जाने जाते हैं। अत: इस वाक् की ही परब्रह्म के रूप में उपासना करनी चाहिए।[995]

उपनिषद् में ऋग्वेद, यजुर्वेद और समवेद को वाक् शब्द से कहा गया है।[996] इस वाक् की समानता एक ऐसी गाय से की गयी है, जो चार स्तनों वाली है। एक वृषभ एवं एक बछड़े वाली है। तुलना करते हुए कहा गया है कि वाक् धेनु है। स्वाहाकार, वषड्कार,

---

[993] तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति। एतदेषां सामैतद्धि सर्वैनामभि: सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि विभर्ति। - वहीं,1.6.1

[994] होत्रर्त्विजाग्निना वाचा वाग्वै यज्ञस्य होता तद्येयं वाक्सोऽयमग्नि: स होता स मुक्ति: सातिमुक्ति:। - वहीं,3.1.3

[995] वहीं,4.1.2

[996] वहीं,शां.भा.

हन्तकार, स्वधाकार, ये चार स्तन उस धेनु के हैं। स्वाहाकार और वषड्कार रूप दोनों स्तनों से देवताओं का पोषण करती है; क्योंकि स्वाहाकार और वषड्कार के द्वारा ही देवताओं को हवि दी जाती है। हन्तकार रूप स्तन से मनुष्य का पोषण करती है; क्योंकि हन्त ऐसा कहकर ही मनुष्य को अन्न देते हैं। स्वधाकार के द्वारा पितरों का पोषण होता है; क्योंकि स्वधाकार के द्वारा ही पितरों को श्रद्धेय वस्तु दी जाती है। इस धेनु रूप वाणी का वृषभ प्राण है; क्योंकि प्राण से प्रेरित होकर ही वाक् प्रसव करती है। मन उसके वत्स के समान है; क्योंकि मन से ही वाणी स्रवित होती है।[997]

4.11 हृदय और नाड़ियों का उल्लेख : आचार्य शंकर के अनुसार हृदय शब्द हृत् से बना है। हृत् एक पुण्डरीकाकार मांसपिण्ड होता है, जिसमें बुद्धि होती है। उस मांसपिण्ड में रहने के कारण बुद्धि को हृदय कहते हैं। पुरुष जब स्थूल शरीर का त्याग करता है। तब वह एक मार्ग विशेष से शरीर से बाहर निकलता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में दो मार्गों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। नेत्र और मूर्धा ये दो मार्ग हैं। ऋषि कहते हैं कि यह पुरुष जब शरीर से बाहर निकलता है। तब बुद्धि का अग्रभाग अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है। पुरुष के निकलने के समय ही प्राण भी उक्रमण करने लगता है। प्राण के उत्क्रमण करने पर सभी इन्द्रियाँ भी उत्क्रमण करने लगती हैं।[998]

कठोपनिषद् में 101 नाड़ियों का उल्लेख हुआ है। इन 101 नाड़ियों में से एक नाड़ी अन्यों से विशिष्ट है, जिसे सुषुम्ना नाड़ी कहा गया है। इस नाड़ी में से प्राण का उत्सर्ग होने पर पुरुष अमरत्व को प्राप्त करता है। जबकि शेष 100 नाड़ियों पुनर्जन्म को प्राप्त कराने वाली हैं। ये सभी 101 नाड़ियाँ हृदय प्रदेश से निकलती हैं।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।

तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥[999]

---

[997] वहीं,5.8.1

[998] एतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रमति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य: तमुत्क्रामन्तं प्राणो अनुत्क्रामति प्राणमनुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनुत्क्रामन्ति इत्यादि। - वहीं,4.4.2

[999] कठ.उ.2.3.16

वैदिक ऋषियों का मानना है कि इस मानव शरीर में 72000 नाड़ियाँ होती हैं, जो बालाग्र के सहस्र हिस्से के परिमाण की होती हैं। ये सभी नाड़ियाँ पूरे शरीर में फैली हुई शुक्ल, नील, पीत, हरित, लोहित आदि रसों से परिपूर्ण रहती हैं। इन रसों का वर्ण वात्, पित्त और कफ के मात्रात्मक भेद पर निर्भर होता है। आचार्य शंकर के मत में बालाग्र के सहस्र परिमाण वाली इन नाड़ियों में सप्तदश अवयवों से युक्त सूक्ष्मशरीर रहता है। इस लिंग शरीर को आश्रय करके धर्म-अधर्म के अनुभव से उत्पन्न हुई सारी वासनायें रहती हैं। यह सूक्ष्मशरीर अपनी सूक्ष्मता के कारण स्वच्छ और स्फटिक मणि के समान होता है। इस सूक्ष्म शरीर का नाड़ियों में स्थित रसों से संयोग होने पर धर्म-अधर्म से प्रेरित होकर स्त्री, रथ, हाथी आदि के रूप में भासित होता है। कभी उसे हाथी खदेड़ता हुआ, गड्ढे में गिरता हुआ, राजा के समान शासन करता हुआ भासित होता है।[1000]

श्रुति में आदित्य का अत्यधिक महत्त्व है। यह आदित्य प्राण का प्रतीक है। मृत्यु के समय आदित्य की रश्मियाँ पुरुष को अमृतत्व प्रदान करने में सहायक होती हैं। सूर्य की रश्मियाँ सर्वव्यापक होती हैं। दिन और रात दोनों ही कालों में नाड़ियों से इनका सम्बन्ध बना रहता है। देह के बने रहने तक रश्मियों का सम्बन्ध नाड़ियों से बना रहता है। दिन में जो पुरुष मृत्यु को प्राप्त होता है वह इन सूर्य की रश्मियों के द्वारा सूर्य लोक को ले जाया जाता है। रात्रि में यद्यपि रश्मियाँ नहीं होती हैं। फिर भी रश्मियों का नाड़ियों से सम्बन्ध बना रहता है। रात्रि में मरे हुए विद्वान् पुरुष को ये रश्मियाँ आदित्य लोक को ले जाती हैं। आदित्य को ब्रह्मलोक का द्वार माना जाता है। यह आदित्य ही ब्रह्मलोक में जाने का द्वार है। विद्वान पुरुषों के लिए यह द्वार खुला रहता है। अज्ञानी पुरुषों के लिए यह द्वार बन्द रहता है। छान्दोग्य उपनिषद् में ऐसा ही कहा गया है कि जीवात्मा जब शरीर से उत्क्रमण करता है। तब इन्हीं रश्मियों के द्वारा ऊर्ध्व लोकों को ले जाया जाता है।[1001] ऐसे विद्वान् पुरुष का हृदय से निकलने वाली 101 नाड़ियों में से मूर्धा की ओर जाने वाली नाड़ी से निर्गमन होता है। अविद्वान पुरुष के लिए वह मूर्धा नाड़ी बन्द रहती है। इसलिए अविद्वान पुरुषों का निर्गमन अन्य नाड़ियों में से होता है। इसीलिए अविद्वान पुरुष को अमृतत्व की प्राप्ति नहीं होती है। पुन: उन्हें इस संसार चक्र में आना पड़ता है। विद्वान

[1000] ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केश: सहस्रधा भिन्नस्तावताणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति इत्यादि। -बृ.उ.4.3.20, शां.भा.

[1001] अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभि: ऊर्ध्वमाक्रमते। -छा.उ.8.6.5

पुरुष जब मूर्धा नाड़ी से बाहर निकल रहा होता है। तो ये आदित्य रश्मियाँ उसे बाहर निकलने में सहायक होती हैं। फिर उसे आदित्य के द्वार तक ले जाती हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि ये रश्मियाँ आदित्य मण्डल से निकलकर नाड़ियों में व्याप्त हो जाती हैं। नाड़ियों से निकलकर पुन: सूर्य मण्डल में प्रवेश कर जाती हैं।[1002]

यहाँ पर रेतस् तेज शब्द का प्रयोग सार तत्त्व के अर्थ में हुआ है। ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार पुरुष के रेतस् में ही जीव की स्थिति होती है। पहले यह जीव धूमादि कृष्ण मार्ग से होते हुए चन्द्र लोक को प्राप्त होता है। वहाँ कर्मों के क्षीण होने पर पुन: वर्षा आदि के माध्यम से अन्न रूप को प्राप्त होता है। पुरुष अन्न का भक्षण करता है। इस प्रकार अन्न के माध्यम से यह जीव पुरुष में शुक्र के रूप में स्थित हो जाता है। फिर यह पुरुष अपनी ऋतुमती भार्या से संयोग करने के समय अपने स्थान से निकालता है।

इस प्रकार अपने स्थान से निकलना ही पुरुष जीव का प्रथम जन्म होता है।[1003] जीव का पुरुष के रेतस् रूप में स्थित होने के सन्दर्भ में योगानन्द जी का विचार भिन्न है। उनके मत में सूक्ष्म जगत् में अनेक आत्मायें गर्भ में आने के लिये संघर्ष करती रहती हैं। उनमें से जो आत्मा संघर्ष में जीत जाती है, वह गर्भ में आ जाता है। गर्भ में आने का समय शुक्राणु और अंडाशय के मिलन का समय होता है। शुक्राणु और अंडाशय की कोशिकायें जब आपस में मिलती हैं तब उनमें से एक आत्मा प्रवेश कर जाती है।[1004]

देह को भी सभी भूतों का मधु बताया गया है और सभी भूत इस देह के मधु हैं। इस देह में रहने वाला तेजोमय एवं अमृत स्वरूप पुरुष ही इसका अध्यात्म रूप भी है। यही आत्मा है और यही ब्रह्म भी है।[1005] आचार्य शंकर ने यहाँ मधु शब्द का अर्थ कार्य किया है। जैसे मधु का छत्ता अनेक मधुकरों के द्वारा तैयार किया जाता है। उसी प्रकार पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आदित्य, दिशाएँ, चन्द्रमा, विद्युत्, मेघ, आकाश, धर्म, सत्य, मनुष्य जाति एवं आत्मा अर्थात् देह आदि चौदह तत्त्व भी सभी भूतों के द्वारा निर्मित होते हैं।

[1002] अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्य: प्रतायन्ते तेऽमुस्मिन्नादित्ये सृप्ता:। - वहीं,6.8.2

[1003] ऐ.उ.2.1.1, शां.भा.

[1004] मा.खो.72

[1005] अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मन: सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमय: इत्यादि। -बृ.उ.2.5.14

सभी भूत भी इनके द्वारा निर्मित होने से कार्य हैं; क्योंकि श्रुति दोनों को एक साथ एक दूसरे का मधु बताती है। इन तत्त्वों के अध्यात्म रूप को भी दिखाती है। उपनिषद् कहती है कि इन सभी तत्त्वों में एक ही देवता निवास करता है। वह देवता स्वरूपत: तेजोमय और अमृत स्वरूप वाला है, जिसे आत्मा, ब्रह्म आदि नामों से कहा जाता है। उपर्युक्त श्रुतियों से स्पष्ट होता है कि आध्यात्मिक और आधिभौतिक तत्त्वों का आधारभूत उनका अधिदैवत रूप है। प्रत्येक तत्त्व का एक अधिदैवत रूप होता है, जो उसका धारण, पोषण एवं प्रकाशन करने वाला होता है।

आधिभौतिक	आध्यात्मिक
पृथ्वी	स्थूल शरीर
जल	रेतस्
अग्नि	वाक्
वायु	प्राण
आदित्य	चक्षु
दिशा	श्रोत्र
चन्द्रमा	मन
विद्युत्	तेजस्
मेघ	शब्द या स्वर
आकाश	हृदयाकाश
धर्म (सामान्य)	अध्यात्म धर्म (विशेष धर्म)
सत्य	सत्य
मनुष्य जाति	मानुष
आत्मा (देह)	इसमें रहने वाला आत्मा

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य शरीर के प्रत्येक अंश का किसी न किसी आधिभौतिक तत्त्व से सम्बन्ध अवश्य है। अत: यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होनी चाहिए कि भौतिक संसार से मनुष्य देह का नियन्त्रण होता है; क्योंकि अध्यात्म और आधिभौतिक दोनों में ही एक देवता का वास है।

4.12 आध्यात्मिक तत्त्वों का अपने अधिदैवत रूप में अन्तर्भाव :

आर्तभाग यद्यपि याज्ञवल्क्य के सम्मुख एक जिज्ञासु शिष्य के रूप में था। तथापि उसे कुछ

ज्ञान था। अत: वह अपने प्रश्न को स्पष्ट करते हुए पूछता है। जिस समय मृत पुरुष की वाक् अग्नि में लीन हो जाती है। प्राण वायु में लीन हो जाता है। चक्षु आदित्य में, मन चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशा में, शरीर पृथिवी में, हृदयाकाश भूताकाश में, लोम औषधियों में, केश वनस्पतियों में लीन हो जाता है। इसी प्रकार लोहित और वीर्य जल में लीन हो जाता है। तब जीव कहाँ रहता है? आर्तभाग के प्रश्नों से ज्ञात होता है कि शरीर की सभी इन्द्रियाँ और तत्त्व अपने-अपने अधिदैवत में लीन हो जाते हैं।[1006]

4.13 पंचकोशों का परस्पर कार्य-कारण भाव : वेदान्त दर्शन में पाँच कोश

माने गये हैं। अन्नमय कोश स्थूल शरीर को कहते हैं; क्योंकि स्थूल शरीर अन्न से निर्मित होता है। द्वितीय प्राणमय कोश है, तृतीय मनोमय कोश, चतुर्थ विज्ञानमय कोश और पंच आनन्दमय कोश है। इन चारों कोशों में परस्पर कार्य-कारण भाव भी है। कार्य-कारण भाव के क्रम में तैत्तिरीय उपनिषद् में भृगु को उसके पिता वरुण ने उपदेश भी दिया है।

साधक जब ब्रह्म को जानने के लिए प्रयत्न करता है। तो सबसे पहले आवश्यक है कि वह अपने मन और इन्द्रियों का संयम करे। इसके लिए साधक को ध्यान आदि तप करना पड़ता है। वरुण ने पुत्र भृगु को ब्रह्म का उपदेश देने से पूर्व तप करने के लिए कहा; क्योंकि तप ही एक ऐसा माध्यम है, जिसके द्वारा ब्रह्म को आसानी से जाना जा सकता है।[1007] वरुण के द्वारा ऐसा कहे जाने पर पुत्र भृगु ने 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्धि एव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । अन्नेन जातानि जीवन्ति' पर विचार करते हुए तप किया। किन्तु उसे ब्रह्म की उपलब्धि नहीं हुई। इस प्रकार भृगु के द्वारा पुन: पूछे जाने पर वरुण ने अन्नमय कोश के कारण भूत प्राणमय कोश का उपदेश दिया। *'प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् । प्राणाद्धियेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । प्राणेन जातानि जीवन्ति । प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति'।*[1008] इस प्रकार वरुण ने पुत्र को प्राण का ब्रह्म के रूप में उपदेश किया। किन्तु प्राण को ब्रह्म के रूप में न देखकर भृगु ने पुन: पिता वरुण से ब्रह्मका उपदेश करने केलिए कहा। फिर वरुण ने प्राणमय कोश के कारण भूत मनोमय कोश का उपदेश

[1006] अस्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षु: आदित्यं मनश्चन्द्रं दिश: श्रोत्रं पृथ्वीं शरीरमाकाशम् आत्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते क्वायं तदा। -वहीं,3.2.13

[1007] तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। -तै.उ.3.2.1

[1008] वहीं,3.3.1

किया *'मनो ब्रह्मेति व्यजानात् मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मन: प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'।*[1009]

इस प्रकार उपदेश किये जाने पर पुत्र भृगु ने तप के द्वारा मनोमय कोश को भी जान लिया। किन्तु ब्रह्म की उपलब्धि नहीं हुई। फिर वरुण ने पुत्र भृगु के लिए विज्ञानमय कोश का उपदेश दिया कि इस विज्ञान को ही ब्रह्म समझो। विज्ञान से ही जीव उत्पन्न होते हैं। विज्ञान में ही स्थित होते हैं और विज्ञान में ही पुन: विलीन हो जाते हैं, *'विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानाति । विज्ञानाद्धियेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशंति।*[1010] इसलिए विज्ञान को ही ब्रह्म समझो और तप के द्वारा उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करो। भृगु ने पुन: तप किया किन्तु उसे ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हुई। फिर उसने पिता वरुण से पूछा कि मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिए। तब उचित समय देखकर विज्ञानमय कोश के कारणभूत आनन्दमय कोश का ब्रह्म के रूप में उपदेश किया, *'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'।*[1011] इस प्रकार वरुण के द्वारा उपदिष्ट तथा भृगु के द्वारा गृहीत कार्य-कारण रूप विद्या को भार्गवी-वारुणी विद्या के नाम से जाना जाता है।

आध्यात्मिक प्रकाश को अन्तत: इस रूप में देखा जा सकता है कि जीवात्मा से सम्बन्धित तत्त्वों जैसे बुद्धि, प्राण, मन, इन्द्रियाँ, वाक्, विद्या से सम्बन्धित प्रकाश ही आध्यात्मिक प्रकाश है।

[1009] वहीं,3.4.1
[1010] वहीं,3.5.1
[1011] वहीं,3.6.1

पञ्चम अध्याय

प्रस्थानत्रयी शांकरभाष्य में प्रकाश का मौलिक स्वरूप

अद्वैतवेदान्त की परम्परा में एक मात्र परमात्मा ही सृष्टि का नियन्त्रक है। परमात्मा ही जगत् का उपादान और निमित्त कारण है। परमात्मा से ही प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है। उसी में स्थित रहती है। फिर उसी परमात्म तत्त्व में लीन हो जाती है। प्रत्येक वस्तु का आधार भूत परमात्म तत्त्व है, जिसके सहारे वह वस्तु टिकी हुई होती है। वैदिक परम्परा में उस आधारभूत तत्त्व को चेतन स्वरूप बताया गया है। पर्वत, वृक्ष, नदी, आकाश, बादल, वायु आदि सभी को धारण करने वाला परमात्म तत्त्व है। अन्यथा इनका अपना अस्तित्त्व बनाये रखना कठिन होता।[1012] वह अधिष्ठातृ चेतन तत्त्व ही वस्तु के अस्तित्त्व को बनाये रखता है। अर्थात् प्रकाशित करता है।

जैसे बृहदारण्यक उपनिषद् में अधिदैवत दर्शन, अधिभूत दर्शन और अध्यात्मदर्शन का उल्लेख हुआ है। अधिदैवतदर्शन के अन्तर्गत सभी भौतिक पदार्थों के अन्तर्यामी का कथन किया गया है। पृथिवी के अन्तर्यामी का कथन करते हुए कहा गया है कि जो तत्त्व पृथिवी का नियमन करता है, वह पृथिवी के भीतर रहता है। पृथिवी भी उसे नहीं जानती है। भौतिक पृथिवी तो उस अन्तर्यामी का शरीर मात्र है। पृथिवी के भीतर रहने वाला वह अन्तर्यामी अमृत धर्मा है।[1013] इसी प्रकार जल के भीतर एक अन्तर्यामी तत्त्व रहता है। जल ही उसका शरीर है। जल के भीतर रहकर ही सम्पूर्ण जल का नियमन करता है। जिसे जल भी नहीं जानता है।[1014] अग्नि ही अग्नि के भीतर रहने वाले अन्तर्यामी का

[1012] भग.गी.10.39
[1013] बृ.उ.3.7.3
[1014] वहीं,3.7.4

शरीर है। अग्नि के भीतर रहकर वह सम्पूर्ण अग्नि का नियमन करता है। जिसे अग्नि भी नहीं जानता है।[1015]

अन्तरिक्ष ही उसके भीतर रहने वाले अन्तर्यामी का शरीर है। वह अन्तर्यामी अन्तरिक्ष के भीतर रहकर सम्पूर्ण अन्तरिक्ष का नियमन करता है। जिसे अन्तरिक्ष भी नहीं जानता है।[1016] वायु ही वायु के भीतर रहने वाले अन्तर्यामी का शरीर होता है। वह अन्तर्यामी वायु के भीतर रहकर सम्पूर्ण वायु का नियमन करता है, जिसे वायु भी नहीं जानता है।[1017] द्युलोक ही द्युलोक के भीतर रहने वाले अन्तर्यामी का शरीर है। द्युलोक के भीतर रहकर वह अन्तर्यामी सम्पूर्ण द्युलोक का नियमन करता है। जिसे द्युलोक भी नहीं जानता है।[1018] आदित्य ही उसके भीतर रहने वाले अन्तर्यामी का शरीर है। आदित्य के भीतर रहकर वह सम्पूर्ण आदित्य का नियमन करता है। जिसे आदित्य भी नहीं जानता है।[1019] दिशाएँ ही दिशाओं के भीतर रहने वाले अन्तर्यामी का शरीर है। वह भीतर रहकर सम्पूर्ण दिशाओं का नियन्त्रण करता है। जिसे दिशाएँ भी नहीं जानती हैं।[1020]

सम्पूर्ण चन्द्रमा और तारे ही उनके भीतर रहने वाले अन्तर्यामी का शरीर हैं। चन्द्रमा और तारों के भीतर रहकर ही वह सम्पूर्ण चन्द्रमा और तारों का नियन्त्रण करता है। जिसे ये चन्द्रमा और तारे भी नहीं जानती हैं।[1021] आकाश ही आकाश के भीतर रहने वाले अन्तर्यामी का शरीर है। वह आकाश के भीतर रहकर सम्पूर्ण आकाश का नियमन करता है। जिसे आकाश भी नहीं जानता है।[1022] तम ही तम के भीतर रहने वाले अन्तर्यामी का शरीर है। वह तम के भीतर रहकर सम्पूर्ण अन्धकार को नियमित करता है। जिसे अन्धकार भी नहीं जानता है।[1023] तेज या प्रकाश ही उसके भीतर रहने वाले अन्तर्यामी का शरीर है। भीतर रहकर ही वह सम्पूर्ण प्रकाश या तेज का नियन्त्रण करता है। जिसे

[1015] वहीं,3.7.5
[1016] वहीं,3.7.6
[1017] वहीं,3.7.7
[1018] वहीं,3.7.8
[1019] वहीं,3.7.9
[1020] वहीं,3.7.10
[1021] वहीं,3.7.11
[1022] वहीं,3.7.12
[1023] वहीं,3.7.13

तेज भी नहीं जानता है।[1024] इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि अमरणधर्मा एक अन्तर्यामी तत्त्व ही सम्पूर्ण पृथिवी, आकाश, वायु, अग्नि, अन्तरिक्ष, तम, तेज, दिक्, आदित्य, चन्द्रमा, तारे, द्युलोक और इनके भीतर रहने वाले अधिदैवत रूप को नियन्त्रित करता है।

अब अधिभूत दर्शन का कथन करते हुए कहते हैं कि सम्पूर्ण भूतों में भी रहने वाला एक तत्त्व है। जो सम्पूर्ण भूतों को नियन्त्रित करता है। सम्पूर्ण भूत भी उसे नहीं जानते हैं। वह तत्त्व ही अमृत रूप है।[1025] सम्पूर्ण भूतों से सम्बन्धित होने के कारण इसे अधिभूत दर्शन के रूप में देखा गया है।

इसके अनन्तर अध्यात्मदर्शन का कथन करते हैं। प्राण ही प्राण के भीतर रहने वाले अन्तर्यामी तत्त्व का शरीर है। जो भीतर रहकर सम्पूर्ण प्राण को नियन्त्रित करता है। जिसे प्राण स्वयं ही नहीं जानता है।[1026] सम्पूर्ण वाणी ही वाणी के भीतर रहने वाले अन्तर्यामी का शरीर है। वह अन्तर्यामी भीतर रहकर ही सम्पूर्ण वाणी को नियन्त्रित करता है। जिसको वाणी भी नहीं जानती है।[1027] नेत्र ही नेत्र के भीतर रहने वाले अन्तर्यामी का शरीर है। जो भीतर रहकर सम्पूर्ण नेत्र को नियमित करता है। जिसे नेत्र स्वयं नहीं जानता है।[1028] श्रोत्र ही श्रोत्र के भीतर रहने वाले अन्तर्यामी का शरीर है। भीतर रहकर ही वह सम्पूर्ण शरीर को नियमित करता है। जिसे श्रोत्र भी नहीं जानता है।[1029] मन ही मन के भीतर रहने वाले अन्तर्यामी का शरीर है। भीतर रहकर जो मन को नियन्त्रित करता है। जिसे मन भी नहीं जानता है।[1030] त्वक् ही त्वक् के भीतर रहने वाले अन्तर्यामी का शरीर है। भीतर रहकर ही जो सम्पूर्ण त्वक् को नियमित करता है। जिसे त्वक् भी नहीं जानती है।[1031] विज्ञान ही विज्ञान के भीतर रहने वाले अन्तर्यामी का शरीर है। जो भीतर रहकर सम्पूर्ण विज्ञान को नियमित करता है। जिसे विज्ञान भी नहीं

[1024] वहीं,3.7.14
[1025] वहीं,3.7.15
[1026] वहीं,3.7.16
[1027] वहीं,3.7.17
[1028] वहीं,3.7.18
[1029] वहीं,3.7.19
[1030] वहीं,3.7.20
[1031] वहीं,3.7.21

जानता है।[1032] इस प्रकार ज्ञात होता है कि एक ही अमृतधर्मा अन्तर्यामी तत्त्व अध्यात्मिक तत्त्वों और उनके अधिदैवत रूपों को नियमित करता है।

5.1 जगत् के मौलिक कारण का निरूपण : केनोपनिषद् का प्रारम्भ इन्द्रियों के अधिष्ठान विषयक प्रश्न से होता है। शिष्य गुरु से प्रश्न करता है कि मन स्वयं अचेतन होने से क्रियाशील नहीं हो सकता है। अत: उसका अधिष्ठान कौन है? किसकी प्रेरणा से अपना व्यापार करता है? अचेतन प्राण किसकी प्रेरणा से प्राणन क्रिया करता है? वाणी किससे प्रेरित होकर शब्दों का व्यापार करती है? इसी प्रकार श्रोत्र, चक्षु, आदि इन्द्रियों का प्रेरक कौन है?[1033]

नचिकेत ने यमराज से तृतीय वर के रूप में आत्मा विषयक प्रश्न किया कि इस मनुष्य शरीर में स्थित जीवात्मा मृत्यु के बाद रहता है या नहीं। कुछ लोग कहते हैं रहता है तो कुछ लोग कहते हैं नहीं रहता है। आप मृत्यु के स्वामी हैं। आप से शिक्षित हुआ मैं इस मृत्यु को जानूँ।

'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीतिचैके'[1034]

प्रश्नोपनिषद् छ: प्रश्नों में विभक्त है। प्रत्येक प्रश्नखण्ड में शिष्य एक प्रश्न करता है और पिप्पलाद मुनि उसका उत्तर देते हैं।

कात्यायन कबन्धी ने गुरु पिप्पलाद मुनि से पूछा कि यह सारी प्रजा किससे उत्पन्न होती है- *'भगवन् कुतो ह वा इमा: प्रजा: प्रजायन्त इति'*[1035]।

विदर्भदेशीय भार्गव ने प्रश्न किया कि भगवन् ! इस प्रजा को कितने देव धारण करते हैं? अर्थात् कौन-कौन देवता इस प्रजा को प्रकाशित करते हैं? उन देवों में सर्वश्रेष्ठ कौन है- *'भगवन्कत्येव देवा: प्रजा विधारयन्ते कतर एतत्प्रकाशयन्ते क: पुनरेषां वरिष्ठ इति'*[1036]

[1032] वहीं,3.7.22
[1033] केन.उ.1
[1034] कठ.उ.1.1.20
[1035] प्र.उ.1.3

अश्वल के पुत्र कौसल्य ने प्राण की उत्पत्ति, स्थिति और लय के विषय में प्रश्न किया कि यह प्रजा कहाँ से उत्पन्न होती है? शरीर में कैसे स्थित रहता है? फिर शरीर से क्यों उत्क्रमण कर जाता है- *'भगवन्कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिञ्शरीरे आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति'*[1037]

सूर्य के पौत्र गार्ग्य ने पूछा, इस शरीर में कौन-कौन सी इन्द्रियाँ सोती हैं? कौन इन्द्रिय जागती है? कौन इन्द्रिय स्वप्न देखती है? यह सब किसमें प्रतिष्ठित है- *'भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिञ्जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति कस्यैतत्सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिताः भवन्तीति'*[1038]

शिबि पुत्र सत्यकाम ने कहा कि जो पुरुष अन्तिम समय तक ओंकार का चिन्तन मनन करता है। वह किस लोक को प्राप्त होता है- *'स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति'*[1039]

इसी प्रकार भारद्वाज के पुत्र सुकेशा ने 16 कलाओं वाले पुरुष के विषय में प्रश्न किया[1040]

शौनक एक गृहस्थ पुरुष था। उसने अपने गुरु अंगिरा के पास जाकर प्रश्न किया कि किस तत्त्व को जान लेने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है? अर्थात् इस स्थावर-जङ्गात्मक सम्पूर्ण जगत् का अन्तिम कारण क्या है- *'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति'*[1041]

[1036] वहीं,2.1
[1037] वहीं,3.1
[1038] वहीं,4.1
[1039] वहीं,5.1
[1040] वहीं,6.1
[1041] मु.उ.1.1.3

माण्डूक्य-उपनिषद् में आत्मा विषयक प्रश्न है। जिसमें प्रश्न किया गया है कि इस जगत् को जानने वाला कौन है**?** इसकी कल्पना कौन करता है**?**

'उभयोरपि वैतथ्यं भेदानां स्थानयोर्यदि।

क एतान्बुध्यते भेदान्को वै तेषां विकल्पक:॥'[1042]

तैत्तिरीय उपनिषद् तीन वल्लियों में विभक्त है- शिक्षावल्ली**,** ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली। इनमें से भृगुवल्ली के अन्तर्गत भृगु अपने पिता वरुण के पास जाकर ब्रह्म का उपदेश करने के लिए निवेदन करता है। तब पिता वरुण ने क्रमश: अन्न**,** प्राण**,** मन**,** विज्ञान एवं आनन्द को ब्रह्म के रूप में उपदेश किया**-** *'भृगुर्वै वारुणि: वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मेति'।*[1043]

श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार एक बार कई ऋषियों ने सामूहिक रूप से एकत्र होकर जगत् के कारण विषयक संदेह को दूर करने के लिए विचार विमर्श किया। जगत् कारण के विषय में विद्वानों के बीच जो संदेह व्याप्त था**,** उसे श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रथम मन्त्र में दर्शाया गया है**-**

'किं कारणं ब्रह्म कुत: स्म जाता, जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा:।

अधिष्ठिता: केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥'[1044]

अर्थात् इस स्थावर-जङ्गात्मक जगत् का कारण कैसा है? हम किससे उत्पन्न हुए हैं? किसके द्वारा जीवित रहते हैं? हम कहाँ स्थित हैं? हम सब किसके द्वारा प्रेरित होकर व्यवहारिक क्रिया कलापों का अनुवर्तन करते हैं?

[1042] मा.उ.वै.प्र.11
[1043] तै.उ.3.1.1
[1044] श्वे.उ.1.1

छान्दोग्य उपनिषद् में आरुणि और श्वेतकेतु का संवाद प्रसिद्ध है। इस संवाद में जगत् के मूल कारण का उपदेश एक सुन्दर शैली में उपस्थापित किया गया है। जो पुरुष जगत् के कारण को अनुभव रूप में जान लेता है, वह अहंकारहीन, अल्पज्ञ एवं विनीत स्वभाव वाला हो जाता है। किन्तु आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु बारह वर्ष में ही गुरु से सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन कर स्वयं को बुद्धिमान्, पण्डित समझते हुए अविनीत स्वभाव से पिता आरुणि के सम्मुख उपस्थित हुआ। उसे देखकर पिता आरुणि ने पुत्र से कहा कि क्या तुमने उस आदेश को पूछा, जिसे जान लेने के बाद कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता है, जिसके जान लेने पर न सुना हुआ भी सुने हुए के समान हो जाता है और अज्ञात भी ज्ञात हो जाता है।

पुन: श्वेतकेतु के द्वारा उस आदेश को पूछे जाने पर पिता आरुणि ने कहा हे पुत्र ! जिस प्रकार एक मिट्टी के पिण्ड को जान लेने पर मिट्टी से बनी हुई सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। नामादि विकार केवल वाणी पर आश्रित होते हैं। सत्य तो केवल मिट्टी ही होती है- *'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम्'*[1045] अर्थात् यदि जगत् के मूल कारण को जान लिया जाय तो निश्चय ही सम्पूर्ण जगत् को जान लिया जायेगा। अत: उस कारण को जानने की चेष्टा करनी चाहिए।

नारद यद्यपि सभी विद्याओं में पारंगत थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वेद, इतिहास, पुराण आदि सभी विद्यायें जानते थे। आत्मज्ञान के बिना इन सभी विद्याओं से उन्हें शान्ति प्राप्त नहीं हुई। इसलिए नारद आत्मज्ञान का उपदेश प्राप्त करने के लिए सनत्कुमार के पास गये। तब सनत्कुमार ने नारद के प्रति आत्मज्ञान का उपदेश करके तृप्ति प्रदान की।[1046]

बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी संवाद प्रसिद्ध है। मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से कहा कि यदि धन से सम्पन्न यह सारी पृथिवी मेरी हो जाय तो भी मैं उससे अमर नहीं हो सकती। जिसे पाकर मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी? आप जो कुछ

[1045] छा.उ.6.1.4

[1046] वहीं,7.1.1-5

भी अमृतत्त्व का साधन जानते हो मुझे उसी का उपदेश कीजिए- *'सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् यदेव भगवान्वेद तदेव में ब्रूहीति*[1047]

इससे पता चलता था कि जगत् के कारण के विषय में बात करना उपनिषद् काल में कितनी सामान्य सी बात थी। ऋषिगण परस्पर ब्रह्म के विषय में वार्तालाप किया करते थे। छान्दोग्य उपनिषद् में श्वेतकेतु के पिता ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा कि पुत्र! जाओ गुरु से विद्या प्राप्त करो। वेद का अध्ययन किए बिना मेरे घर में कोई ब्राह्मण नहीं होता। पिता का तात्पर्य था कि पुत्र गुरु के पास जाकर ब्रह्मविद्या प्राप्त करे।

आश्चर्य की बात है कि जब अन्य देशों के लोग यायावरीय जीवन व्यतीत करते थे। उस समय भारत भूमि पर वैदिक ऋषि जगत् के कारण के विषय में चर्चा किया करते थे। क्या यह वैदिक साहित्य लाखों वर्षों पूर्व सभ्यता का चर्मोत्कर्ष था अथवा कोई दैवीय देन थी? यह कहना अभी भी विद्वानों की बुद्धि के परे है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् काल में जगत् के मूल कारण के विषय में कुल छः मत प्रचलित थे। कुछ लोग काल को जगत् का कारण मानते थे। कुछ स्वभाव को जगत् का कारण मानने के पक्ष में थे। कुछ लोग नियति को जगत् का कारण मानते थे। कुछ विद्वान ऐसे भी थे जो यदृच्छा को जगत् का कारण मानने के पक्ष में थे। इसी प्रकार अनेक लोगों ने भूत तथा पुरुष को भी जगत् का कारण माना है। इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् के दूसरे मन्त्र में जगत् के कारण के विषय में प्रचलित छः मतों का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार का सन्देह व्याप्त रहने के कारण ही सम्भवतः जगत्कारण पर विचार करने की आवश्यकता हुई।

श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा कि हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्मतत्त्व क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत और अधिदैव किसे कहते हैं?[1048] आदि अर्जुन के द्वारा पूछे गये प्रश्न प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जगत् के मौलिक कारण से सम्बन्धित हैं।

केनोपनिषद् में मन के अधिष्ठान को मन का मन कहकर निर्दिष्ट किया गया है। वस्तुतः मन के जो संकल्प-विकल्प आदि व्यापार कहे गये हैं। वे सभी व्यापार आत्मा से ही हैं; क्योंकि आत्मा के संयोग से ही मन इन व्यापारों को करने में सफल होता है। आत्मा का

[1047] बृ.उ.2.4.3
[1048] भग.गी.8.1

वियोग हो जाने पर मन या अन्य इन्द्रियाँ अपने व्यापार को नहीं कर सकती हैं। इससे सिद्ध होता है कि संकल्प-विकल्प आदि व्यापार आत्मा के संयोग से हैं। मन नामक तत्त्व से इन व्यापारों की अभिव्यक्ति होती है। जैसे अग्नि के संयोग से जल में जलाने की सामर्थ्य आ जाती है। जलाने के कारण जल को भी अग्नि कह दी जाती है। उसी प्रकार आत्मा के संयोग से मन आदि में संकल्प-विकल्प जैसी शक्ति आ जाती है। वस्तुतः यह संकल्प-विकल्पात्मक शक्ति आत्मा के कारण ही है। इसीलिए चेतन तत्त्व को सर्वज्ञ एवं समस्त शक्तियों से युक्त बताया गया है। चेतन तत्त्व से शक्ति पाकर मन आदि इन्द्रियाँ अपना व्यापार करती हैं। अतः यहाँ पर मन का मन कहकर उसके अधिष्ठान की ओर संकेत किया गया है।[1049] श्रोत्र के अधिष्ठान को श्रोत्र का श्रोत्र, चक्षु के अधिष्ठान को चक्षु का चक्षु एवं वाक् के अधिष्ठान को वाक् का वाक् कहकर संकेत किया गया है।

छान्दोग्य उपनिषद् में श्वेतकेतु के पिता ने एक पूर्वपक्ष का उल्लेख किया है कि कुछ लोग ऐसा मानते है कि असत् से सत् की उत्पत्ति हुई है। असत् से सत् की उत्पत्ति का उल्लेख तैत्तिरीय उपनिषद् में आया है- *'असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत्। तदात्मानं स्वयं अकुरुत।*[1050] नास्तिक अपने मत को सिद्ध करने के लिए उपनिषद् के इसी मन्त्र का आश्रय लेते हैं अथवा नासदीय सूक्त के प्रथम मन्त्र का आश्रय लेते हैं।[1051] नास्तिक लोग उपनिषद् के इस मन्त्र का जो अर्थ लेते हैं वह अर्थ नहीं है, अपितु सही अर्थ उससे विपरीत है। अद्वैतवेदान्त में भी असत् शब्द का अर्थ है- पूर्ण अभाव। जिसका तीनों कालों में अभाव हो, जैसे बन्ध्या पुत्र। आचार्य शंकर इन मन्त्रों में असत् शब्द का अर्थ किया है- अव्याकृत ब्रह्म या नाम रूप से रहित ब्रह्म; क्योंकि ब्रह्म अपने मूलरूप में नाम, रूप से रहित है। इसलिए उसे न तो कोई नाम दिया जा सकता है। न उसमें कोई रूप आदि विद्यमान् है। अत: नाम रूप से रहित ब्रह्म को असत् कहा गया है।

इस प्रकार नाम, रूप से रहित अव्याकृत ब्रह्म से नाम, रूप वाले व्याकृत जगत् की उत्पत्ति हुई। श्वेतकेतु के पिता ने कहा कि हे सौम्य ! यह कैसे हो सकता है कि असत् से सत् की उत्पत्ति हुई हो अर्थात् यहाँ *'आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसत:*

[1049] श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्। -केन.उ.2

[1050] तै.उ.2.7.1

[1051] नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीत्रजो नो व्योमापरोयत्। -ना.सू.1

सज्जायत'[1052] में असत् शब्द का अर्थ पूर्ण अभाव कैसे हो सकता है। जिसका पूर्ण अभाव हो, वह भाव के रूप में कैसे परिणत हो सकता है? इसलिए इन मन्त्रों में असत् शब्द का अर्थ अव्याकृत ब्रह्म ही करना चाहिए। इसलिए यही समझना चाहिए कि सत् ब्रह्म ही सबसे पहले असत् के रूप में विद्यमान् था।

5.2 भौतिक पदार्थों में आत्मा की उपस्थिति : *'तस्माद्वा एतस्मात् आत्मनः आकाशः सम्भूतः'*[1053] के अनुसार आत्मा से सर्व प्रथम आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु। ये सभी महाभूत तमोगुण की प्रधानता के कारण अचेतन एवं जड़रूप दिखायी देते हैं। किन्तु इन सबमें आत्मा की उपस्थिति है; क्योंकि आत्मा को सर्वव्यापक एवं सबका कारण कहा गया है। कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि यह आत्मा सभी भूतों में छिपा होने पर भी प्रकाशित नहीं होता है- *'एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते'*[1054] यहाँ 'न प्रकाशते' का अर्थ दिखायी नहीं देता या अनुभव नहीं होता है; क्योंकि महाभूतों में अज्ञान की आवरण शक्ति अधिक प्रभावी होती है, जिसके कारण आत्मा का वास्तविक स्वरूप आवृत्त रहता है। ये सभी महाभूत आत्मा में उसी प्रकार भासित होते हैं। जैसे रस्सी में सर्प का आभास होता है। सुक्ति में रजत् का आभास होता है। उसी प्रकार इन महाभूतों में विद्यमान् आत्मा का सही ज्ञान नहीं हो पाता है।

सभी पदार्थ अपने कारण में अनुस्यूत होते हैं। यह कारण ही उसका सार तत्त्व होता है। जैसे घट मिट्टी में अनुस्यूत होता है। इसलिये मिट्टी ही घट का सार है। मिट्टी से अतिरिक्त घट कुछ भी नहीं है। सनातन धर्म के अनुसार किसी भी वस्तु के स्थूल तत्त्व को न देखकर उसके सार तत्त्व को देखना चाहिए; क्योंकि सार तत्त्व का ज्ञान होने पर कार्य का ज्ञान स्वत: हो जाता है। इसलिए भारतीय मनीषियों ने किसी पदार्थ के सार तत्त्व को समझने का प्रयास किया। परमात्मा सर्वव्यापक है, वह सर्वत्र है। किन्तु योगी पुरुष प्रत्येक पदार्थ में परमात्मा को किस रूप में देखता है। इसका वर्णन श्रीमद्भगवद्गीता के सातवें अध्याय में वर्णित है। श्री कृष्ण ने कहा कि जल में मैं रस हूँ;[1055] क्योंकि जल का सार तत्त्व रस है।

[1052] छा.उ.6.2.1
[1053] तै.उ.2.1
[1054] कठ.उ.1.3.12
[1055] भग.गी.7.8

अत: जल में रस के रूप में परमात्मा का दर्शन करना चाहिये। इसी प्रकार प्रकाश स्रोतों जैसे सूर्य, चन्द्रमा, तारे, नक्षत्र इत्यादि में प्रकाश को परमात्मा का स्वरूप समझना चाहिए। वेदों में ओम् परमात्मा है; क्योंकि ओम् में ही सारे वेद प्रतिष्ठित हैं, *'तस्मिन् प्रणवभूते मयि सर्वे वेदा: प्रोता:'।*[1056] जैसा कि कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि सभी वेद जिस पद को एक स्वर से कहते हैं, वह पद ओम् है।[1057] जिसे मैं तुम से कहता हूँ। इसी प्रकार आकाश में उसका सारभूत 'शब्द' परमात्मा है; क्योंकि उस शब्द रूप परमात्मा में ही आकाश पिरोया हुआ है। पुरुष में जिस तत्त्व के कारण पुरुष समझा जाता है, वह पौरुषतत्त्व परमात्मा है; क्योंकि पौरुषत्व में ही पुरुष पिरोया हुआ है।[1058]

इसी प्रकार महाभूतों में भी अपने स्वरूप का कथन करते हुए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि पृथिवी में सुगन्ध मैं हूँ। अग्नि में प्रकाश मेरा रूप है। प्राणियों में जीवन मेरा रूप है। तपस्वियों में तप मेरा रूप है; क्योंकि तप के कारण ही उनका तपस्वीत्व है।[1059] बुद्धिमानों की बुद्धि, तेजस्वियों का तेज[1060], बलवानों का बल मैं हूँ। इसी प्रकार धार्मिक पुरुषों का धर्म भी परमात्मा का स्वरूप है। श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है कि *'धर्मविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'*[1061] अर्थात् धर्म के अविरुद्ध प्राणियों में जो कामना है। वह कामना भी मेरा ही रूप है। इससे सिद्ध होता है कि धर्म परमात्मा है। उस धर्म के अनुकूल प्रत्येक तत्त्व परमात्मा का ही स्वरूप है। जैसे देह धारण के निमित्त प्राणियों में जो खाने-पीने की कामना होती है वह कामना भी परमात्मा का स्वरूप है। अर्थात् अधिक खाने की कामना या जरूरत से अधिक धन संचय करने की कामना आदि न धर्म के अनुकूल है, न परमात्मा का स्वरूप हो सकता है।

अद्वैतवेदान्त के निष्काम कर्म की एक विशेषता यह भी है कि सभी समयों में ईश्वर का चिन्तन बना रहना चाहिए। किसी न किसी रूप में ईश्वर का चिन्तन अवश्य होना चाहिए। जब हम कर्म का सम्पादन करते हैं। तब हमारी इन्द्रियों का संयोग अनेक वस्तुओं से होता है। इन्द्रियों से विषयों का संयोग होने पर हमारा चिन्तन भी विषयनिष्ठ हो

[1056] वहीं,शां.भा.
[1057] कठ.उ.1.2.15
[1058] भग.गी.7.8
[1059] वहीं,7.9
[1060] वहीं,7.10
[1061] वहीं,7.11

जाता है। ऐसी स्थिति में भी परमात्मा का चिन्तन बना रहे इसके लिए तैत्तिरीय उपनिषद् में उपाय बताया गया है

विषयों और इन्द्रियों में ब्रह्म का चिन्तन किस रूप में करना चाहिए? इस विषय में कहा गया है कि ब्रह्म वाणी में क्षेम रूप से स्थित है। अत: क्षेम के रूप में वाणी में ब्रह्म का चिन्तन करना चाहिए। प्राण और अपान में योगक्षेम के रूप में चिन्तन करना चाहिए। हाथों में कर्म के रूप में, चरणों में गति के रूप में उपासनीय है। इसी प्रकार देवताओं से सम्बन्धित उपासना का कथन करते हुए कहा गया है कि वृष्टि में तृप्ति रूप से, विद्युत् में बल के रूप में, नक्षत्रों में प्रकाश रूप से परमात्मा का चिन्तन करना चाहिए। उपस्थ में आनन्द रूप से, आकाश में व्यापकत्व रूप से, परमात्मा का दर्शन करना चाहिए।[1062]

इससे ज्ञात होता है कि पुरुष की स्थिति उसके चिन्तन पर निर्भर होती है। पुरुष का चिन्तन जैसे होता है। उसी प्रकार की अवस्थाओं की प्राप्ति होती है। इससे यह भी पता चलता है कि प्रत्येक वस्तु के दो पक्ष होते हैं एक सात्त्विक पक्ष तो दूसरा तामसिक और राजसी पक्ष। सात्त्विक पक्ष वस्तु का सारतत्त्व एवं ईश्वरीय रूप होता है, जबकि तामसिक पक्ष उसका सांसारिक एवं मायिक रूप होता है। इस प्रकार सभी वस्तुओं के ईश्वरीय पक्ष का चिन्तन करते हुए पुरुष मोक्ष को प्राप्त करता है।[1063]

5.3 प्राण ब्रह्म की सर्व कारणता : कठोपनिषद् में एक स्थान पर प्राण ब्रह्म को जगत् का कारण माना गया है। प्राण ब्रह्म में यह जगत् उत्पन्न होता है, उसी में चेष्टा भी करता है। यहाँ चेष्टा का तात्पर्य एजन-कम्पन और गमन है। इस प्राण ब्रह्म को ही जगत् का नियंत्रक भी बताया गया है। ब्रह्माण्ड के सभी पिण्ड अपने-अपने मार्ग पर नियमानुसार गति कर रहे है। किसी चेतन स्वामी के नियन्त्रण में ही यह सम्भव है अन्यथा सूर्य, चन्द्र आदि स्वच्छन्द होकर अपनी इच्छानुसार कहीं भी आ जा सकते थे। लेकिन ऐसा नहीं हैं। इसका कारण मनीषियों ने परब्रह्म का भय माना है। उसी के भय से

[1062] य एवं वेद । क्षेम इति वाचि । योगक्षेम इति प्राणापानयो: । कर्मेति हस्तयो: । गतिरिति पादयो: । विमुक्तिरिति पायौ । अथ दैवी: । तृप्तिरिति वृष्टौ । बलमिति विद्युति । ज्योतिरिति नक्षत्रेषु । प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थे । सर्वमित्याकाशे । -तै.उ.3.10.3

[1063] भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीरा: प्रेत्यस्माल्लोकादमृता: भवन्ति। -केन.उ.2.5

सभी निश्चित मार्ग पर गमन कर रहे है।[1064] आधुनिक विज्ञान में यह माना जाता है कि ब्रह्माण्डीय गुरुत्वाकर्षण शक्ति से सभी पिण्डों का मार्ग निश्चित होता है। जिस प्रकार पत्थर लगी हुई रस्सी को जोर से घुमाये जाने पर पत्थर चारों ओर घूमता रहता है, और रस्सी के टूट जाने पर पत्थर दूर चला जाता है। उसी प्रकार पृथिवी सूर्य के चारों ओर गुरुत्वाकर्षण बल से आकर्षित होकर घूम रही है। सूर्य का नियन्त्रण समाप्त हो जाने पर पृथिवी सूर्य से दूर चली जायेगी।

उसी प्रकार उपनिषद् ऋषि ने ब्रह्माण्डीय पिण्डों को नियन्त्रित करने में किसी चेतन शक्ति का सहयोग माना है। उस चेतन शक्ति के द्वारा सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी आदि को नियन्त्रित न किये जाने पर सभी पिण्ड ब्रह्माण्ड में लुप्त हो जायेंगे। किन्तु चेतन ब्रह्म के भय से ऐसा नहीं होता है। ऐसा उपनिषद् के ऋषियों का मत है।

शरीर से प्राण निकलने पर कर्मों के अनुसार उसकी गति देखी जाती है। यदि पाप कर्म हैं, तो निम्नलोकों की प्राप्ति होती है। यदि पुण्य कर्म हैं, तो हिरण्यगर्भ आदि लोकों की प्राप्ति होती है। जो पुरुष जीवन में तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा आदि का अनुसरण करता है, उसे विद्या के मार्ग से जाना पड़ता है। इस मार्ग में वह आदित्य लोक से होते हुए हिरण्यगर्भ लोक को प्राप्त करता है। इस हिरण्यगर्भ लोक को ही प्राणों का आश्रय बताया गया है।[1065]

यह सम्पूर्ण जगत् आत्मा का ही प्रकाश है; क्योंकि प्रकाश की उत्पत्ति और लय रूपी जो गुणधर्म होता है, वही गुणधर्म जगत् रूप प्रकाश में भी देखा जाता है। प्रश्नोपनिषद् के अनुसार सुषुप्ति काल में सभी कुछ आत्मा में विलीन हो जाता है। पृथिवी और पृथिवी तन्मात्रा, जल और जलतन्मात्रा, तेज और रूप तन्मात्रा, वायु और वायु में रहने वाला स्पर्श तन्मात्रा, आकाश और उसका शब्द तन्मात्रा, नेत्र और नेत्र का तन्मात्रा रूप, श्रोत्र और शब्द तन्मात्रा, घ्राण और घ्राण के विषय घ्रातव्य, रसना और रसयितव्य, त्वक् और स्पर्श योग्य पदार्थ, हाथ और ग्रहण करने योग्य वस्तुएँ, उपस्थ और उसका विषय आनन्द, पायु और उसका विषय, मन और मनन करने योग्य विषय, बुद्धि और बुद्धि का विषय,

---

[1064] यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ - कठ.उ.2.3.2

[1065] अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्त एतद्वै प्राणानाम् आयतनम् एतदमृतमभयम् एतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते-प्रश्न.उ.1.10

अहंकार और अहंकार का विषय, चित्त और चित्त के विषय, ये सभी आत्मा में लीन हो जाते हैं। पुनः पुरुष के जागने पर इनकी अभिव्यक्ति होती है।[1066]

अत: कहा जा सकता है कि सभी पदार्थ आत्मा से निकलते हैं और पुनः आत्मा में ही विलीन हो जाते हैं। इससे सभी पदार्थों का आत्मा का प्रकाश होने का अनुमान लगाया जा सकता है। मनीषियों ने बताया है कि जीवात्मा शरीर में रहकर भी प्रतिदिन परमात्मा भाव को प्राप्त होता है; क्योंकि सुषुप्ति काल में जीवात्मा अपने कारण शरीर में होता है। यह कारण शरीर ही परमात्मा का शरीर होता है। पृथिवी पर स्थित सभी जीवात्माओं के कारण शरीर से ईश्वर का शरीर निर्मित होता है। किन्तु जीवात्मा की अपने कारण शरीर में स्थिति एक अचेतन प्रक्रिया है। अचेतन प्रक्रिया के द्वारा ही जीवात्मा जाग्रत अवस्था से स्वप्नावस्था तथा स्वप्नावस्था से सुषुप्ति में प्रवेश करता है। इस सुषुप्ति में भी जीव द्रष्टा, स्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, कर्ता होता है।[1067]

यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मा की कल्पना मात्र है। पुरुष जैसे अनेक पदार्थों की कल्पना करता है। उसी प्रकार यह जगत् परमात्मा के बुद्धि की कल्पना मात्र है। परमात्मा सर्वप्रथम जीव की कल्पना करता है। फिर अनेक प्रकार के बाह्य और आन्तरिक पदार्थों की कल्पना के द्वारा सृष्टि करता है। फिर जीव अपनी इन्द्रियों के द्वारा तद् तद् विषयों का विज्ञान करता है। जिससे जीव में उन विषयों के संस्कार पड़ जाते हैं। फिर उसी संस्कार से स्वप्न में स्मृति होती है और जीव स्मृति के द्वारा अनुभूत विषयों को स्वप्न में देखता है।[1068]

इस कल्पना को एक उदाहरण के द्वारा ऋषि ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि रज्जु का निश्चय न हो सकने पर अन्धकार में जिस प्रकार सर्प की कल्पना कर ली जाती है। उसी प्रकार आत्मा में भी तरह-तरह की कल्पनाएँ हो रही हैं।[1069] परमात्मा अपनी माया शक्ति के द्वारा ही इन सभी कल्पनाओं को जन्म देता है। वट वृक्ष के बीज में जिस प्रकार

[1066] प्रश्न.उ.4.8
[1067] वहीं,4.9
[1068] जीव कल्पयते पूर्व ततो भावान्पृथग्विधान्। ब्राह्यानाध्यात्मिकांश्चैव यथा विद्यस्तथास्मृतिः।।- मा.उ.2.16
[1069] वहीं,2.17

पूरे वटवृक्ष की संरचना निहित होती है। उसी प्रकार संसार की संरचना माया में निहित है। यह माया ही संसार का बीज है। माया से संसार की अभिव्यक्ति होती है। यह माया परमात्मा की शक्ति है। परमात्मा अपनी ही शक्ति से मोहित होकर जीव बन जाता है। लेकिन फिर भी उस परमात्मा के ऐश्वर्य और पूर्णत्व की हानि नहीं होती है।[1070] माया से सम्मोहित होकर ईश्वर से जीव बनने की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। इस प्रकार माया के द्वारा ही एक ईश्वर में अनन्त जीवों की कल्पना हो जाती है। इस प्रकार सभी जीव ईश्वर के अंश कहे जाते हैं। इनमें से प्रत्येक जीव स्वरूपतः पूर्ण होता है। ईश्वर भी पूर्ण है। जीव भी पूर्ण है। पूर्ण ईश्वर से पूर्ण जीव निकलने पर भी ईश्वर पूर्ण ही रहता है। उसमें किसी प्रकार से न्यूनाधिक्य नहीं होता है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण उदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥[1071]

5.4 कार्य-कारणवाद : अद्वैतवेदान्त सत्कार्यवाद को स्वीकार करता है। सत्कार्यवाद के मत में कार्य सत् है। उसका कभी नाश नहीं होता है। कार्य सदैव अपने कारण में विद्यमान् रहता है। उसके स्वरूप की हानि नहीं होती है। जैसे वट वृक्ष अपने कारण बीज में सदैव विद्यमान् रहता है। यदि वट वृक्ष वट के बीज में पहले से विद्यमान् न होता और उस वृक्ष की सर्वथा नवीन उत्पत्ति होती तो वह वट वृक्ष किसी भी बीज से उत्पन्न हो सकता। किन्तु आम के बीज से या बेर के बीज से वट वृक्ष की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। इसका अर्थ है कि वट के बीज में वटवृक्ष पूर्व विद्यमान् था। इसी प्रकार यह जगत् अपने कारण माया में पूर्व विद्यमान् रहता है।[1072] असत् वस्तु की उत्पत्ति असम्भव है। असत् वस्तु वही है, जिसका तीनों कालो में अभाव हो।

यदि असत् वस्तु की उत्पत्ति हो जाये तो वह वस्तु असत् कही नहीं जायेगी। अद्वैतवेदान्त में असत् और सद् परस्पर पूर्णतः विरोधी तत्त्व हैं। जहाँ असत् पूर्ण अभाव का कथन करता है, वहीं सत् पूर्ण भाव का कथन करता है। असत् की कल्पना भी नहीं की जा

[1070] माया एषा तस्य देवस्य यया संमोहितः स्वयं। -वहीं,2.19

[1071] ईशा.उ.शान्तिमन्त्र

[1072] सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः। -मा.उ.3.27

सकती है। जिसकी कल्पना की जा सकती है, कारण रूप में वह सत् होती है। उसका अस्तित्त्व भी सृष्टि में कहीं न कहीं अवश्य होता है। बस इतना ही कि सम्बन्ध असत् नहीं होना चाहिए। जैसे वंध्या पुत्र असत् वस्तु है। वस्तुतः वंध्या पुत्र असद् वस्तु नहीं हैं। उन दोनों के बीच बनाया गया सम्बन्ध असत् है। वंध्या भी सत् है और पुत्र भी सत् है। किन्तु 'वंध्या पुत्र' उदाहरण में वंध्या के साथ पुत्र का जो सम्बन्ध बताया जा रहा है। वह सम्बन्ध असत् है।

इसीलिए माण्डूक्योपनिषद् में ऋषि कहते है कि जो वस्तु असत् है उसकी उत्पत्ति न तो तत्त्वत: न ही माया से उत्पन्न होना सम्भव है। जैसे वंध्या पुत्र की विद्यमानता न तत्त्वत: है, न माया से ही है।[1073] इसी प्रकार शशकश्रृंग के उदाहरण में भी समझना चाहिए। शशक भी सत् है और श्रृंग भी सत् है। किन्तु उन दोनों के बीच बनाया गया सम्बन्ध असत् है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी सत्कार्यवाद् के सम्बन्ध में एक श्लोक आया है, *'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'।*[1074] अतः कहा जा सकता है कि कल्पना की गयी प्रत्येक वस्तु कारण रूप में सत् होती है। इस दृष्टि से स्वप्न जगत् भी सत् ही है; क्योंकि ऋषियों ने स्वप्न जगत् और व्यवहारिक जगत् में कोई अन्तर नहीं बताया है। स्वप्नकाल में मन निद्रा से प्रभावित होकर द्वैत का अनुभव करता है। जाग्रतकाल में भी मन माया से प्रभावित होकर द्वैत का अनुभव करता है।[1075]

इससे जाना जा सकता है कि स्वप्न और यह जगत् केवल मन की वृत्ति (स्पन्दन) मात्र है। मन की भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्तियों से जगत् में भेद दिखायी देता है। तत्त्वतः मन ही है। यह मन माया से प्रभावित होकर भेद रूप जगत् को उत्पन्न करता है। मन की वृत्ति जैसी होती है संसार भी वैसे दिखायी देता है। यह मन की वृत्ति भी पूर्व संस्कारों पर निर्भर करती है। अतः कहा जा सकता है कि यह जगत् केवल मन का विलास मात्र है।[1076]

अब प्रश्न उठता है कि इसमें प्रमाण क्या है कि मन से ही जगत् की सत्ता है। अथवा मन की वृत्ति ही जगत् हो। इस प्रश्न के उत्तर रूप में कहा जा सकता है कि मन की वृत्ति शांत हो जाने से जगत् प्रपंच भी नहीं रहता है। मन से ही संसार है और मन के संकल्प विकल्प

[1073] असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते। वंध्या पुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते। -वहीं,3.28

[1074] भग.गी.2.16

[1075] यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः। तथा जाग्रत द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः॥ -मा.उ.3.29

[1076] अद्वयं च द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः। अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः॥ -वहीं,3.30

शून्य हो जाने पर यह संसार वर्तमान नहीं रहता है। अतः अन्वय व्यतिरेक विधि से यह सिद्ध किया जा सकता है कि जगत् मन की वृत्ति है। मन की वृत्ति होने पर जगत् वर्तमान रहता है, यह अन्वय है। मन के वृत्ति शून्य हो जाने पर जगत् भी नहीं रहता है यह व्यतिरेक है। अतः कहा जा सकता है कि यह जगत् स्वप्न जगत् के समान मन की वृत्ति मात्र है। जैसा कि माण्डूक्योपनिषद् में भी कहा गया है कि *'मनो दृश्यमिदं द्वैतं यत्किंचित्सचराचरम्। मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते'॥*[1077]

आत्मा में नित्य नवीनता विद्यमान् होने से नित्य आनन्द स्वरूप है। मन सदैव उसे जानने की कोशिश करता है, किन्तु जान नहीं पाता है। यदि मन पूर्ण रूप से आत्मा को जान जाय तो निश्चय ही मन आत्मा से भी ऊब जायेगा। किन्तु आत्मा नित्य नवीन आनन्द है। मन उसे कभी पूर्ण रूप से नहीं जान सकता है। मन के द्वारा आत्मा रूप आनन्द को जानने की प्रक्रिया यदि अनन्त काल तक चलती रहे तो भी सम्भव नहीं है कि मन आत्मा को जान जाये। फल स्वरूप मन आत्मा को जानने में अनन्त काल तक लगा रहता है और आत्मानन्द में वह अनन्त काल के लिए निमग्न हो जाता है। मन की सारी वृत्तियाँ शान्त हो जाती है।[1078]

आनन्द स्वरूप आत्मा को मन कभी भी नहीं जान सकता है। इसीलिए ऋषियों ने कहा है कि जो व्यक्ति सोचता है कि मैनें आत्मा को जान लिया निश्चय ही उसने आत्मा का थोड़ा भाग ही जाना है। जो जानते हुए भी नहीं जानता वास्तव में वही जानता है कि आत्मा क्या है। जो कहता है कि मैनें आत्मा को जान लिया, उसने आत्मा को सीमित बना दिया।[1079] जबकि लौकिक प्रेम की तरह आलौकिक परमात्मा के प्रति प्रेम की कोई सीमा नहीं है।

निमित्त एवं उपादान कारण- अद्वैतवेदान्त की दृष्टि से कारण दो प्रकार के होते हैं- उपादान कारण और निमित्त कारण। जो कारण कार्य के स्वरूप से अभिन्न होता है या जो कारण कार्य का स्वरूप होता है, वह उपादान कारण कहलाता है। जैसे मिट्टी घट का

[1077] वहीं,3.3 1

[1078] आत्मसत्यानुबोधेन न संकल्पयते यदा। अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम्॥ -वहीं,3.32।

[1079] केन.उ.2.1

उपादान कारण होती है; क्योंकि घट मिट्टी से भिन्न नहीं है। मिट्टी के बिना घट का बनना सम्भव नहीं है। इस प्रकार जो कार्य की उत्पत्ति में हेतु होता हैं, उसे उपादान कारण कहते हैं। इसके अतरिक्त जो पृथक् रहकर कार्य की उत्पत्ति में हेतु बनता है, उसे निमित्त कारण कहते हैं। ऐसा कारण कार्य के स्वरूप में प्रवेश नहीं करता है। जैसे घट को बनाने में जल, चक्र, कुलाल आदि भी कारण होते हैं। किन्तु ये सभी घट की उत्पत्ति के अनन्तर घट से पृथक् हो जाते हैं। किन्तु अद्वैतवेदान्त का ब्रह्म इस जगत् के प्रति निमित्त और उपादान दोनों कारण है। ऐसे कारण को अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण कहते हैं। भाषा टीकाकार भोलेबाबा ने अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण के उदाहरण के रूप में ब्रह्म को बताया है। ब्रह्म जगत् का अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण है। इसमें प्रमाण देते हैं, *'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत् स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत् यदिदं किञ्च'।*[1080] छान्दोग्योषनिषद् में भी कहा गया है कि ब्रह्म की ईक्षण शक्ति से प्रजाओं की उत्पत्ति हुई।[1081]

निमित्त और उपादान कारण के विषय में उपनिषद् में दोनों प्रकार के उदाहरण प्राप्त होते हैं। कुछ उदाहरणों से ब्रह्म जगत् के प्रति उपादान कारण सिद्ध होता है और कुछ उदाहरण से ज्ञात होता है कि ब्रह्म जगत् के प्रति निमित्त कारण है। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में श्वेतकेतु के पिता पूछते हैं कि क्या तुमने उस आदेश को सुना? जिससे अश्रुत भी श्रुत हो जाता है। मनन न किया हुआ भी मनन किया हुआ हो जाता है।[1082] यह प्रश्न जगत् के उपादान कारण के विषय में है; क्योंकि उपादान कारण ही कार्य से अभिन्न होता है। उपादान कारण को जान लेने पर सम्पूर्ण कार्य को जान लिया जाता है। निमित्त कारण कार्य से भिन्न होने के कारण उसके विषय में उपरोक्त प्रकार का प्रश्न नहीं बन सकता है। इसके उत्तर के रूप में ऋषि पुत्र श्वेतकेतु को उपदेश करते हैं कि जैसे एक मिट्टी को जान लेने मात्र से मिट्टी के बने हुए सभी पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। नाम आदि

[1080] तै.उ.2.6

[1081] तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति -छा.उ.6.2.3

[1082] उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं। -वहीं,6.1.2

विकार केवल वाणी पर अवलम्वित होते हैं।[1083] इस प्रकार सिद्ध होता है घट के प्रति मृतिका के समान जगत् के प्रति ब्रह्म भी उपादान कारण है।

इसी प्रकार कुछ उदाहरणों से भी सिद्ध होता है कि ब्रह्म जगत् के प्रति निमित्त कारण है। जैसे उपनिषद् में आया है कि ब्रह्म में कामना की या ईक्षण किया कि मैं बहुत हो जाऊँ। *'सोऽकामयत् बहुस्यां प्रजायेयेति[1084], तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति'[1085]।* इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि कोई कामना करने वाला और ईक्षण करने वाला तत्त्व है, जो जगत् का कर्ता है। कर्ता निमित्त कारण ही होता है। उपादान कारण नहीं होता है। इसलिये इन उदाहरणों से ब्रह्म जगत् के प्रति उपादान और निमित्त दोनों कारण सिद्ध होता है। वैसे भी शांकर वेदान्त में केवल अद्वैत् ब्रह्म की सत्ता स्वीकार की गयी है। उसके अतिरिक्त न तो किसी अन्य कर्ता की उपलब्धि होती है न ही किसी अन्य उपादान कारण की उपलब्धि होती है। अत: ब्रह्म ही कर्ता और प्रेरक होने से निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों सिद्ध होते हैं। उसनें कामना की कि मैं बहुत हो जाऊँ प्रजा रूप में उत्पन्न होऊँ। यहाँ कामना करने वाले के रूप में निमित्त कारण और प्रजा के रूप में उत्पन्न होने के कारण उपादान कारण सिद्ध होता है। छान्दोग्योपनिषद् में आया है कि ये सभी भूत आकाश से उत्पन्न होते है और आकाश में ही लीन होते हैं।[1086] ऐसा माना जाता है कि कोई पदार्थ जिससे उत्पन्न होता है और जिसमें लीन होता है वह उसका उपादान कारण होता है। जैसे घट मृतिका से उत्पन्न होता है और मृतिका में ही लीन हो जाता है। उसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् के उदाहरण से भी ब्रह्म (आकाश) जगत् के प्रति उपादान कारण सिद्ध होता है; क्योंकि यह जगत् प्रपंच पारमार्थिक रूप से ब्रह्म ही है।

[1083] यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारोनामधेयम् मृतिका इत्येव सत्यम्। -वहीं,6.1.4-6

[1084] तै.उ.2.6

[1085] तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति। -छा.उ.6.2.3

[1086] सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति। -वहीं,1.9.1

श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार सभी ऋषियों ने एक साथ कारण तत्त्व पर विचार किया। उन्होंने पाया कि परमात्मा की शक्ति ही इस जगत् के प्रति साक्षात् रूप में कारण है। इस परमात्मा की शक्ति से ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है।[1087]

इससे ज्ञात होता है कि माया ही जगत् के प्रति मूल कारण है। किन्तु यह माया भी ब्रह्म के ही अधीन होती है। इसलिए ब्रह्म भी तो जगत् का कारण है। अन्य उपनिषदों में माया को जगत् का कारण न मानकर ब्रह्म को ही जगत् का कारण मानते हैं। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि अन्य उपनिषद् जगत् के अन्तर्गत माया को भी मानती हैं। जबकि श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि माया को जगत् के बाहर रखते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् भी माया को परमात्मा की ही शक्ति मानती है। यही अद्वैतवेदान्त के आचार्य शंकर का भी मत है कि माया जगत् के प्रति साक्षात् कारण है और ब्रह्म जगत् के प्रति परोक्ष रूप से कारण है। आचार्य शंकर माया को ब्रह्म की ही शक्ति मानते हैं। यही विचार ब्रह्म पुराण में भी व्यक्त किया गया है। जिसमें कहा गया है कि यह 24 प्रकार के भेदों वाली माया परमात्मा से प्रकट हुई उसी की पराप्रकृति है।[1088] यही बात श्रीमद्भगवद्गीता में भी दुहराई गयी है कि प्रकृति परमात्मा की अध्यक्षता में ही सारे कार्यों को सम्पन्न करती है।[1089]

किसी तत्त्व की इकाई वह छोटी से छोटी मात्रा होती है। जिससे उस तत्त्व की सबसे छोटी मात्रा का बोध होता है। इकाई माप के द्वारा किसी वस्तु का मापन किया जाता है कि कोई वस्तु कितना अधिक है या कितना न्यून है। अभी तक भौतिक विज्ञान में ही अनेक इकाइयों की चर्चा की जाती रही है। अध्यात्म में यह एक समस्या रही है कि आत्मा**,** प्राण आदि का मापन कैसे किया जाय। तैत्तिरीय उपनिषद् में इस दिशा में एक सार्थक प्रयास दिखायी देता है। जिसमें आनन्द को मापने का प्रयास किया गया है। आनन्द को मापने के लिए एक पृथिवी पति राजा के प्रकृष्ट आनन्द को एक इकाई मानी गयी है।[1090]

[1087] ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्। य: कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येक:॥ -श्वे.उ.1.3

[1088] एषा चतुर्विंशति भेदभिन्ना माया परा प्रकृतिस्तत्समुत्था। -वहीं,1.3, शां.भा.

[1089] मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम् –भग.गी.9.10

[1090] कर्म साधनेन सम्पन्ना पूर्णा राजा पृथिवीपतिरित्यर्थ:। तस्य च य आनन्द: स एको मानुषो मनुष्याणां प्रकृष्ट एक आनन्द:॥ -तै.उ.2.8.4, शां.भा.

इस प्रकार मनुष्य के एक प्रकृष्ट आनन्द को एक इकाई आनन्द मानकर अन्य सूक्ष्म प्राणियों के आनन्द की गणना की गयी है। सबसे पहले मनुष्य-गन्धर्व के आनन्द का परिमाण बताया गया है कि मनुष्य गन्धर्व का एक आनन्द 100 मनुष्यों के आनन्द के बराबर होता है। एक देव-गन्धर्व का आनन्द 100 मनुष्य-गन्धर्व के आनन्द के बराबर होता है। इससे पता चलता है कि गन्धर्वों में भी दो जातियाँ होती हैं। प्रथम मनुष्य-गन्धर्व दूसरा देव-गन्धर्व इन दोनों को प्राप्त होने वाले आनन्द की मात्रा में भिन्नता होती है। जैसे मनुष्यों में श्रेष्ठ मनुष्य राजा के आनन्द को एक इकाई माना गया है। उसी प्रकार गन्धर्वों में भी श्रेष्ठ गन्धर्वों के राजा के आनन्द की मात्रा का परिमाण बताया गया हो। सभी गन्धर्वों का नहीं। पुन: नित्य लोक में निवास करने वाले पितृगण का एक आनन्द 100 देव-गन्धर्वों के आनन्द के बराबर होता है। आजानज= आजान् + ज = देवलोक में उत्पन्न देवताओं का एक आनन्द पितृगण के 100 आनन्द के बराबर होता है।

कर्म से देवत्व को प्राप्त देवताओं को कर्मदेव देवता कहते हैं। इनका एक आनन्द 100 आजानज देवताओं के आनन्द के बराबर होता है। इसी प्रकार 100 कर्मदेव के आनन्द के बराबर एक देवता का आनन्द होता है। इससे जाना जा सकता है कि देवता तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम हवि लेने वाले देवता जिनकी संख्या 33 बताई गयी है। दूसरा कर्म से देवत्व को प्राप्त कर्मदेव । तीसरा आजानज देवता, जो कि स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। इनकी संख्या निश्चित नहीं है। देवताओं के 100 आनन्द के बराबर देवों के राजा इन्द्र का एक आनन्द होता है। इन्द्र के 100 आनन्द के बराबर बृहस्पति जो कि इन्द्र के गुरु माने जाते हैं, उनका एक आनन्द होता है। प्रजापति का एक आनन्द बृहस्पति के 100 आनन्द के बराबर होता है। प्रजापति अर्थात् विराट् का 100 आनन्द ब्रह्मा के एक आनन्द के बराबर होता है। यहाँ ब्रह्मा कहा गया है न कि ब्रह्म। ब्रह्म तो अनन्त आनन्द से पूर्ण है। उसके आनन्द की सीमा नहीं है।[1091] निष्कर्षत: संक्षेप में इस प्रकार दिखाया जा सकता है।

एक मनुष्य-गन्धर्व = 100 मनुष्य का आनन्द

एक देव-गन्धर्व = 100 मनुष्य-गन्धर्व

एक पितृगण का आनन्द = 100 देव-गन्धर्व का आनन्द

[1091] वहीं,2.8.4

एक आजानज देव का आनन्द = 100 पितृगण का आनन्द

एक कर्मदेवता = 100 आजानज देवता

एक देवता का आनन्द = 100 कर्म देवता का आनन्द

एक इन्द्र का आनन्द = 100 देवता का आनन्द

एक बृहस्पति का आनन्द = 100 इन्द्र का आनन्द

एक प्रजापति का आनन्द = 100 बृहस्पति का आनन्द

एक ब्रह्मा का आनन्द = 100 प्रजापति का आनन्द

इस प्रकार कहा जा सकता है कि

एक इन्द्र का आनन्द = 10^{14} मनुष्यों के आनन्द के आनन्द के बराबर होता है।

ब्रह्मा का एक आनन्द = 10^{20} मनुष्यों के आनन्द के बराबर होता है।

5.5- ब्रह्म का स्वरूप प्रतिपादन : अद्वैतवेदान्त में ईश्वर को ब्रह्म से अलग माना गया है। ब्रह्म ही जब माया से आवृत्त हो जाता है तो ईश्वर कहलाता है।[1092] केनोपनिषद् में जो यक्ष उपाख्यान प्राप्त होता है, वहाँ यक्ष ब्रह्म न होकर ईश्वर का वाचक है। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में यही कहा है- *'ब्रह्मेति परो लिग्ङात्। न ह्यन्यत्र परादीश्वरात्'।*[1093] शंकराचार्य कहते है कि ईश्वर में ही तृणादि को वज्र बना देने की शक्ति है। अन्य किसी में नहीं। शंकराचार्य ने सर्वविज्ञान, सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान् आदि विशेषण ईश्वर के लिए दिये हैं।[1094]

अद्वैतवेदान्त में भले ही ईश्वर और ब्रह्म में अन्तर हो किन्तु योग दर्शन का ईश्वर अद्वैतवेदान्त का ब्रह्म दोनों एक ही है। योग दर्शन में उस ईश्वर का वाचक प्रणव को

[1092] वे.सा.12

[1093] केन.उ.खण्ड-3 प्रारम्भिक वाक्य भाष्य

[1094] नित्यसर्वज्ञात् परिभूयाग्न्यादीस्तृणं वज्रीकर्तुं सामर्थ्यमस्ति, सर्वविज्ञान ईश्वरे सर्वात्मान सर्वशक्तौ सिद्धेऽपि। -केन.उ.खण्ड-3, वाक्यभाष्य

बताया गया है।[1095] इस पर भाष्य करते हुए व्यास ने लिखा है- 'वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य'।[1096] कठोपनिषद् के मन्त्र *'एतध्दयेवाक्षरं ब्रह्म एतध्दयेवाक्षरं परम्'*[1097] पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है कि *'एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्मापरमेतद्ध्येवाक्षरं परं च'*[1098] अर्थात् यह अक्षर ही अपर ब्रह्म है और यह अक्षर ही परब्रह्म भी है। अतः सरलता से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शंकराचार्य ओम् को पूर्ण ब्रह्म का वाचक मानते है, जो कि पर और अपर के भेद से दो प्रकार का होता है। योग दर्शन में ओम् का वाचक ईश्वर को मानते है। अतः दोनों का स्तर समान होने से एक ही सिद्ध होते हैं।

वेद सृष्टि विज्ञान है। ब्रह्म का सृष्टि विज्ञान रूप सविकल्पक ज्ञान ही वेद है। इसलिए सृष्टि का सविकल्पक ज्ञान और वेद में कोई अन्तर नहीं है। ईश्वर तीन प्रकार की क्रियाएँ किया करता है- सृष्टि, स्थिति और संहार। ब्रह्म ने जो सृष्टि की सविकल्पक ज्ञान रूप में कल्पना किया, वह कल्पना ही सृष्टि है। ब्रह्म की वह सविकल्पक ज्ञान रूप कल्पना समष्टि अज्ञान से आवृत्ति होती है। समष्टि अज्ञान से आवृत्त एवं सविकल्पक ज्ञान में निहित चैतन्य ईश्वर है। आचार्य शंकर कहते हैं कि ईश्वर का सृष्टि, स्थिति, संहार विषयक ज्ञान नित्य है। इसलिए वेद भी नित्य हुए।[1099] जैसे पुरुष और स्वप्न जगत् का पुरुष दोनों एक ही है, किन्तु दोनों में कुछ अन्तर है। वह अन्तर यह है कि स्वप्न जगत् का पुरुष निद्रा से आवृत्त रहता है। उसी प्रकार समष्टि अज्ञान से उपहित होने के कारण ईश्वर ब्रह्म से भिन्न रहता है। किन्तु चैतन्य की दृष्टि से दोनों एक ही हैं।

भारतीय मनीषियों के अनुसार ओम् और परमात्मा के बीच घनिष्ठ संबन्ध है। ओम् एक ऐसी ध्वनि है, जो सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुई थी। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में हुए एक शोध के अनुसार सूर्य से उत्पन्न होने वाली ऊर्जा की क्रिया में भी ओम् ध्वनि का उच्चारण हो रहा है। माण्डूक्योपनिषद् में ओम् की बृहद् महिमा बतायी गयी है। वैदिक मन्त्रों का प्रारम्भ भी ओम् से ही होता है।

[1095] तस्य वाचकः प्रणवः। -यो.सू.1.27
[1096] वहीं,व्यासभाष्य
[1097] कठ.उ.1.2.16
[1098] वहीं, शां.भा.
[1099] नित्य सिद्धस्येश्वरस्य सृष्टि स्थिति संहृतिविषयं नित्यज्ञानं भवतीति -ब्र.सू.238

यह ओम् शब्द अ, उ और म् इन तीन ध्वनियों से मिलकर बना हुआ है। एक सर्वे के अनुसार विश्व की अधिकांश भाषाओं की वर्णमाला का प्रथम वर्ण अकार ही है। कठोपनिषद् में इस ओम् को ही परमपद बताया गया है। इसे प्राप्त करने के लिए सभी कर्म किये जाते हैं। सभी तपस्यायें इसी पद की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं।[1100]

इस अक्षर को ब्रह्म का वाचक बताया गया है। महर्षियों ने इसे ही श्रेष्ठ कहा है। यही आदितत्त्व है। यही सबका कारण होने से इसे जानने वाला पुरुष जगत्कारण का ज्ञाता हो जाता है। वह जिस वस्तु की इच्छा करता है। वही उसका हो जाता है।[1101]

प्रश्नोपनिषद् में ओंकार की उपासना तीन प्रकार से बतायी गयी है। प्रथम एक मात्रा विशिष्ट उपासना, द्विमात्रा विशिष्ट उपासना तथा तीन मात्रा विशिष्ट उपासना । इन अलग-अलग उपासनाओं के फल भी अलग-अलग होते हैं। जो पुरुष एक मात्रा विशिष्ट ओंकार की उपासना करता है, वह बोध को प्राप्त करता है। किन्तु फिर वह संसार भाव को प्राप्त हो जाता है। उसे ऋचाएँ मनुष्य लोक में ले जाती हैं। संसार में स्थित होकर वह तप ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से युक्त होकर अपनी महिमा का अनुभव करता है।[1102] इसी प्रकार द्विमात्रा विशिष्ट ओंकार की उपासना करने वाला पुरुष मन से एकत्व को प्राप्त हो जाता है। उसे यजुःश्रुतियाँ अन्तरिक्ष स्थित सोमलोक में ले जाती हैं। सोमलोक में अपनी महिमा को अनुभव करता है। द्विमात्रा विशिष्ट ओंकार की उपासना से जो पुण्य प्राप्त होता है, उस पुण्य का फल सोमलोक में प्राप्त होता है। किन्तु सोमलोक भी पुनर्जन्म से युक्त है। सोमलोक में पुण्य क्षीण होने के बाद पुरुष पुनः लौट आता है।[1103] इन दोनों प्रकार की उपासनाओं से पृथक् तीन मात्राओं से युक्त ओंकार की उपासना करने वाले पुरुष को सूर्य लोक की प्राप्ति होती है। यह सूर्यलोक ही परमलोक है, जिसे प्राप्त करके

[1100] सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥ -कठ.उ.1.2.15

[1101] एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥ - वहीं,1.2.16

[1102] प्रश्न.उ.5.3

[1103] वहीं,5.4

जीव पुनः लौटता नहीं है।[1104] आचार्य कहते हैं कि ओंकार की तीनों मात्राएँ पृथक्-पृथक् होने पर मृत्यु से युक्त हैं। किन्तु एक साथ होने पर इसी से अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है।

सनातन जीवन पद्धति में ओम् का बहुत महत्त्व है। ओम् वह शब्द है, जिसे ब्रह्मा जी के मुख से उत्पन्न हुआ बताया गया है। ओम् शब्द ब्रह्म का वाचक है। वेद के किसी भी मन्त्र का उच्चारण करने से पूर्व ओम् का उच्चारण किया जाता है। योगी आनन्द जी के अनुसार ओम् ब्रह्माण्डीय स्पन्दन है। इस ओम् को सृष्टि का प्रथम शब्द मानते हैं। यह शब्द ईश्वर की रचनात्मक ध्वनि है। ईश्वर जब भी कोई रचना करता है तो ओम् ध्वनि उत्पन्न होती है। योगानन्द जी इस समस्त ब्रह्माण्ड को स्पन्दन रूप मानते हैं- *'स्थूल पदार्थ ईश्वर के प्रबुद्ध ब्रह्माण्डीय स्पन्दन से उत्पन्न और पोषित होता है, जो कि विश्व का सूक्ष्म निर्माण पदार्थ है। इस स्पन्दन का मूलगुण प्रकाश और ध्वनि है। ओम् ईश्वर की रचनात्मक स्पन्दन की ध्वनि है'।*[1105]

संस्कृत में ओम् शब्द का प्रयोग ईश्वर के लिये किया गया है। पतञ्जलि ने भी ईश्वर के लिये ओम् शब्द का प्रयोग किया है।[1106] अत: यह ओम् शब्द ही सभी वस्तुओं की रचना करता है और पालन भी करता है। इस प्रकार योगानन्द जी ओम् शब्द का अर्थ ब्रह्माण्डीय स्पन्दन करते हैं। अर्थात् माया से उपहित चैतन्य रूप ईश्वर स्पन्दन रूप है। इस ओम् की विद्यमानता प्रत्येक धर्म में किसी न किसी रूप में है। जैसे तिब्बतियों की संस्कृति में यही शब्द 'हुम्' के रूप में देखा जाता है। इस्लाम धर्म में 'अमीन' कहा जाता है। मिस्रवासियों, यूनानियों, रोमवासियों, यहूदियों एवं इसाइयों की दृष्टि में 'ओमेन' शब्द है। सभी धर्म लगभग यही मानते हैं कि सभी वस्तुएँ पवित्र आत्मा की स्पन्दनकारी ऊर्जा से उत्पन्न हुए है।[1107] जैसे मोटर के चलने से स्पन्दन और ध्वनि उत्पन्न होती है। यह स्पन्दन और ध्वनि तब तक बनी रहती है, जब तक मोटर चलती रहती है। उसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड की 'स्थिति या अस्तित्त्व' से ज्ञात होता है कि इसे स्थिर बनाये रखने वाला कोई है। इस ब्रह्माण्डीय स्थिति को बनाये रखने के लिए ऊर्जा की आवश्यकता होती है। जैसे आकाश में एक दण्ड को स्थिर बनाये रखने के लिये हमें ऊर्जा की जरूरत होती है।

[1104] वहीं,5.5
[1105] मा.खो.64
[1106] तस्य वाचक: प्रणव:। -यो.सू.1.27
[1107] मा.खो.531

जब ऊर्जा कम हो जाती है तो हम थक जाते हैं। उसी प्रकार इस ब्रह्माण्डीय स्थिति को बनाये रखने के लिये संकल्प के साथ ऊर्जा की जरूरत होती है। ये ऊर्जा ब्रह्म के द्वारा स्पन्दनात्मक ईश्वर या ओम् के द्वारा दी जाती है। यह ओम् स्पन्दनकारी ऊर्जा द्वारा सभी जीवों एवं सृष्टि के प्रत्येक कण के अस्तित्त्व को बनाये रखती है।[1108]

मनुष्य के स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर के समान जगत् भी तीन स्तरों में बँटा हुआ है। जगत् के स्थूल रूप में मनुष्य का स्थूल शरीर वास करता है। इसी प्रकार जगत् के सूक्ष्म रूपों में सूक्ष्म शरीर वास करता है और कारण जगत् ईश्वर का लोक है। जिसमें मनुष्य अपने कारण शरीर के द्वारा वास करता है। यह कारण जगत् ही ईश्वर का लोक है, जो शुद्ध सत्त्व प्रधान होता है। ईश्वर का लोक ही ईश्वर का शरीर है। जैसे कारण शरीर जीवात्मा का शरीर होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जीवात्माओं के कारण शरीर की समष्टि ही ईश्वर का शरीर है और उस कारण शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य ईश्वर है। इसलिए ईश्वर और ईश्वरलोक में उतना ही अन्तर है, जितना शरीर तथा शरीर में निवास करने वाले पुरुष में है। ईश्वर का यह लोक स्वयं प्रकाशमान् रहता है। वहाँ तक सूर्य चन्द्रमा का प्रकाश पहुँच नहीं सकता है।[1109] इस श्लोक की व्याख्या में शंकराचार्य ने ईश्वर और ईश्वर लोक को एक ही माना है।[1110] श्रीमद्भगवद्गीता के 15वें अध्याय में श्रीकृष्ण ने सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि में विद्यमान् तेज को अपना तेज बताया है।[1111]

ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य[1112] में हिरण्यगर्भ और ईश्वर को एक मान कर ईश्वर शब्द में बहुवचन का प्रयोग किया गया है। इससे परब्रह्म में अनेक ईश्वरों की सत्ता है, ऐसा नहीं समझना चाहिए; क्योंकि वर्तमान सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व परब्रह्म में अनेकों बार सृष्टि और प्रलय हो चुका होता है। उन सभी सृष्टियों को मिलाकर ईश्वर शब्द में बहुवचन का प्रयोग हुआ है। जैसे पुरुष वर्तमान स्वप्न के पूर्व भी अनेक बार स्वप्न देख चुका होता है और उन सभी स्वप्नों का ज्ञान भी होता है। इसी प्रकार ब्रह्म को भी अपनी पूर्व सृष्टियों का

[1108] वहीं

[1109] न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम॥ -भग.गी.15.6

[1110] अपि चेद्गूपत्वं प्राज्ञस्यैवाऽत्मनः स्मर्यते। -ब्र.सू.649

[1111] यदादित्यगतं तेजो जगत् भासयते अखिलं। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत् तेजो विद्धि मामक॥ भग.गी.15.12

[1112] ब्र.सू.शां.भा.पृ702

ज्ञान होता है। ईश्वर शब्द में बहुवचन का प्रयोग होने से पूर्व में अनेक ब्रह्माण्डों की स्थिति का अनुमान होता है। ब्रह्म के अनुग्रह से सभी हिरण्यगर्भों को अपने पूर्व कल्पों का ज्ञान हो जाता है। उसी ज्ञान से पुन: सृष्टि का कार्य आगे बढ़ता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार का मन्त्र आया है कि सबसे पहले ब्रह्म, ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और फिर उसकी बुद्धि में वेदों का अविर्भाव करता है।[1113] वेद में भी आया है- *'सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'।*[1114]

ब्रह्म तो नित्य प्रकाशमान् है। ऐसा नहीं कि जगत् यदि ब्रह्म का प्रकाश है। तो जगत् के ब्रह्म में लय हो जाने परब्रह्म प्रकाश रहित हो जाता है, अपितु ब्रह्म स्वरूपत: प्रकाशमान् है। सम्भवत: इस जगत् को उसके स्वरूपगत प्रकाश से किञ्चित भिन्नता दिखाने के लिए उसे निश्चल वृक्ष के समान स्थित बताया गया है।[1115] इससे ज्ञात होता है कि जगत् रूप प्रकाश ब्रह्म के स्वरूपगत प्रकाश से किञ्चित भिन्न है, जिसके कारण इस जगत् रूप प्रकाश की तुलना वृक्ष से की गयी है। जिस प्रकार व्यवहार में एक प्रकाश स्रोत अपनी द्योतनात्मक स्थिति में सभी वस्तुओं की विद्यमानता से युक्त होता है। उसी प्रकार ब्रह्म भी अपनी द्योतनात्मक स्थिति में सभी सांसारिक वस्तुओं की विद्यमानता से युक्त होता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में परमात्मा की सर्वरूपता प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि परमात्मा ही अग्नि है, वही सूर्य है और वही परमात्मा वायु भी है, जो कि प्राण का सर्वोत्तम वाहक है। परमात्मा ही चन्द्रमा भी है और वही सभी पापों से रहित होने के कारण शुद्ध भी है। परमात्मा ही ब्रह्म, जल और प्रजापति भी है।[1116]

छान्दोग्य उपनिषद् के ऋषि का कथन है कि जिस पुरुष की इन्द्रियाँ विषयों से निवृत्त हो गयी हैं और निष्काम आदि कर्मों के द्वारा जिसका चित्त शुद्ध हो गया है। ऐसा ब्रह्मविद् पुरुष सब ओर ब्रह्म का ही प्रकाश देखता है। उस ब्रह्म के प्रकाश से ही सूर्य का प्रकाश है। ब्रह्म प्रकाश से ही चन्द्रमा प्रकाशित होता है। उसी से विद्युत् चमकती है आदि सर्वत्र ही

[1113] यो ब्राह्मणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धि प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥ -श्वे.उ.6.18

[1114] ऋ.सं.10.190.3

[1115] वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक: तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्। -श्वे.उ.3.9.1 1

[1116] तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा: । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापस्तद् प्रजापति:॥ -वहीं,4.2

उसी का प्रकाश दिखाई देता है।[1117] ऐसे पुरुष सूर्य को प्राप्त होते हैं, जो सभी देवताओं के देव हैं। जो रस, किरण तथा संसार के प्राणों को प्रेरित करने के कारण सूर्य कहलाता है। ऐसे सूर्य को प्राप्त होते हैं।[1118] इन मन्त्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि परमात्मा ही परमज्योति है। जिससे अन्य सभी सूर्य आदि ज्योतियों को प्रकाश मिलता है। ऋषियों ने सूर्य को इस जगत् के एक आधारभूत तत्त्व के रूप में देखा है। यह प्रकाशमान् सूर्य ही इस जगत् के प्राणियों के लिए सब कुछ है। सूर्य ही सभी प्राणियों को प्रेरित करता है। पुष्पों में रसों का संचार करता है। अत: यह सूर्य जो कि पृथिवी पर प्रकाशमान् चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत् आदि प्रकाशमान् ज्योतियों में उत्कृष्ट है। जगत् के प्राणियों का आधारभूत तत्त्व है। ऋषियों ने उस ज्योतिष्मान् सूर्य में चेतन परमात्मा का दर्शन किया है। कई स्थानों पर उस सूर्य में विद्यमान् पुरुष के हिरण्यमय अंगों का भी उल्लेख हुआ है।

परमात्मा ही सभी भूतों का कारण है। अतः उसे भूतयोनि के नाम से जाना जाता है। सभी भूतों के आधार पर परमात्मा का मानवीकरण किया गया हैं। द्युलोक को उस परमात्मा का सिर बताया गया है। सूर्य और चन्द्रमा उसकी आँखें हैं। दिशाओं को कान कहा गया है। प्रसिद्ध वेद उस विराट् पुरुष की वाणी है; क्योंकि वेद के माध्यम से ही वह बोलता है। वायु ही उसका प्राण है। जिससे श्वसन करता है। विश्व हृदय है और पृथिवी पाद है। इस प्रकार चेतन रूप में परमात्मा ही सभी भूतों का कारण है और सभी भूत उसके शरीर हैं। अतः अंगो की समानता की दृष्टि भूतों की समानता दिखायी गयी है।[1119]

परमात्मा के विराट् स्वरूप का वर्णन महाभारत के शान्ति पर्व में भी हुआ है। जिसमें कहा गया है कि अग्नि जिसका मुख है, द्युलोक मस्तक, आकाश उसकी नाभि है, पृथिवी दो चरण हैं। सूर्य नेत्र है और दिशायें उसके कान हैं।

यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा रवं नाभिश्चरणौ क्षितिः।

[1117] निवृत्तचक्षुषो ब्रह्मविदो ब्रह्मचर्यादिनिवृत्तिसाधनै: शुद्धान्त:करणा आसमन्ततो ज्योति: पश्यन्तीत्यर्थ:॥ -छा.उ.3.17.7, शां.भा.

[1118] द्योतनवन्तं देवेषु सर्वेषु सूर्यं रसानां रश्मीनां प्राणानां च जगत् ईरणात्सूर्य: तमुदगन्म....। - वहीं,3.17.7, शां.भा.

[1119] अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्चवेदाः वायु प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥ -मु.उ.2.1.4

सूर्यश्चक्षुः दिशः श्रोत्र तस्मै लोकात्मने नमः॥[1120]

परमात्मा का सर्वकारणत्व प्रतिपादित करते हुए उसी से सभी भूतों की उत्पत्ति बताई गयी है कि इसी से प्राण, मन, सब इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई। आकाश, वायु, ज्योति, जल, और विश्व को धारण करने वाली पृथिवी उत्पन्न होती है।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।

रवं वायु र्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥[1121]

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार सभी पदार्थ ईश्वर के अंश से उत्पन्न हुए हैं। उनमें से कुछ पदार्थ परमात्मा के तेज अंश से उत्पन्न हुए हैं। इसलिए उनका उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार आदित्यों की संख्या 12 है। उनमें से विष्णु नामक आदित्य सर्वश्रेष्ठ होने से वही परमात्मा का स्वरूप है; क्योंकि विष्णु नामक आदित्य परमात्मा के तेज से उत्पन्न हुए हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि संसार में जो भी पदार्थ विभूतिमान् है, श्रीमान् है, शक्तिमान् है, उन सबको तू मुझ तेजोमय ईश्वर के अंश से उत्पन्न हुआ जानो।[1122]

प्रकाश करने वाली ज्योतियों में सूर्य को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है । इसलिए सूर्य को ईश्वर के तेज अंश से उत्पन्न हुआ जानना चाहिए। वायु सम्बन्धी अनेक देवताओं में मरीचि नामक देवता को परमात्मा समझना चाहिए; क्योंकि उन वायुवीय देवताओं में मरीचि ही श्रेष्ठ है। नक्षत्रों में चन्द्रमा श्रेष्ठ होने से चन्द्रमा को परमात्मा का स्वरूप समझना चाहिए।

आदित्यानामहं विष्णु: ज्योतिषां रविरंशुमान्।

मरीचिमरुतामश्मि नक्षत्राणामहं शशी॥[1123]

[1120] महा.शा.47.70
[1121] मु.उ.2.1.3
[1122] भग.गी.10.41
[1123] वहीं,10.2 1

अब प्रश्न हो सकता है कि परमात्मा ने सभी श्रेष्ठ वस्तुओं को ही अपना स्वरूप क्यों बताया है? जबकि सब कुछ परमात्मा का ही स्वरूप है। ऐसा वेदान्तियों का मत है। ऐसा इसलिए है; क्योंकि यदि सर्वश्रेष्ठ वस्तु को परमात्मा का स्वरूप नहीं बताया जायेगा, तो उससे भी श्रेष्ठ होने का प्रश्न उठेगा। जबकि परमात्मा से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। वही सर्व श्रेष्ठ है। अत: ईश्वर भक्तों की सर्वश्रेष्ठ वस्तुओं में श्रद्धा होने से ईश्वर में श्रद्धा हो, इसलिए परमात्मा ने सभी श्रेष्ठ वस्तुओं को अपना ही स्वरूप बताया है। साथ ही सर्वश्रेष्ठ वस्तुओं में तेज की प्रधानता होने से चैतन्य की अभिव्यक्ति अधिक होती है। इसी क्रम में श्रीकृष्ण ने कहा है कि वैदिक ज्ञानों में मैं सामवेदीय ज्ञान हूँ; क्योंकि वेदों में सामवेद को श्रेष्ठ माना गया है। रुद्र आदित्य आदि देवताओं में श्रेष्ठ होने से इन्द्र परमात्मा का स्वरूप है। एकादश इन्द्रियों में श्रेष्ठ मन परमात्मा के तेजस् अंश से उत्पन्न होने के कारण उसे परमात्मा ही समझना चाहिए। इसी प्रकार सभी प्राणियों में बुद्धि परमात्मा का स्वरूप है। एकादश रुद्रों में शंकर को परमात्मा का स्वरूप समझना चाहिए। यक्षों में कुबेर को परमात्मा का स्वरूप समझना चाहिए। आठ वसुओं में अग्नि परमात्मा है।[1124]

वाणी के अनेक भेदों में एक पदात्मक ओंकार परमात्मा का स्वरूप है। यज्ञों में जप यज्ञ श्रेष्ठ होने से उसे परमात्मा समझना चाहिए। वायु की तरह जल से सम्बन्धित अनेक देवता होते हैं, जिनका राजा वरुण है। यह वरुण सभी जलीय देवताओं से श्रेष्ठ होने के कारण परमात्मा के रूप में उसकी उपासना करनी चाहिए।[1125] सभी विद्याओं में अध्यात्म विद्या श्रेष्ठ है; क्योंकि अध्यात्म विद्या सीधे जगत् के मूलभूत कारण का ज्ञान कराती है। अत: अध्यात्म विद्या को परमात्मा का स्वरूप समझना चाहिए। वर्णों में अकार वर्ण को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। अत: अकार वर्ण आत्मा का स्वरूप है।[1126] महीनों में मार्गशीर्ष माह तथा ऋतुओं में वसन्त ऋतु को परमात्मा कहा गया है। इसी प्रकार तेजस्वी पुरुषों में तेज परमात्मा है और गुणों में सात्त्विक गुण को परमात्मा समझना चाहिए।[1127] श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने और भी श्रेष्ठ पदार्थों को अपना स्वरूप बताया है। किन्तु विषय से सम्बन्धित न होने के कारण उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया

[1124] वहीं,10.22-23
[1125] भग.गी.10.29
[1126] अध्यात्मविद्या विद्यानाम्, अक्षराणामकारोऽस्मि। -वहीं,10.33
[1127] वहीं,10.36

गया है। वहीं पर अगले श्लोक में स्वयं श्रीकृष्ण ने कहा है कि चर और अचर सभी चीजें, जिनकी सत्ता है। सब मेरा ही स्वरूप है। मेरे बिना कोई भी पदार्थ नहीं रह सकता है।[1128]

ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि सभी विद्याओं को परमात्मा से उत्पन्न बताया गया है। किन्तु यह उत्पत्ति किसी प्रयोजन से नहीं अपितु नि:प्रयोजन से उत्पत्ति हुई है। जैसे अग्नि से धूएँ और चिन्गारियाँ स्वभावत: निकलती हैं। उसी प्रकार विद्याओं की भी उत्पत्ति परमात्मा से स्वभावत: हुई;[1129] क्योंकि यह प्रकाश स्रोत का स्वभाव होता है कि वह अपने प्रकाश को छुपा नहीं सकता है। प्रकाश स्वत: निकलता रहता है। अत: ऋग्वेद, यजुर्वेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद् भी परमात्मा से नि:श्वास एवं धूमादि की भाँति स्वभावत: उत्पन्न होते हैं।

प्राणियों में जो चेतना दिखाई देती है, सूँघना, खाना, पीना, चलना आदि दिखाई देता है। यह सब परमात्मा के ही कारण होता है। यह परमात्मा ही सभी प्राणियों में एक देवता के रूप में स्थित होकर शरीर को प्रकाशित करता है।[1130] श्वेताश्वतर उपनिषद् के इस मन्त्र में 'कर्माध्यक्ष:' शब्द से ज्ञात होता है कि सभी कर्मों में प्रेरित करने वाला यह देव ही है। इस देव की प्रेरणा से ही जीव शुभ और अशुभ कर्मों को करता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन ! ये सभी कर्म प्रकृति के गुणों के द्वारा किये जाते हैं। किन्तु अहंकार से मोहित होकर सभी पुरुष अपने को ही कर्ता मानने लगते हैं-

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश:।

अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥[1131]

श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य में शंकराचार्य ने ज्ञान और विज्ञान को पृथक् किया है। किसी पदार्थ के विषय में जानना मात्र उस वस्तु का ज्ञान है। किन्तु उसे अपनी इन्द्रियों आदि के द्वारा अनुभव करना विज्ञान है- *'शास्त्रतः आचार्यतः आत्मादीनां अवबोधः ज्ञानं विशेषतः*

[1128] वहीं,10.39

[1129] बृ.उ.2.4.10

[1130] एको देव: सर्वभूतेषु गूढ: सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्ष: सर्वभूताधिवास: साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ -श्वे.उ.6.1 1

[1131] भग.गी.3.27

तदनुभवः विज्ञानम्'[1132] ऐतरेय उपनिषद् में ब्रह्म को प्रज्ञानम् कहा गया है *'प्रज्ञानं ब्रह्म'*[1133] यहाँ भी प्रज्ञान शब्द विज्ञान को ही कहता है। आचार्य् शंकर के अनुसार शास्त्र और आचार्य आदि के द्वारा आत्मादि के विषय में जो बोध होता है उसे ज्ञान कहते है। तद्विषयक अनुभव विज्ञान है। इस प्रकार विज्ञान का अर्थ है अनुभवात्मक ज्ञान। आचार्य शंकर कहते हैं कि उस ब्रह्म के अतरिक्त अन्य कोई वस्तु अनुभव स्वरूप है ही नहीं।

राजा जनक ने याज्ञवल्क्य को आत्मज्ञानी पुरुष समझकर आत्मा के विषय में प्रश्न पूछा कि यह आत्मा कौन है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि यह जो प्राणों में और बुद्धि वृत्तियों के भीतर रहने वाला पुरुष है, जिसे विज्ञानमय एवं ज्योतिस्वरूप कहा जाता है। वही आत्मा है। यह बुद्धि वृत्तियों के रूप में इधर-उधर, लोक और परलोक में संचार किया करता है। यह बुद्धि वृत्तियों के रूप में चिंतन करता है और प्राणवृत्तियों से एक होकर मानो चेष्टा किया करता है- *'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योति पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति'*[1134] इत्यादि। अर्थात् आत्मा स्वयं में विज्ञानस्वरूप एवं ज्योतिस्वरूप है। तथापि बुद्धिवृत्तियों के साथ एक होकर मानो चेष्टा किया करता है। किन्तु स्वरूपत: यह आत्मा चिन्तन न करने वाला चेष्टा न करने वाला है।

व्यवहारिक अनुभव से हम सब यही जानते हैं कि हम चक्षुरिन्द्रिय से रूप का ज्ञान करते हैं। गन्ध का ज्ञान ध्राण या नासिकाग्र स्थित प्राण से करते हैं। शब्द ज्ञान हमें श्रोत्र से होता है। रस का ज्ञान रसनेन्द्रिय से होता है। किन्तु ऐसा नहीं हैं, वास्तविकता यह है कि आत्मा ही सभी विषयों का ज्ञाता है, भोक्ता है। उसी के द्वारा ज्ञानेन्द्रिय विषयों का भी ज्ञान होता है। किन्तु प्रत्यक्षतः हमें शरीरस्थ इन्द्रियाँ ही दिखायी देती है। इस भ्रम का निवारण केनोपनिषद् में ही हो गया था कि श्रोत्र, वाक्, प्राण, चक्षु, मन आदि किसी अन्य चेतन ब्रह्म से प्रेरित होकर ही अपने विषयों को प्राप्त करते हैं। कठोपनिषद् में भी इसका उल्लेख है कि मनुष्य की आत्मा ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द तथा मैथुन जन्य सुखों को जानने वाला है।[1135]

[1132] वहीं,3.4 1
[1133] ऐ.उ.5.3
[1134] बृ.उ.4.3.7
[1135] येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शान् च मैथुनान् एतेनैव विजानाति -कठ.उ.2.1.3

मनुष्य के शरीर में स्थित जीवात्मा में शयन क्रिया का अभाव देखा जाता। ऐसा श्रुति के द्वारा प्रामाजित किया गया है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य के शरीर में जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्नि तीन प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। जाग्रत अवस्था में शरीरस्थ ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और कर्मेन्द्रियाँ सभी सक्रिय रहती हैं। स्वप्नकाल में प्राण के साथ मन सक्रिय रहता है; क्योंकि यह मन ही स्वयं ही स्वप्न जगत् की सृष्टि करके स्वयं सुख दुःख की अनुभूति करता है। किन्तु शयन काल में यह मन और प्राण भी सो जाते है। फिर भी आत्मा जागता रहता है; क्योंकि सुषुप्तिकाल के उपरान्त जागने पर मैं सुख पूर्वक सोया आदि अनुभूतियाँ विद्यमान् रहती हैं। जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया है- *'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं-कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्येत।*[1136]

आत्मा के एकत्व के विषय में यह एक सामान्य प्रश्न है कि जब आत्मा एक ही है। तो सभी जीवों में उसकी अलग-अलग अभिव्यक्ति कैसे हो जाती है? इसी बात को कठोपनिषद् में भिन्न-भिन्न उपमाओं के द्वारा बताया गया है। अग्नि की उपमा दी गयी है, जैसे अग्नि एक व्यापक तत्त्व है। सर्वत्र विद्यमान् है, फिर भी अनेक जगहों पर उसकी अभिव्यक्ति देखी जाती है। दीपक, लकड़ी, शमशान की अग्नि, रसोई की अग्नि आदि अनेक रूपों में देखी जाती है। इसी प्रकार अग्नि के वाडवाग्नि, दावाग्नि, जठराग्नि, आदि उसके अनेक रूप हैं। फिर भी अग्नि की मात्रा और एकत्त्व में कमी नहीं देखी जाती है। उसी प्रकार आत्मा की भी शरीर, वृक्षादि रूपों में अभिव्यक्ति है। फिर भी आत्मा की मात्रा और एकत्व में कमी नहीं देखी जाती है।[1137] पूर्ण आत्मा से पूर्ण आत्मा निकल जाने पर भी वह पूर्ण ही बना रहता है।[1138]

एक सामान्य सा प्रश्न बनता है कि जब आत्मा सभी प्राणियों में विद्यमान् है तो प्राणियों के सुख दुःख से आत्मा भी सुखी दुःखी होता होगा। इस भूमण्डल पर बहुत सारे प्राणी है, किसी न किसी को दुःख होता रहता है। फिर आत्मा तो सदैव दुःखी ही रहता होगा और उस आत्मज्ञान को प्राप्त करने वाला पुरुष भी दुःखी रहता होगा। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कठोपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्य सभी प्राणियों के नेत्र में स्थित होते

[1136] वहीं,2.2.8

[1137] अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपों बभूव। -वहीं,2.2.9

[1138] पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते। -ईशा.उ.1

हुए भी नेत्र दोष से लिप्त नहीं होता है। उसी प्रकार आत्मा भी प्राणियों के सुख दुःख से लिप्त नहीं होता है, अपितु साक्षी भाव से देखता रहता है।[1139]

आत्मा किसी वस्तु के द्वारा प्रकाशित नहीं किया जा सकता है। सूर्य, दीपक, चन्द्रमा, तारे, नक्षत्र इन सबमें प्रकाश होता है, जो वस्तुओं को प्रकाशित करके हमारे ज्ञान का विषय बना देते हैं। यदि कोई सोचे कि इन प्रकाश स्रोतों से मैं आत्मा का ज्ञान कर लूँ तो यह असम्भव है; क्योंकि आत्मा प्रकाश्य नहीं है। किसी प्रकाश स्रोत से उसे प्रकाशित नहीं किया जा सकता है। बल्कि ये सभी प्रकाश स्रोत उसी आत्मा की शक्ति से प्रकाशित हो रहे है। आत्मा के प्रकाश से सर्वप्रथम सूर्य, अग्नि आदि प्रकाशित होते हैं। तत्पश्चात् पुनः सूर्य, अग्नि आदि से प्रकाश उत्पन्न होता है और उस प्रकाश से अन्य वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं**,** नेमा विद्युतो भाति कुतोऽयमग्निः।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं**,**तस्य भासा सर्वामदं विभाति।।[1140]

कार्य कारण के नियम से प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। यदि सूर्य, चन्द्र आदि ब्रह्म के प्रकाश से प्राकाशित हो रहे है, तो निश्चय ही वह ब्रह्म भी किसी न किसी से प्रकाशित अवश्य होता होगा। इस पर आचार्य शंकर कहते हैं कि नहीं वह ब्रह्म स्वयं प्रकाशमान् है। उसे अन्य किसी प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। कार्यगत नाना प्रकार के प्रकाश से उस ब्रह्म की प्रकाश स्वरूपता स्वतः सिद्ध है; क्योंकि जिसमें स्वतः प्रकाश नहीं होता है, वह दूसरे को भी प्रकाशित नहीं कर सकता है।[1141] ईशावास्योपनिषद् में चेतन ब्रह्म के प्रकाश स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए 'शुक्रं' शब्द का प्रयोग मिलता है। जिसका शाब्दिक अर्थ 'चमकीला' होता है। कठोपनिषद् में इस संसार को उलटे अश्वत्थ वृक्ष के समान कल्पित किया है। जिसका मूल परब्रह्म है। उस परब्रह्म को शुक्र-शुभ-शुद्ध और ज्योतिर्मय बताया है। आचार्य शंकर ने लिखा है- '*यदस्य संसार*

[1139] अनश्नन्यो अभिचाकशीति (श्वे)। सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोक दुःखेन बाह्यः। -कठ.उ.2.2.11

[1140] वहीं,2.2.15

[1141] कार्यगतेन विविधेन भासा तस्य ब्राह्मणो भारूपत्वं स्वतोऽवगम्यते। -वहीं,शां.भा.

वृक्षस्य मूलं तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं ज्योतिष्मच्चैतन्यात्मज्योतिः स्वभावं तदेव ब्रह्म सर्व महत्त्वात्'।[1142]

आत्मा का चतुर्विध विभाजन- माण्डूक्योपनिषद् में आत्मा को चार पादों वाला बताया गया है। आत्मा का प्रथमपाद वैश्वानर, द्वितीय पाद तैजस् तथा तृतीय पाद प्राज्ञ है। चतुर्थपाद तुरीय ब्रह्म है। प्रथमपाद वैश्वानर आत्मा है। यह वैश्वानर आत्मा स्थूल शरीर से उपहित चैतन्य को कहते हैं। जाग्रत अवस्था में जब स्थूल शरीर क्रियाशील होता है, तब इसकी अभिव्यक्ति देखी जाती है। यह बाह्य विषयों को जानने वाला है। इसलिए इसे बहिष्प्रज्ञ भी कहा जाता है। इस वैश्वानर को सात अंगो वाला बताया गया है। इन सात अंगो का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में किया गया है, जिसके अनुसार द्युलोक वैश्वानर का सिर है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, आकाश ही इसका देह है। जल उसका मूत्र स्थान है, पृथिवी चरण है, अग्नि को उसका मुख कहा गया है। इस प्रकार यह वैश्वानर आत्मा सात अंगो वाला है। इसे 19 मुखों वाला बताया गया है जिसमें 10 इन्द्रियाँ पंचप्राणादि वायु एवं मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार आदि मिलाकर 19 मुखों वाला यह वैश्वानर आत्मा है। इन 19 प्रकार के द्वारों द्वारा वैश्वानर स्थूल पदार्थों को भोगता है। इसलिए इसे स्थूलभुक् कहा जाता है। सभी नरों का आश्रय होने के कारण इसे वैश्वानर कहा जाता है।[1143]

इसके अनन्तर आत्मा के दूसरे पाद तैजस् का कथन करते हुए लिखा गया है कि तैजस् आत्मा स्वप्न स्थानीय है। यह इन्द्रियों की अपेक्षा अन्तस्थ है। इसलिए यह अन्तःप्रज्ञ कहा जाता है। यह तैजस् आत्मा प्रकाश स्वरूप प्रज्ञा को अनुभव करने वाला है। यह भी सात अंगों वाला तथा 19 मुखों वाला है।[1144]

आत्मा का तृतीय पाद प्राज्ञ बतलाया गया है। यह सुषुप्ति स्थानीय है। सुषुप्ति में प्राज्ञ आत्मा का कोई विषय नहीं होता है। यह केवल आनन्द का अनुभव करने वाला होता है। इसलिए इसे आनन्दभुक् कहा जाता है। चेतना को प्राज्ञात्मा का मुख कहा गया है। इसे प्रज्ञान घन भी कहा गया है; क्योंकि सुषुप्ति में मन के स्फुरण रूप द्वैत समूह प्रपंच के

[1142] वहीं,2.3.1, शां.भा.
[1143] मा.उ.1.1
[1144] वहीं,1.4

सहित अज्ञान से आच्छादित होकर घनीभूत सा हो जाता है। यह उसी प्रकार है जैसे रात्रि के अन्धकार से दिन में दिखायी देने वाले समस्त प्रपंच घनीभूत से हो जाते हैं। इस अवस्था में प्रज्ञान के सिवा अन्य किसी भेद की प्रतीति नहीं होती है।[1145] शंकराचार्य ने इस मन्त्र के भाष्य में एक महत्त्वपूर्ण जानकारी दी है। उनका कहना है कि स्वप्नावस्था में मन स्वयं विषय और विषयी के रूप में विभक्त होकर अनुभव करता है। इस प्रकार विषय और विषयी के रूप में विभक्त होने में एक प्रकार से आयास करना पड़ता है। यह आयास ही दु:ख का कारण होता है। किन्तु प्राज्ञ में यह आयास समाप्त हो जाता है। और मन अपने पर केन्द्रित हो जाता है। यह आयास रहित अवस्था ही आनन्द की स्थिति है।[1146]

यह प्राज्ञ वस्तुतः कारण शरीर से सम्बन्धित है। इस प्राज्ञ का सर्वकारणत्व प्रतिपादित करते हुए लिखा गया है कि यह प्राज्ञ ही सबका ईश्वर है। यह सर्वज्ञ एवं अन्तर्यामी है। सभी जीवों की उत्पत्ति और लय का स्थान होने से सबका कारण कहा गया है।[1147]

माण्डूक्योपनिषद् में वैश्वानर और विश्व दोनों एक ही हैं। वैश्वारनर को विश्व मानकर ही विश्व की स्थिति दक्षिण नेत्र में बताया गयी है। तेजस् की स्थिति मन के भीतर होती है। तथा प्राज्ञ को हृदयाकाश में स्थित माना गया है। इस प्रकार शरीर में आत्मा के तीनों पादों की स्थिति तीन जगह बतायी गयी है। आत्मा का चतुर्थ पाद उपर्युक्त तीनों पादों के धर्मों से रहित है। उसे ही अद्वैत आत्मा कहा गया है। वही उपासनीय है।[1148] आत्मा की यह तुरीयावस्था सभी प्रकार के सुख दुःख रूप जगत् प्रपंच से पृथक् है। यह सभी दुःखों की निवृत्ति करने में समर्थ है। यह आत्मा ही सभी पदार्थों का अद्वैत रूप है।

निवृत्ते सर्वदुःखानामीशानः प्रभुख्ययः।

अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः॥[1149]

जिस प्रकार सर्प का रस्सी से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। सर्प केवल अज्ञान का कार्य है। उसी प्रकार ब्रह्म का तुरीयावस्था सबसे पृथक् है। विश्व, तैजस् तथा प्राज्ञ से भी पृथक् है।

[1145] वहीं,1.5
[1146] मनसो विषय विषयि आकार स्पन्दनायासदुःखाभावादानन्दमयः। -वहीं,1.5
[1147] वहीं,1.6
[1148] वहीं,1.7
[1149] वहीं,1.10

विश्व और तैजस् को कार्य कारण दोनों से बंधा हुआ माना गया है। प्राज्ञ भी कारण से बंधा होता है। किन्तु तुरीय तो किसी से भी नहीं बंधा होता है।[1150] जल की एक बूँद जैसे समुंद्र में मिलकर अपना अस्तित्त्व खो देती है या घटाकाश घट के टूट जाने पर आकाश के साथ मिलकर अपना अस्तित्त्व खो देता है, उसी प्रकार जीवात्मा ब्रह्म में मिलकर अपना अस्तित्त्व खो देता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में चैतन्य आत्मज्योति को जानने के लिए दो प्रकार के लिंग बताये गये हैं। इन दोनों लिंगों से चैतन्य का अनुमान होता है। पहला अनुमापक शरीर की ऊष्णता है और दूसरा अनुमापक शब्द है। शरीर में जब तक प्राण रहता है। तब तक शरीर ऊष्ण बना रहता है। प्राण के निकल जाने पर शरीर शीतल हो जाता है। अत: ऊष्णता जीवन का असाधारण लिंग है। इस ऊष्णता के द्वारा जीवन की विद्यमानता जाती जाती है। ऊष्णता का ज्ञान स्पर्श के द्वारा होता है। श्रोत्र के द्वारा भी इसे जाना जाता है। इसलिए इसे श्रुत भी कहा गया है। आचार्य शंकर कहते हैं कि कानों को अंगुलियों से कसकर बन्द करने पर बैल के डकार के समान ध्वनि सुनाई देती है। इस ध्वनि से भी अन्तर्ज्योति का ज्ञान होता है।[1151]

उपनिषद् में सभी कर्मों का सामान्य आत्मा को बताया गया है। किन्तु यहाँ आत्मा शब्द का अर्थ शरीर है। शरीर से ही सभी कर्मों की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए शरीर ही सभी कर्मों का कारण है। कारण होने से इसे कर्मों का ब्रह्म कहते हैं।[1152] आचार्य शंकर के मत में नाम, रूप और कर्म एक दूसरे के आश्रित रहने वालें हैं। ये तीनों एक दूसरे की अभिव्यक्ति में कारण बनते हैं और एक दूसरे में लीन होने वाले हैं।[1153] इन तीनों का शरीर (आत्मा) के साथ एकीभाव रहता है। ये तीन होते हुए भी एक आत्मा ही हैं और आत्मा अर्थात् शरीर एक होते हुए भी तीन है।[1154]

[1150] कार्य कारण बद्धौ ताविष्येते विश्वतेजसौ। प्राज्ञः कारण बद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिध्यतः।। -वहीं,1.11

[1151] छा.उ.3.13.8, शां.भा.

[1152] आत्मना हि शरीरेण कर्म करोति। -बृ.उ.1.6.3, शां.भा.

[1153] तदेतद्यथोक्तं नाम रूपं कर्म त्रयमितरेतराश्रयम् इतरेतराभिव्यक्तिकारणम् इतरेतरप्रलयं संहतं त्रिदण्डविष्टम्भवत सदेकम्। -वहीं,1.6.3, शां.भा.

[1154] तदेतत्त्रयं सदेकमयमात्मात्मो एक: सन्नेतत्त्रयं। -वहीं,1.6.3, शां.भा.

जीवात्मा के दो स्थान बताये गये हैं। प्रथम लोक, द्वितीय परलोक । तीसरा स्थान जो स्वप्न स्थान है, वह दोनों का संधिस्थल है। किन्तु अधिक महत्त्व का है। ऋषि कहते हैं कि जब यह पुरुष सोता है तो यह अपने स्थूल शरीर को अचेत कर देता है। अपने वासनामय शरीर को स्वयं बना लेता है। इस प्रकार वह ज्योतिस्वरूप से शयन करता है। अर्थात् इस स्वप्नावस्था में वह पुरुष स्वयंज्योति होता है; क्योंकि स्वप्नावस्था में न इन्द्रियाँ होती हैं, न ही आदित्य, चन्द्र, अग्नि आदि प्रकाश होते हैं। फिर भी विषयों का प्रत्यक्ष किया जाता है। सभी विषय उपस्थित रहते हैं। किन्तु उन विषयों का प्रकाशन चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों से नहीं होता है। इसलिए स्वप्न की अवस्था में आत्मा को स्वयं ज्योति कहा गया है। यह आत्मा अपनी ही ज्योति से सभी वस्तुओं एवं विषयों को प्रकाशित करता है। श्रुति कहती है कि स्वप्न में न रथ होता है, न अश्व होता है, न ही मार्ग होते हैं। फिर भी वह रथ घोड़े एवं मार्गों की रचना कर लेता है। उस अवस्था में मोद, प्रमोद, आनन्द नहीं होता है। फिर भी वह इनकी रचना कर ही लेता है। कुण्ड, नदियाँ, सरोवर आदि न होने पर भी उनकी रचना कर लेता है।[1155]

श्रुति कहती है कि यह आत्मा स्वप्न के द्वारा शरीर को निश्चेष्ट कर देती है और स्वयं जागता हुआ सभी वासनामय पदार्थों को प्रकाशित करता है। यह पुरुष अकेले ही स्वप्नावस्था, जाग्रतावस्था, इहलोक और परलोक में जाने वाला होता है। इसलिए इसे एक हंस कहा जाता है। स्वप्नावस्था में रूपादि इन्द्रिय मात्राओं को लेकर जाग्रत अवस्था में चला जाता है।[1156]

ऋषि के मत में यह हिरण्यमय आत्मा स्वप्नावस्था में स्थूल शरीर से बाहर चला जाता है। जिस वस्तु में वासना होती है। उस वस्तु के पास जाकर आनन्द लेता है। इस स्थिति में भी उसका स्थूल शरीर मृत नहीं होता है; क्योंकि वह प्राण से उसकी रक्षा करता है।[1157] यह देव स्वप्न की अवस्था में ऊँच-नीच अनेक भावों को प्राप्त होता है। स्त्रियों के साथ आनन्द

[1155] न तत्र रथा न रथ योगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथ: सृजते। -वहीं,4.3.10

[1156] स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्या सुप्त: सुप्तानभिचाकशीत । शुक्रमादाय पुनरैति स्थानं हिरण्यमय: पुरुष एक हंस:॥ -वहीं,4.3.11

[1157] प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा। स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्यमय: पुरुष एक हंस:। -वहीं,4.3.12

मनाता है। अनेक प्रकार के पशुपक्षियों से भय मानता हुआ वर्तमान रहता है।[1158] यह देव स्वप्नावस्था में इन्द्रिय द्वारों से निकलकर वासनायुक्त विषयों के पास चला जाता है और जाग्रत अवस्था में आने से पूर्व पुन: उन्हीं द्वारों से होकर शरीर में आ जाता है। इसीलिए आयुर्वेदाचार्यों का मानना है कि सोये हुए पुरुष को एकाएक नहीं जगाना चाहिये। अन्यथा जीवात्मा अपने इन्द्रिय मार्ग को नहीं पायेगा। कुछ लोगों का मानना है कि पुरुष जागरित अवस्था में हाथी रथ आदि जो कुछ भी देखता है वही स्वप्न में भी देखता है। इससे आत्मा स्वयं ज्योति नहीं है यह सिद्ध होता है। किन्तु यहाँ श्रुति स्पष्ट कहती है कि आत्मा स्वप्न अवस्था में स्वयं ज्योति होता है। आत्मा के स्वयं ज्योति मानने की स्थिति में यही मानना पड़ेगा कि स्वप्नावस्था में जागरित जगत् का ज्ञान नहीं होता है, अपितु वह आत्मा सर्वथा नवीन रूप से स्वप्न जगत् की सृष्टि करता है।[1159]

आचार्य शंकर ने भी अपने भाष्य में यही लिखा है कि स्वप्नावस्था में सभी इन्द्रियाँ उपरत हो जाती हैं। इन्द्रियों के उपरत होने पर ही पुरुष स्वप्न देखता है। अत: इन्द्रियों के न होने पर आत्मा का ही स्वयंज्योति होना सिद्ध होता है।[1160] श्रुति में कहा गया है कि सुषुप्ति काल में आत्मा जो कोई भी कार्य करता हुआ दिखायी देता है। उससे वह लिप्त नहीं होता है। रमण करता है या विहार करता है या पाप पुण्य जो कुछ भी करता है। उससे लिप्त नहीं होता है, केवल देखता है। इस पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने सुषुप्ति के स्थान पर स्वप्नावस्था किया है। अर्थात् पुरुष स्वप्नावस्था में किसी कर्म से लिप्त नहीं होता है। इसीलिए स्वप्न में उसके द्वारा किसी प्रकार का अपराध किये जाने पर भी जाग्रत में वह लोगों के द्वारा अपराधी नहीं माना जाता है।[1161]

इसी प्रकार आत्मा स्वप्नावस्था के भोगों से भी असंग ही रहता है। स्वप्नावस्था में रमण करके पुण्य और पापों को देखकर अपने उसी स्थान को लौट जाता है, जिस स्थान से आया रहता है। अर्थात् यह आत्मा पुन: अपने जागरित स्थान को चला जाता है।[1162] यह

[1158] स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देव: कुरुते बहूनि । उतेव स्त्रीभि: सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन्॥ -वहीं,4.3.13

[1159] यानि ह्येव जाग्रत पश्यति तानि सुप्त इत्यत्रायं पुरुष: स्वयं ज्योति: भवति। -वहीं,4.3.14

[1160] तदसत् इन्द्रियोपरमात् उपरतेषु हीन्द्रियेषु स्वप्नान् पश्यति; तस्मानान्यस्य ज्योतिषस्तत्र सम्भवोऽस्ति। -वहीं,4.3.14, शां.भा.

[1161] स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च। -वहीं,4.3.15

[1162] वहीं,4.3.16

आत्मा जागरित अवस्था में भी असंग ही रहता है; क्योंकि जागरित अवस्था में भी रमण, विहार, पाप, पुण्य को देखकर पुन: यथा स्थान लौट जाता है।[1163] इन श्रुति प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में एक ही आत्मा होता है। जागरित अवस्था से स्वप्नावस्था और स्वप्नावस्था से सुषुप्तिवस्था आती है। जागरित अवस्था में यह आत्मा अपनी सभी इन्द्रियों से युक्त होता है। यह इन्द्रियों से विषयों का अनुभव करता है।

अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि जाग्रत अवस्था में अनुभूत विषयों का ही स्वप्नावस्था में अनुभव होता है। किन्तु ऐसा नहीं होता है। आचार्य शंकर ने के भाष्य में यही कहा है कि स्वप्नावस्था में यह आत्मा इन्द्रियों से रहित स्वयं ज्योति होता है। अत: स्वप्न जगत् आत्मा की अपनी रचना है। जीवात्मा की तुलना एक महामत्स्य से की गयी है। जैसे महामत्स्य नदी के किनारों को बारी-बारी से स्पर्श करता है। उसी प्रकार यह आत्मा भी कभी स्वप्नावस्था तो कभी जाग्रतावस्था पुन: जाग्रत से स्वप्नावस्था में बारी-बारी आता जाता रहता है।[1164] यहाँ यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण है कि स्वप्न और जाग्रत अवस्था का जगत् एक नहीं है। न स्वप्नावस्था का जगत् जाग्रतावस्था की वासना ही है, अपितु दोनों भिन्न-भिन्न हैं। स्वप्नावस्था का जगत् जाग्रत् से सर्वथा पृथक् एवं नवीन सृष्टि होती है। सुषुप्ति अवस्था आत्मा की विश्रान्ति अवस्था है। जबकि स्वप्न और जाग्रत अवस्थाएँ आत्मा की अशान्त अवस्थायें होती हैं। इन दोनों अवस्थाओं में आत्मा चञ्चल बना रहता है। पुन: वह विश्रान्ति पाने के लिए सुषुप्ति अवस्था में चला जाता है। इसकी तुलना एक बाज पक्षी से करते हुए कहा गया है कि जैसे बाज पक्षी दिन भर उड़ने से थक जाने पर अन्तत: अपने घोसले में आ जाता है। उसी प्रकार यह आत्मा सुषुप्ति अवस्था में चला जाता है। सुषुप्ति काल में यह न किसी भोग की इच्छा करता है, न कोई स्वप्न ही देखता है।[1165]

राजा जनक ने याज्ञवक्य से पुन: पूछा कि जब आदित्य ज्योति, चन्द्रज्योति, अग्निज्योति और वाक् ज्योति भी नहीं होती है। तब पुरुष किस ज्योति वाला होता है? आचार्य शंकर के मत में वाक् का तात्पर्य यहाँ अन्य घ्राणादि ज्ञानेन्द्रियों से भी है। अर्थात् वाक् के साथ

[1163] वहीं,4.3.17
[1164] वहीं,4.3.18
[1165] वहीं,4.3.19

घ्राण, त्वक्, श्रोत्र, रसना आदि ज्योतियों के अस्त हो जाने पर पुरुष किस ज्योति वाला होता है?[1166] उत्तर स्वरूप याज्ञवल्क्य ने आत्मज्योति का उल्लेख किया। अर्थात् आत्मज्योति के द्वारा ही पुरुष उठता है, बैठता है, इधर-उधर जाता है, कर्म करता है और लौट आता है।[1167] महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आचार्य शंकर ने यहाँ सभी बाह्य ज्ञानेन्द्रियों को भी ज्योति माना है।

इस प्रकार याज्ञवल्क्य और जनक के इस संवाद का विश्लेषण करने के उपरान्त निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पुरुष उपर्युक्त पाँच ज्योतियों के द्वारा व्यवहार करता है। उनमें सबसे तेजस्वी ज्योति आदित्य ज्योति है। किन्तु अधिक अस्थायी होती है। उसके बाद चन्द्र ज्योति है। इसके बाद अग्निज्योति है। ये तीनों ही ज्योतियाँ आधिदैविक हैं। आधिदैविक ज्योतियों की अनुपस्थिति में आध्यात्मिक ज्योति वाक् की उपस्थिति में पुरुष व्यवहार करता है। आध्यात्मिक ज्योति वाक् की अनुपस्थिति में पुरुष आत्मज्योति से कार्य करता है। यह आत्मज्योति अन्तस्थ ज्योति है।

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार जीवात्मा और शरीर के बीच पुरुष और वस्त्र के समान सम्बन्ध होता है। एक पुरुष जिस प्रकार पुराने वस्त्रों का परित्याग करके नये वस्त्रों को धारण कर लेता है। उसी प्रकार जीवात्मा भी जीर्ण शीर्ण शरीर का त्याग करके नये शरीर को धारण कर लेता है।[1168]

शंकराचार्य ने ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है, 'बृहत्तमत्वात्ब्रह्म'। अर्थात् जो सबसे बड़ा है वही ब्रह्म है। तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म का स्वरूप लक्षण दिया गया है,*'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'।*[1169] अर्थात् ब्रह्म सत्य स्वरूप है, ज्ञान स्वरूप है और अनन्त स्वरूप है। एक दृष्टि से वही ब्रह्म सत्य स्वरूप है। दूसरी दृष्टि से ज्ञान स्वरूप है और तीसरी दृष्टि से अनन्त स्वरूप है। अनन्तता ब्रह्म को समस्त सीमित पदार्थों से पृथक् करता है।

[1166] सर्वबाह्यज्योति: प्रत्यस्तमयेऽपि स्वप्नसुषुप्तिकाले। –वहीं,4.3.6, शां.भा.

[1167] आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत॥ -वहीं,4.3.6

[1168] वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही। -भग.गी.2.22

[1169] तै.उ.2.1.1

उपनिषद् का ब्रह्म तत्त्व तो एक ऐसी वस्तु है, जिसके विषय में किञ्चित मात्र भी जानने वाला पूरा जानने वाला हो जाता है और पूर्ण जानने वाला भी किञ्चित मात्र जानने वाला ही होता है। जो पुरुष ब्रह्म के विषय में किञ्चित भी जान जाता है, वह अमृत धर्मा हो जाता है। नित्य, मुक्त, सत्य स्वभाव वाला हो जाता है। सूर्य के प्रकाश के समान उस ब्रह्म का प्रकाश बताया गया है।[1170]

परमात्मा को नित्य प्रकाशमान् इसलिये भी कहा गया है कि एक बार परमात्मा का प्रत्यक्ष हो जाने पर जीवात्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। अपने प्रकाश का ज्ञान हो जाने पर पुन: बन्धन की प्राप्ति नहीं होती है। जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि *'तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन'।*[1171] अर्थात् उसे जानकर जीवात्मा पुन: पाप कार्यों में लिप्त नहीं होता है। योगानन्द आदि सन्तों ने परमात्मा को भूल जाने को ही पाप की श्रेणी में रखा है।

उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन अनेक रूपों में मिलता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म का वर्णन सत् और असत् दोनों रूपों में किया गया है।[1172] ब्रह्म के विशेषणों में चित् रूप उसकी ज्ञान और प्रकाशमयता दोनों का द्योतक है। ब्रह्म ज्ञान स्वरूप और प्रकाश स्वरूप दोनों है। इसीलिए बृहदारण्यक उपनिषद् में ऋषि ब्रह्म को *'ज्योतिषांज्योति:'*[1173] कहा है। उपनिषद् में एक स्थान पर ब्रह्म को सत्, चित् और आनन्द स्वभाव वाला बताया गया है।[1174] कठोपनिषद् के भाष्य में आचार्य शंकर ने ब्रह्म के लिए अनेक प्रकाशवाचक शब्दों जैसे शुक्रं (चमकीला), शुभ्रं, शुद्धं, ज्योति:, आदि का प्रयोग किया है।[1175]

उपनिषद् में ब्रह्म को देशादि की सीमा से परे नि:सीम कहा गया है। इसी संदर्भ में याज्ञवल्क्य ने गार्गी से कहा कि जिसमें सभी कुछ ओतप्रोत है। वह अविनाशी तत्त्व न

[1170] आदित्य इव सकृद्विभातमस्मदीयं ज्योतीर्ज्योति: प्रकाश इत्यर्थ:। -वहीं,3.10.6, शां.भा.

[1171] बृ.उ.4.4.23

[1172] द्वेवाव ब्राह्मणो रूपे मूर्त चैवामूर्त च मर्त्य चामर्त्य च् स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च। -बृ.उ.2.3.1

[1173] यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽभि: परिवर्तते। तद्देवा ज्योतिषां ज्योति: आयुर्होपासतेऽमृतम्॥ - वहीं,4.4.16

[1174] वहीं,2.4.12

[1175] यदस्य संसारवृक्षस्य मूलं तदेवशुक्रं शुभ्रं शुद्धं ज्योतिष्मच्चैतन्यात्म ज्योति: स्वभावं तदेव ब्रह्म सर्वमहत्वाप्। -कठ.उ.2.3.1, शां.भा.

स्थूल है, न सूक्ष्म है, न छोटा, न बड़ा, न लोहित, न कृष्ण है। वह आवरण रहित, तम रहित, वायु रहित, स्वाद रहित, गन्ध रहित, नेत्र रहित, श्रोत्रहीन, वाणी रहित, मन और प्राणों से भी रहित आदि सभी प्रकार की सीमाओं से रहित है।[1176]

काल अनित्य वस्तुओं को प्रभावित करता है। किन्तु ब्रह्म नित्य तत्त्व है। उस पर काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, जबकि वह ब्रह्म भूत, वर्तमान एवं भविष्य काल का भी स्वामी है।[1177]

कार्य कारण दोनों ही परिवर्तनशील हैं। ब्रह्म के लिए अक्षर शब्द का प्रयोग होना उसको कार्य-कारण की अवस्था से पृथक् बताना है।[1178] बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा कि वह ब्रह्म अप्रमेय एवं ध्रुव रूप है।[1179] उपनिषद् ऋषि के मत में एक मात्र ब्रह्म ही पूर्ण सत्य है। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थ मिथ्या रूप हैं।[1180] इस पूर्ण सत्य का ज्ञान होने पर समस्त जगत् का ज्ञान हो जाता है।[1181]

अद्वैतवेदान्त में यद्यपि ब्रह्म और ईश्वर में भेद किया गया है। तथापि उपनिषद् में कई स्थानों पर ब्रह्म का ईश्वर के रूप में वर्णन प्राप्त होता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में परमेश्वर को माया शक्ति से युक्त होने के कारण मायी शब्द से कहा गया है।[1182]

ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य में आचार्य शंकर ने ब्रह्म को सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहारक के रूप में कहा गया है। ब्रह्म ही जगत् की उत्पत्ति करता है, धारण करता है और फिर विघटन करने वाला भी वही है। 'जन्माद्यस्य यत:'[1183] का विचार अपने मूल रूप में तैत्तिरीय उपनिषद् में दिखायी देता है। जिसमें वरुण ऋषि ने अपने पुत्र भृगु से कहा कि

[1176] बृ.उ. 3.8.8
[1177] परस्त्रिकालात्। -श्वे.उ.6.5
[1178] बृ.उ.3.8.8-10
[1179] वहीं,4.4.20
[1180] न तु तद् द्वितीयमस्तितोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत्। - वहीं,4.3.23
[1181] वहीं,2.4.5
[1182] श्वे.उ.4.10, कौ.उ.3.8, ईशा.उ.1, छा.उ.4.15.2,4, बृ.उ.4.4.22, तै.उ.3.2
[1183] जन्माद्यस्य यत:। -ब्र.सू.1.1.2, शां.भा.

जिस तत्त्व से समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और फिर जिसमें विलीन हो जाते हैं। वही ब्रह्म है अत: उसे ही जानने की इच्छा करो।[1184]

उपनिषदों में ब्रह्म के लिए अन्तर्यामी शब्द का प्रयोग हुआ है, जो अन्तर में स्थित होकर सबको नियमिय करता है उसे अन्तर्यामी कहा जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने गौतम से कहा कि पृथिवी के अन्दर, बाहर, ऊपर, नीचे जो स्थित है। जिसको पृथिवी भी नहीं जानती है। पृथिवी जिसका शरीर है, जो पृथिवी के भीतर और बाहर रहकर शासन करता है। जो अविनाशी और अविकार है। वही अन्तर्यामी है।[1185] माण्डूक्योपनिषद् में भी ब्रह्म के अन्तर्यामी स्वरूप का वर्णन हुआ है।[1186]

कभी-कभी यह शंका होती है कि यदि सत्य, ज्ञान, अनन्त आदि शब्दों से गुण का ग्रहण न माना जाय तो इन पदों को पर्यायवाची मानना पड़ेगा; क्योंकि इन पदों से किसी विशेष अर्थ का बोध नहीं होता है। किन्तु ऐसा नहीं है; क्योंकि पदों के एकार्थक होने पर भी उनका अपर्यायत्व सम्भव है। सत्यादि पदों के द्वारा किन्हीं विशेष गुणों अथवा धर्मों का प्रतिपादन अभीष्ट नहीं है, अपितु इनके द्वारा अपने विरोधी असत्यादि धर्मों का निवारण अभीष्ट है। *'तात्पर्येण प्रतिपाद्यस्यैकत्वेऽपि व्यावर्त्यानामसत्य जड़ादीनामनिर्वचनीयानामनेकत्वात्'*[1187] अर्थात् सत्य पद असत्य का, ज्ञान पद अज्ञान का, तथा अनन्त पद सान्त का निवारक है। ज्ञान पद स्वप्रकाश ब्रह्म को अन्य से प्रकाशित होने वाले जड़ वस्तु से व्यावृत्त करता है। सत्य पद ब्रह्म को विकारभूत, नामरूपात्मक, असत्य से व्यावृत्त करता है। इसी प्रकार अनन्त पद दिग्देश, कालावच्छिन्न, वस्तु से ब्रह्म का व्यावर्तक है।

आचार्य शंकर ने ब्रह्म को आत्मा तथा ईश्वर को परमात्मा कहा है। केनोपनिषद् में जो यक्ष उपाख्यान प्राप्त होता है। वहाँ यक्ष ब्रह्म न होकर परमात्मा का वाचक है। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में यही कहा है कि *'ब्रह्मेति परो लिङ्गात्। न ह्यन्यत्र परादीश्वरात्'।*[1188]

[1184] तै.उ.3.2
[1185] बृ.उ.3.7.1
[1186] मा.उ.4.1
[1187] वि.प्र.सं.पृ.749, आचार्य शंकरकृत ब्रह्मसूत्र अध्यासभाष्य, कपिल गौतम, शोधप्रबन्ध, पृ.43
[1188] केन.उ.खण्ड-3,वाक्यभाष्य,गीताप्रेस,पृ.124

परमात्मा में ही तृणादि को वज्र बना देने की शक्ति है, अन्य किसी में नहीं। '*नित्यसर्वज्ञात् परिभूयाग्न्यादीस्तृणं वज्रीकर्तुं सामर्थ्यमस्ति*'।[1189] शंकराचार्य ने सर्वविज्ञान, सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान् आदि विशेषण ईश्वर के लिए दिये हैं।[1190]

उपनिषद् दर्शन में जगत् के मौलिक कारण को अनिर्वचनीय बताया गया है। अनिर्वचनीय का तात्पर्य है जिसका कथन न किया जा सके। उपनिषद् दर्शन के अनुसार चेतन ब्रह्म एक अनन्त सत्ता है, वह अद्वैत है। उसमें किसी प्रकार का गुण धर्म नहीं है। वह पूर्ण है। उसमें हम जिस तत्त्व का अभाव कहते हैं वह भी उसमें अद्वैत रूप में विद्यमान् है; क्योंकि यदि कोई वस्तु सृष्टि में है तो वह भी उसी चेतन ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित है। उसी चेतन ब्रह्म से वस्तु की अभिव्यक्ति हुई है। उस ब्रह्म से व्यतिरिक्त नहीं है। फिर भी हम शब्दों से यह नहीं कह सकते हैं कि वस्तु ब्रह्म में प्रतिष्ठित है। ऐसा कहने पर वस्तु धर्म होगा और ब्रह्म धर्मी हो जायेगा। दोनों के बीच धर्म-धर्मी भाव सम्बन्ध आ जायेगा। ऐसा होने पर अद्वैत का खण्डन होगा, जो कि उचित नहीं है; क्योंकि ब्रह्म अद्वैत है।

इसी प्रकार ब्रह्म को किसी भी विशेषता या धर्म के द्वारा बताया नहीं जा सकता है। घट को हम कह सकते हैं कि घट लाल है, गोल है, लम्बा है इत्यादि घट के विशेषण हैं और घट विशेष्य है। दोनों के बीच विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध है। ब्रह्म को शब्दों के द्वारा कथन करने में यही एक समस्या है। घट स्वरूपतः चेतन ब्रह्म है। पुस्तक स्वरूपतः चेतन ब्रह्म है। वृक्ष स्वरूपतः ब्रह्म है। इस तरह सभी कुछ स्वरूपतः ब्रह्म ही है। यह जगत् प्रपंच सिर्फ माया के कारण दिखायी दे रहा है। माया भी स्वरूपतः ब्रह्म से अलग नहीं है। माया ब्रह्म की शक्ति है। माया त्रिगुणात्मिका है। सत्त्व, रजस् और तमस् से मिलकर बनी है। इनमें से तमस् का प्रभाव आधिक होने से चेतन ब्रह्म अचेतन वस्तुओं के रूप में दिखायी देता है। जैसे-जैसे चित्त सत्त्व प्रधान होता जाता है, वस्तुओं का वास्तविक स्वरूप समझ में आने लगता है। फलस्वरूप चित्त के शुद्ध सत्त्व प्रधान हो जाने पर सभी कुछ चेतनवत् दिखायी देने लगता है। अन्ततः निर्गुण ब्रह्मज्ञान हो जाने पर सम्पूर्ण अचेतन जगत् चेतन ब्रह्ममय हो जाता है।

[1189] केन.उ.3

[1190] सर्वविज्ञान ईश्वरे सर्वात्मनि सर्वशक्तौ सिद्धेऽपि। -केन.उ.3, वाक्य भाष्य,गीताप्रेस, पृ.124

चेतन ब्रह्म के लिए कोई शब्द नहीं दिया जा सकता है। जैसे ही उसके लिए कोई शब्द दिया जाता है तुरन्त उसे सीमित कर दिया जाता है। शब्द केवल सीमित विषय को पकड़ सकता है। जबकि ब्रह्म असीमित है। ब्रह्म के लिए कोई शब्द देने का अर्थ है सविकल्पक ज्ञान, जबकि ब्रह्म निर्विकल्पक ज्ञान है। योग में भी निर्विकल्पक समाधि का उल्लेख है। ब्रह्म को ब्रह्म शब्द से भी बोधित नहीं किया जा सकता है; क्योंकि ब्रह्म शब्द से सविकल्पक ज्ञान का बोध होता है। ब्रह्म शब्द से बोधित करने का तात्पर्य है कि कोई ब्रह्म नामक सत्ता है जिसमें ब्रह्मत्त्व धर्म निहित है। इस प्रकार ब्रह्म शब्द का उच्चारण करने परब्रह्म ब्रह्मत्त्व और उन दोनों के बीच एक सम्बन्ध का बोध होता है। इन तीनों का बोध होने पर भेद ज्ञान की प्रतीति होती है। जबकि ब्रह्म अद्वैत होने से भेद रहित है।

ब्रह्म के लिए दो प्रकार की उपाधियों का प्रयोग किया जाता है। एक नित्य उपाधि जैसे सत्, चित्, आनन्द, अनन्त, ज्ञान, विज्ञान आदि इसकी नित्य उपाधियाँ हैं। जिनकी प्रतीति ब्रह्म ज्ञान होने पर भी बनी रहती है। अद्वैतवेदान्त में इस प्रकार की नित्य उपाधि को स्वरूप लक्षण कहा गया है- 'स्वरूपमेव लक्षणं स्वरूपलक्षणम्'।[1191] जो कि ब्रह्म के साथ स्वरूपतः विद्यमान् रहती है। उपर्युक्त उपाधियाँ चेतन ब्रह्म के किसी धर्म को नहीं कहती हैं, अपितु स्वरूपतः ब्रह्म वही है। ब्रह्म स्वरूपतः सत्, चित्, आनन्द, अनन्त, ज्ञान स्वरूप और विज्ञान स्वरूप ही है। एक दृष्टि से सत् है तो दूसरी दृष्टि से चित् तीसरी दृष्टि से आनन्द है। ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द स्वरूप अवश्य है। किन्तु शब्द से उसे सत्, चित् और आनन्द नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि केनोपनिषद् में पहले ही कह दिया गया है- 'यद्वाचा अनभ्युदितं येन वागभ्युदते'। दूसरी अनित्य उपाधि है, जिसको अद्वैतवेदान्त में तटस्थ लक्षण कहा गया है- *'यावल्लक्ष्यकालमनवस्थितत्त्वे सति यद् व्यावर्तकं तदेव तटस्थलक्षणं'*[1192] वे सभी उपाधियाँ और साधन जो स्वरूपतः ब्रह्म तो नहीं हैं, किन्तु उसे जानने में सहायक होती हैं। जैसे *'जन्माद्यस्य यतः'*[1193] ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। इसी प्रकार ब्रह्म की सभी उपाधियाँ जो ब्रह्म का ज्ञान कराने में सहायक हो तटस्थ लक्षण कहलाती हैं। पुस्तक, पेन, टेबल, वृक्ष, वाहन आदि ब्रह्म की उपाधियाँ हैं; क्योंकि ये सभी हमारे अज्ञान हैं। यदि इनके द्वारा ब्रह्म बोध हो जाये तो ये भी तटस्थ लक्षण कहे जायेंगे।

[1191] वे.परि.पृ.161
[1192] वहीं,पृ.162
[1193] ब्र.सू.1.1.2

शास्त्र से ब्रह्म बोध नहीं होता है। ये सभी प्रेरक मात्र होते हैं। अतः शास्त्र ज्ञान भी तटस्थ लक्षण कहा जायेगा। शास्त्रादि सभी ब्रह्म की अनित्य उपाधियाँ हैं; क्योंकि ब्रह्म बोध के समय इनकी स्थिति नहीं रहती है।

उपनिषद् में ब्रह्म के लिए जो विशेषताएँ दी गयी हैं। वे सभी व्यवहार के लिए है। ब्रह्म 'अज' है। वास्तव में ब्रह्म अज भी नहीं है। जो लोग ब्रह्म को जन्मा मानते हैं, उनके मत का निषेध करने के लिए उसे अज कहा गया है। यह अज शब्द व्यवहार के लिए प्रयुक्त है। वह अज होकर भी अज शब्द से रहित है। *'अजः कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नाप्यजः'*[1194] इसीलिए बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म को *'नेति नेति'*[1195] शब्द से कहा गया है। उपनिषद् में ब्रह्म की जो भी विशेषताएँ बतायी गयी है, वे सभी वास्तव में हैं ही नहीं। ब्रह्म को अनित्य मानने वालों के मत का खण्डन करने के लिए उसे नित्य कहा गया है। वस्तुतः ब्रह्म नित्य भी नहीं है। नित्य तो है, किन्तु नित्य शब्द से रहित है। उसके लिए नित्य शब्द का प्रयोग करना गलत होगा। प्रकाश स्वरूप है, किन्तु प्रकाश शब्द से रहित है। चेतन स्वरूप तो है, किन्तु चेतन शब्द से रहित है।

केनोपनिषद् के तीन मन्त्रों में ब्रह्म की अनिर्वचनीयता प्रतिपादित की गयी है। ऋषि कहते हैं जो पुरुष ब्रह्म को जानने का दावा करता है निश्चय ही वह ब्रह्म को थोड़ा ही जानता है।[1196] ऋषि कहते हैं कि मैं स्वयं ही नहीं कह सकता कि 'मैं ब्रह्म को जानता हूँ' ऐसा भी नहीं है कि 'मैं नहीं जानता हूँ'। इस प्रकार जानने वाला व्यक्ति ही वास्तव में जानता है।[1197] ब्रह्म एक ऐसा तत्त्व है, उसे जो जानता है उसके लिये अज्ञात ही है और जो नहीं जानता है उसके लिए ज्ञात है।[1198] लाओत्सु इस विषय में जोर देकर कहता है कि सत्य कहा नहीं जा सकता है। ज्यों हि तुम उसे शब्द देते हो वह झूठा हो जाता है कहते ही सत्य असत्य हो जाता है।[1199]

[1194] मा.उ.4.74

[1195] बृ.उ.2.3.6

[1196] यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवापि नूनं। -केन.उ.2.1

[1197] नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च। यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥ -वहीं,2.2

[1198] यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥ -वहीं,2.3

[1199] ओशो रजनीश

उस ब्रह्म को सर्वशासक के रूप में वर्णित करते हुए कठोपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि उस आत्मा के भय से ही अग्नि सबको ताप देता है। उसी के भय से सूर्य सबको गर्मी और प्रकाश देता है। इन्द्र वर्षा करते हैं। वायु सबको प्राण तथा हवा देता है। पृथिवी पर प्राणियों के अनुपात को बनाये रखने के लिए मृत्यु भी अपना कार्य करता है।

महर्षियों ने सभी प्राकृतिक देवताओं की आत्मा के रूप में परमात्मा को माना है। सबका नियन्त्रक होने से यही अन्तर्यामी है। यदि परमात्मा का नियन्त्रण न होता तो निश्चय ही सूर्य देवता अपना कार्य करने में स्वच्छन्द होता। वायु चलने के लिए स्वच्छन्द होता। मृत्यु के देवता क्यों गतायु पुरुषों के प्राण हरते। इन सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर है कि इन्हें एक निश्चित मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करने वाला परमात्मा है। परमात्मा के भय से सूर्य देवता समय पर उदित होते हैं, समय पर अस्त होते हैं। इसी परमात्मा के भय से अग्नि ऊष्णता प्रदान करता है। इन्द्र देवता वर्षा करते हैं। मृत्यु सृष्टि कार्य को समुचित रूप से बनाये रखने के लिए लोगों के प्राणों का हरण करते हैं।

भयादस्याग्निस्तपति भयन्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥[1200]

भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युधविति पञ्चमः॥[1201]

सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में प्रायः यह प्रश्न उठता है कि सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई? सृष्टि का प्रारम्भ कैसे हुआ? सृष्टि का प्रारम्भिक बिन्दु क्या था? इस विषय में श्रुति निर्विरोध एक मत से ईक्षण पूर्वक सृष्टि को स्वीकार करती है। पुरुष ने सर्वप्रथम ईक्षण करके प्राण को उत्पन्न किया। यह प्राण तत्त्व सृष्टि का प्रथम तत्त्व है। फिर उस प्राण से श्रद्धा की उत्पत्ति हुई। फिर आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, और, अन्न को उत्पन्न किया। फिर अन्न से वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोकों, को फिर नाम को उत्पन्न किया। इस प्रकार कुल 16 तत्त्वों की उत्पत्ति हुई है। इन सभी तत्त्वों में क्रम विद्यमान् है।[1202] उपर्युक्त उत्पन्न हुए 16 तत्त्व ही पुरुष की 16 कलाएँ हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार ब्रह्म ने तप

[1200] कठ.उ.2.33
[1201] तै.उ.2.8
[1202] प्रश्न.उ.6.4

करके इन वस्तुओं को उत्पन्न किया था। तप करने से पूर्व उसने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊँ। इस प्रकार ब्रह्म बहुत होकर उन सब में प्रवेश कर गया।[1203]

ऐतरेय उपनिषद् के ऋषि ने प्रज्ञान रूप ब्रह्म को सर्वत्र देखा। यह ब्रह्म ही पुरुष की मूर्धा को भेद करके शरीर में प्रवेश कर गया, जिसके कारण इन्द्र शब्द से वाच्य हुआ। यह प्रज्ञान ही है, जो विराट् के रूप में उत्पन्न हुआ। इस विराट् रूप ब्रह्म से ही सभी लोक और लोकपाल उत्पन्न हुए। प्रजाओं की सृष्टि करने के कारण सभी प्रजाओं के स्वामी अर्थात् प्रजापति कहलाये। सभी अग्नि, वरुण आदि देवता भी प्रज्ञान के ही स्वरूप हैं। जैसा कि कहा भी गया है कि '*इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते*'।[1204] अर्थात् इन्द्र ही अपनी माया से अनेक रूपों में हो गया। यह प्रज्ञान रूप ब्रह्म ही पंचमहाभूत भी है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी ये पंचमहाभूत कुछ और नहीं ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही अपनी माया शक्ति से पंचमहाभूतों के रूप में दिखायी दे रहा है। अण्डज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज, अश्व, गौ, मनुष्य और हाथी जो कुछ भी दिखायी दे रहा है। वह भी ब्रह्म ही है। इसके अतिरिक्त पैर से चलने वाले जंगम पदार्थ, आकाश में उड़ने वाले पक्षीगण ये सभी प्रज्ञान में ही स्थित है।[1205]

अद्वैतवेदान्त तो इसी मत का पक्षधर है कि एक ही अद्वैत सत्ता की ये सभी भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। ब्रह्म ही अनेक रूपों में अभिव्यक्त हो गया है। सभी वस्तुएँ अपने परमार्थ रूप में सत् हैं। परमार्थ रूप में सभी वस्तुएँ अद्वैत भाव को प्राप्त हो जाती हैं। वह प्रज्ञान रूप ब्रह्म अपने मूल रूप में चेतन प्रकाश है। इस प्रकार चेतन प्रकाश की ही ये सभी भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। यह स्थावर जंगम रूप जगत् माया के द्वारा ही भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाया जाता है। ज्ञान के द्वारा अज्ञान रूप माया के नष्ट हो जाने पर पुन: उसी अद्वैत ब्रह्म की उपलब्धि हो जाती है। इस प्रकार ऐतरेय उपनिषद् के ऋषि समस्त स्थावर जंगम में ब्रह्म रूप प्रकाश को देखने का उपदेश करते हैं। ताकि शिष्य की इस

[1203] सोऽकामयत । बहुस्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तस्वा इदँसर्वमसृजत यदिदं किञ्च । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत। -तै.उ.2.6.1

[1204] बृ.उ.2.5.19

[1205] एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्चमहाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिजानि चाश्वा गाव: पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राण जंगमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं। प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोक: प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म। -ऐ.उ.3.1.3

प्रपञ्चात्मक जगत् में अद्वैत बुद्धि हो सके और ब्रह्म स्वरूप अपने परमार्थ स्वरूप में स्थित हो सके।

ब्रह्म को परम ज्योति कहा गया है; क्योंकि उससे पर कुछ भी नहीं है। ब्रह्मज्योति ही सभी प्रकार की ज्योतियों का कारण है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत् आदि जितनी भी ज्योतियाँ हमारे प्रत्यक्ष में है। अथवा मन, इन्द्रियाँ आदि जितनी भी अप्रत्यक्ष ज्योतियाँ विद्यमान् है, उन सबका कारण ब्रह्मज्योति है। निरूपाधिक ब्रह्मज्योति सबसे पृथक् है। किन्तु सोपाधिक ब्रह्मज्योति विज्ञानमय कोश से आवृत्त होती है। बुद्धि में ब्रह्म का प्रकाश प्रतिबिंबित होता है। इसलिए बुद्धि भी प्रकाश युक्त दिखायी देती है।[1206] ज्ञानेन्द्रियों से युक्त बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहा गया है। जीव भाव को प्राप्त हुआ ब्रह्म इसी विज्ञानमय कोश में रहता है। विज्ञानमय कोश और ब्रह्म की अत्यधिक निकटता के कारण यह कोश भी ब्रह्मज्योति से सदैव प्रकाशित रहता है।[1207] ऋषि कहते हैं कि ब्रह्म ही सभी ज्योतियों का प्रकाश है। सभी ज्योतियाँ इसी ब्रह्मज्योति से प्रकाशित होती हैं। वस्तुतः यह ब्रह्म ही सभी ज्योति पुंजों की आत्मा है। जैसे पुरुष की इन्द्रियाँ दूसरी वस्तुओं को तो प्रकाशित कर सकती है। किन्तु स्वयं पुरुष को नहीं प्रकाशित कर पात। उसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, विद्युत् का प्रकाश भी उनसे भिन्न प्रदार्थों को प्रकाशित तो कर सकता है। किन्तु स्व-अधिष्ठान ब्रह्म को नहीं प्रकाशित कर सकता। इसीलिए ऋषि लिखते हैं कि

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं, नेमा विद्युतो भाति कुतोऽयमग्निः।

तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वभिदं विभाति॥[1208]

इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि जैसे अग्नि दूसरे को ही जलाती है, किन्तु स्वयं को नहीं जलाती है। सूर्य दूसरे को प्रकाशित कर सकता है, किन्तु स्वयं को नहीं प्रकाशित कर सकता; क्योंकि स्वयं सूर्य और स्वयं अग्नि का ब्रह्म से अभेद है। ब्रह्म ही इन अग्नि, सूर्य आदि का अधिष्ठान है। इन सवका आत्मा है। इसलिए इनका प्रकाश ब्रह्म को प्रकाशित करने में असमर्थ है।

[1206] वे.सा.27

[1207] मु.उ.2.2.9,शां.भा.

[1208] वहीं,2.2.10

मुण्डकोपनिषद् में एक स्थान परब्रह्म की प्रकाशरूपता को दिखाने के लिए 'आविः' शब्द का प्रयोग मिलता है। आचार्य शंकर के मत में वाक् आदि उपाधियाँ ही उस ब्रह्म की ज्वालाएँ हैं। प्राण, इन्द्रिय वाक् आदि उपाधियों के द्वारा ब्रह्म प्रज्वलित होता रहता है। अर्थात् प्रकाशित होता है।[1209] वही एक अन्य मन्त्र में 'अर्चि' शब्द का प्रयोग मिलता है। इस अर्चि शब्द का अर्थ भी 'दीप्तिमान्' ही है।[1210] इस दीप्तिमान् जीवात्मा को हृदयाकाश में स्थित हुआ माना गया है। इसी कारण हृदयाकाश को ब्रह्मपुर भी कहा गया है।[1211]

ब्रह्म को अज कहा गया है; क्योंकि उसका कभी जन्म नहीं होता है। वही आदि कारण है, सबका कारण है। वह अपनी शक्ति माया से सबको जन्म देता है। किन्तु स्वयं अजन्मा है। माया से ही किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है। किन्तु माया ब्रह्म के ही अधीन है। इसलिए माया ब्रह्म को प्रभावित नहीं कर सकती है। इस विषय में आचार्य शंकर ने लिखा है कि *'अविद्या निमित्त हि जन्म रज्जुसर्पवदित्यवोचाम्'*[1212] अर्थात् रज्जु में सर्प के समान अविद्या के कारण ही जीव का जन्म होता है। यदि अविद्या न हो तो जन्म की प्रक्रिया ही न हो।

आचार्य शंकर ने अविद्या रूप अनादि माया को ही निद्र माना है। *'अविद्यालक्षणानादिर्मायानिद्रा'*[1213] जो पुरुष माया के वशीभूत होता है, वह निद्रा युक्त कहलाता है। किन्तु ब्रह्म माया से परे है। माया उसे प्रभावित नहीं कर सकती है। इसलिए वह ब्रह्म अविद्या रूप निद्र से रहित है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि सभी प्राणियों के लिए जो रात्रि है, वह आत्माज्ञानी पुरुष के लिए दिन के समान है और जो सभी प्राणियों के लिए दिन है, वह आत्मज्ञानी पुरुषों के लिए रात्रि के समान है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनिः॥[1214]

[1209] वहीं,2.2.1
[1210] वहीं,2.2.2
[1211] वहीं,2.2.7
[1212] मा.उ.3.36, शां.भा.
[1213] वहीं
[1214] भग.गी.2.69

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ हैं। इसमें से जाग्रत अवस्था में पुरुष अपने आस-पास के वातावरण के प्रति सचेत होता है। स्वप्न और सुषुप्ति इन दोनों अवस्थाओं में इन्द्रियाँ प्रज्ञा रहित होकर मन में लय हो जाती हैं। फलस्वरूप पुरुष या तो स्वप्न में चला जाता है या सुषुप्ति में चला जाता है। ये दोनों अवस्थाएँ अज्ञान से प्रभावित होती हैं। जबकि जाग्रत अवस्था ही ब्रह्म की अवस्था है। ब्रह्म के लिए न स्वप्न है, न सुषुप्ति है, अपितु वह जाग्रत पुरुष के समान सदैव नित्य सचेत होता है। इसीलिए माण्डूक्योपनिषद् में उसे अस्वप्न कहा गया है।[1215] पुरुष अपने स्वप्न के प्रति सचेत नहीं होता है। जबकि ब्रह्म इस जगत् रूप स्वप्न के प्रति भी सचेत होता है। ओशो रजनीश कहते हैं कि यदि पुरुष भी अपने स्वप्न के प्रति सचेत हो जाये और स्वप्न काल में भी उसे यह अनुभूति बनी रहे कि वह स्वप्न देख रहा है, तो निश्चय ही वह उसकी ब्रह्मानुभव की अवस्था होगी।[1216]

ब्रह्म को पर और अपर के भेद से दो प्रकार का बताया गया है, जिसमें अपर ब्रह्म ही नाम रूप से युक्त है। परब्रह्म नाम रूप से विहीन है। नाम से रहित होने के कारण ही उसे वागिन्द्रिय से अप्राप्य कहा गया है। रूप रहित होने से चक्षुरिन्द्रिय उसे प्राप्त करने में असमर्थ है।[1217] वहीं दूसरी ओर कठोपनिषद् में उसे अशब्दम्, अरूपम् कहकर उसे श्रोत्र और चक्षु इन्द्रिय से अग्राह्य बताया गया है।[1218]

ब्रह्म के प्रकाशभाव को प्रकट करने के लिए माण्डूक्योपनिषद् में उसके लिए *'सकृद्विभातं'*[1219] शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् वह एक ही बार प्रकाशित हुआ कि नित्य रूप से प्रकाशमान् बना हुआ है। उसका प्रकाश कभी अस्त नहीं हुआ। ब्रह्म हमारी दृष्टि में दिखायी नहीं देता है। इसके प्रति हमारा अज्ञान कारण है। अज्ञान वह अवरोध है, जिसके कारण ब्रह्म का प्रकाश दिखायी नहीं देता है। अज्ञान एक प्रकार से ब्रह्म की प्राप्ति में अवरोध है। अज्ञान में भी किञ्चित् प्रकाश होता है, जो हमारी दृष्टि में चकाचौंध उत्पन्न करता है। जैसा कि ईशोपनिषद् भी कहा गया है, *'हिरण्यमयेन पात्रेण*

[1215] मा.उ.3.36
[1216] त.वि.,विज्ञानभैरव तंत्र, पृ.134
[1217] यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यन्ति॥ -केन.उ.1.4
[1218] कठ.उ.1.3.15
[1219] मा.उ.3.36

सत्यस्यापिहितं मुखं'।[1220] सांसारिक वस्तुओं में जो किञ्चित् नवीनता पायी जाती है। उस नवीनता में ही किञ्चित् आनन्द निहित होता है। यह आनन्द ही मन को बार-बार अपनी ओर उन्मुख करके ब्रह्म से दूर किये रहता है। जिस प्रकार संसार में झिलमिलाता हुआ प्रत्येक सितारा हमारी दृष्टि को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। उसी प्रकार प्रत्येक नवीन वस्तु हमारी दृष्टि को अपनी ओर आकर्षित करती रहती है। इस अविद्या रूप अन्धकार के नष्ट हो जाने पर नित्य प्रकाश ब्रह्म का ज्ञान होता है। आचार्य शंकर लिखते है कि *'तदभावान्नित्यचैतन्य भारूपत्वाच्च युक्तं सकृद्विभातं इति'।*[1221]

हमारी दृष्टि में केवल सूर्य का प्रकाश और विद्युत् का प्रकाश ही दिखायी देता है; क्योंकि प्रकाश में रूप होता है। रूप चक्षुरिन्द्रिय का विषय है। इसलिए चक्षु इन्द्रिय से उसका ज्ञान होता है। वस्तु स्वरूप को प्रकाशित करने के कारण सूर्य का प्रकाश सत्त्व प्रधान होता है। जबकि आवरण कारक होने के कारण अन्धकार को तमस् कहा जाता है। शंकराचार्य के मत में तमस् नेत्र व्यापार को रोकने वाला होता है और सूर्य का प्रकाश नेत्र व्यापार में सहायक होते हैं।[1222] नेत्र प्रकाश के सहयोग के बिना रूप का ज्ञान नहीं कर सकता है। आधुनिक वैज्ञानिक यह मानते हैं कि किसी वस्तु में जो रूप दिखायी देता है। वह वस्तुतः प्रकाश ही होता है। भिन्न वस्तुओं में प्रकाश के भिन्न वर्णों को परावर्तित करने का गुण पाया जाता है। जैसे नीले आकाश में प्रकाश के नीले वर्ण का अपवर्तन होता है। रक्त पुष्प में प्रकाश के रक्त वर्ण को परावर्तित करती है। हरित वर्ण की पत्ती प्रकाश के हरे वर्ण को परावर्तित करती है। इसीलिए पुष्प रक्त वर्ण और पत्ती हरे वर्ण की दिखायी देती है। अतः आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में किसी वस्तु में रूप होने का तात्पर्य है, उस वस्तु में उस प्रकाश को परावर्तित करने का गुण।

उपनिषद् में इस प्रकाश के वास्तविक स्वरूप पर भी विचार किया गया है कि यह सूर्य का प्राकाश अपने मूल रूप में क्या है? क्या सूर्य और उसका प्रकाश स्वरूपतः स्वयं में प्रकाश हैं या अन्य कोई तत्त्व उन्हें प्रकाश देता है। ऋषियों ने जब प्रकाश के स्वरूप पर विचार किया तो उन्होंने प्रकाश को भी शुद्ध चेतन तथा अद्वैत ब्रह्म के रूप में पाया।

[1220] ईशा.उ.15

[1221] मा.उ.3.36.शां.भा.

[1222] चक्षुर्वृत्तेर्निरोधकम शर्वरादिकम् तम उच्यते। तस्या एवानुग्राहक मादित्यादिकं जोतिः। - ब्र.सू.शां.भा.पृ.347

प्रकाश का यह कारण सभी पदार्थों का अभेद रूप था। इस भौतिक प्रकाश का अस्तित्त्व भी उसी अद्वैत ब्रह्म पर आश्रित था। प्रकाश का कारण होने से उसे ज्योति की भी ज्योति के रूप में जाना गया। बृहदारण्यकोपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि ब्रह्म को देवताओं ने ज्योतियों की ज्योति आयुष तथा अमृत के रूप में उपासना करते है।[1223]

आचार्य शंकर ने अक्षर शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि जिसमें क्षय की प्रकिया नहीं होती है, उसे अक्षर कहते है। अक्षर शब्द में नञ् अभाव का वाचक है। क्षय और नाश शब्द एकार्थवाची हैं। इस प्रकार जिसका नाश नहीं है, वह अक्षर हैं, *'अक्षरं न क्षरति इति परमं ब्रह्म'*[1224]। जैसा कि कठोपनिषद् के भाष्य में आचार्य शंकर ने लिखा है- *'एतद्धि एवाक्षरं ब्रह्म अपरमेतद्धि एवाक्षरं परं च'।*[1225] श्रीमद्भगवद्गीता में भी परमात्मा को अक्षर कहा है।[1226] बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य गार्गी से कहते हैं कि उस अक्षर के प्रशासन में ही सूर्य और चन्द्रमा हैं।[1227]

विज्ञान और अनुभव एक दूसरे के पर्याय को पूर्ण करते है। स्पन्दन युक्त विज्ञान ही यह जगत् है और स्पन्दन रहित हो जाने पर यह विज्ञान ही ब्रह्म हो जाता है। महान् आत्माओं ने इस जगत् को विज्ञान का स्पन्दन बताया है। स्पन्दन, स्फुरण, तरंगित होना, वेव युक्त होना, आदि पर्यायवाची शब्द है। यह स्पन्दन माया के प्रभाव से मन में उत्पन्न होता है। जैसा कि माण्डूक्योपनिषद् में पहले कहा जा चुका है कि यह जगत् मन का स्पन्दन मात्र है।[1228] मन में जिस प्रकार का स्पन्दन उत्पन्न होता है संसार हमें उसी रूप में दिखायी देता है। ये दिखायी देने वाली सभी प्रकार की वस्तुएँ मन का स्पन्दन मात्र हैं। मन के स्पन्दन में अन्तर होने से वस्तुओं में भेद दिखायी देता है। माण्डूक्योपनिषद् में कहा गया है कि विज्ञान का स्फुरण ही ग्रहण और ग्राहक आदि रूपों में भासमान् हो रहा है।[1229] वस्तुतः यह विज्ञान स्वभाव से स्पन्दन रहित है, अज और आभास शून्य है। फिर

[1223] तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् -बृ.उ.4.4.16
[1224] भग.गी.11.18
[1225] कठ.उ.2.16, शा.भा
[1226] अक्षरं ब्रह्म परमं-भग.गी.8.3
[1227] तस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि-बृ.उ.3.8.9
[1228] चित्तस्पन्दितमेवेदं...। -मा.उ.4.72
[1229] ग्रहण ग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा। -वहीं,4.47

भी माया के कारण उसमें स्पन्दन दिखायी देता है। शंकराचार्य ने इस स्पन्दन के प्रति अविद्या को कारण माना है।[1230]

वस्तुतः इस स्पन्दन को भी हम समष्टि और व्यष्टि के भेद से दो रूपों में देख सकते हैं। समष्टि स्पन्दन ईश्वर के मन का होता है, जो कि कारण रूप शरीर में वास करता है। ईश्वर के मन का स्पन्दन ही सम्पूर्ण जगत् है, जो कि सबके लिए एक समान होता है। इसीलिए एक वृक्ष को सभी मनुष्य वृक्ष ही समझते हैं। दूसरा व्यष्टि मन का स्पन्दन है, जो प्रत्येक प्राणी में भिन्न-भिन्न होता है। मेरे मन का स्पन्दन दूसरे प्रत्येक प्राणी के मन के स्पन्दन से भिन्न है। जगत् का कुछ अंश सबके लिए होता है। कुछ अंश व्यक्तिगत सोच पर निर्भर करता है। जो अंश सबके लिए होता है, वह सब ईश्वर के मन की वृत्ति है। जो व्यक्तिगत है, वह सब व्यक्तिगत मन की वृत्ति है। ओशो रजनीश के मत में संसार भौगोलिक तल पर एक ही है, लेकिन मनोवैज्ञानिक तल पर उतने ही संसार हैं, जितने मन हैं।[1231] आत्मज्ञान की प्रक्रिया व्यक्तिगत मन की वृत्ति है। इसीलिए एक पुरुष को आत्मज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी सबको आत्मज्ञान नहीं हो जाता है। एक पुरुष के विक्षिप्त हो जाने पर सभी पुरुष विक्षिप्त नहीं हो जाते हैं। अतः इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रत्येक पुरुष में व्यष्टि मन निवास करता है। व्यष्टि मन को अविद्या प्रभावित करती है। जबकि समष्टि मन माया से प्रभावित होता है। माया और अविद्या एक ही अज्ञान के दो नाम है। अज्ञान इन दोनों में सामान्य है। समष्टि अज्ञान की संज्ञा माया तथा व्यष्टि अज्ञान की संज्ञा अविद्या है। माया शुद्ध सत्त्व प्रधान है तो अविद्या मलिन सत्त्व प्रधान है। माया सृष्टि में एक है, जबकि अविद्या सृष्टि में अनन्त है। माया से उपहित चैतन्य ईश्वर है। अविद्या से उपहित चैतन्य जीव है।

छान्दोग्य उपनिषद् में एक सत्यकाम जाबाल आख्यान प्राप्त होता है। जिसमें सत्यकाम नामक एक जिज्ञासु व्यक्ति ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करने की इच्छा से ऋषि गौतम के पास जाता है। किन्तु गोत्र का नाम ज्ञात न होने से ऋषि ने सत्यकाम जाबाल से उसका गोत्र पूछा। सत्यकाम जबाल ने सब कुछ सत्य कह दिया कि उसे उसका गोत्र ज्ञात नहीं है। अपनी माता की आज्ञा के अनुसार उसने सत्यकाम जाबाल नाम बता दिया। सत्य भाषण से प्रसन्न होकर गौतम ऋषि ने उसे अपने शिष्य के रूप में स्वीकार कर लिया।

[1230] स्पन्दितामव स्पन्दितमविद्यया। -वहीं,4.47, शां.भा.

[1231] तं.वि., विज्ञान भैरव तंत्र, पृ.133

ऋषि ने जाबाल को 400 बूढ़ी गायें दी और कहा कि जब ये गायें 1000 हो जायें तब आना। सत्यकाम गायों को लेकर वन में चला गया। जब 1000 गायें पूर्ण हो गयीं तब क्रमश: बृषभ, अग्नि, हंस और मद्गु आदि ने ब्रह्म के एक-एक पाद का उपदेश किया। ऋषभ ने सत्यकाम को ब्रह्म के एक पाद का उपदेश किया कि ब्रह्म का एक पाद प्रकाशवान् है। यह ब्रह्म चार पादों वाला है, पूर्वा दिक्कला, पश्चिमा दिक्कला, दक्षिणा दिक्कला, उत्तरा दिक्कला इन चार कलाओं से युक्त ब्रह्म का प्रथम पाद प्रकाशवान् नाम वाला है।[1232]

इस मन्त्र के द्वारा भी दिशाओं का प्रकाशवान् होना सिद्ध होता है। इस प्रकार ऋषभ के द्वारा सत्यकाम को ब्रह्म के एक पाद का उपदेश देने के उपरान्त अग्नि ने दूसरे पाद का उपदेश देना प्रारम्भ किया। अग्नि ने सत्यकाम को ब्रह्म के अनन्तवान् नामक पाद का उपदेश दिया। यह अनन्तवान् नामक पाद भी चार कलाओं वाला है। पृथिवी कला, अन्तरिक्ष कला, द्युलोक कला और समुद्र कला। ये अनन्तवान् नामक पाद की चार कलाएँ हैं। जो पुरुष ब्रह्म के इन चारों कलाओं से युक्त अनन्तवान् नामक पाद की उपासना करता है, वह अनन्तवान् हो जाता है।[1233] पुन: हंस ने तीसरे पाद का उपदेश दिया। ब्रह्म का यह तीसरा पाद अग्निकला, सूर्यकला, चन्द्रमा कला, विद्युत् कला से युक्त ज्योतिष्मान् नाम वाला है।[1234] इस प्रकार इन चारों कलाओं से युक्त ज्योतिष्मान् नाम वाले ब्रह्म के तृतीय पाद की उपासना करने वाला पुरुष ज्योतिष्मान् लोकों को जीत लेता है। हंस के द्वारा ब्रह्म के तृतीय पाद का उपदेश करने के उपरान्त मद्गु ने आयतनवान् नामक चतुर्थ पाद का उपदेश किया। इस पाद की भी चार कलायें हैं, प्राण कला, चक्षु कला, श्रोत्र कला और मन कला आदि।[1235] निष्कर्षत: ब्रह्म के चार पादों का प्रतिपादन है- प्रकाशवान्, अनन्तवान्, ज्योतिषवान् और आयतनवान्। इनमें से प्रकाशवान् और ज्योतिषवान् पाद प्रकाश से युक्त हैं।

[1232] प्राची दिक्कला,प्रतीची दिक्कला, दक्षिणा दिक्कला उदीची दिक्कला एष वै सोम्य चतुष्कल: पादो ब्रह्मण: प्रकाशवान्नाम। -छा.उ.4.5.2

[1233] पृथिवी कलान्तरिक्षं कला द्यौ: कला समुद्र कला एष वै सोम्य चतुष्कल: पादो ब्राह्मणो अनन्तवाननाम। -वहीं,4.6.3

[1234] अग्नि: कला सूर्य: कला चन्द्र: कला विद्युत् कलैष वै सौम्य चतुष्कल: पादो ब्रह्मणो ग्योतिषान्नाम्॥ -वहीं,4.7.3

[1235] प्राण: कला चक्षु: कला श्रोत्रं कला मन: कलैष वै सौम्य चतुष्कला: पादो ब्राह्मण आयतनवान्नाम। -वहीं,4.8.3

उपनिषद् में पर और अपर के भेद से ब्रह्म को दो प्रकार का माना गया है। अपर-ब्रह्म नाम, रूप आदि विकारों से युक्त है। दूसरा इन सभी विकारों और उपाधियों से शून्य निर्गुण रूप है। अज्ञान की अवस्था में सभी जीव अपर ब्रह्म की अवस्था में होते हैं, जो कि भेद पर आधारित होता है। जीवात्मा भेद को देखता है। किन्तु परब्रह्म को प्राप्त हो जाने पर जीवात्मा अभेद को देखने लगता है। उसके लिए सब कुछ ब्रह्ममय हो जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में ऋषि लिखते है कि *'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत् केन कं पश्येत्'।*[1236]

ज्ञानयज्ञ को सभी प्रकार के द्रव्ययज्ञों से श्रेष्ठता प्रदान की गयी है; क्योंकि द्रव्ययज्ञों से जो फल प्राप्त होता है, वे सभी फल ज्ञानयज्ञ से स्वयमेव प्राप्त हो जाते है। इस विषय में शंकराचार्य एक उदाहरण देते हैं। उनके अनुसार चौपड़ के खेल में कृतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग, कलियुग नामक चार पासे होते हैं। अनमें से सर्वश्रेष्ठ कृतयुग पासे को जीत लेने पर सभी पासे स्वयमेव जीत लिये जाते हैं। इसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मविद्या रूप ज्ञानयज्ञ से सभी यज्ञों का फल स्वयमेव प्राप्त हो जाता है।[1237]

लौकिक और पारमार्थिक दृष्टि से यज्ञ को दो रूपों में देखा जा सकता है। देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ। लौकिक पुरुषों के द्वारा देवताओं के लिए किया गया यज्ञ देवयज्ञ है। देवयज्ञ में देवता, उद्देश्य, हवि और यज्ञकर्ता का भेद वर्तमान रहता है। किन्तु ब्रह्मयज्ञ, जो कि ब्रह्मविद पुरुषों के द्वारा सम्पादन किया जाता है। उसमें यज्ञकर्ता, हवि, अग्नि देवता आदि का भेद नहीं होता है। आत्मवित् पुरुष तो आत्मा में ही आत्मा के द्वारा हवन किया करता है।[1238]

उपनिषद् में कई जगहों पर ज्योति शब्द का भी प्रयोग हुआ है। जैसे छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है- *'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनन्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः'।*[1239] अर्थात् संसार से परे सभी प्राणि वर्ग से ऊपर, सभी लोकों के ऊपर तथा उत्तम लोकों में जो ज्योति प्रकाशित होती है। इस मन्त्र में ज्योति को उत्तम लोकों का प्रकाश कहा गया है

[1236] बृ.उ.4.5.15

[1237] भग.गी.4.33

[1238] देवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते। ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति। -वहीं,4.25

[1239] छा.उ.13.7

और द्युलोक प्राणिवर्ग आदि निम्नलोकों से परे दिखाया गया है। यहाँ निम्नलोक से तात्पर्य है कि उन्नत लोकों जिसमें ब्रह्मज्योति प्रकाशित होती है, उसकी अपेक्षा निम्न होना। प्रश्न है कि इन उपनिषदों में जो ज्योति शब्द का प्रयोग हुआ है। उस ज्योति शब्द से सूर्य का बोध होता है अथवा परमात्मा का बोध होता है। ब्रह्मसूत्रकार ज्योति शब्द का अर्थ परमात्मा मानते हैं। इस विषय में प्रमाण उद्धृत करते हुए लिखा है कि परमात्मा के चार चरणों का उल्लेख होने से; क्योंकि श्रुति में एक मन्त्र प्राप्त होता है- *'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'।*[1240] अर्थात् यह सम्पूर्ण विश्व उस परमात्मा का एक चौथाई भाग है, शेष तीन भाग द्युलोक में स्थित है।[1241] इस प्रकार आचार्य शंकर ज्योति शब्द को ब्रह्म का लिंग मानते हैं। उपर्युक्त मन्त्र में परमात्मा को इस विश्व का तीन गुना अधिक बताया गया है। ऐसा कहने का तात्पर्य केवल श्रेष्ठता दिखाना है। शब्दशः ब्रह्म को विश्व का तीन गुना परिमाण मानने का तात्पर्य है ब्रह्म को सीमित करना। किन्तु ब्रह्म असीमित है। जैसे *'सत्यम् ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'*[1242] आदि श्रुति से ब्रह्म के असीमित होने का ज्ञान होता है।

शरीर के किसी अंश विशेष में ब्रह्म की भावना रखकर ब्रह्म से एकीभाव प्राप्त करने के लिये प्रयास करना ही अध्यात्म ब्रह्म की उपासना है। उपासना का अर्थ है कि किसी तत्त्व पर मन को एकाग्र करना। उपनिषद् के ऋषियों ने मन को ब्रह्म के रूप में उपासना करने का उपदेश किया है; क्योंकि मन सूक्ष्मता और गति की शीघ्रता आदि की दृष्टि से ब्रह्म से किञ्चित समानता रखता है।[1243] ब्रह्म को चार पादों वाला बताया गया है, जिसमें कहा गया है कि यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का एक पाद मात्र है और शेष तीन पाद अमृत के रूप में द्युलोक में विद्यमान् है।[1244] अत: जो पुरुष ब्रह्म की अध्यात्म उपासना करना चाहता है, उसे मन को ब्रह्म मानकर उपासना करनी चाहिए। उसे मन: संज्ञक ब्रह्म में भी चार पादों की कल्पना करनी चाहिए। उन चार पादों में वाक् को प्रथम पाद, प्राण को द्वितीय पाद, चक्षु और श्रोत्र को क्रमश: तृतीय एवं चतुर्थ पाद के रूप में जानना चाहिये। इन सबको पाद इसलिए कहा जाता है; क्योंकि मन इन्हीं के द्वारा अपने गन्तव्य विषय के

[1240] ऋ.सं.10.90.3

[1241] ज्योतिश्चरणाभिधानात्। -ब्र.सू.1.1.24

[1242] तै.उ.2.1.2

[1243] मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्मम्। -छा.उ.3.18.1

[1244] पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्तामृतं दिवि-ऋ.सं.10.90.3

पास गमन करता है। जैसे गाय अपने पादों के द्वारा इष्ट स्थान को गमन करती है। वैसे मन: संज्ञक ब्रह्म वाणी के द्वारा वक्तव्य विषय पर ठहरता है। प्राण भी उसके पाद के समान है; क्योंकि प्राण (घ्राण) के द्वारा गन्ध विषय तक गमन करता है। चक्षु पाद के द्वारा रूप विषय तक गमन करता है। श्रोत्र पाद के द्वारा शब्द विषय को प्राप्त करता है।[1245]

ऋषि कहते हैं कि वाक् ही ब्रह्म का चौथा पाद है। यह पाद अग्नि रूप तेज से दीप्त होता है और तपता है; क्योंकि तैल, घृत आदि तेजोमय पदार्थों के भक्षण से वाक् प्रकाशित होती है, और बोलने के लिये उत्साह युक्त होती है।[1246] इस प्रकार वाक् की मन: संज्ञक ब्रह्म के पाद के रूप में उपासना करने वाले पुरुष कीर्ति, यश और ब्रह्मतेज को प्राप्त करता है। इसी प्रकार प्राण को मनोमय ब्रह्म का चौथा पाद कहा गया है, जो कि वायु रूप ज्योति से प्रकाशित होता है और तपता है।[1247] यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि वायु को भी एक ज्योति बतायी गयी है, जिससे प्राण का प्रकाशन होता है और वायु से प्राण तपता है। इस प्रकार प्राण को ब्रह्म का दूसरा पाद मानकर जो उपासना करता है। वह भी कीर्ति, यश तथा ब्रह्मतेज से युक्त होता है। पुन: चक्षु ही ब्रह्म का तीसरा पाद है, जो आदित्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है और तपता है।[1248] पुन: ब्रह्म के चतुर्थपाद के रूप में श्रोत्र को निर्दिष्ट किया गया है। मनोमय ब्रह्म का यह पाद दिशा रूप ज्योति से प्रकाशित होता है और तपता है।[1249] इस मन्त्र के आधार पर कहा जा सकता है कि श्रोत्र रूप पाद को प्रकाशित करने तथा तपाने के कारण दिक् भी प्रकाश है। इस प्रकार वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत्र रूप चारों पादों से युक्त मन: संज्ञक ब्रह्म की उपासना करने वाला पुरुष कीर्ति, यश और ब्रह्म संज्ञक तेज से प्रकाशित होता है।

प्रश्नोपनिषद् के छठे प्रश्न के अन्तर्गत ऋषि ने ब्रह्म की 16 कलाओं का उल्लेख किया है। वे कलाएँ हैं- प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम। इन सबको कला इसलिए कहते हैं; क्योंकि इनसे ब्रह्म का

[1245] छा.उ.3.18.3, शां.भा.

[1246] वागेवब्राह्मणश्चतुर्थ: पाद:। सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा च ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद॥ -वहीं,3.18.3

[1247] प्राण एव ब्राह्मणश्चतुर्थ: पाद:। स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च। -वहीं,3.18.4

[1248] चक्षुरेव ब्राह्मणश्चतुर्थ: पाद:। स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च। -वहीं,3.18.5

[1249] श्रोत्रमेव ब्राह्मणश्चतुर्थ: पाद:। स दिग्भि: ज्योतिषा भाति च तपति च। -वहीं,3.18.6

वास्तविक स्वरूप ढका हुआ है। कला शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जा सकती है- *'कं ब्रह्म लीयते आच्छाद्यते यया सा कला'।*[1250] अर्थात् जिसके द्वारा ब्रह्म लीन अर्थात् ढका हुआ है। उसे कला कहते हैं।

एक साधारण सा प्रश्न बनता है कि दो भिन्न परिमाण वाले जीवों में क्या चेतना का परिमाण भी भिन्न होता है? अथवा एक जैसा होता है। पूर्णता की दृष्टि से यह कहना ठीक है कि जितनी चेतना एक हाथी के शरीर में होती है। उतनी ही चेतना चींटी के शरीर में होती है; क्योंकि ईशोपनिषद् के शांति मन्त्र में परमात्मा को पूर्ण बताया गया है-

ॐ पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥[1251]

इससे पता चलता है कि ब्रह्म चींटी में भी अपनी पूर्णता में होता है और हाथी में भी पूर्ण ही होता है। किन्तु चींटी में स्थित परमात्मा एक छोटे से शरीर को प्रकाशित करता है और हाथी के विशाल शरीर को प्रकाशित करता है। इस प्रकार प्रकाशित करने की दृष्टि से किञ्चित अन्तर अवश्य होता है। यही बात श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी कही गयी है- *'यथा निकायं सर्वभूतेषु गूढम्'।*[1252] अर्थात् जो समस्त प्राणियों में उनके शरीर के अनुसार छिपा हुआ है। इससे पता चलता है कि प्राणियों में स्थित परमात्मा उस प्रकाश स्रोत के समान होता है, जो जिस कक्ष में स्थित होता है, उसी का रूप धारण कर लेता है। जैसे एक विद्युत् बल्ब छोटे कमरे में स्थित होने पर छोटे कमरे को प्रकाशित करता है और बड़े कमरे में स्थित होने पर बड़े कमरे को प्रकाशित कर देता है। उसी प्रकार यह चेतना भी छोटे शरीर को और बड़े शरीर को बराबर प्रकाशित करती है।

इस जगत् में प्रकाश स्रोत के रूप में सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, विद्युत्, तारे, नक्षत्र आदि प्रसिद्ध हैं। सूर्य दिन में जगत् को प्रकाश, ऊष्मा, प्राण आदि देता है। रात्रि में चन्द्रमा प्रकाश, शीतलता तथा प्राणादि देता है। अग्नि से भी ऊष्मा प्रकाश की प्राप्ति होती है। इसलिए इन्हीं प्रकाश स्रोतों से संसार को प्रकाश की प्राप्ति होती है। ये सभी प्रकाश स्रोत स्वयं का ज्ञान कराते हैं और परायी वस्तु का ज्ञान भी इन्हीं से होता है। इसलिए प्रकाशक भी कहे

[1250] श्वे.उ.1.4, शां.भा.
[1251] ईशा.उ.शान्तिमन्त्र
[1252] श्वे.उ.3.7

जाते हैं। इन सभी प्रकाश स्रोतों में अधिकता और न्यूनता भी पायी जाती है। जैसे अग्नि से अधिक प्रकाशमान् विद्युत् होता है। विद्युत् से अधिक प्रकाशमान् चन्द्रमा है। चन्द्रमा से अधिक प्रकाशमान् सूर्य है। इसलिए सूर्य का प्रकाश चन्द्रमा के प्रकाश को पराभूत कर देता है। चन्द्रमा का प्रकाश तारों के प्रकाश को तथा विद्युत् का प्रकाश अग्नि के प्रकाश को पराभूत कर देता है। इसी प्रकार इसके विपरीत भी समझना चाहिए कि अग्नि का प्रकाश विद्युत् के प्रकाश से परभूत हो जाता है। विद्युत् का प्रकाश चन्द्रमा के प्रकाश से पराभूत हो जाता है और चन्द्रमा का प्रकाश सूर्य के प्रकाश से पराभूत हो जाता है। सबसे अधिक प्रकाशमान् सूर्य है। किन्तु श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि का मानना है कि ब्रह्म का प्रकाश सूर्य के प्रकाश से भी अधिक तेजस्वी है; क्योंकि ब्रह्म के प्रकाश के सम्मुख सूर्य का प्रकाश भी पराभूत हो जाता है।

उस ब्रह्म का प्रकाश ही सभी प्रकाश स्रोतों का कारण है। अन्य प्रकाश स्रोत कार्य होने से अपने कारण रूप अधिष्ठान को प्रकाशित नहीं कर सकते हैं। इसलिए यही समझना चाहिए सूर्य, चन्द्र विद्युत् आदि में जो प्रकाश होता है। वह उनका अपना प्रकाश नहीं है। बल्कि ब्रह्म के प्रकाश से ही प्रकाशित होते हैं।[1253]

यहाँ सूर्य का प्रकाश कार्य है और ब्रह्म का प्रकाश कारण है। कारण से कार्य प्रकाशित हो रहा है; क्योंकि कारण से ही कार्य का अस्तित्त्व होता है, न कि कार्य से कारण का अस्तित्त्व। इससे ज्ञात होता है कि कारण से कार्य सत्तावान् होता है, न कि कार्य की सत्ता से कारण की सत्ता होती है। अत: कारण कार्य को प्रकाशित करता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में ब्रह्म को कलाहीन कहा गया है।[1254] इसके पूर्व परमात्मा को प्राणादि 16 कलाओं से युक्त बताया गया है। इससे ज्ञात होता है कि 16 कलाओं से युक्त ईश्वर को कहा गया है। ब्रह्म समस्त कलाओं से रहित है।

ब्रह्म की प्रकाशात्मक स्थिति को धूमादि से शून्य अग्नि के समान बताया गया है। जैसे धूमादि के रहने पर अग्नि कभी प्रकाशित होती है तो कभी धूमादि से आवृत्त हो जाती है। किन्तु धूमरहित हो जाने पर वही अग्नि नित्य रूप से प्रकाशमान् रहती है। उसी प्रकार

[1253] न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भाति कुतोऽयमग्नि:। तमेवभान्तं अनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ -वहीं,6.14

[1254] वहीं,6.19

ब्रह्म भी नित्य प्रकाशमान् रहता है। जिसमें अविद्यादि धूएँ का लेशमात्र नहीं होता है।[1255]

परमात्मा ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया। तदनन्तर ब्रह्मा को वेदों का ज्ञान दिया। ये सभी वेद सृष्टि विज्ञान हैं। वैदिक मन्त्र छन्दोबद्ध हैं। इनमें गायत्री छन्द को प्रमुख माना गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में कार्यब्रह्म को गायत्री छन्द प्रतिपादित कहा गया है।[1256] इस गायत्री के द्वारा कथित कार्यब्रह्म को एक पाद के बराबर बताया गया है। अर्थात् यदि ब्रह्म को एक मान लिया जाय तो यह सम्पूर्ण भू:, भुव:, स्व: आदि 14 लोक ब्रह्म के एक चौथाई भाग के बराबर हैं, जबकि तीन चौथाई भाग प्रकाश के रूप में स्थित है।[1257] यद्यपि यहाँ त्रिपाद के द्वारा प्रकाश ब्रह्म को सीमित कर दिया गया है। किन्तु यह प्रकाशमय ब्रह्म अनन्त है। वह कार्यब्रह्म को उत्पन्न करने के बाद भी पूर्ण है। यह कार्यब्रह्म उस पूर्ण ब्रह्म से उत्पन्न होकर भी स्वरूपत: पूर्ण है।[1258]

ब्रह्म यद्यपि निर्गुण है। वह सभी विशेषताओं से रहित है; क्योंकि वह अद्वैत है। अद्वैत में भेद विद्यमान् न होने से विशेषण-विशेष्य भाव नहीं बन सकता है। फिर भी मनुष्य की सीमित बुद्धि को ध्यान में रखते हुए व्यवहारिक दृष्टि से ब्रह्म को अनेक विशेषताओं से युक्त बताया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्म को मनोमय कहा गया है; क्योंकि पुरुष जैसा मनन करता है, वैसा ही होता है। मन के प्रवृत्त होने पर पुरुष प्रवृत्त होता हुआ सा दिखायी देता है और निवृत्त होने पर पुरुष भी निवृत्त होता दिखायी देता है। अत: पुरुष का मनोमय होना सिद्ध होता है। शरीरस्थ पुरुष प्राणशरीर भी है। शंकराचार्य ने लिंग शरीर को प्राण कहा है। यह प्राण ही जिसका शरीर है, वह प्राण शरीर है।[1259]

प्रकाश ही जिसका स्वरूप है, वह प्रकाशस्वरूप है। उसका संकल्प सत्य होने से वह सत्यसंकल्प है। जिसका स्वरूप आकाश के समान सूक्ष्म और व्यापक है, वह आकाशात्मा है। ईश्वर के द्वारा सम्पूर्ण जगत् का निर्माण किया जाता है। इसलिए वह सर्वकर्मा है;

[1255] दग्धेन्धनमिवानलम्। -वहीं,6.19

[1256] ब्रह्म गायत्र्यनुगतं गायत्रीमुखेनोक्तमृचापि मन्त्रेणाभ्यनूक्तं प्रकाशितम्। -छा.उ.3.12.5

[1257] तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पुरुष:। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्य अमृतं दिवि इति। -वहीं,3.12.6

[1258] ईशा.उ.शान्तिमन्त्र

[1259] मनोमय: प्राणशरीरनेता। -मु.उ.2.2.7

क्योंकि यह जगत् ही उसका कर्म है। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी उसे सम्पूर्ण जगत् का कर्ता बताया गया है।[1260] इसी प्रकार वह ब्रह्म सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस भी है।[1261]

अद्वैतवेदान्त का वस्तु एक ऐसी वस्तु है। जिसकी तुलना किसी भी सांसारिक वस्तु से नहीं की जा सकती है। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो परमात्मा के समान हो। परमात्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और बृहत् से भी बृहत् है। व्यवहार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं दिखता है। जिसमें परस्पर विरोधी दोनों गुण विद्यमान् हों। लौकिक वस्तुएँ या सूक्ष्म होती हैं या महत् होती हैं। जैसे धान, यव, सरसो सूक्ष्म ही होती हैं। इनमें महत् का गुण नहीं पाया जाता है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक आदि में महत् गुण होता है। इनमें सूक्ष्मता का गुण नहीं होता है। किन्तु ब्रह्म ऐसा है कि वह सूक्ष्म भी है और महत् भी है। सूक्ष्म भी इतना है कि सबसे अधिक सूक्ष्म। उससे अधिक सूक्ष्म कुछ है ही नहीं। महत् इतना है कि उससे अधिक महत् अन्य कुछ भी नहीं है।[1262]

गार्ग्य ने पुन: कहा कि यह जो आत्मा में पुरुष है। मैं उसी की ब्रह्म के रूप में उपासना करता हूँ। अजातशत्रु ने कहा- यह ब्रह्म 'आत्मन्वी' नाम वाला है। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह आत्मन्वी होता है।[1263] आचार्य शंकर के मत में आत्मा में, बुद्धि में और हृदय में एक ही देवता निवास करता है।[1264]

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि गार्ग्य ने काशीराज अजातशत्रु के प्रति जो उपदेश किया वह अवश्य ही एक ब्रह्मज्ञानी पुरुष का लक्षण है कि वह प्रत्येक वस्तु के आधार के रूप में चेतन ब्रह्म को देखता है। किन्तु उपदेश के द्वारा ब्रह्म को सीमित कर देना किसी ब्रह्मज्ञानी पुरुष का लक्षण नहीं हो सकता। एक ब्रह्मज्ञानी पुरुष किसी पुरुष के सम्मुख ब्रह्मज्ञानी होने का दावा नहीं कर सकता। जैसा कि केनोपनिषद् में कहा गया है कि जो जानता है, वास्तव में वह ब्रह्म को नहीं जानता है।[1265] अर्थात् ब्रह्मज्ञानी पुरुष ब्रह्मज्ञानी

[1260] स हि सर्वस्य कर्ता। -बृ.उ.4.4.13
[1261] छा.उ.3.14.2
[1262] वहीं,3.14.3
[1263] बृ.उ.2.1.13
[1264] आत्मनि प्रजापतौ बुद्धौ च हृदि चैका देवता। -वहीं,2.1.13, शां.भा.
[1265] केन.उ.2.3

होने का दावा नहीं कर सकता है। फिर भी गार्ग्य के उपदेश को निष्कर्ष रूप में इस प्रकार दर्शाया जा सकता है।

गार्ग्य का मत	अजातशत्रु का मत	शंकराचार्य का मत
आदित्य	अतिक्रमण करके स्थित होना, समस्त भूतों का मस्तक एवं राजा	आदित्य और चक्षु का एक देवता
चन्द्रमा	शुक्ल वस्त्रधारी सोमराजा	चन्द्रमा और मन का एक देवता
विद्युत्	तेजस्वी	विद्युत्, त्वक्, हृदय में एक देवता
आकाश	अप्रवर्ति	आकाश, हृदयाकाश, हृदय में एक देवता
वायु	इन्द्र, वैकुण्ठ, अपराजिता सेना	वायु, प्राण, हृदय में एक देवता
अग्नि	विषासहि	अग्नि, वाक्, हृदय में एक देवता
जल	प्रतिरूप	जल, वीर्य, हृदय में एक देवता
आदर्श	रोचिष्णु	स्वच्छ दर्पण, खड्ग, शुद्ध हृदय
दिक्	अनपग	दिशा, कर्ण, हृदय में अश्विनौ
छाया	मृत्यु	बाह्यान्धकार, शरीर में आवरण रूप अज्ञान एवं हृदय में एक ही देवता
आत्मा (शरीर)	आत्मन्वी	प्रजापति, बुद्धि, हृदय

इस प्रकार गार्ग्य ने काशीराज अजातशत्रु के प्रति एकादश देवताओं का ब्रह्म के रूप में प्रतिपादन किया। अजातशत्रु के मत में गार्ग्य ने केवल अविद्यान्तरवर्ती ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया है, जो कि परब्रह्म का द्वार मात्र है। वास्तविक परब्रह्म इससे परे है।

याज्ञवल्क्य ने गार्गी से कहा कि अक्षर के ही प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा विशेष रूप से धारण किये हुए हैं। द्युलोक और पृथिवीलोक का भी आधार वही है। उस अक्षर के प्रशासन में ही निमेष, मुहूर्त, दिन, रात्रि, अर्धमास, ऋतु, संवत्सर आदि रहते हैं। अक्षर

के नियन्त्रण में सभी नदियाँ प्रवाहित होती हैं।[1266] इससे स्पष्ट होता है कि एक अक्षर ब्रह्म ही सभी पदार्थों में समाविष्ट होकर नियमित करता है। इस अक्षर ब्रह्म के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा कि यह ब्रह्म दृष्टि का विषय न होकर भी द्रष्टा है। श्रवण का विषय न होकर भी श्रोता है। मनन का विषय नहीं है फिर भी मन्ता है। यह किसी भी साधन से नहीं जाना जा सकता है। फिर भी वह सबको जानने वाला विज्ञाता है।[1267] पुरुष में जो इन्द्रिय शक्ति दिखायी देती है। देखने, सुनने, मनन करने की शक्ति दिखायी देती है। यह शक्ति वास्तव में परमात्मा की ही शक्ति है। दर्शन, श्रवण, मनन, विज्ञान आदि उस परमात्मा की विशेषताएँ नहीं अपितु वह स्वरूपत: ही है।[1268]

पुन: राजा जनक ने विदग्ध शाकल्य के द्वारा कथित 'हृदय ब्रह्म है' ऐसा कहा। याज्ञवल्क्य ने कहा यह तो एक पाद वाला ब्रह्म है। हृदय ही जिसका आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है। स्थिति के रूप में इसकी उपासना करनी चाहिए। आचार्य शंकर ने भाष्य करते हुए लिखा है कि हृदय ही समस्त भूतों का आयतन है। नाम, रूप, कर्मात्मक भूत हृदय के ही आश्रित हैं। अत: यह हृदय ही समस्त भूतों की प्रतिष्ठा है।[1269] इस प्रकार शिलिन के पुत्र जित्वा (वाक्), शुल्ब के पुत्र उदङ्ग (प्राण), वृष्ण के पुत्र वर्कु (चक्षु), भारद्वाज गोत्र उत्पन्न गर्दभी विपीत (श्रोत्र), जबाला के पुत्र सत्यकाम (मन) और विदग्ध शाकल्य (हृदय) के द्वारा किए गये उपदेश को राजा जनक ने याज्ञवल्क्य के सम्मुख उपस्थित किया। याज्ञवल्क्य ने उन सबको ब्रह्म का एक ही पाद बताया और उन सबकी विस्तृत व्याख्या भी की। याज्ञवल्क्य ने वाक् की प्रज्ञा के रूप में, प्राण को प्रिय के रूप में, चक्षु को सत्य के रूप में, श्रोत्र को अनन्त के रूप में, मन का आनन्द के रूप में तथा हृदय का स्थिति के रूप में उपासना करने के फल का भी उल्लेख किया।

उपनिषद् में ब्रह्मलोक को जाने के लिए अनेक मार्गों की चर्चा हुई है। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि जीव इन आदित्य रश्मियों के द्वारा ही ऊर्ध्व आक्रमण करता

[1266] एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत इत्यादि। -बृ.उ.3.8.9

[1267] तद् वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ। -वहीं,3.8.1 1

[1268] स्वयं श्रोतृ श्रुतिस्वरूपत्वात। -वहीं,3.8.1 1, शा.भा

[1269] वहीं,4.2.7, शा.भा

है।[1270] बृहदारण्यक उपनिषद् में देवमार्ग की चर्चा आयी है कि पुरुष सर्वप्रथम अर्चि को प्राप्त होता है। अर्चि से दिन को प्राप्त होता है।[1271] कौषीतकि में भी आया है कि वह देवयान मार्ग को प्राप्त करके अग्निलोक में आता है।[1272] बृहदारण्यक उपनिषद् में दूसरे स्थान पर कहा गया है कि पुरुष इस लोक से प्रयाण करने के बाद वायु देवता को प्राप्त होता है।[1273] इन सभी श्रुतियों से संशय होता है कि ब्रह्मलोक प्राप्ति के अनेक मार्ग हैं। इस संशय का निवारण करते हुए ब्रह्मसूत्रकार ने एक मार्ग की प्रतिष्ठापना की है।[1274] अर्थात् ब्रह्मज्ञानियों के लिए अर्चिरादि एक ही मार्ग का उल्लेख है, न कि अनेक मार्गों का उल्लेख। सभी श्रुतियाँ उसी एक ही अर्चि मार्ग का उल्लेख करती हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् में जो देवमार्ग का उल्लेख किया गया है कि ब्रह्मोपासक पुरुष सर्वप्रथम अर्चि के अभिमानी देवता को प्राप्त होता है। अर्चि से दिवस को, दिवस से शुक्लपक्ष को, शुक्लपक्ष से उत्तरायण मार्ग को, उत्तरायण से संवत्सर को फिर संवत्सर से आदित्य को प्राप्त होते हैं।[1275] इस देवमार्ग के क्रम में वायु के अभिमानी देवता का अन्तरभाव नहीं किया गया है। जबकि बृहदारण्यक उपनिषद् में वायु मार्ग का भी उल्लेख है।[1276] ऐसी स्थिति में संदेह होता है कि यह वायु मार्ग कोई भिन्न मार्ग है अथवा एक ही अर्चि मार्ग का अंश है। ऐसी स्थिति में ब्रह्मसूत्रकार ने स्पष्ट किया है कि यह वायु मार्ग भी अर्चि मार्ग का ही अंग है। जिसका अन्तर्भाव आदित्य से पूर्व और संवत्सर के बाद कर लेना चाहिए।[1277] छान्दोग्य उपनिषद् के एक अन्य मन्त्र में आदित्य से आगे का मार्ग उल्लिखित है कि आदित्य से चन्द्रमा को, फिर चन्द्रमा से विद्युत् देवता को प्राप्त होता है।[1278] विद्युत् से श्रेष्ठ वरुण को बताया गया है; क्योंकि वरुण जल का अधिपति है।

[1270] अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्व। -छा.उ.8.6.5

[1271] तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽह्। -वहीं,6.2.15

[1272] स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छत। -कौ.उ.13

[1273] यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति। -बृ.उ.5.18.1

[1274] अर्चिरादिना तत्प्रथिते। -वहीं,4.3.1

[1275] छा.उ.5.10.1-2

[1276] यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति। -बृ.उ.5.10.1

[1277] ब्र.सू.4.3.2, शां.भा.

[1278] आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतम्। -छा.उ.4.15.5

इसलिए यह समझना चाहिए कि ब्रह्मज्ञानी पुरुष विद्युत् लोक से वरुण लोक को जाता है।[1279]

अर्चि, दिन, शुक्लपक्ष आदि अचेतन हैं, जबकि इन सब में रहने वाला एक चेतन अधिष्ठातृ होता है। इन चेतन अधिष्ठातृ देवताओं का कार्य विद्वान् पुरुष को एक स्थान से दूसरे स्थान पहुँचाना होता है; क्योंकि यह कार्य जड़ विद्युत्, सूर्य आदि नहीं कर सकते हैं। चेतन देवता ही पहुँचाने का कार्य कर सकते हैं। इन सभी के अभिमानी देवता पुरुषाकार होते हैं। दिव्य होते हुए भी इनकी आकृति मानवाकार ही मानी गयी है।[1280] ये मानवाकार पुरुष ब्रह्मविद्या के उपासक पुरुष को ब्रह्मलोक को ले जाते हैं। पुन: संदेह होता है कि यह ब्रह्मलोक अद्वैत ब्रह्म है अथवा कार्य ब्रह्मा का लोक है। यदि अद्वैत ब्रह्म का लोक है तो उसकी सर्वव्यापकता का उल्लेख होने से कहीं अन्यत्र जाना ही नहीं बन सकता है। यदि यह माना जायेगा कि कार्य ब्रह्मा के लोक को प्राप्त होता है तो फिर पुरुष का पुनरावर्तन मानना पड़ेगा; क्योंकि अमृतलोक से अतिरिक्त सभी कार्य लोक (ब्रह्मा का लोक) पुनरागमन से युक्त हैं।

ऐसी स्थिति में यही मानना होगा कि ब्रह्मविद्या का उपासक पुरुष ब्रह्मा के लोक को जाकर फिर जन्म ग्रहण करेगा। जबकि श्रुति देवमार्ग का उल्लेख करके यही कहती है कि इस अर्चि मार्ग से जाने वाले पुरुष का पुनरागमन नहीं होता है। इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य बादरि ने कहा है कि जो पुरुष ब्रह्मा के लोक को प्राप्त होते हैं वे सभी ब्रह्म उपासक पुरुष प्रलय काल तक ब्रह्मलोक में ही रहते हैं। प्रलय होने पर ब्रह्मा के साथ वे भी परब्रह्म में विलीन हो जाते हैं।[1281] शंकराचार्य ने इस विषय में एक श्रुति का भी उल्लेख किया है, जिसमें कहा गया है कि प्रलयकाल में सभी शुद्ध बुद्धि वाले पुरुष ब्रह्मा के साथ परमपद में प्रवेश करते हैं।[1282] आचार्य बादरि ने जैमिनि के विचारों का उल्लेख किया है। जैमिनि ने भी स्वीकार किया है कि वे अमानव पुरुष ब्रह्मविद्या के उपासक को

[1279] तडितोऽधि वरुण: सम्बन्धात्। -ब्र.सू.4.3.3

[1280] वे.द.,गीता प्रेस, पृ.420

[1281] कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहात: परमभिधानात्। -ब्र.सू.4.3.10

[1282] ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचिरे। परस्यान्ते कृतात्मन: प्रविशन्ति परं पदम्॥ -ब्र.सू.4.3.11 शां.भा.,पृ.2479

ब्रह्म में ले जाते हैं।[1283] यहाँ ब्रह्म शब्द अपर ब्रह्म का बोधक है। किन्तु यह अपर ब्रह्म गौण होने से आलम्बन स्वरूप परब्रह्म का बोधक बनता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में जल ही था। यहाँ आप (जल) का तात्पर्य अग्नि होत्र आदि आहुति है। ये आहुतियाँ द्रव रूप होने के कारण जल के समान थी। अग्निहोत्रादि कर्म की समाप्ति के उपरान्त ये द्रव आहुतियाँ अव्यक्त रूप में विद्यमान् रहती हैं।[1284] अव्यक्त अग्निहोत्र आहुतियों से सत्य की उत्पत्ति हुई। इस सत्य ब्रह्म को प्रथमज सूत्रात्मा एवं हिरण्यगर्भ कहते हैं, जो कि व्यक्त रूप है। आचार्य शंकर के अनुसार अपनी महत्ता के कारण यह व्यक्त हिरण्यगर्भ ब्रह्म शब्द से बोधित है; क्योंकि यह सबका स्रष्टा है। इस सत्य से ही विराट् (प्रजापति) की उत्पत्ति हुई। पुन: प्रजापति ने देवताओं को उत्पन्न किया। इस प्रकार सबकी उत्पत्ति का कारण होने के कारण सत्य ही ब्रह्म है ऐसा श्रुति प्रतिपादित करती है।[1285]

एक साधारण सा प्रश्न बनता है कि प्रतीकों में आत्मभाव रखना चाहिए या नहीं। प्रतीक वह है जो किसी उत्कृष्ट वस्तु के लिए प्रयोग किया जाता है। उपनिषद् में कई स्थानों पर परब्रह्म के लिए अनेक प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में मन को ब्रह्म कहा गया है।[1286] अर्थात् मन की ब्रह्म के रूप में उपासना करना चाहिए। इसी प्रकार आकाश को ब्रह्म कहा गया है।[1287] आदित्य को ब्रह्म कहा गया है।[1288] यदि मन, आकाश और आदित्य ब्रह्म ही हैं तो इनमें आत्मभाव रखने में समस्या नहीं होनी चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है। ब्रह्म सूत्रकार इस पर आपत्ति उठाते हैं और प्रतीकों में आत्मभाव न रखने के सिद्धांत को पुष्ट करते हैं।[1289] अर्थात् प्रतीक में आत्मभाव नहीं रखना चाहिए; क्योंकि वह उपासक की आत्मा नहीं है। प्रतीक ब्रह्म का विकार होने से निकृष्ट है। जबकि

[1283] स एनान् ब्रह्म गमयति। -छा.उ.15.16

[1284] ता आपो बीजभूता जगतोऽव्याकृतात्मनावस्थिता: एवेदं सर्वं नामरूप विकृतं जगदग्र आसुर्नान्यत् किञ्चिद् विकारजातमासीत्। -बृ.उ.5.5.1, शां.भा.

[1285] आप एवेदमग्र आसुरता आप: सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म प्रजापति प्रजापतिर्देवांस्ते देवा: सत्यमेवोपासते। -वहीं,5.5.1

[1286] छा.उ.3.18.1

[1287] वहीं,3.18.1

[1288] वहीं,3.19.1

[1289] न प्रतीके न हि स:। -ब्र.सू.4.1.5

ब्रह्म सर्वोत्कृष्ट है। आचार्य कहते हैं कि उत्कृष्ट पदार्थ के लिए ही निकृष्ट पदार्थ को प्रतीक माना जाता है। निकृष्ट के लिए उत्कृष्ट को प्रतीक नहीं माना जाता है; क्योंकि निकृष्ट को प्रतीक मानने पर उसका उत्कर्ष होता है। जबकि उत्कृष्ट को निकृष्ट का प्रतीक मानने पर उसका अपकर्ष होता है। इसीलिए ब्रह्मसूत्रकार ने कहा है- *'ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्'*[1290] प्रतीक सीमित पदार्थ होता है। मन, आकाश, प्राण, आदित्य में आत्मभाव रखने पर उसी तत्त्व तक गति सम्भव होगी। उससे आगे गति होना असम्भव होगा। इसलिए आचार्य कहते हैं कि सीमित प्रतीकों जैसे मन, आकाश, प्राण, आदित्य, मूर्ति आदि सीमित पदार्थों में रहने वाले असीमित ब्रह्म की उपासना करना चाहिए; क्योंकि वह तत्त्व ही उपासक की आत्मा है।

श्रुति में ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं प्राप्त होता है जहाँ यह कहा गया हो कि ब्रह्म के किसी अंश विशेष को जान लिया गया है; क्योंकि ब्रह्म निरवयव है। वह जितना भी है, जो भी है और जहाँ भी है वह पूर्ण है। इसलिए उसे अखण्ड कहा गया है;[1291] क्योंकि उसका कोई विभाग नहीं है। ऐसा नहीं है कि ब्रह्म का एक अंश आज जान लें दूसरा अंश कल और पूरा अंश किसी और दिन जान लें। यदि इस प्रकार का विभाग हो सके तो निश्चय ही उसे वाणी के द्वारा जाना जा सकता है। किन्तु वह ब्रह्म पूर्ण होने से वाणी के द्वारा नहीं जाना जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वाणी बहुत सारी पूर्ण वस्तुओं को जान जाती है। जैसे निरवयव इलेक्ट्रॉन को वाणी के द्वारा जाना जा सकता है। किन्तु ऐसा नहीं है। इलेक्ट्रॉन आदि भी अपूर्ण है। इलेक्ट्रॉन आदि सभी वस्तुएँ अपने भौतिक रूप में अपूर्ण हैं। जबकि पार्मार्थिक रूप में पूर्ण हैं।

इसलिए श्रुति में जहाँ भी ब्रह्म को प्राप्त करने का उल्लेख हुआ है। वहाँ एक वचन में ही प्रयोग हुआ है। इसलिए ब्रह्म को जानने वाले पुरुष को भेद की प्रतीति नहीं होती है। अत: उसे किसी से भय भी नहीं होता है। भय के लिए द्वैत होना जरूरी होता है। एक भयभीत करने वाला दूसरा भयभीत होने वाला। इसलिए द्वैतात्मक सत्ता में ही भय की प्रतीति होती है। यदि ब्रह्म का कोई अंश विशेष होता तो निश्चय ही पूर्ण या अंश शब्द का प्रयोग होता। श्रुति में ब्रह्म के लिए एक वचन का प्रयोग होने से उसकी अखण्डता का ही बोध होता है। उसे खण्डों में नहीं अपितु अखण्ड रूप में ही जाना जा सकता है। अखण्ड रूप में

[1290] ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्। -वहीं,4.1.5

[1291] अखण्डं सच्चिदानन्दं-वे.सा.1

ब्रह्म को जानने वाला पुरुष अखण्ड रूप ही हो जाता है। ब्रह्म के किसी अंश विशेष के विद्यमान् न होने के कारण भय की प्राप्ति नहीं होती है।[1292] इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भय का निमित्त भेद दर्शन है। अद्वैत में भेद की निवृत्ति हो जाने से भय का बीज ही नष्ट हो जाता है। जिससे भय का लेश मात्र भी नहीं होता है।

आनन्दमय कोश विज्ञानमय कोश का भी कारण है। इसलिए इसे विज्ञानमय कोश की आत्मा समझना चाहिए। विज्ञानमय कोश के पुरुषाकार होने से आनन्दमय कोश के भी पुरुषाकार होने की कल्पना की जाती है। अत: इस आनन्दमय कोश के अंगों का उल्लेख करते हुए तैत्तिरीयोपनिषद् में लिखा है कि प्रिय ही इस आनन्दमय कोश का सिर है। मोद दक्षिण पक्ष है। प्रमोद उत्तर पक्ष है। आनन्द आत्मा है और ब्रह्म इसका पुच्छ या प्रतिष्ठा है।[1293]

कठोपनिषद् में एक स्थान पर भिन्न-भिन्न लोकों में आत्मा के दर्शन होने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। कठोपनिषद् ऋषि के मत में दर्पण और निर्मल बुद्धि में आत्मदर्शन एक जैसा होता है। वहीं स्वप्न में पुरुष अपने को जिस प्रकार देखता है उसी प्रकार वह पितृलोक में अपने को देखता है। इसी प्रकार जल और गन्धर्वलोक में भी आत्मदर्शन एक समान होता है। किन्तु ब्रह्मलोक में होने वाले आत्मदर्शन को अन्य तीनों से भिन्न दिखलाते हुए बताया गया है कि ब्रह्मलोक में आत्मदर्शन छाया और धूप (प्रकाश) की तरह स्पष्ट रूप में दिखायी देता है। दोनों की अनुभूति स्पष्ट रहती है।[1294]

5.6 जीव का स्वरूप निरूपण : आचार्य शंकर ने पारमार्थिक दृष्टि से भले हि ब्रह्म और जीव में अभेद स्वीकार किया हो लेकिन फिर भी लौकिक दृष्टि से दोनों में भेद तो है ही। पारमार्थिक दृष्टि से प्रत्येक वस्तु अद्वैत है। तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि किसी वस्तु का कथन ही न किया जाय। सभी वस्तुओं के लिए ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया जाये। इस विषय में किसी विद्वान् ने सही ही कहा है कि प्रत्येक शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची हैं; क्योंकि प्रत्येक शब्द पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म का ही कथन करते हैं। दूसरी दृष्टि से भी

[1292] आनन्दं ब्राह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन्। -तै.उ.2.9.1

[1293] तस्य प्रियमेव सिर:। मोदो दक्षिण: पक्ष:। प्रमोद उत्तर: पक्ष:। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा। - वहीं,2.5.1

[1294] कठ.उ.2.3.5

सही है कि कोई शब्द किसी का पर्यायवाची नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्येक शब्द एक विशिष्ट अर्थ को कहता है। जैसे पंकज और सरोज दो अर्थ को कहते है। पंकज शब्द 'कीचड़ में उत्पन्न हुए' अर्थ को कहता है और सरोज शब्द 'तालाब में उत्पन्न हुए' अर्थ को कहता है। इसलिए कोई शब्द एक दूसरे का पर्याय नहीं हो सकता है। इसी प्रकार लौकिक दृष्टि से जीव के स्वरूप पर विचार किया जा सकता है। लौकिक दृष्टि से जीव के स्वरूप पर विचार करते हुए आचार्य शंकर लिखते है कि दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान ये जीव के स्वरूप हैं।[1295] देखना, सुनना, सोचना, विचारना, स्मरण करना, जानना आदि विशेषताएँ शरीराभिमानी जीव में देखे जाते हैं। इसलिए इन विशेषताओं को जीव की विशेषताएँ समझनी चाहिए।

अद्वैतवेदान्त के अनुसार जीव परमात्मा का स्वरूप है। अनन्तकाल से यह जीव अज्ञान से परिच्छिन्न होकर अपने स्वरूप को भूला हुआ है। यह उसी प्रकार है जैसे सुवर्ण अपने स्वरूप को भूलकर दूसरे सुवर्ण की खोज करता है। इस विषय में कबीरदास जी कहते हैं कि 'कस्तूरी कुण्डल बसे मृग ढूढ़े वन माहि। ऐसे घट घट राम हैं दुनिया देखे नाहिं॥ तात्पर्य है कि जिस प्रकार कस्तूरी मृग की नाभि में ही होती है। किन्तु कस्तूरी सुगन्ध को प्राप्त करने के लिए हिरन वन-वन भटकता रहता है। उसी प्रकार जीवात्मा स्वत: आनन्द स्वरूप है। फिर भी वह आनन्द को प्राप्त करने के लिए तीर्थ, मन्दिर, मस्जिद भटकता है। अद्वैतवेदान्त के प्रतिपादक शंकराचार्य का मत है कि जीव और ब्रह्म में स्वरूपत: कोई अन्तर नहीं है। जीव ब्रह्म ही है।[1296]

परमार्थ से इतर अज्ञान की अवस्था में जीवात्मा की क्या स्थिति है? इस विषय में श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि यह जीवात्मा गुणों से सम्बद्ध है। फल प्रदान करने वाले कर्मों का कर्ता है। उस किए हुए कर्मफल का उपभोग करने वाला है। त्रिविध गुणों के अन्तर्गत होने से त्रिगुणमय है।[1297]

सामान्य रूप से पुरुष के शरीर में स्थित जीवात्मा को पुरुष मानकर सम्बोधन के लिए पुलिंग नामों का प्रयोग किया जाता है। स्त्री के शरीर में स्थित जीवात्मा को स्त्रीलिंग

[1295] दृष्टि श्रुतिमतिविज्ञातयो हि जीवस्य स्वरूपम्। -ब्र.सू.शां.भा.पृ.627

[1296] जीवोब्रह्मैव नापर:-वि.चू.अद्वैत आश्रम

[1297] गुणान्वयो य: फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्रणाधिप: संचरति स्वकर्मभि:। -श्वे.उ.3.7

नामों के द्वारा सम्बोधित किया जाता है। जैसे सम्बोधन से सम्बोधित किया जाता है। जीवात्मा भी अपने को उसी प्रकार के पुरुष और स्त्री के रूप में देखने लगता है। किन्तु पुरुष और स्त्रीत्व धर्म केवल शरीर के होते है। जीवात्मा के नहीं होते हैं। शरीर के धर्मों का जीवात्मा पर आरोप करके पुरुष और स्त्री के रूप में जाना जाता है-

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसक:।

यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्षते॥[1298]

व्यवहार में पुरुष शब्द का प्रयोग तथा दर्शन में प्रयुक्त पुरुष शब्द के प्रयोग में अन्तर है। व्यवहार में पुरुष शब्द का प्रयोग पुलिंग के अर्थ में होता है। जबकि दर्शन में पुरुष शब्द का प्रयोग चेतन परमात्मा के अर्थ में होता है। शंकराचार्य ने पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि'*पुरुष: पूर्णम् अनेन सर्वं इति पुरि शयनाद् वा पुरुष*'[1299] जो शरीर में शयन करता है या जो पूर्ण है, वह पुरुष है। इस प्रकार दर्शन में पुरुष शब्द का प्रयोग आत्मा के लिए होने से स्त्री और पुरुष दोनों के लिए समान रूप से होता है।

अद्वैतवेदान्त में जीव को व्यष्टि अज्ञान से उपहित बताया गया है। सर्वव्यापी परमात्मा ही जब शरीर, मन और बुद्धि से तादात्म्य करके अभिमानी हो जाता है तो जीव संज्ञा को प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में आचार्य शंकर जीव की परिभाषा इस प्रकार दी है- *'जीवो बुद्ध्याद्युपाधि परिच्छेदाभिमानी'।*[1300] कर्म का अभिमानी होने से कर्ता, सुख-दु:ख का अनुभव करने वाला होने से भोक्ता, पाप कर्म करने के कारण पापी, सीमित ज्ञान वाला होने से अल्पज्ञ तथा राग द्वेष से युक्त संसार में निमग्न रहने के कारण संसारी कहलाता है।

अध्यास भाष्य में आचार्य शंकर ने जीव को अध्यास जन्य आभास कहा है।[1301] उस जीव को उसके कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अभिमान से पहचाना जाता है। जीव के अभिमानी होने का कारण अविद्या है। अविद्या के बने रहने तक उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अभिमान

[1298] वहीं,5.10

[1299] भग.गी.8.4.शां.भा.

[1300] ब्र.सू.1.3.28,शां.भा. अद्वै.ऐ.वि.पृ.205 पर उद्धृत

[1301] ब्र.सू.प्रस्तावना, पृ.18, अद्वै.ऐ.वि.पृ.205 पर उद्धृत

बना रहता है। आचार्य अविद्या को अध्यास रूप मानते हैं।[1302] आत्मा यद्यपि शुद्ध, निर्विकार, सत् वस्तु है। उसमें किसी प्रकार का संसर्ग नहीं हो सकता है तथापि अध्यास के कारण संसर्ग हुआ सा दिखायी देता है। इस संसर्ग के आभास को ही जीव कहा जाता है। आचार्य शंकर के मत में जीव न तो आत्मा है, न आत्मा से इतर वस्तु है।[1303] अर्थात् आत्मा ही अनात्मा के गुणों को अपने पर अध्यारोपित करके अपने गुणों को भूलकर अनात्मा के गुणों से तादात्म्य करके जीव कहलाता है। इसे आचार्य शंकर द्वारा उद्धृत निम्नलिखित उदाहरण से सिद्ध किया जा सकता है कि जैसे स्थाणु में प्रतीत होने वाला पुरुष न तो स्थाणु होता है न ही स्थाणु से भिन्न होता है, अपितु स्थाणु पुरुष के गुणों से युक्त दिखायी देता है। ऐसा केवल द्रष्टा पुरुष के अज्ञान के कारण होता है।[1304]

आत्मबोध में आचार्य शंकर ने पुन: कहा है कि *'पंचकोशादियोगेन तत्तन्मय इव स्थित: शुद्धात्मा नीलवस्त्रादि योगेन स्फटिको यथा'*[1305] अर्थात् शुद्धात्मा पंचकोशादि के योग से तन्मय हो जाता है और उनके गुणों को उसी प्रकार ग्रहण कर लेता है जैसे नील वस्त्र के समीप पड़ा हुआ स्फटिक मणि वस्त्र के नीलत्व गुण को ग्रहण कर लेता है। विवेकचूड़ामणि में पुन: स्पष्ट करते हुए कहा गया है, *'भ्रान्त्या प्राप्तो जीवभावो न सत्यो, मोहापाये नास्त्यवस्तुस्वभावात्'।*[1306] *'रज्ज्वां सर्पो भ्रान्तिकालीन एव, भ्रान्तेर्नाशे नैव सर्पोऽपितद्वत्'॥*[1307] अर्थात् भ्रान्ति से जो जीवभाव की प्राप्ति हुई है, वह वास्तविक नहीं है; क्योंकि अवस्तु रूप वह जीवभाव मोह के दूर हो जाने पर नहीं रहता है। जैसे भ्रम की स्थिति में ही रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है। आचार्य जीवभाव की स्थिति को प्रतिबिम्ब के माध्यम से समझाने का प्रयास करते हैं *'घटोदके बिम्बितमर्कबिम्बमालोक्य मूढोरविरेव मन्यते। तथा चिदाभासं उपाधिसंस्थं भ्रान्त्याहमित्येव जड़ोऽभिमन्यते'॥*[1308] अर्थात् जिस प्रकार मूढ़ व्यक्ति घटजल में प्रतिबिंबित सूर्य को देखकर यह सूर्य है ऐसा मानता है उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष चिदाभास को अपना ही स्वरूप मान लेता है।

[1302] अध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यते। ब्र.सू.प्रस्तावना, पृ.12, अद्वै.ऐ.वि.पृ.205
[1303] न स एव साक्षात् नापि वस्त्वन्तरम्। ब्र.सू.2.3.51, पृ.532
[1304] स्थाणौ पुरुषवद् भ्रान्त्या क्रेता ब्रह्माणि जीवता। -आत्मबोध-45
[1305] वहीं, -15
[1306] वि.चू.193
[1307] वहीं,199
[1308] वहीं,220

ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो प्रकार की श्रुति प्राप्त होती है। एक मत में जीव की ब्रह्म से उसी प्रकार उत्पत्ति होती है जैसे अग्नि से विस्फुलिंग की उत्पत्ति होती है- *'अग्नेर्विस्फुलिंग वदेतस्मात्परमात्मनः। सर्वे जीवात्मनो व्युच्चरन्ति'॥*[1309]

इसके अतिरिक्त वहीं पर एक ऐसी श्रुति भी विद्यमान् है, जो जीव की अनुपपत्ति को सूचित करती है, *'स एव इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्य अज आत्मा'।*[1310] अर्थात् वह आत्मा इस शरीर में नखाग्र भाग तक प्रविष्ट हुआ है। इस विषय में आचार्य शंकर जीवोत्पत्ति विषयक श्रुति को शब्दत: नहीं स्वीकार करते हैं; क्योंकि ऐसा मानने पर अनेक श्रुतियों से विरोध होता है। वे कहते हैं कि अग्नि और विस्फुलिंग का दृष्टांत भी परमात्मा और जीवात्मा के एकत्व को प्रतिपादित करने के लिये है। अग्नि की चिन्गारियाँ अग्नि ही होती हैं।[1311] अर्थात् यह जीव भी परमात्मा की ही जाति वाला है। इस श्रुति के द्वारा ऋषि बताना चाहते हैं कि हे जीव! तुम अग्नि से विस्फुलिंग की भाँति अलग हुए हो।[1312] अत: इस विषय में यही समझने योग्य है कि उपाधि की उत्पत्ति से जीव की उत्पत्ति और उपाधि के प्रलय से जीव का प्रलय होता है।[1313]

परमात्मा से जीव की उत्पत्ति प्रक्रिया को एक दृष्टांत के माध्यम से बताया गया है कि जैसे महाकाश से घटाकाश बन जाता है। उसी प्रकार आत्मा से जीवात्मा बन जाता है।[1314] यह जीवात्मा शरीर के आश्रय से दिखायी देता है। घटाकाश के समान जीवात्मा भी स्वरूपत आत्मा ही है, जो अन्तकाल में आत्मा में ही विलीन हो जाता है।[1315] परमात्मा में सभी जीवात्माएँ महाकाश में घटाकाश के समान स्थित हैं। जैसे एक घटाकाश के धूमादि से व्याप्त हो जाने पर सभी घटाकाश धूम से युक्त नहीं हो जाते हैं। उसी प्रकार एक जीवात्मा के सुख दु:ख से युक्त होने पर सभी जीवात्माएँ सुखी दु:खी नहीं हो जाती हैं।[1316] रूप, कार्य और नामों के भेद से सभी घटाकाश अलग-अलग

[1309] बृ.उ.2.1.20
[1310] वहीं,1.4.7
[1311] बृ.उ.2.1.20, शां.भा. पृ.475
[1312] वहीं,पृ. 478
[1313] उपाध्युत्पत्या स्योत्पत्तिस्तत्प्रलये च प्रलय:।-ब्र.सू.2.3.17,शां.भा.,पृ.498
[1314] मा.उ.3.3
[1315] वहीं,3.4
[1316] वहीं,3.5

दिखायी देते हैं। किन्तु महाकाश में कोई भेद नहीं है। उसी प्रकार जीवात्माओं में भी अनेक भेद दिखायी देते हैं। किन्तु आत्मा में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है।[1317]

शांकर वेदान्त में किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है। उत्पत्ति विनाश केवल अविद्या के कारण प्रतीत होती है। परमार्थ की दृष्टि से ये सभी उत्पत्ति और विनाश आभास मात्र हैं। अविद्या के कारण उत्पत्ति विनाश के समान प्रतीति होते हैं। जीव का भी जन्म नहीं होता है। केवल व्यवहारिक दृष्टि से जीव होता है। परमार्थ की दृष्टि से यह जीव ब्रह्म ही है।[1318]

धर्मा य इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्त्वतः।

जन्म मायोपमं तेषां साच माया न विद्यते॥[1319]

ऋषि ने जीव के जन्म का कारण बताते हुए कहा है-*'अभूताभिनिवेशोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते'।*[1320] अभिनिवेश का अर्थ है आग्रह करना। असत्य के प्रति जो आग्रह है वही अभिनिवेश है। तात्पर्य है कि पुरुष द्वैत को ही सत्य मानता है। यदि वह द्वैत की निवृत्ति करके अद्वैत को सत्य माने और उसी प्रकार का आचरण भी करे तो निश्चय ही आत्म बोध हो सकता है और पुनर्जन्म से मुक्ति मिल सकती है।

अद्वैतवेदान्त में जीव को अणु रूप माना गया है। इस सम्बन्ध में अनेक श्रुति प्राप्त होती है- *'एवो पुरात्मा चेतसा वेदितव्यो, यस्मिन्प्राण: पंचवधा संविवेश'।*[1321] श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि केश के अग्रभाग के सौवें भाग के बराबर इस जीव का परिमाण समझना चाहिए।[1322] वहीं पर फिर कहा गया है कि जीव को आरे के अग्रभाग के परिमाण वाला देखा गया है।[1323] श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस जीवात्मा को अंगुष्ठ परिमाण बताया गया है। सूर्य के समान प्रकाशित होने वाला है। संकल्प और अहंकार से युक्त है। बुद्धि तथा शरीर के गुणों से युक्त है-

---

[1317] वहीं,3.6
[1318] ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः। -वि.चू.,अद्वैत आश्रम, मुख्यपृष्ठ
[1319] मा.उ.4.58
[1320] वहीं,4.75
[1321] मु.उ.3.1.9
[1322] वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीव: स विज्ञेय: स चानन्त्याय कल्पते। -श्वे.उ.5.9
[1323] आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः। - वहीं,5.8

अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूप: संकल्पाहंकारसमन्वितो य:।

बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्ट:॥[1324]

जीवात्मा की स्थिति मनुष्य शरीर के हृदय भाग में बताई गयी है। मनुष्य का हृदय अंगुष्ठ के आकार का होता है। सम्भवत: इसीलिए जीवात्मा को अंगुष्ठ परिमाण वाला बताया गया है। किन्तु विस्तार को प्राप्त होने पर अनन्त परिमाण वाला भी हो जाता है।[1325] बृहदारण्यक उपनिषद् के एक मन्त्र में जीवात्मा के प्रकाशरूपता और मनोमयत्व का उल्लेख करते हुए ब्रीहि और जौ के परिमाण वाला बताया गया है। यह सभी शरीरस्थ भेद समुदाय का शासक है।[1326]

आचार्य शंकर साक्षी के सम्बन्ध में बहुत मतभेद रखते हैं। उपनिषद् में साक्षी परमात्मा को कहा गया है। तो शंकर में उसका स्तर घटता दिखायी देता है और मधुसूदन सरस्वती तक पहुँचकर साक्षी शब्द उपाधिग्रस्त अज्ञानी जीव का पर्याय बन जाता है।[1327] उपनिषदों में साक्षी शब्द का प्रयोग केवल श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्राप्त होता है। तथापि साक्षी के पर्याय शब्दों जैसे द्रष्टा आदि का उल्लेख कई स्थानों पर प्राप्त होता है।[1328]

आचार्य शंकर यहाँ साक्षी शब्द का अर्थ सिर्फ द्रष्टा ही मानते हैं- सर्वेषां भूतानां साक्षी सर्वद्रष्टा। इस श्रुति के अनुसार प्राणियों के हृदय में वास करने वाला तथा उनके कर्मों का अध्यक्ष ही साक्षी है। वहीं पर एक दूसरी श्रुति में साक्षी शब्द का अर्थ 'देखने वाला' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्य नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥[1329]

[1324] वहीं,5.8

[1325] बालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च। भागो जीव: स: विज्ञेय: स चानन्त्याय कल्पते॥ - वहीं,5.9

[1326] मनोमयोऽयं पुरुष: भा: सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यतो वा स एष सर्वस्येशान: सर्वस्यधिपति: सर्वमिदं प्रशास्ति। -बृ.उ.5.6.1

[1327] अद्वै.ऐ.वि.पृ.217

[1328] एको देव: सर्वभूतेषु गूढ: सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्ष: सर्वभूताधिवास: साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ -श्वे.उ.6.11

[1329] वहीं,4.6

अर्थात् एक ही शरीर रूपी वृक्ष पर रहने वाले सुवर्णमय पक्षियों में से एक स्वादिष्ट फलों का उपभोग करता है और दूसरा न भोगते हुए भी देखता रहता है। इस प्रकार यहाँ पर भी साक्षी शब्द का अर्थ परमात्मा के अर्थ में किया गया है; क्योंकि उसके आगे वाले मन्त्र में सबको देखने वाले को 'ईश' शब्द से कहा गया है।[1330] इससे स्पष्ट होता है कि 'अभिचाकशीति' धातु ईश्वर के लिए ही है।

आचार्य शंकर ने अपनी रचनाओं में अनेक स्थानों पर साक्षी शब्द का प्रयोग किया है-

पञ्चनामपि कोशानां निषेधे युक्तित: श्रुते।

तन्निषेधावधि: साक्षी बोधरूपोऽवशिष्यते॥[1331]

अर्थात् श्रुति के अनुकूल युक्तियों से पंचकोशों का निषेध कर देने के पश्चात बोध स्वरूप जो शेष बचता है, वही साक्षी है। आचार्य के मत में अहंकार आदि का जिसके द्वारा अनुभव किया जाता है, और जो स्वयं किसी के द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता है, अपितु वह स्वयं स्वयं के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है, उसे ही साक्षी कहा गया है।[1332] भामतीकार वाचस्पति मिश्र चैतन्य को साक्षी कहते हैं और उसे उदासीन मानते हैं *'अन्त:करण प्रचार साक्षिणि चैतन्योदासीनताभ्यां'।*[1333] अर्थात् अन्त:करण की वृत्तियों का साक्षी चैतन्य है और वही उदासीन द्रष्टा होने के कारण साक्षी कहलाता है। आचार्य शंकर साक्षी को स्वयं सिद्ध मानते हैं, *'स्वयं सिद्धस्य च साक्षिणोऽप्रत्ययाख्येयत्वात्'।*[1334] अर्थात् साक्षी स्वयं सिद्ध है, उसका प्रत्याख्यान नहीं हो सकता है। विद्यारण्य ने साक्षी को कूटस्थ माना है, जो अन्त:करण की वृत्तियों का साक्षी है।[1335]

[1330] वहीं,4.7

[1331] वि.चू.212

[1332] वहीं,216,217,218

[1333] भा.टी.पृ.45

[1334] ब्र.सू.2.2.28, शां.भा.पृ.450

[1335] अन्त:करणतद्वृत्ति साक्षीत्यादावनेकधा। कूटस्थ एव सर्वत्र पूर्वाचार्यैर्विनिश्चित:॥ -पंचदशी 8.25, पृ.355

डॉ.राधाकृष्णन नित्य चैतन्य को साक्षी मानते हैं। किन्तु यह चैतन्य उस समय साक्षी कहलाता है, जब वह अन्त:करण से उपहित होता है और विषयों को प्रकाशित करता है। उपाधि के विद्यमान् होने मात्र से परम चैतन्य साक्षी हो जाता है।[1336]

आचार्य शंकर एवं उनके मतानुयायियों में जीव की संख्या के विषय में दो मत प्राप्त होते हैं। एक मत वह है, जो जीव की अनेकता में विश्वास करता है। दूसरा मत जीव की एकता स्वीकार करता है। इन दोनों मतों की पुष्टि में उपनिषद् की श्रुतियों का उल्लेख किया गया है।

अनेक जीववाद- उपनिषद् में ज्यादातर श्रुतियाँ अनेक जीववाद के पक्ष में ही प्राप्त होती हैं। उपनिषद् में प्राप्त होने वाली अग्निविस्फुलिंग की श्रुतियाँ अनेक जीववाद का ही प्रतिपादन करती हैं। विस्फुलिंग का यह दृष्टांत अनेक उपनिषदों में प्राप्त होता है *'यथाग्ने: क्षुद्रा विस्फुलिंगा: व्युच्चरन्त्येवमेव अस्मादात्मन: सर्वे प्राणा: व्युच्चरन्ति'।*[1337] अर्थात् जैसे अग्नि से छोटी विस्फुलिंगें निकलती हैं**,** उसी प्रकार इस आत्मा से सभी प्राण निकलते हैं। मुण्डकोपनिषद् में भी कहा गया है *'यथा सुदीप्तात्यावकात् विस्फुलिंगा: सहस्रस: प्रभवन्ते सरूपा: तदाक्षरात् विविधा: सोम्यभावा: प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति'।*[1338] अर्थात् हे सोम्य**!** जिस प्रकार सुदीप्त अग्नि से हजारों विस्फुलिंग निकलते हैं। उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से अनेक भाव प्रकट होते हैं और फिर उसी में लीन हो जाते हैं।

प्रश्नोपनिषद् में एक ही मिथुन से अनेक प्रजाओं की उत्पत्ति बतायी गयी है- *'प्रजापति: मिथुनमुत्पादयते**.....**एतौ मे बहुधा प्रजा: करिष्यत इति'।*[1339] अर्थात् प्रजापति ने मिथुन को उत्पन्न किया और उस मिथुन से नाना प्रजाओं की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता में 'भूतानाम्' में बहुवचन का प्रयोग अनेक बार हुआ है। इससे जीवों की अनेकता सिद्ध होती है। आचार्य शंकर व्यवहार में जीवों की अनेकता और परमार्थ में एक

[1336] Indian Philosophy,Vol-2 Page 601
[1337] बृ.उ.2.1.20
[1338] मु.उ.2.1.1
[1339] प्र.उ.1.4

अद्वितीय परमात्मा स्वीकार करते हैं *'देहभेदानुवृत्तया बहुवचनं न आत्मभेदाभिप्राय:'।*[1340] अर्थात् देह भेद से ही बहुवचन में समझना चाहिए, जबकि आत्मा की दृष्टि से नहीं है। आचार्य के मत में एक ही जीव में एक साथ मोक्ष की इच्छा और फल की इच्छा सम्भव नहीं है।[1341]

एक जीववाद का पक्ष- प्रकाशानन्द ने एक जीववाद को ही स्वीकार किया है। वे उपनिषद् के निम्नलिखित मन्त्र को आधार मानते हैं-

अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां, बह्वी: प्रजा: सृजमानां सरूपा:।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य:॥[1342]

यहाँ 'अजा हि एका' में हि का प्रयोग कर एक अविद्या पर बल दिया गया है। उसकी उपाधि से एक ही जीव है।[1343]

मधुसूदन सरस्वती भी एक जीववाद का प्रतिपादन करते हैं *'अविद्या....बुद्धि'।*[1344] अर्थात् अविद्या के वशीभूत होकर एक ही ब्रह्म संसरण करता है। वही जीव है और उसी को प्रत्येक शरीर में अहंकार की अनुभूति होती है। विभिन्न शरीरों में अनुभव होने वाले अहंकार जीवाभास है।[1345] जीव कभी सोता नहीं है। जीवाभास ही सोते और जागते हैं।

एस.एन.दास गुप्त ने एक जीववाद के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि 'कुछ वेदान्ती एक जीव और एक शरीर में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार यह समस्त जगत् और प्राणी उसी जीव की कल्पनाएँ हैं। यह कल्पित जगत् और ये कल्पित प्राणी तब तक बने रहेंगे जब तक वह विराट् जीव कल्पना करता रहेगा। इन प्राणियों की मुक्ति और बन्धन भी

[1340] भग.गी.2.12, शां.भा.
[1341] न हि एकस्य मुमुक्षत्वं फलार्थित्वं च युगपत् सम्भवति। - वहीं,4.11, शां.भा.
[1342] श्वे.उ.4.5
[1343] अद्वै.ऐ.वि.पृ.225
[1344] वहीं,पृ.470
[1345] वहीं,पृ.226

काल्पनिक हैं'।[1346] वेदान्त परिभाषाकार ने दोनों मतों के भेद का आधार इस प्रकार बताया है, *'एकजीववादे अविद्याप्रतिबिम्बो जीवः, अनेकजीववादे अन्तःकरणप्रतिबिम्बः'।*[1347] अर्थात् एक जीववाद के पक्ष में अविद्या में प्रतिबिम्बित जीव है और अनेक जीववाद के पक्ष में अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित जीव है। अविद्या एक है अतः उसमें प्रतिबिम्बित जीव भी एक है। इसी प्रकार अन्तःकरण की अनेकता से उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य अनेक जीवरूप धारण करता है।[1348]

जो पुरुष इस जीवात्मा को जन्म मृत्यु रूप विकारों से युक्त मानते हैं। उनके लिए जीवात्मा के विषय में हो रहे भ्रम का निवारण करने के लिए कहा गया है कि यह जीवात्मा न उत्पन्न होता है। न मरता ही है। जन्म और मृत्यु स्थूल शरीर के धर्म हैं। यह जीवात्मा अजन्मा है, नित्य है। शरीर के मारे जाने पर भी नहीं मरता है।[1349] जीवात्मा को न तो शस्त्र काट सकता है; क्योंकि आत्मा अवयव रहित है। जिसमें अवयव होते हैं, उसी को टुकड़ों में किया जा सकता है। आकाश के समान निरवयव होने से आत्मा के टुकडे नहीं किये जा सकते हैं। अग्नि इस आत्मा को जला भी नहीं सकती है। जल इसे भिगो नहीं सकता है; क्योंकि सावयव को ही जल भिगोने में समर्थ है। वायु भी इसे सुखा नहीं सकता है; क्योंकि जो आर्द्र होता है उसे ही वायु सुखा सकेगा।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारूतः॥[1350]

अद्वैतवेदान्त में जीवात्मा को परमात्मा से अभिन्न माना गया है। जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है। दोनों में सिर्फ उपाधि का अन्तर है। एक समाष्टि अज्ञान से उपहित है, तो दूसरा व्यष्टि अज्ञान से उपाहित है। जीवात्मा का परमात्मा से भेद दिखाते हुए मुण्डकोपनिषद् में कह गया है कि *'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्षं परिषस्वजाते।*

[1346] A history of Indian Philisophy, page 477

[1347] वे.परि.विषय परिच्छेद, पृ.182

[1348] अद्वै.ऐ.वि.225

[1349] न जायते मियते वा कदाचिन्नायं भूत्वाऽभविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुरुषो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ -भग.गी.2.20

[1350] वहीं,2.23

तयोरन्यः पिप्पलं स्पादुवन्त अनश्नन्न्योऽभिचाकशीति॥"[1351] अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा दोनों एक ही शरीर रूप नीड में रहते हैं। उनमें से एक अर्थात् जीवात्मा कर्म फलों का भोग करता है, तो दूसरा ना खाता हुआ भी साक्षी भाव से देखता रहता है। इसी उपनिषद् में इसके पहले भी जीवात्मा को परमात्मा के एक अंश के रूप में दिखाया जा चुका है कि जीवात्मायें परमात्मा से उसी प्रकार उद्भूत होती है। जैसे अग्नि से अनेकों चिन्गारियाँ निकलती हैं। इससे जीवात्मा और परमात्मा का अभेद स्पष्ट होता है। जीवात्मा का ज्योतिर्मयत्व स्पष्ट करते हुए लिखा गया है कि ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा इस शरीर के भीतर ही रहता है।[1352] श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि जैसे सूर्य सारे संसार को प्रकाशित करता है, वैसे ही जीवात्मा रूप क्षेत्रज्ञ शरीर रूपी क्षेत्र को प्रकाशित करता है।[1353]

शांकरभाष्य में जीवात्मा को संकल्पमय बताया गया है। मनोमय और संकल्पमय दोनों समान ही है; क्योंकि मन चित्त का संकल्प होता है। पुरुष लोक में जैसे संकल्प करता है। मरने के बाद वैसा ही होता है।[1354] इसलिए पुरुष को मृत्यु से पूर्व अच्छे संकल्प से युक्त होना चाहिए। सकारात्मक विचारों से युक्त होना चाहिए। मृत्यु से पूर्व जैसे विचार होंगे मृत्यु के बाद पुरुष वैसा ही होता है। इसलिए पुरुष को प्राण रूप शरीर एवं चैतन्य रूप का संकल्प करना चाहिए। यहाँ 'भारूपः' शब्द का अर्थ चैतन्य रूप किया गया है। इससे चेतन तत्त्व प्रकाश का दूसरा रूप सिद्ध होता है।

आत्मा यद्यपि असंग एवं पूर्णतः शुद्ध स्वभाव वाला है। तथापि शरीर एवं इन्द्रिय के संयोग से वह अनेक धर्मों से युक्त हो जाता है। बुद्धि से युक्त होने के कारण वह जीवात्मा विज्ञानमय कहलाता है; क्योंकि विज्ञान बुद्धि को कहते हैं। मन से युक्त होने के कारण मनोमय कहलाता है। प्राण से युक्त होने के कारण प्राणमय है। चक्षु से युक्त होने के कारण चक्षुमय कहलाता है। श्रोत्र से युक्त होने से श्रोत्रमय है। पार्थिव शरीर से युक्त होने के कारण पृथिवीमय है। वरुण आदि लोकों में जलीय शरीर से युक्त होने के कारण जलमय

[1351] मु.उ.3.1.1

[1352] अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयों हि शुभ्रो। - वहीं,3.1.5

[1353] क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत-भग.गी.13.33

[1354] अथ खलु क्रतुमयः पुरुषों यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषों भवति तथेतः प्रेत्य भवति सक्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राण शरीरे भारूपः। -छा.उ.14.1.2

होता है। वायु लोक में वायुवीय शरीरों से युक्त होने के कारण वायुमय होता है। आकाश शरीर का आरम्भक होने पर आकाशमय हो जाता है। देव शरीर को तेजस् कहते हैं। अत: देव शरीर का आरम्भक होने पर तेजोमय हो जाता है। इसी प्रकार यह जीवात्मा काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय एवं सर्वमय भी है।[1355]

इससे ज्ञात होता है कि आचरण से ही जीवात्मा का स्वभाव निर्धारित होता है। जीवात्मा का स्वभाव जैसा होता है वह वैसे ही आचरण करता है। यह आत्मा शरीर से युक्त होकर पृथिवीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय आदि धर्मों से युक्त हो जाता है। शरीर और इन्द्रियों के धर्म जीवात्मा के धर्म होते हैं। शुभ कर्म से पुरुष शुभ होता है और पाप कर्म से पापी होता है।

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में एक स्थान पर आचार्य शंकर ने मन और जीव के बीच सम्बन्ध बताते हुए मन को जीव की उपाधि बताया है और शरीर के हृदय भाग में मन की स्थिति बताई है। इसीलिए जीव भी हृदय में रहता है। ऐसा माना जा सकता है।[1356]

ऐसी शंका होती है कि जब शंकराचार्य जीव और ब्रह्म में अभेद स्वीकार करते हैं। तो जीवात्मा को अनुभूत होने वाले कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दु:खित्व की व्याख्या कैसे हो सकेगी। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये शंकराचार्य ने अपने भाष्य में जगह-जगह पर अवच्छेद, प्रतिबिम्ब, आभास आदि शब्दों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार कहीं-कहीं पर आचार्य ने घटाकाश, मठाकाश आदि का उदाहरण देकर भी समझाया है। आचार्य शंकर के अनुयायियों ने इन्हीं शब्दों को लेकर अलग-अलग सिद्धांत को जन्म दिया।

अवच्छेदवाद- आचार्य वाचस्पति मिश्र जीव-ब्रह्म सम्बन्ध के विषय में अवच्छेदवाद को स्वीकार करते हैं। उनके मत में जैसे एक आकाश ही घट से आच्छादित होकर घटाकाश और मठ से आच्छादित होकर मठाकाश कहलाता है। उसी प्रकार एक ही ब्रह्म अन्त:करण

[1355] स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमय: प्राणमय: चक्षुर्मय: श्रोत्रमय: पृथिवीमय: आपोमयो वायुमय: आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमय: काममयोऽकाममय: क्रोधमयोऽक्रोधमय: धर्ममयोऽधर्ममय: सर्वमयस्तद् इत्यादि। -बृ.उ.4.4.5

[1356] मनौपाधिकश्च जीवः मनश्च प्रायेण हृदये प्रतिष्ठितमित्यतो जीवस्यैवेदं हृदयेऽन्तरवस्थान स्यात्। - ब्र.सू.शां.भा.597

से अवच्छिन्न होकर अनेक जीवों के रूप में प्रतीत होता है। अन्त:करण अणुरूप है, अत: जीव भी अणुरूप ही है।[1357]

प्रतिबिम्बवाद- विवरणकार प्रकाशात्मयति प्रतिबिम्बवाद को स्वीकार करते हैं। जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। जैसे एक ही सूर्य दर्पण, मणि, कृपाण, जल आदि भिन्न उपाधियों में भिन्न-भिन्न दिखायी देता है। उसी प्रकार एक ब्रह्म ही अनेक अन्त:करणों में प्रतिबिम्बित होकर अनेक रूप वाला हो जाता है, *'रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव, एकधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत् अतएव चोपमा सूर्यकादिवत् इति च श्रुति स्मृति सूत्रे जीवस्य प्रतिबिम्बभावस्य दर्शितत्त्वात्।*[1358]

प्रतिबिम्बवाद के विषय में दो विचार प्राप्त होते हैं। एक मत के प्रवर्तक संक्षेप-शारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि हैं। इनके मत में जीव और ईश्वर दोनों प्रतिबिम्ब हैं। अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है और अन्त:करण में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है। दोनों ही बिम्ब से अभिन्न होने के कारण सत् हैं। दूसरा मत विवरणकार का है। ये जीव को अविद्या (अन्त:करण) में प्रतिबिम्बित चैतन्य मानते हैं और ईश्वर को बिम्बस्थानापन्न चैतन्य मानते हैं। विवरणकार ने ईश्वर को प्रतिबिम्ब न मानकर बिम्बरूप माना है। इस मत में ब्रह्म और ईश्वर को एक ही माना गया है।

आभासवाद- यह सिद्धांत सुरेश्वराचार्य का है शंकराचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थों में जहाँ भी जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब कहा है। वहाँ उसे ब्रह्म का आभास भी बताया है। जीव विवेचन के प्रसंग में आचार्य शंकर ने लिखा है कि *'आभास एव चैष जीव: परमात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्य:'।*[1359] अर्थात् यह जीव परमात्मा का आभास ही है। जल में दिखायी देने वाले सूर्य के समान। छान्दोग्य-उपनिषद् के भाष्य में भी एक स्थान पर उन्होंने जीव को परमात्मा का आभास ही बताया है।[1360] आगे चलकर सुरेश्वराचार्य ने आचार्य शंकर की इन भाष्य पंक्तियों के आधार पर आभासवाद सिद्धांत को जन्म दिया।

[1357] बुध्यादिकृतमस्य जीवत्वमिति बुद्धेरन्त:करणस्याणुतया सोऽप्यणुदेशभाग्भवति नभ इव कारकोपहितं। -भा.टी.2.3.29

[1358] पं.पा.वि.पृ.289

[1359] ब्र.सू. 2.3.50, शां.भा., पृ.1528

[1360] जीवो हि नाम देवताया: आभासमात्रम्। -छा.उ.6.3.2, शां.भा.

शंकराचार्य के मत का अनुवर्तन करते हुए जीव को अविद्या के कार्य बुद्धि में परमात्मा का आभास माना है, *'बुद्धेत्यादि समुत्थानं भण्यते परमात्मन:'*।[1361]

आभासवाद के प्रवर्तक सुरेश्वराचार्य के मत में जीव चैतन्य का आभास रूप होने के कारण मिथ्या है। उनके मत में ईश्वर भी जीव के समान आभास रूप होने के कारण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है। सुरेश्वराचार्य ने अविद्या में चैतन्य के आभास को ईश्वर तथा बुद्धि में चैतन्य के आभास को जीव माना है।[1362]

आचार्य शंकर जीव और ब्रह्म में अभेद स्वीकार करते हैं। उनके मत में जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जीव परमार्थत: ब्रह्म ही है। शंकराचार्य जीव और ब्रह्म के औपाधिक भेद को नहीं मानते हैं।[1363] अन्तराधिकरण के *'अनवस्थिते रसभावाच्च नेतर:'*[1364] सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य का कथन है कि यद्यपि विज्ञानात्मा-जीव परमात्मा से अनन्य ही है तथापि अविद्या कृत् मर्त्यत्व तथा भय के अध्यारोप के कारण उसमें अमृतत्व और अभयत्व की उपपत्ति नहीं होती है।[1365] अंशाधिकरण में *'आभास एव च'*[1366] इस सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने जीव को परमात्मा का आभास बताया है। वे कहते हैं कि जल में प्रतिबिम्बित सूर्य की भाँति जीव को परमात्मा का आभास ही समझना चाहिए। जीव न तो पूर्णत: परमात्मा ही है न उससे पृथक् ही है।[1367]

विज्ञानमय कोश मनोमय कोश के अन्दर विद्यमान् होता है। यह विज्ञानमय कोश मनोमय कोश का कारण होने से उसकी आत्मा के समान है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि जैसे सूर्य सारे संसार को प्रकाशित करता है। वैसे ही जीवात्मा रूप क्षेत्रज्ञ शरीर रूपी क्षेत्र को प्रकाशित करता है-

---

[1361] बृ.उ.भा.वा.अ-2, ब्रा.-4 वार्तिक 427

[1362] आचार्य शंकरकृत ब्रह्मसूत्र अध्यासभाष्य, कपिल गौतम, शोधप्रबन्ध, पृ.60

[1363] वहीं, पृ.58

[1364] ब्र.सू.1.2.27

[1365] यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽनन्य एव तथाप्यविद्याकामकर्मकृतं तस्मिन् मर्त्यत्वमध्यारोपितं भयं चेत्यमृत्त्वाभयत्वे नोपपद्यते। - वहीं,1.1.117,शां.भा.

[1366] वहीं,2.3.50

[1367] आभास चैष जीव: परमात्मनो जलसूर्यकादिवत् प्रतिपत्तव्य:। न स एव साक्षात् नापि वस्त्वन्तरम्। - वहीं,2.3.50, शां.भा.

यथा प्रकाशयत्येक: कृत्स्नं लोकमिमं रवि:।

क्षेत्र क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत'॥[1368]

कठोपनिषद् में इन्द्रियों की अपेक्षा उसके विषय को श्रेष्ठ बतलाया गया है; क्योंकि विषयों के कारण ही इन्द्रियाँ अपने मार्ग से भ्रष्ट हो जाती हैं। उन इन्द्रिय विषयों से मन को श्रेष्ठ बताया गया है। मन से श्रेष्ठ बुद्धि है।[1369] बुद्धि से श्रेष्ठ महान् आत्मा (महत् तत्त्व) है। महत् तत्त्व से मूल प्रकृति श्रेष्ठ है और अव्यक्त से भी पुरुष श्रेष्ठ है। किन्तु पुरुष से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।[1370]

साधक संजीवनीकार के मत में अपने प्रारब्ध के कारण जीवात्मा को शरीर मिलता है। माता या पिता शरीर देने के लिए जिम्मेदार नहीं होते हैं। प्रारब्ध अर्थात् *'प्रकर्षेण आरब्ध: प्रारब्ध:'* अच्छी प्रकार से फल देने के लिए जिन कर्मों का आरम्भ हो चुका है। वे प्रारब्ध कर्म हैं। प्रारब्ध से शरीर प्राप्त होता है। प्रारब्ध से आयु निश्चित होती है। प्रारब्ध के कारण अनेक पुरुषों से संयोग वियोग होता है। प्रारब्ध भोगने का अधिकार है, किन्तु उसका विरोध करने का अधिकार नहीं है। दण्ड देना परमात्मा का काम है; क्योंकि मारने वाले को यह याद नहीं रहता है कि वह पूर्व जन्म का बदला ले रहा है। यदि उसे यह याद हो तो मारने का पाप नहीं लगेगा।[1371]

मुण्डकोपनिषद् शांकर भाष्य से एक महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। प्रश्नोपनिषद् में पुरुष की 16 कलाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम ये पुरुष की 16 कलाएँ हैं। शंकराचार्य ने लिखा है कि ये 15 कलाएँ देह को आरम्भ करने वाली है।[1372] इससे यह जाना जा सकता है कि आत्मा से उत्पन्न हुए प्रारम्भ के 15 तत्त्व शरीर में ही स्थित है। इन्हीं 15 तत्त्वों की क्रमशः उत्पत्ति होने से पुरुष का शरीर बनता है। कुछ लोग इससे यह

[1368] भग.गी.13.33

[1369] कठ.उ.1.3.10

[1370] वहीं,1.3.11

[1371] भग.गी.सा.सं.टी.पृ.1107, और योगी आनन्द जी, कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। -भग.गी. 2.47

[1372] या देहारम्भिकाः कलाः प्राणाद्यास्ताः स्वां स्वां प्रतिष्ठां गता:। -मु.उ.3.2.7,शां.भा.

अनुमान लगा लेते थे कि ये सभी तत्त्व सृष्टि के आरम्भक तत्त्व हैं। किन्तु ये सभी केवल शरीर के आरम्भक हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में स्थूल शरीर की तीन अवस्थाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। कौमार या बाल्यावस्था, यौवन या तरूणावस्था, जरा या वृद्धावस्था। शरीर की ये तीन अवस्थायें होती है। शरीर की अवस्था परिवर्तन से इस शरीर के अधिष्ठान शरीर में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥[1373]

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि देही और देह दो भिन्न वस्तुएँ हैं। शरीरान्त होने के बाद देही दूसरे शरीर को प्राप्त हो जाता है। प्रायः लोग यही समझते हैं कि मृत्यु के समय मनुष्य का पूर्ण नाश हो जाता है। लेकिन श्रीमद्भगवद्गीता के इस श्लोक से स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि मनुष्य पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होता है। केवल उसका स्थूल शरीर ही नष्ट होता है। एक निश्चित अवधि के बाद जीवात्मा को स्थूल शरीर का त्याग करना ही पड़ता है। श्रीमद्भगवद्गीता में इस स्थूल शरीर को ही 'अन्तवन्तः' शब्द से कहा गया है, जो अन्तवाला हो वह अन्तवान् है। बहुवचन में अन्तवन्तः बनता है। बहुवचन में अन्तवन्तः शब्द सभी स्थूल शरीरों का बोधक है। स्वप्न और माया से जनित शरीरों की भाँति ये सभी स्थूल शरीर भी अन्तवान् कहे गये हैं।[1374]

श्री कृष्ण ने इस विषय में कहा है कि जो पुरुष इस स्थूल शरीर को मरते और मारते हुए देखकर पुरुष को मरने और मारने वाला समझता है। वस्तुतः वे दोनों ही नहीं जानते हैं। मरने और मारने वाला स्थूल शरीर होता है। उस स्थूल शरीर में स्थित पुरुष न स्वयं मरता है, न दूसरे किसी को मारता ही है। वह इन सबसे निर्लिप्त रहता हैं।[1375]

[1373] भग.गी.2.13

[1374] अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। - वहीं,2.18

[1375] य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ - वहीं,2.19

योगानन्द जी के मत में आत्मा का प्रतिबिम्ब चित्त पर पड़ता है। जैसे शान्त जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखायी देता है। किन्तु हिलते हुए जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं दिखायी देता है। उसी प्रकार आत्मा चित्त रूपी दर्पण में अपना स्पष्ट प्रतिबिम्ब देख सकता है। किन्तु शारीरिक संवेदनाओं, विषय संवेदनाओं तथा विचारों से चित्त में पड़ने वाला आत्मा का शान्त प्रतिबिम्ब क्षुब्ध हो जाता है और आत्मा अपना स्पष्ट प्रतिबिम्ब नहीं देख सकता है। आत्मा स्वयं को शरीर के साथ जुड़ा हुआ समझता है। प्राणशाक्ति प्रायः बाहर प्रवाहित होती है। तथा शरीर और मन को सदा गतिशील रखती है। शारीरिक संवेदनाओं तथा प्रासंगिक विचारों के रूप में आत्मा के लिए अशान्ति उत्पन्न करती है। संवेदनायें तथा विचार आत्मा के शान्त प्रतिबिम्ब को क्षुब्ध तथा विकृत करते हैं'।[1376]

प्राय: प्रश्न किया जाता है कि सृष्टि का प्रयोजन क्या था? परमात्मा ने सृष्टि क्यों की? सृष्टि कार्य करने के पीछे परमात्मा का उद्देश्य जीवों के पूर्वकृत कर्मों का भोग है। पूर्व कल्पों में जीवों के जो कर्माशय होते हैं, उन कर्माशयों के भोग के लिए ब्रह्मा को सृष्टि करनी पड़ती है। इस प्रकार सभी प्राणी पूर्व सृष्टि में जो कर्म किये रहते हैं। उन उन संस्कारों के अनुसार इस सृष्टि में भी कर्म करते है।

तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।

तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमाना: पुन: पुन:॥[1377]

इस प्रकार धर्म अधर्म आदि कर्म ही सृष्टि की उत्पत्ति में कारण होते हैं। इस विषय में महाभारत में कहा गया है कि हिंसा-अहिंसा, मुदु-क्रूर, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य आदि जिन कर्मों से जीव वासित होता है। उत्पन्न होकर उन्हीं को प्राप्त करता है और वे ही उनको रुचते हैं।[1378]

इससे ज्ञात होता है कि सृष्टि का नाश होने पर कर्मों का नाश नहीं होता है। ये कर्म ही जीवों को आश्रय करके बने रहते हैं और पुन: सृष्टि की उत्पत्ति में कारण बनते हैं। प्रत्येक

[1376] धर्म विज्ञान, पृ.6 1

[1377] महा.भा.शा.12.85

[1378] हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते। तद्भाविता: प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते॥ - वहीं,25-7

सृष्टि में भू आदि 14 लोक, मनुष्य, पशु, पक्षी, देवता, वर्ण, आश्रम, धर्म तथा फल आदि की व्यवस्थाएँ उसी क्रम में दुहरायी जाती हैं। वटवृक्ष के प्रत्येक बीज में वृक्ष की संरचना समान होती है। उसी प्रकार प्रत्येक सृष्टि में उसी क्रम से जगत् का विस्तार होता है। प्रत्येक सृष्टि में इन्द्रियों और उसके विषयों का सम्बन्ध भी नित्य होता है। सभी पूर्व कल्पों का ज्ञान ईश्वरों को होता है। इसलिए उसी ज्ञान के आधार पर हिरण्यगर्भ पुन: सृष्टियों की रचना करता हैं। स्मृतियों और श्रुतियों में भी सभी कल्पों के नाम और रूपों में समानता दिखायी देती है। ऋक्संहिता में उल्लिखित है कि ब्रह्मा ने पूर्व कल्प के समान ही सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग की रचना की है।[1379]

वेद पढ़ना ब्राह्मण का नित्य कर्म है; क्योंकि वेद पढ़ने से ब्राह्मण का व्यक्तिगत रूप से कोई लाभ नहीं है। किन्तु न पढ़ने से प्रत्यवाय अवश्य होता है। इसलिए शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित *'स्वाध्यायोऽध्येतव्य:'*[1380] को ब्राह्मण के लिए नित्य कर्म के अन्तर्गत रखा गया है। स्वाध्यायोऽध्येतव्यः का अर्थ है। अंगो के सहित अपने वेद का अध्ययन करना चाहिए।

निष्काम कर्म ही आदर्श कर्म है। आदर्श कर्म वह है जो कल्याण करने वाला हो इस संसार में प्रत्येक पुरुष सकाम भाव से करता है; क्योंकि *'प्रयोजनमनुदिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'* बिना प्रयोजन को देखे हुए कोई पुरुष किसी कार्य को आरम्भ नहीं करता है। प्रयोजन होना चाहिए किन्तु उस प्रयोजन में हमारी आसक्ति नहीं होनी चाहिए। यदि कर्मफल से हमारी आसक्ति होगी तो कर्मफल के न मिलने पर दु:ख प्राप्त होता है। एक आदर्श कर्म का स्वरूप बताते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि जो पुरुष ईश्वर बुद्धि से कर्मों को करता है। ईश्वर के लिए अपने कर्म करता है। वही आदर्श कर्म है। ऐसा कर्म पुरुष के चित्त में संस्कार नहीं छोड़ता है। संस्कार रहित होने से उसका फल उसे नहीं भोगना पड़ता है। निष्काम कर्म का फल मोक्ष है, जो कि पुरुष के जीवन का साध्य है। ऐसा निष्काम कर्म ही आदर्श कर्म है। यही कुशल कर्म है, जिसे योग कहा जाता है।[1381] अतः आदर्श कर्म की परिभाषा के रूप में कहा जा सकता है कि जो कर्म जीवन के साध्य को सिद्ध करता हो वही आदर्श कर्म है। वैदिक ऋषियों के मत में जीवन का साध्य या उद्देश्य है मोक्ष की प्राप्ति। निष्काम कर्म ही मोक्ष प्राप्त कराने में सहायक है। सकाम कर्म से तो सुख रूप

[1379] सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्व:॥ -ऋ.सं.10.190.3

[1380] श.ब्रा.11.5.6

[1381] योगः कर्मसु कौशलम्। -भग.गी. 2.50

स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है। अतः ईश्वर बुद्धि से किया गया निष्काम कर्म ही कुशल कर्म कहते है। यह कुशल कर्म ही श्रीमद्भगीता का योग है।

गीता में निष्काम कर्म को यज्ञ की संज्ञा दी गयी है। बताया गया है कि इस निष्काम कर्म की उत्पत्ति सृष्टि के आदि में ब्रह्मा ने की। ब्रह्मा ने ब्रह्माण, क्षत्रिय और वैश्यों की रचना के समय इस निष्काम कर्म रूप यज्ञ को भी उत्पन्न किया। ताकि ये प्रजाजन इस यज्ञ का सम्पादन करके अपनी कामनाओं को पूर्ण कर सकें। इसलिए इस निष्काम कर्म को इष्टकामधुक् यज्ञ भी कहा जाता है।[1382]

5.7 त्रिगुणात्मक प्रकृति का स्वरूप : सांख्यदर्शन में यद्यपि प्रकृति को एक स्वतंत्र तत्त्व माना गया है। किन्तु शंकराचार्य ने तर्क संगत विचारों और श्रुति प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया कि प्रकृति स्वतंत्र तत्त्व नहीं है। वह चेतन ब्रह्म की ही शक्ति है। इस मतभेद के बावजूद भी प्रकृति को त्रिगुणात्मक मानने के विषय में विचार साम्य ही दिखायी देता है। दोनों दर्शनों में प्रकृति को त्रिगुणात्मक ही माना गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में अजा प्रकृति को लोहित, कृष्ण, शुक्ल रूप ही बताया गया है।[1383] शंकराचार्य ने लोहित, शुक्ल और कृष्ण का अर्थ क्रमश: तेज अप् और अन्न किया है।[1384] कुछ विद्वान् लोहित, शुक्ल, कृष्ण का अर्थ सत्त्व, रजस् और तमस् करते हैं। जिसमें शुक्ल वर्ण सत्त्व का वाचक है। लोहित वर्ण रजस् का तथा कृष्ण वर्ण तमस् का वाचक है। ऐसा भी सम्भव हो सकता है कि सत्त्व, रजस् और तमस् सृष्टि के तीन मूलभूत प्रकाश तरंगे हो, जो किसी भी वस्तु के स्वरूप के निर्धारण में महती भूमिका निभाती हों।

अद्वैतवेदान्त दर्शन में माया को त्रिगुणात्मक माना गया है। किन्तु यहाँ त्रिगुणात्मक का सत्त्व, रजस् और तमस् अर्थ लक्षणा से लिया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में आये हुए मन्त्र *'अजां एकां लोहितशुक्लकृष्णां'* के भाष्य में आचार्य शंकर अजा शब्द का अर्थ माया करते हैं। लोहित, शुक्ल और कृष्ण का अर्थ तेज, जल और अन्न करते हैं;[1385] क्योंकि छान्दोग्योपनिषद् में तेज, जल और अन्न को परमात्मा से उत्पन्न बताया गया है, जबकि

[1382] सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्विष्टकामधुक्॥ - वहीं,3.10

[1383] अजां एकां लोहित शुक्ल कृष्णां। -श्वे.उ.4.5

[1384] अजां प्रकृतिं लोहितशुक्लकृष्णां तेजोऽबन्नलक्षणाम्। -वहीं, शां.भा.

[1385] परमेश्वरादुत्पन्ना ज्योति: प्रमुखा तेजोबन्नलक्षणा चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य। -ब्र.सू.शां.भा.पृ.819

सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों का कथन श्रुति प्रतिपादित नहीं है। छान्दोग्योपनिषद् में बताया गया है कि अग्नि का जो लोहित रूप है वह तेज का अंश है। शुक्ल रूप जल का अंश है और कृष्ण रूप अन्न का अंश है। अत: लोहित, शुक्ल और कृष्ण माया के समझना चाहिये। इन तीनों रूपों से युक्त होकर माया ब्रह्म को आश्रय करके रहती है।[1386] यह अव्यक्त माया नाम और रूप की पूर्वावस्था है। इसके सभी विकार तेज, जल और अन्न त्रिरूप हैं। अत: माया को भी त्रिरूप कहा गया है।

ईश्वर अपनी मायावी शक्ति से सृष्टि की रचना करता है। ईश्वर की यह मायावी शक्ति त्रिगुणात्मिका है। त्रिगुणात्मिका होने का अर्थ है सत्त्व, रजस् एवं तमस् से युक्त होना। त्रिगुणात्मिका माया से 14 भुवनों की सृष्टि हुई है। स्वर्गलोक, मृत्युलोक के साथ अन्य 12 भुवनों की सृष्टि भी त्रिगुणात्मिका प्रकृति से हुई है। देवता, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस्, पशु, पक्षी आदि सब कोई त्रिविध गुणों से निर्मित है। श्रीमद्भगवद्गीता के 18वें अध्याय में तीनों गुणों की व्यापकता का कथन करते हुए लिखा गया है कि पृथिवी पर स्वर्ग में तथा देवताओं में भी कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है। जिनमें इन तीनों गुणों की विद्यमानता न हो।[1387]

सत्त्वगुण को प्रकाश करने वाला कहा गया है। किन्तु सत्त्वगुण का अपना प्रकाश नहीं है अपितु परमात्मा के प्रकाश से प्रकाशित होता है; क्योंकि परमात्मा को सभी प्रकाश स्रोतों का भी प्रकाशक कहा गया है। परमात्मा सृष्टि से परे होकर सभी प्रकाश स्रोतों को प्रकाश देता है। साधक संजीवनीकार के अनुसार सत्त्व, रजस् गुण प्रकाश्य हैं। अर्थात् परमात्मा के द्वारा प्रकाशित होते हैं। जबकि आत्मा स्वत: प्रकाश है।[1388]

बुद्धि का कार्य है निश्चय करना। यह बुद्धि भी तीन गुणों से प्रभावित होकर अलग-अलग लक्षणों वाली होती है। बुद्धि जब सत्त्व गुण से युक्त होती है तो अपने अध्यवसाय रूप

[1386] मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। -श्वे.उ.4.10

[1387] न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुन:। सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभि: स्यात्त्रिभिर्गुणै:। -भग.गी.18.40

[1388] भग.गी.सा.सं.टी.पृ.1113

स्वाभाविक कर्म से युक्त होती है। तब प्रवृत्ति-निवृत्ति, कर्तव्य-अकर्तव्य, भय-अभय तथा बन्ध एवं मोक्ष को जान सकती है।[1389]

जबकि राजसी बुद्धि में निश्चयात्मक वृत्ति नहीं होती है। क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है आदि में भेद नहीं हो पाता है।[1390] अर्थात् राजसी बुद्धि संशय प्रधान होती है। परस्पर विरोधी भावों को अलग नहीं कर सकती है। किन्तु तामसी बुद्धि में उल्टे धर्मों में आसक्ति हो जाती है। कर्तव्य कर्मों की जगह अकर्तव्य कर्मों में आसक्ति होती है। धर्म की अपेक्षा अधर्म में रुचि होती है।[1391]

सनातन धर्म की परम्परा के अनुसार परमात्मा ने इस वर्ण व्यवस्था का सृष्टि की उत्पत्ति काल में ही कर दिया था। इस वर्ण व्यवस्था का आधार ऋग्वेद का पुरुष सूक्त है। जिसमें बताया गया है कि ब्राह्मण पुरुष के मुख से उत्पन्न हुआ था। भुजाओं से क्षत्रिय उत्पन्न हुए, उदर से वैश्य तथा पादों से शुद्र की उत्पत्ति हुई। पुरुष के भिन्न-भिन्न अंगो से वर्णों की सृष्टि होने से सभी वर्णों में अलग-अलग गुणों की प्रधानता होती है।[1392] शांकरभाष्य के अनुसार सत्त्वगुण प्रधान ब्राह्मण के शम, दम, तप इत्यादि कर्म बताये गये हैं। सत्त्वगुण गौण तथा रजोगुण प्रधान क्षत्रिय के शूरवीरता आदि कर्म हैं। तमोगुण गौण और रजोगुण प्रधान वैश्य के कृषि आदि कर्म बताये गये हैं। रजोगुण गौण और तमोगुण प्रधान शूद्रों के लिए सेवा आदि कर्म निश्चित किये गये हैं।[1393] इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारतीय वर्ण व्यवस्था कर्मों पर आधारित थी, न कि जन्म पर आधारित किन्तु धर्मशास्त्रकारों की प्रमादता के कारण कालान्तर में जन्म पर आधारित मानी जाने लगी।

अध्यात्म का अर्थ है शरीर से सम्बन्धित। अध्यात्म दर्शन में मुख्य प्राण को संवर्ग कहा गया है; क्योंकि पुरुष के सो जाने पर वाक् इन्द्रिय प्राण को ही प्राप्त हो जाती है। चक्षु श्रोत्र और मन भी प्राण में ही लीन हो जाते हैं। प्राण ही इन सबको अपने में लीन कर

1389 प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये । बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी॥ - भग.गी.18.30

[1390] यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च। अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ - वहीं,18.32
[1391] अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ - वहीं,18.32
[1392] वहीं,4.13
[1393] चातुर्वर्ण्य माया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।- वहीं

लेता है।[1394] इस प्रकर संवर्जन गुण वाले दो तत्त्वों का ज्ञान होता है। देवताओं में वायु संवर्जन गुणों से युक्त है तो वाक् आदि प्राणों में मुख्य प्राण संवर्जन गुणों से युक्त है।

अध्यात्म की उपासना करने वाले शिष्य को हनु को पूर्व रूप में देखना चाहिये। उत्तरा हनु को उत्तर रूप में देखना चाहिये। वाक् को संधि तथा जिह्वा को संधान के रूप में जानना चाहिये।[1395] तैत्तिरीय उपनिषद् में निम्न चार प्रकार की व्याहृतियाँ बतायी गयी हैं।– भू: भुव: सुव: और मह: । इनमें से प्रत्येक व्याहृति चार-चार प्रकार की है।

	भू:	भुव:	सुव:	मह:
1.	भूलोक	अन्तरिक्ष	स्वर्गलोक	आदित्य
2.	अग्नि	वायु	आदित्य	चन्द्रमा
3.	ऋक्	साम	यजु:	ब्रह्म
4.	प्राण	अपान	व्यान	अन्न

अध्यात्म शरीर से सम्बन्धित उपासना है। शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में ऋक् और साम की भावना से उपासना करनी चाहिए। छान्दोग्य उपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि जैसे साम ऋक् में प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार प्राण को वाणी में प्रतिष्ठित हुआ मानकर उपासना करनी चाहिए। आत्मा को चक्षु में प्रतिष्ठित हुआ मानकर उपासना करनी चाहिए।[1396] मन को श्रोत्र में अधिष्ठित मानकर उपासना करनी चाहिए।[1397] पुरुष के नेत्र में स्थित शुक्ल वर्ण में नीलवर्ण को अधिष्ठित मानकर उपासना करनी चाहिए।[1398] ऋषि कहते हैं

[1394] अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्ग: स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षु: प्राणं श्रोत्रं प्राणं मन: प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इति। -छा.उ.4.3.3

[1395] अथाध्यात्मम्। अधराहनु: पूर्वरूपम्। उत्तराहनु: उत्तररूपम् । वाक् संधि: । जिह्वा संधानम् इत्यध्यात्मन्। -तै.उ.1.3.4

[1396] छा.उ.1.7.2

[1397] वहीं,1.7.3

[1398] वहीं,1.7.4

कि नेत्र में जो चेतन रूप पुरुष दिखायी देता है और आदित्य पुरुष दोनों एक ही हैं। दोनों में अन्तर नहीं है।[1399]

सभी ज्योतियाँ अमृत रूप हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। केवल कारण रूप ज्योति ही अमृत रूप है। जिसे जानने वाला पुरुष भी अमृत रूप हो जाता है। कार्य रूप ज्योतियों का इन्द्रिय प्रत्यक्ष होने पर भी मृत्यु रूप ही है। किन्तु कारण रूप ज्योति का प्रत्यक्ष मृत्यु से रहित है। इसीलिए उपासक सदैव मृत्यु रूप अन्धकार से अमृत रूप प्रकाश की ओर जाने के लिए कामना करता है।[1400] यहाँ असत् और तमस् शब्द मृत्यु के वाचक हैं। जबकि सत् और ज्योति शब्द अमृत के वाचक हैं। अत: अज्ञान ही मृत्यु है और अमृत ही ज्योति है।[1401]

प्रज्ञा का अर्थ है बुद्धि। बुद्धि या चित्त में प्रकाशित आत्मा को प्रतिबिंबित आत्मा या चिदात्मा कहा जाता है। यह चिदात्मा इन्द्रियों के द्वारा कैसे विषयों का ग्रहण करता है और इन्द्रियों को विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कैसे प्रेरित करता है? इस विषय में लिखा गया है कि चिदात्मा बुद्धि के द्वारा इन्द्रिय पर आरोहण करती है। आरोहण करके इन्द्रियों का प्रेरक होती है। जैसे अश्व पर आरोहण किया हुआ पुरुष अश्वों का प्रेरक होता है। उसी प्रकार चिदात्मा भी इन्द्रियों का प्रेरक होकर इनके माध्यम से विषयों को ग्रहण करता है।[1402] इसलिए विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के कारण इन्द्रियों पर आरोहण की हुई बुद्धि को प्रज्ञा मात्रा कहते हैं। विषयों को प्राप्त करने से इन्हें ग्राहक भी कहा जाता है। भूतमात्रा का ग्रहण होता है। इसलिए इन्हें ग्राह्य कहते हैं। ग्राह्य और ग्राहक एक प्रकार का सम्बन्ध है, जो एक दूसरे पर आश्रित है। भूतमात्राएँ ग्राह्य हैं। इसलिए प्रज्ञात्मा को ग्राहक कहा जाता है। इसी प्रकार ग्राहक रूप प्रज्ञात्मा के कारण ही भूतमात्रा ग्राह्य है। दोनों एक दूसरे के सापेक्ष हैं। प्रज्ञात्मा के ग्राहकत्व के कारण ही भूतमात्रा ग्राह्य बनता है। भूतमात्रा के ग्राह्य होने के कारण ही प्रज्ञात्मा ग्राहक बनता है। ब्रह्मसूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने चिदात्मा को ही प्राण माना है।[1403]

[1399] वहीं,1.7.5

[1400] असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय। -बृ.उ.1.3.28

[1401] प्रकाशात्मकत्वाज्ज्ञानं ज्योति: तदेवामृतमविनाशात्मकत्वात्। - वहीं,शां.भा.

[1402] प्रज्ञयावाचं समारूह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति इत्यादि प्रज्ञा धर्मः। -ब्र.सू.शां.भा.पृ.394

[1403] स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा। -ब्र.सू.शां.भा.पृ.395

ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, तपस्या तथा विद्या आदि से पूर्ण पुरुष को उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है। वह प्रकाश मार्ग के अधिष्ठातृ अनेक देवताओं को प्राप्त होता हुआ ब्रह्म लोक को गमन करता है। प्रकाश मार्ग में जिन देवताओं से मेल होता है, उसका कथन छान्दोग्योपनिषद् में किया गया है। मृत्यु के पश्चात् सर्व प्रथम अग्नि देवता को प्राप्त होता है। फिर दिवस को, दिवस से शुक्लपक्ष को, शुक्लपक्ष से उत्तरायण को, उत्तरायण से संवत्सर को, संवत्सर से देवलोक को, देवलोक से वायु को, वायु से आदित्य को, आदित्य से चन्द्र देवता को, चन्द्र से विद्युत् देवता को प्राप्त होता है। विद्युल्लोक में कुछ समय तक रहता है। जहाँ से कुछ अमानवीय पुरुष आकर उसे ब्रह्मलोक को ले जाते हैं।[1404] इस प्रकार प्रकाशाभिमानी अर्चिरादि 10 देवताओं से युक्त मार्ग देव मार्ग कहलाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी इस प्रकार का एक श्लोक आया है।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥[1405]

अर्थात् अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण के देवता, ये सभी प्रकाश के देवता हैं। ब्रह्मोपासक पुरुष मृत्यु के बाद इन देवताओं को प्राप्त होता हुआ ब्रह्म को प्राप्त करता है।

धर्म भी सभी भूतों का मधु है और सभी भूत इस धर्म के मधु हैं। धर्म का अध्यात्मिक परिणाम भी धर्म ही है। दोनों में जिस देवता का निवास होता है। वह तेजोमय एवं अमृतस्वरूप है। वह देवता ही आत्मा है। वही ब्रह्म भी है।[1406]

उपनिषद् कहती है कि सत्य समस्त भूतों का मधु है और सभी भूत सत्य के मधु हैं। इस सत्य का अध्यात्म परिणाम भी सत्य ही है। सत्य का आध्यात्म रूप देहेन्द्रिय संघात रूप है। इन दोनों में ही एक पुरुष का निवास है। वह पुरुष तेजोमय अमृत स्वरूप है। वह आत्मा है और वही ब्रह्म भी है।[1407] ऋषि कहते हैं कि यह मनुष्य जाति सभी भूतों का

[1404] ब्र.सू.शां.भा.पृ.464

[1405] भग.गी.8.24

[1406] अयं धर्म: सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन् धर्मतेजोमयोऽमृतमय: पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धर्मस्तेजोमयोऽमृतमय:। -बृ.उ.2.5.11

[1407] इदं सत्यं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन् सत्ये तेजोमयोऽमृतमय: पुरुषो। - वहीं,2.5.12

मधु है और सभी भूत इस मनुष्य जाति के मधु हैं। इस मनुष्य जाति का अध्यात्म परिणाम अध्यात्म मानुष है, अर्थात् शरीर निष्ठ मनुष्यत्व। दोनों में एक ही तेजोमयी अमृत स्वरूप पुरुष निवास करता है। यह पुरुष ही आत्मा है और यही ब्रह्म है।[1408]

5.8 चेतन रूप प्रकाश की चार अवस्थायें : उपनिषद् में चेतन रूप प्रकाश की चार अवस्थाएँ बतायी गयी है। चौथी अवस्था कारण स्वरूप है। जो तीनों से पृथक् है। इसे ओंकार की मात्रा रहित अवस्था बताया गया है। यह आत्मा का तुरीय रूप है।

माण्डूक्य-उपनिषद् के अनुसार वैश्वानर आत्मा का प्रथम पाद है। यह वैश्वानर आत्मा जाग्रत अवस्था में रहता है। इसलिए जाग्रत को वैश्वानर आत्मा का स्थान कहा गया है। इसे बहि:प्रज्ञ, सप्तांग और 19 मुखों वाला बताया गया है। सदानन्द योगीन्द्र ने जाग्रत अवस्था में व्यष्टि शरीर में स्थित आत्मा को विश्व कहा है, *'एतद् व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते सूक्ष्मशरीराभिमानमपरित्यज्य स्थूलशरीरादि प्रविष्टत्वात्'।*[1409] जबकि स्थूल शरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य वैश्वानर है, *'एतत् समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडित्युच्यते'*।[1410]

माण्डूक्य-उपनिषद् के अनुसार आत्मा का दूसरा पाद तैजस् कहलाता है। यह स्वप्न स्थानीय है। इसे अन्त:प्रज्ञ, सप्तांग एवं 19 मुखों वाला बताया गया है।[1411] सदानन्द योगीन्द्र इस विषय में कहते हैं कि व्यष्टि शरीर से उपहित चैतन्य उस शरीर में तेजोमय अन्त:करण के वैशिष्ट के कारण 'तैजस्' कहलाता है।[1412] सूक्ष्म शरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ एवं प्राण कहलाता है।[1413]

माण्डूक्य-उपनिषद् के अनुसार सुषुप्ति अवस्था का चेतना प्राज्ञ संज्ञा से अभिहित होता है; क्योंकि इस अवस्था में आत्मा एकीभूत प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप, आनन्द का भोक्ता तथा

[1408] इदं मानुषं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन् मानुषे तेजोमयोऽमृतमय: पुरुषो। -बृ.उ.2.5.13

[1409] वे.सा.पृ.75-76

[1410] वहीं, पृ.74

[1411] स्वप्नस्थानोऽन्त:प्रज्ञ: सप्तांग एकोनविंशतिमुख: प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीय: पाद:। -मा.उ.1.4

[1412] एतद् व्यष्टि उपहितं चैतन्यं तैजसो भवति तेजोमयान्त:करणोपहितत्वात्। -वे.सा.27

[1413] एतत्समष्टि-उपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ प्राणश्चेत्युच्यते। - बृ.उ.26

चेतना रूप मुख वाला होता है।[1414] आचार्य ने एकीभूत शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि मन का स्फुरण रूप द्वैत समूह प्रपंच के सहित अपने उस स्वरूप का त्याग न कर अज्ञान से आच्छादित हो जाता है।[1415] प्रज्ञानघन इसलिए है; क्योंकि मन का स्फुरण रूप प्रज्ञान घनीभूत हो जाता है। आनन्द बहुल इसलिए है; क्योंकि मन को स्फुरण रूप आयास नहीं करना पड़ता है। आयास से होने वाला दु:ख नहीं होता है।[1416] वेदान्तसार में इस प्राज्ञ को व्यष्टि अज्ञान का प्रकाशक तथा मलिन सत्त्व प्रधान कहा गया है।[1417] इसी प्रकार समष्टि अज्ञान उपहित शुद्ध सत्त्व प्रधान ईश्वर है या कारण शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य ईश्वर है।

इस प्रकार जलबिंदु और जलाशय के समान प्राज्ञ और ईश्वर दोनों एक ही हैं। प्राज्ञ की अन्य विशेषताओं का कथन करते हुए यह कहा गया है कि यह प्राज्ञ ही सबका ईश्वर है। यह सर्वज्ञ है। अन्तर्यामी है। तथा सभी जीव की उत्पत्ति एवं लय का स्थान होने के कारण यह सबका कारण भी है।

ॐ	शरीर	अवस्था	व्यष्टिरूप	समष्टिरूप
अ	स्थूलशरीर	जाग्रतावस्था	विश्व	वैश्वानर या विराट्
उ	सूक्ष्मशरीर	स्वप्नावस्था	तैजस्	हिरण्यगर्भ या सूत्रात्मा या प्राण
म्	कारणशरीर	सुषुप्तावस्था	प्राज्ञ	ईश्वर

आत्मा का चतुर्थ पाद इन सबसे पृथक् है। इन सभी में से किसी से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। उसे आत्मा का तुरीय रूप कहते हैं। वह न अन्त:प्रज्ञ है, न बाहि:प्रज्ञ है, न दोनों है, न प्रज्ञान घन है। न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है। बल्कि इन सबसे पृथक् अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपंच का उपसम्,

---

[1414] सुषुप्तस्थान एकीभूत: प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्द भुक्चेतोमुख: प्राज्ञस्तृतीय: पाद:। -मा.उ.1.5

[1415] मन: स्पन्दितं द्वैतजातं तथारूपापरित्यागे न विवेकापन्नं नैषतमोग्रस्तमिवाह: सप्रपंचमेकीभूतमित्युच्यते। - बृ.उ.1.5, शां.भा.

[1416] मा.उ.1.5, शां.भा.

[1417] इयं व्यष्टि: निकृष्टोपाधितया मलिनसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यं अल्पज्ञत्व अनीश्वरत्वादि-गुणकं प्राज्ञ इत्युच्यते। -वे.सा.13

शान्त, शिव और अद्वैतरूप है। वह आत्मा है, वही अन्ततः जानने योग्य है। माण्डूक्योपनिषद् के आगम प्रकरण के नव, दश, एकादश मन्त्र में ओंकार की मात्राओं का आत्मा के पादों के साथ तादात्म्य दिखाया गया है, जिसमें अकार को विश्व का वाचक, उकार को तेजस् का तथा मकार को प्राज्ञ का वाचक बताया गया है और तुरीय आत्मा को ओंकार की मात्रा रहित अवस्था बताया गया है।[1418]

अद्वैतवेदान्त में इस नानात्व जगत् के एकान्तिक कारण को परमतत्त्व कहा जाता है। परमतत्त्व अर्थात् सर्वश्रेष्ठ तत्त्व। अद्वैतवेदान्त में परमतत्त्व सम्बन्धी विचार इस अनुमान पर आश्रित है कि जैसे घट, सुराही, सकोरे आदि के मूल में मिट्टी विद्यमान् है। कुर्सी, पलंग, दरवाजा आदि के मूल में लकड़ी विद्यमान् है। उसी प्रकार इस जगत् के नानात्व का भी एक मूल कारण है। वह कारण ही जगत् के नानात्व के रूप में भासित होता है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में भी परमतत्त्व को एक पुरुष मानकर जगत् के नानात्व को उसके अंग-उपांगों के रूप में बताया गया है।[1419] उपनिषदों में जगत् के मूल कारण के विषय में अनेकों बार प्रश्न उठाया गया है। जैसे केनोपनिषद् में कहा गया है कि यह मन किसके द्वारा प्रेरित होकर अपने विषयों को प्राप्त करता है? प्राण किससे प्रेरित होता है? यह वाणी किससे प्रेरित होकर बोलती है? वह कौन अधिष्ठान देव चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियों को अपने विषयों में नियुक्त करता है।[1420]

उपनिषद् ऋषियों को पूर्वाभास था कि अचेतन वस्तु किसी कार्य में स्वत: प्रवृत्त नहीं हो सकते है। यदि मन, प्राण, वाणी और इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय की ओर उन्मुख हो रहे हैं। तो निश्चय ही इन्हें अपने कार्य में प्रवृत्त करने वाला कोई चेतन तत्त्व होगा। ऋषियों के मत में किसी वस्तु को समझने के लिए उसके कारण का ज्ञान आवश्यक है। जैसे मिट्टी का ज्ञान होने पर मिट्टी से बनी प्रत्येक वस्तु का ज्ञान हो जाता है। घट आदि विकार केवल वाणी पर अवलंवित होते हैं। उसी प्रकार इस सम्पूर्ण नानात्व जगत् को समझने के लिए उसके मूल कारण का ज्ञान होना आवश्यक है। छांदोग्य-उपनिषद् में आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से पूछा कि क्या तुमने वह आदेश सुना जिसके ज्ञान से अश्रुत भी श्रुत के समान

[1418] मा.उ.1.12

[1419] ऋ.सं.10.90.11

[1420] केनेषितं पतति प्रेषितं मन: केन प्राणा: प्रथमं प्रैति युक्त:। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षु: श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥ -केन.उ.1

और अज्ञात वस्तु भी ज्ञात हो जाती है?[1421] फिर इस प्रश्न का उत्तर श्वेतकेतु के द्वारा न दिये जा सकने पर पिता आरुणि ने उस सत् वस्तु का कथन किया।[1422] अर्थात् सत् ही वह परम तत्त्व है, जिससे नानात्व जगत् की उत्पत्ति हुई है। मुख्य रूप से सभी उपनिषद् ऋषियों का एक ही विचार है कि इस जगत् का कारण एक सत् तत्त्व है। उसी से जगत् की अभिव्यक्ति होती है और वह तत्त्व ब्रह्म हैं। यद्यपि सभी उपनिषदों में कारण विषयक प्रश्न नहीं किया गया है तथापि उस परम कारण को ध्यान में रखकर ही विषय निरूपण किया गया है।

उपनिषद् में स्वर्ण आभूषण और घट विषयक जो उदाहरण दिये जाते हैं। उसका एक मात्र कारण सत् और असत् विषयक विवेक उत्पन्न करना है। मिट्टी और घट के उदाहरण में यह दिखाना कि मिट्टी ही नित्य और अव्यय है और इसके विपरीत घट विकारी, अनित्य और व्यय होने से असत् है। इस प्रकार इन उदाहरणों के माध्यम से संसार के नानात्व को असत् तथा उसके कारणभूत सत्ता को सत् दिखाकर विवेकज्ञान उत्पन्न करना ही उपनिषदों का उद्देश्य है।

उपनिषद् ऋषियों द्वारा प्रतिपादित सत्य की अव्यक्त परिभाषा योगवासिष्ठ, विष्णुपुराण और गौडपाद कारिका में व्यक्त रूप धारण कर लेती है। योगवासिष्ठ में सत् को परिभाषित करते हुए लिखा गया है, '*आदावन्ते च यन्नित्यं तत्सत्यं*'[1423] अर्थात् जो आदि और अन्त में नित्य है, वह सत् है। विष्णुपुराण में कहा गया है कि '*यत्तु कालान्तरेणापि नान्यं संज्ञामुपैति*'[1424] अर्थात् जो कालान्तर में भी दूसरा नाम नहीं धारण करता है, वह सत् है। गौडपाद कारिका में असत् की परिभाषा से सत् की ओर लक्षित किया गया है, '*आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा*'1425। अर्थात् जो आदि और अन्त में नहीं है। वह वर्तमान में भी न होने से असत् है। इसके विपरीत सत् तीनों कालों में होता है।

[1421] येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति। -छा.उ.6.1.3
[1422] सदेव सोम्येदमग्र आसीत। - वहीं, 6.2.1

[1423] यो.वा.5.5.9, आदावन्ते च यन्नास्ति कीदृशी तस्य सत्यता। आदावन्ते च यन्नित्यं तत्सत्यं नाम नेतरत॥
[1424] वि.पु.2.13.10
[1425] मा.उ. 2.6

आचार्य शंकर ने इन परिभाषाओं को अप्रत्यक्षत: स्वीकार करते हुए सत् और असत् का विभाग बुद्धि के अधीन बताया है।[1426] घट पट विषयक बुद्धि का व्यभिचार हो जाता है; क्योंकि घट पट के नष्ट हो जाने पर तद्विषयक बुद्धि भी नहीं रहती है। जबकि त्रिकालाबाधित सत् विषयक बुद्धि का व्यभिचार नहीं होता है। अत: वह सत् है। सत् बुद्धि का लक्षण करते हुए आचार्य ने कहा है *'विशेषण विषया एव सा सद्-बुद्धि'*[1427] अर्थात् सत् बुद्धि केवल विशेषण को ही विषय करने वाली होती है। घट के उदाहरण में घट विशेष्य है और अस्तित्त्व विशेषण है।[1428] घट विशेष्य का अभाव होने से सत् विशेषण का अभाव नहीं होता है। इस प्रकार आचार्य शंकर के मत में अस्तित्त्व रूप विशेषण ही सत् है; क्योंकि उस अस्तित्त्व का व्यभिचार नहीं देखा जाता है *'यद्विषयाबुद्धि: न व्यभिचरति तत् सत्'।*[1429] इसी आधार पर आचार्य शंकर ने परमार्थ का भी लक्षण किया है, *'एकरूपेण ह्यवस्थिता योऽर्थ: स परमार्थ:'।*[1430] अर्थात् जो पदार्थ जैसा है यदि सदैव उसी रूप में रहे, तो वह परमार्थ है। इसके विपरीत *'न हि वस्तुवृत्तेन विकारो नाम कश्चिदस्ति'*[1431] अर्थात् विकार नाम की कोई वस्तु यथार्थ रूप में नहीं है।

निर्गुण का अर्थ है सभी विशेषणों से रहित परमतत्त्व। नाना रूपात्मक विकारों का निषेध करने पर जो अविकारी, शाश्वत, नित्यवस्तु प्राप्त होती है, आचार्य शंकर ने उसे ही सत् या परमार्थ कहा है। इसे ही ब्रह्म शब्द से कहा गया है। ब्रह्म शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है कि *'निरतिशयं भूमाख्यं बृहत्वाद् ब्रह्मेति विद्धि'।*[1432] अर्थात् अपने बृहत्व के कारण निरतिशय या भूमा ही ब्रह्म कहलाता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् भाष्य में आचार्य ने इसे बढ़ा हुआ बताया है, *'बृहति बृहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति'*[1433] अर्थात् जो बढ़ा हुआ है और बढ़ाता है इसलिए परब्रह्म कहलाता है।

[1426] भग.गी.2.16, शां.भा.
[1427] वहीं
[1428] अद्वै.ऐ.वि.186
[1429] भग.गी.2.16, शां.भा.
[1430] ब्र.सू.2.1.11, शां.भा.
[1431] ब्र.सू.2.1.14, शां.भा.
[1432] केन.उ.1.5, शां.भा.
[1433] श्वे.उ.1.1, शां.भा.

ब्रह्म का स्वरूप निर्धारित करने के लिए शंकराचार्य ने ब्रह्म का लक्षण[1434] बताते हुए कहते हैं *'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्मेति ब्रह्मणो लक्ष्यार्थ वाक्यम्'।*[1435] यहाँ सत्य, ज्ञान और अनन्त को ब्रह्म का लक्षण बताया गया है। ब्रह्मसूत्र में *'जन्माद्यस्य यत:'।*[1436] कहकर ब्रह्म का लक्षण किया गया है। शंकराचार्य द्वारा उद्धृत इन लक्षणों का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति और संहार जिससे होता है वह परम कारण रूप ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप वाला है।

वेदान्त परिभाषा आदि ग्रन्थों में इन लक्षणों को स्वरूप और तटस्थ लक्षण के रूप में देखा गया है। जिसमें से एक स्वरूप का कथन करने वाला होता है तो दूसरा पार्श्व में रहकर स्वरूप का बोध कराता है।[1437] 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म' ब्रह्म का स्वरूप लक्षण होने से विशेष निरूपण की अपेक्षा रखता है। ब्रह्म का 'सत्य' लक्षण सूचित करता है कि वह सदैव एक रूप में विद्यमान् रहता है। अपने स्वरूप से कभी व्यभिचरित नहीं होता है। सत्य शब्द ब्रह्म को सभी विकारों से निवृत्त करने के लिए रखा गया है, *'सत्यं ब्रह्मेति ब्रह्म विकारान्निवर्तयति'।*[1438] किन्तु ब्रह्म का केवल सत् लक्षण ही प्रयाप्त नहीं है; क्योंकि जगत् के कारण के रूप में यह सत् वस्तु सांख्य की प्रकृति के समान जड़ भी हो सकती है। तो क्या वह ब्रह्म जड़ है, अपितु नहीं। इसलिए ब्रह्म की जड़ता की निवृत्ति के लिए लक्षण में ज्ञान शब्द दिया गया है। इससे ब्रह्म का चैतन्य रूप होना ज्ञात होता है, जो ज्ञान है, वह चेतन स्वरूप ही है। इसीलिए इसे सच्चिदानन्द शब्द से भी कहा जाता है। अपने इस चेतन स्वभाव के कारण ही उसमें ईक्षण का गुण पाया जाता है *'ईक्षतेर्नाशब्दम्'।*[1439] अब प्रश्न है कि ज्ञान शब्द क्या लौकिक ज्ञान को कहता है अपितु नहीं; क्योंकि लौकिक ज्ञान में अन्तता पायी जाती है। इसलिए लौकिक ज्ञान से व्यावृत्ति करने के लिए उसके लक्षण में अनन्त शब्द दिया गया है; क्योंकि ब्रह्मज्ञान अनन्त और अखण्ड है। ब्रह्म का ज्ञान खण्डश:

[1434] लक्षण एवं विशेषण : विशेषण वह है जो उस विशेष्य को सजातीय पदार्थों से व्यावर्तित करता है 'समान जातियेभ्य: एवं निवर्तकानि विशेषणानि विशेष्यस्य-(तै.उ.शां.भा.2.1)। जबकि लक्षण उसे सभी वस्तुओं से पृथक् कर देता है-'लक्षणं तु सर्वगत् एव'।

[1435] तै.उ.2.1, शां.भा.

[1436] ब्र.सू.1.4.1, शां.भा.

[1437] वे.परि.प्रकरण-7, पृ.203

[1438] तै.उ.2.1, शां.भा.

[1439] ब्र.सू.1.1.5

नहीं होता है अपितु अखण्ड रूप से होता है। ब्रह्म के किसी अंश विशेष को आज जान लिया जाय, दूसरे अंश को कल जान लिया जाय ऐसा नहीं है। उसकी एकाखण्डता के कारण एक बार में ही सम्पूर्ण ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है।

इस प्रकार ब्रह्म सत्य स्वरूप होने के कारण अव्यय, नित्य, शाश्वत्, अमृतस्वरूप, अखण्ड और अविनाशी है।[1440] ज्ञान स्वरूप होने से चेतन, संविद्रूप, प्रकाश स्वरूप और बोधस्वरूप है। तथा अनन्त होने के कारण सर्वव्यापी, भूमा, पूर्ण और अनन्त स्वरूप है।[1441] इस प्रकार उस ब्रह्म की इन सभी विशेषताओं के मूल में सत्य, ज्ञान और अनन्तता ही विद्यमान् है। इन तीनों स्वरूपगत विशेषताओं में ही अन्य सभी विशेषताएँ विद्यमान् हैं। उपर्युक्त सभी विशेषताएँ अद्वैतब्रह्म की स्वरूपगत विशेषताएँ होने के कारण एक दूसरे की पूरक हैं। इस प्रकार अद्वैत ब्रह्म सम्बन्धी प्रकाश ही अव्यय, नित्य, शाश्वत्, अमृतस्वरूप, अखण्ड, अविनाशी, ज्ञानस्वरूप, चेतन, संविद्रूप, बोधस्वरूप, अनन्त, सर्वव्यापी, भूमा, पूर्ण एवं आनन्द आदि स्वरूपगत विशेषताओं से युक्त है।

परमार्थ सत् ब्रह्म ही माया से युक्त होकर सगुण ब्रह्म या अपर ब्रह्म की संज्ञा को प्राप्त होता है। यह सगुण ब्रह्म ही जगत् का कारण है।[1442] ईश्वर शरीर, इन्द्रिय से रहित होकर भी सर्वज्ञ है। वह सूर्य के समान नित्य प्रकाश स्वरूप होने के कारण नित्य ज्ञान स्वरूप है।[1443] समस्त जगत् के कारण रूप उस ईश्वर के सर्वव्यापकत्व, नित्यत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्व, सर्वात्मकत्व आदि धर्म भी कहे गये हैं।[1444] ईश्वर के अन्तर्यामी होने का कथन करते हुए आचार्य शंकर ने कहा है।[1445] ईश्वर अन्तर्यामी कैसे है? इसका कथन करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं कि *'यन्नियच्छति तत्कार्यकारणैरेव तस्य कार्यकरणत्वोपपत्ते'*[1446] अर्थात् जिसका वह नियमन करता है, उसके शरीर और इन्द्रियों से ही ईश्वर शरीर और इन्द्रियों वाला हो जाता है। ईश्वर के लिए कहीं-कहीं परमात्मा

[1440] भग.गी.2.30, शां.भा., बृ.उ.4.4.25, शां.भा., श्वे.उ.6.19, शां.भा.

[1441] छा.उ.7.23, शां.भा.

[1442] ब्र.सू.1.1.2, शां.भा.पृ.36

[1443] वहीं,1.1.5, शां.भा.पृ.86

[1444] तस्य समस्त जगत्कारणस्य ब्रह्मणो व्यापित्वं नित्यत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं सर्वात्मकत्वमित्येवं जातीयका धर्मा उक्ता एवं भवन्ति। - वहीं,1.2.1,शां.भा.पृ.148

[1445] योऽन्तर्याम्यधिदैवादिषु श्रूयते स परमात्मैव स्यात्। - वहीं,1.2.18,शां.भा.पृ.175

[1446] वहीं,1.2.18, पृ.176

शब्द का भी प्रयोग मिलता है; क्योंकि वह ईश्वर ही सभी प्राणियों की आत्मा है। अर्थात् वह परमात्मा ही सभी आत्माओं (जीवों) में व्याप्त होकर उसका नियमन करता है। इस प्रकार नियमन करना ब्रह्म की ही उपाधि है। अर्थात् ब्रह्म की नियमन करने वाली उपाधि ही ईश्वर है।

आचार्य शंकर ने ब्रह्मज्ञान को पराविद्या तथा ईश्वर के ज्ञान को अपराविद्या नाम दिया है।[1447] ईश्वरज्ञान और ब्रह्मज्ञान परस्पर पृथक् हैं; क्योंकि आचार्य ब्रह्म ज्ञान को मुक्तिदायक मानते हैं। ईश्वर ज्ञान में विश्वज्ञान निहित होने से मुक्ति दायक नहीं होता है। डॉ.राधाकृष्णन के अनुसार ईश्वर, ब्रह्म एवं विश्व के मध्य का तत्त्व है; क्योंकि वह दोनों के स्वरूप में भागीदार है। ईश्वर ब्रह्म से एकता रखते हुए भी विश्व से सम्बन्धित है।[1448]

आचार्य शंकर के मत में ईश्वर को किसी भी युक्ति से सिद्ध नहीं किया जा सकता है। ईश्वर को सिद्ध करने के लिए सभी युक्तियाँ अपर्याप्त हैं। उसे सिर्फ श्रुति प्रमाण से ही जाना जा सकता है।[1449] फिर भी शंकर की रचनाओं में ईश्वर के अस्तित्त्व को सिद्ध करने के लिये तीन युक्तियाँ उपलब्ध होती हैं।

क- **कार्य-कारण युक्ति-** आचार्य शंकर के मत में ईश्वर ही इस विश्व की रचना करता है। वही इसे धारण करता है और विघटन भी करने वाला है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ होने से इस विश्व का कारण हो सकता है।[1450] ईश्वर का कोई कारण नहीं है, बल्कि ईश्वर ही समस्त विश्व का अद्वैत कारण है। वह विश्व का उपादान और निमित्त दोनों कारण है। ईश्वर इस विश्व का निमित्त कारण होने से नाम, रूप के अभेद युक्त बीजों में विभेदीकरण करता है। सूक्ष्म तत्त्वों की रचना करके एक विशेष अनुपात में एक दूसरे से मिलाता है और स्थूल तत्त्वों की रचना करता है।[1451]

पूर्वपक्ष की ओर से आपत्ति की जाती है कि ईश्वर और विश्व में भेद है। ईश्वर शुद्धचेतन, अविकारी एवं अपरिवर्तनशील है, जबकि विश्व अशुद्ध, अचेतन,

---

[1447] मु.उ.1.1.4-5, शां.भा.
[1448] इण्डियन फिलॉस्फी, भाग-2, पृ.557, अद्वै.ऐ.वि.190 पर् उद्धृत
[1449] ब्र.सू.1.1.2, शां.भा.
[1450] वहीं,1.4.5, शां.भा.
[1451] अद्वै.ऐ.वि.पृ.190

विकारी एवं परिवर्तनशील है। इसलिए ईश्वर विश्व का कारण नहीं हो सकता है; क्योंकि कारण और कार्य का स्वरूप समान होना चाहिए। कारण के गुण कार्य में भी दिखाई देने चाहिए। विश्व में ईश्वर के लक्षण न दिखायी देने से ईश्वर विश्व का कारण नहीं हो सकता है।[1452] उसी प्रकार जैसे घट का कारण सिर्फ मिट्टी हो सकती है सुवर्ण नहीं; क्योंकि घट और मिट्टी में समानता है। इसका समाधान करते हुए आचार्य शंकर ने कहा है कि कार्य और कारण में समानता होना आवश्यक नहीं है। जैसे अचेतन बाल और नाखून चेतन मनुष्य से उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार ईश्वर और विश्व में भी समानता होना आवश्यक नहीं है।[1453]

यह भी आपत्ति हो सकती है कि प्रलय के समय विश्व का स्थूल्य, सावयवत्व, अचेतनता, अशुद्धता एवं सीमितता आदि गुण ईश्वर में मिलकर उसके स्वरूप को दूषित कर देते होंगे। इसके उत्तर में आचार्य शंकर ने कहा है कि यह आवश्यक नहीं है; क्योंकि आभूषण के आकार, टेढ़ापन, सुन्दरता आदि गुण अपने कारण सुवर्ण में मिलकर उसके स्वरूप को दूषित नहीं करते हैं। उसी प्रकार प्रलय काल में विश्व के गुणों से ईश्वर तत्त्व दूषित नहीं होता है।[1454]

यह भी कहा जा सकता है कि यदि ईश्वर ही हम सबका कारण है तो किसी को दु:खी किसी को सुखी बनाकर पक्षपात क्यों करता है? इसके उत्तर में शंकराचार्य ने कहा है कि ईश्वर निष्पक्ष रूप से प्राणियों के कर्मों के अनुसार फल देता है। प्राणी अपने कर्मों से सुखी दु:खी होता है। अत: ईश्वर पर पक्षपात करने का आरोप नहीं लगाया जा सकता है। इस प्रकार शंकराचार्य कार्य-कारण की युक्ति से ईश्वर को विश्व के कारण के रूप में सिद्ध करने का प्रयास किया है।

ख- **उद्देश्य परक युक्ति-** आचार्य शंकर की दृष्टि में इस विश्व में एकता, व्यवस्था, सामंजस्य एवं क्रम विद्यमान् है। प्रत्येक बिन्दु पर समायोजन एवं अनुकूलता भी विद्यमान् है। यह समायोजन सम्पूर्ण सृष्टि में विद्यमान् है। ऐसा समायोजन कोई चेतन तत्त्व ही कर सकता है। प्रकृति अचेतन होने से विश्व समायोजन करने में

[1452] ब्र.सू.2.1.4, शां.भा.

[1453] ब्र.सू.2.1.6, शां.भा.

[1454] वहीं,2.1.19, शां.भा.

असमर्थ है। अत: इसे समायोजित करने वाला कोई बुद्धि युक्त कर्ता ही हो सकता है।[1455]

ग- **नीतिपरक युक्ति –** आचार्य शंकर कर्म के नियम में विश्वास करते हैं। मनुष्य जैसे कर्म करता है, उसी प्रकार का फल मिलता है। मनुष्य के कार्यों में विविधता है। इसलिए भिन्न-भिन्न फल भी प्राप्त होते हैं। अब प्रश्न है कि मनुष्य को कर्मों के अनुसार फल कैसे प्राप्त होता है? मनुष्य स्वयं अपने कर्मों का फल नहीं ले सकता है; क्योंकि ऐसी स्थिति में वह अपने बुरे कर्मों का भी अच्छा फल ले लेगा। इस सम्बन्ध में मीमांसक अपूर्व (अदृष्ट) को मानते हैं कि प्रत्येक कर्म अपूर्व की सृष्टि करता है और यह अदृष्ट ही उचित समय पर फल प्रदान करता है। आचार्य शंकर कहते हैं कि अदृष्ट अचेतन होने से कर्मों का फल नहीं दे सकता है। वह अदृष्ट भी किसी चेतन के निर्देशन में कार्य करता है। वह चेतन तत्त्व ईश्वर है। अत: ईश्वर ही हमारे शुभ अशुभ अदृष्ट के अनुसार फल प्रदान करता है।[1456]

आचार्य शंकर ने मोक्ष के स्वरूप पर विचार करते हुए उसे जीव-ब्रह्म ऐक्य रूप माना है। ऐसी शंका हो सकती है कि शास्त्र से अविद्या की निवृत्ति होने पर मोक्ष उत्पन्न होता है। अत: उत्पन्न होने के कारण मोक्ष अनित्य हुआ। इसका समाधान करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है कि मोक्ष नित्य है; क्योंकि अविद्या कल्पित संसारित्व की तत्त्वज्ञान से निवृत्ति होने पर नित्यमुक्त आत्मा का यथार्थ स्वरूप ज्ञान होने के कारण मोक्ष में अनित्यत्व दोष नहीं आता है।[1457]

जीवात्मा के दो स्थान बताये गये हैं। प्रथम इहलोक द्वितीय परलोक। तीसरा स्थान जो स्वप्न स्थान है। वह दोनों का संधि स्थल है। किन्तु अधिक महत्त्व का है। ऋषि कहते हैं कि जब यह पुरुष सोता है, तो यह अपने स्थूल शरीर को अचेत कर देता है। अपने वासनामय शरीर को स्वयं बना लेता है। इस प्रकार वह ज्योति स्वरूप से शयन करता है। अर्थात् इस स्वप्नावस्था में वह पुरुष स्वयं ज्योति होता है; क्योंकि स्वप्नावस्था में न इन्द्रियाँ होती हैं, न ही आदित्य, चन्द्र, अग्नि आदि प्रकाश होते हैं। फिर भी विषयों का प्रत्यक्ष किया जाता

[1455] वहीं,2.1.2, शां.भा.

[1456] वहीं,1.2.13, शां.भा.

[1457] अविद्याकल्पितसंसारित्वनिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्न मोक्षस्यानित्यत्वदोष:। - ब्र.सू.1.1.4, शां.भा., पृ.181

है। सभी विषय उपस्थित रहते हैं। किन्तु उन विषयों का प्रकाशन चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों से नहीं होता है। इसलिए स्वप्न की अवस्था में आत्मा को स्वयं ज्योति कहा गया है। यह आत्मा अपनी ही ज्योति से सभी वस्तुओं एवं विषयों को प्रकाशित करता है। श्रुति में कहा गया है कि स्वप्न में न रथ होता है, न अश्व होता है, न ही मार्ग होते हैं। फिर भी वह रथ, घोड़े एवं मार्गों की रचना कर लेता है। उस अवस्था में मोद, प्रमोद, आनन्द नहीं होता है। फिर भी वह इनकी रचना कर ही लेता है। कुण्ड, नदियाँ, सरोवर आदि न होने पर भी उनकी रचना कर लेता है।[1458]

श्रुति में कहा गया है कि यह आत्मा स्वप्न के द्वारा शरीर को निश्चेष्ट कर देती है और स्वयं जागता हुआ सभी वासनामय पदार्थों को प्रकाशित करता है। यह पुरुष अकेले ही स्वप्नावस्था, जाग्रतावस्था, इहलोक और परलोक में जाने वाला होता है। इसलिए इसे 'हंस' कहा जाता है। स्वप्नावस्था के रूपादि इन्द्रिय मात्राओं को लेकर जाग्रत अवस्था में चला जाता है।[1459] ऋषि के मत में यह हिरण्यमय आत्मा स्वप्नावस्था में स्थूल शरीर से बाहर चला जाता है। जिस वस्तु में वासना होती है। उस वस्तु के पास जाकर आनन्द लेता है। इस स्थिति में भी उसका स्थूल शरीर मृत नहीं होता है; क्योंकि वह प्राण से उसकी रक्षा करता है।[1460] यह देव स्वप्न में ऊँच-नीच अनेक भावों को प्राप्त होता है। स्त्रियों के साथ आनन्द मनाता है। अनेक प्रकार के पशु पक्षियों से भय मानता हुआ वर्तमान रहता है।[1461] यह देव स्वप्न में इन्द्रिय द्वारों से निकलकर वासनायुक्त विषयों के पास चला जाता है। जाग्रत में आने से पूर्व पुन: उन्हीं द्वारों से होकर शरीर में आ जाता है। आयुर्वेदाचार्यों का मानना है कि सोये हुए पुरुष को एकाएक नहीं जगाना चाहिये। अन्यथा जीवात्मा अपने इन्द्रिय मार्ग को नहीं पायेगा।

कुछ लोगों का मानना है कि पुरुष जागरित अवस्था में हाथी, रथ आदि जो कुछ भी देखता है, वही स्वप्न में भी देखता है। इससे आत्मा स्वयं ज्योति नहीं है, यह सिद्ध होता

[1458] न तत्र रथा न रथ योगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथ: सृजते। -बृ.उ.4.3.10

[1459] स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्या सुप्त: सुप्तानभिचाकशीत । शुक्रमादाय पुनरैति स्थानं हिरण्यमय: पुरुष एक हंस:। - वहीं,4.3.11

[1460] प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा। स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्यमय: पुरुष एक हंस:। -बृ.उ.4.3.12

[1461] स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देव: कुरुते बहूनि । उतेव स्त्रीभि: सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् । - वहीं,4.3.13

है। किन्तु यहाँ श्रुति में स्पष्ट कहा गया है कि आत्मा स्वप्न में स्वयं ज्योति होता है। आत्मा के स्वयं ज्योति मानने की स्थिति में यही मानना पड़ेगा कि स्वप्नावस्था में जागरित जगत् का ज्ञान नहीं होता है, अपितु वह आत्मा सर्वथा नवीन रूप से स्वप्न जगत् की सृष्टि करता है।[1462]

आचार्य शंकर ने भी अपने भाष्य में यही लिखा है कि स्वप्नावस्था में सभी इन्द्रियाँ उपरत हो जाती हैं। इन्द्रियों के उपरत होने पर ही पुरुष स्वप्न देखता है। अत: इन्द्रियों के न होने पर आत्मा का ही स्वयंज्योति होना सिद्ध होता है।[1463] श्रुति में कहा गया है कि सुषुप्तिकाल में आत्मा जो कोई भी कार्य करता हुआ दिखायी देता है, उससे वह लिप्त नहीं होता है। रमण करता है या विहार करता है या पाप-पुण्य जो कुछ भी करता है। उससे लिप्त नहीं होता है, केवल देखता है। इस पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने सुषुप्ति के स्थान पर स्वप्नावस्था किया है। अर्थात् पुरुष स्वप्नावस्था में किसी कर्म से लिप्त नहीं होता है। स्वप्न में उसके द्वारा किसी प्रकार का अपराध किये जाने पर भी जाग्रत में वह लोगों के द्वारा अपराधी नहीं माना जाता है।[1464] इसी प्रकार आत्मा स्वप्नावस्था के भोगों से भी असंग ही रहता है। स्वप्नावस्था में रमण करके पुण्य और पापों को देखकर अपने उसी स्थान को लौट जाता है, जिस स्थान से आया रहता है। अर्थात् यह आत्मा पुन: अपने जागरित स्थान को चला जाता है।[1465] यह आत्मा जागरित अवस्था में भी असंग ही रहता है; क्योंकि जागरित अवस्था में भी रमण, विहार, पाप, पुण्य को देखकर पुन: यथा स्थान लौट जाता है।[1466] इन श्रुति प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति काल में एक ही आत्मा होता है। जाग्रत से स्वप्नावस्था और स्वप्न से सुषुप्ति अवस्था आती है। जाग्रत अवस्था में यह आत्मा अपने सभी इन्द्रियों से युक्त होता है। यह इन्द्रियों से विषयों का अनुभव करता है। अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि जाग्रत अवस्था में अनुभूत विषयों का ही स्वप्नावस्था में अनुभव होता है। किन्तु ऐसा नहीं होता है। आचार्य शंकर के भाष्य में यही कहा है कि स्वप्नावस्था में यह आत्मा इन्द्रियों से रहित स्वयं

[1462] यानि ह्येव जाग्रत पश्यति तानि सुप्त इत्यत्रायं पुरुष: स्वयं ज्योति: भवति। - वहीं,4.3.14

[1463] तदसत् इन्द्रियोपरमात् उपरतेषु हीन्द्रियेषु स्वप्नान् पश्यति; तस्मानान्यस्य ज्योतिषस्तत्र सम्भवोऽस्ति। - वहीं,शां.भा.

[1464] स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च। - वहीं,4.3.15

[1465] बृ.उ.4.3.16

[1466] वहीं,4.3.17

ज्योति होता है।[1467] अत: स्वप्न जगत् आत्मा की अपनी रचना है। जीवात्मा की तुलना एक महामत्स्य से की गयी है। जैसे महामत्स्य नदी के किनारों को बारी-बारी से स्पर्श करता है। उसी प्रकार यह आत्मा भी कभी स्वप्न तो कभी जाग्रत पुन: जाग्रत से स्वप्नावस्था में बारी-बारी आता जाता रहता है।[1468]

यहाँ यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण है कि स्वप्न और जाग्रत अवस्था का जगत् एक नहीं है। न स्वप्न-जगत् जाग्रत की वासना ही है, अपितु दोनों भिन्न-भिन्न हैं। स्वप्न-जगत् जाग्रत से सर्वथा पृथक् एवं नवीन सृष्टि होती है। सुषुप्ति आत्मा की विश्रान्ति अवस्था है, जबकि स्वप्न और जाग्रत अवस्थाएँ आत्मा की अशान्त अवस्थायें होती हैं। इन दोनों अवस्थाओं में आत्मा चञ्चल बना रहता है। पुन: वह विश्रान्ति पाने के लिए सुषुप्ति में चला जाता है। इसकी तुलना एक बाज पक्षी से करते हुए कहा गया है कि जैसे बाज पक्षी दिन भर उड़ने से थक जाने पर अन्तत: अपने घोसले में आ जाता है। उसी प्रकार यह आत्मा सुषुप्ति अवस्था में चला जाता है। सुषुप्ति काल में यह न किसी भोग की इच्छा करता है, न कोई स्वप्न ही देखता है।[1469]

हमारी दृष्टि में केवल सूर्य का प्रकाश और विद्युत् का प्रकाश ही दिखायी देता है; क्योंकि प्रकाश में रूप होता है। रूप चक्षुरिन्द्रिय का विषय है। इसलिए चक्षुरिन्द्रिय से उसका ज्ञान होता है। वस्तु स्वरूप को प्रकाशित करने के कारण सूर्य का प्रकाश सत्त्व प्रधान होता है। जबकि आवरण कारक होने के कारण अन्धकार को तमस् कहा जाता है। शंकराचार्य के मत में तमस् नेत्र व्यापार को रोकने वाला होता है और सूर्य का प्रकाश नेत्र व्यापार में सहायक होता है।[1470] नेत्र प्रकाश के सहयोग के बिना रूप का ज्ञान नहीं कर सकती है। वैज्ञानिक यह मानते हैं कि किसी वस्तु में जो रूप दिखायी देता है वह वस्तुतः प्रकाश ही होता है। भिन्न वस्तुओं में प्रकाश के भिन्न वर्णो को परावर्तित करने का गुण पाया जाता है। जैसे नीले आकाश में प्रकाश के नीले वर्ण का अपवर्तन होता है। रक्त पुष्प प्रकाश के रक्त वर्ण को परावर्तित करती है। हरित वर्ण की पत्ती प्रकाश के हरे वर्ण को

[1467] वहीं,4.3.14
[1468] वहीं,4.3.18
[1469] वहीं,4.3.19
[1470] चक्षुर्वृत्तेर्निरोधकं शर्वरादिकं तम उच्यते। तस्या एवानुग्राहकमादित्यादिकं जोतिः। - ब्र.सू.1.1.24,शां.भा. पृ.347

परावर्तित करती है। अत: पुष्प रक्त वर्ण और पत्ती हरे वर्ण की दिखायी देती है। अतः विज्ञान की दृष्टि में किसी वस्तु में रूप होने का तात्पर्य है उस वस्तु में प्रकाश को परावर्तित करने का गुण होना।

उपनिषद् में इस प्रकाश के वास्तविक स्वरूप पर भी विचार किया गया है कि यह सूर्य का प्रकाश अपने मूल रूप में क्या है? क्या सूर्य और उसका प्रकाश स्वरूपतः स्वयं में प्रकाश है या अन्य कोई तत्त्व उन्हें प्रकाश देता है। ऋषियों ने जब प्रकाश के स्वरूप पर विचार किया तो उन्होंने प्रकाश को भी शुद्ध चेतन तथा अद्वैत ब्रह्म के रूप में पाया। प्रकाश का यह कारण सभी पदार्थों का अभेद रूप था। इस भौतिक प्रकाश की विद्यमानता उसी अद्वैत ब्रह्म पर आश्रित थी। प्रकाश का कारण होने से उसे ज्योति की भी ज्योति के रूप में जाना गया। बृहदारण्यकोपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि ब्रह्म को देवताओं ने ज्योतियों की ज्योति, आयुष तथा अमृत के रूप में देखा है।[1471] मौलिक प्रकाश को निष्कर्षत: इस प्रकार समझा जा सकता है कि सच्चिदानन्दरूप स्वयंज्योति आत्मा ही मौलिक प्रकाश है।

[1471] तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्। -बृ.उ.4.4.16

षष्ठ अध्याय

प्रकाश के विभिन्न रूपों का समीक्षात्मक अध्ययन (निष्कर्ष)

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रस्थानत्रयी शांकरभाष्य में अनेक तत्त्वों का प्रयोग प्रकाश के अर्थ में हुआ है। ब्रह्म की सृष्टि में निम्नलिखित तत्त्वों को प्रकाश के रूप में देखा गया है, जैसे अग्नि, विद्युत्, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, दिक्, उत्तरायण, लोक, दिन, शुक्लपक्ष, मन, ज्ञान, प्राण, इन्द्रियाँ आदि। वहीं फिर प्रकाश शब्द का भी प्रयोग अनेक अर्थों में दिखायी देता है, जैसे प्रकाशित करने के अर्थ में[1472], प्रकट होने के अर्थ में[1473], बुद्धि वृत्ति के अर्थ में[1474], सूर्य चन्द्र आदि की ज्योतियों के अर्थ में[1475], ब्रह्मज्योति के लिए आदि। प्रस्थानत्रयी शांकर भाष्य में कार्य और कारण की दृष्टि से प्रकाश को दो रूपों में देखा जा सकता है। प्रथम कार्य रूप प्रकाश के भी तीन भेद किये जा सकते हैं- आध्यात्मिक प्रकाश, आधिभौतिक प्रकाश और आधिदैविक प्रकाश। शरीर को अध्यात्म कहते हैं।[1476] शरीर से सम्बन्धित प्रकाश के विभिन्न रूप आध्यात्मिक प्रकाश कहलाते हैं। आध्यात्मिक प्रकाश के अतिरिक्त परमात्मा से उत्पन्न सभी पदार्थ आधिभौतिक हैं।[1477] उनसे सम्बन्धित प्रकाश के विभिन्न रूप आधिभौतिक प्रकाश की श्रेणी में रखे गये हैं। वैदिक मान्यता में कोई वस्तु स्वयं अपने अस्तित्त्व का धारक नहीं हो सकती है। सभी वस्तुओं का एक आधिदैविक

[1472] भग.गी.5.16

[1473] वहीं,7.25

[1474] वहीं,14.11

[1475] वहीं,8.25

[1476] आत्मानं देहम् अधिकृत्य प्रत्यगात्मतया प्रवृत्तं परमार्थब्रह्मावसानं वस्तु स्वभाव: अध्यात्मम् उच्यते- वहीं,8.3 शां.भा.

[1477] अधिभूतं प्राणजातम् अधिकृत्य भवति इति। क: असौ क्षर: क्षरति इति क्षरो विनाशी भावो यत्किञ्चित् जनिमद् वस्तु इत्यर्थ:- वहीं,8.4.शां.भा.

स्वरूप होता है।[1478] वस्तु का आधिदैविक रूप ही उस वस्तु का धारक होता है। वस्तु का यह आधिदैविक रूप प्रकाशयुक्त, चेतन तथा शारीरिक अंगों से युक्त होता है। किन्तु वस्तु का यह आधिदैविक रूप भी स्वतन्त्र नहीं है। यह भी किसी परसत्ता से नियन्त्रित होता है। यह सत्ता वस्तु के आधिदैविक स्वरूप में पाया जाने वाला चेतन तत्त्व ही है। यह चेतन तत्त्व ही वस्तु का मौलिक कारण है। इसे ही ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा आदि नामों से कहा गया है।

प्रस्थानत्रयी शांकरभाष्य का अध्ययन करने के उपरान्त आधिभौतिक प्रकाश के निम्नलिखित रूप सामने आये हैं- जैसे अग्नि, सूर्य, लोक, जगत्, आकाश, चन्द्र, जल, विद्युत्, दिशाएँ आदि। शांकरभाष्य में इन तत्त्वों को किसी न किसी रूप में प्रकाश की श्रेणी में रखा गया है।

वैदिक संस्कृति देवप्रधान संस्कृति है। ऋग्वेद में प्राकृतिक तत्त्वों की देव रूप में स्तुति की गयी है, जैसे वर्षा के देवता को इन्द्र कहते हैं। आंधी तूफान के देवता को रुद्र, आकाश में चमकते सूर्य पिण्ड को सूर्य देवता आदि के रूप में जाना जाता है। निरुक्तकार यास्क ने स्थान भेद से वैदिक देवताओं को तीन रूपों में देखा है, 1- द्युलोक स्थानीय 2- अन्तरिक्ष स्थानीय 3- पृथिवी स्थानीय देवता। जैसे सूर्य, वरुण, उषस्, सवितृ, विष्णु, अश्विनौ, द्युतस्थानीय देवता हैं। इन्द्र, रुद्र अन्तरिक्ष स्थानीय देवता हैं। सोम, पृथिवी, अग्नि, बृहस्पति पृथ्वी स्थानीय देवता के रूप में परिगणित हैं। फिर उन्होंने प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष और उत्तमपुरुष के आधार पर देवताओं के तीन भेद किये हैं। प्रथम पुरुष देवता वे हैं, जिनके लिए प्रथम पुरुष सर्वनाम 'तत्' का प्रयोग किया जाता है। मध्यम पुरुष देवता वे हैं, जिनके लिए मध्यम पुरुष सर्वनाम 'युष्मद्' का प्रयोग किया जाता है। उत्तम पुरुष देवता वे हैं, जिनके लिए उत्तम पुरुष सर्वनाम 'अस्मद्' का प्रयोग होता है। वैदिक देवतावाद का प्रभाव उपनिषद् काल में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उपनिषद् ऋषियों ने भी प्राकृतिक तत्त्वों के अधिष्ठातृ देवताओं का उल्लेख किया है। उपनिषदों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि प्राकृतिक तत्त्वों के तीन रूप होते हैं- आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। सृष्टि में विद्यमान् सूर्य, चन्द्रमा, वायु, दिक्, आकाश आदि का भौतिक रूप वे स्वयं हैं। इनका आध्यात्मिक रूप मनुष्य शरीर में होता है, जैसे

[1478] पुरुषः पूर्णम् अनेन सर्वं इति पुरि शयनाद् वा पुरुष आदित्यान्तर्गतो हिरण्यगर्भः सर्वप्राणिकरणानाम् अनुग्राहकः सः अधिदैवतम्- वहीं,8.4.शां.भा.

आदित्य का आध्यात्मिक रूप नेत्र है। चन्द्रमा का आध्यात्मिक रूप मन, वायु का त्वक् आदि। तत्त्वों के ये दोनों रूप स्वयं में अचेतन होते हैं। इन दोनों रूपों में एक ही देवता का वास बताया जाता है। देवता की एकता के कारण आधिभौतिक और आध्यात्मिक रूपों का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। तत्त्वों में विद्यमान् इनका आधिदैविक रूप चेतनता से युक्त होता है। यह आधिदैविक रूप स्वयं प्रकाश रूप है और अपने क्षेत्र विशेष को भी प्रकाशित करता है।

वैदिक भाष्यकारों ने देवता शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है- *दीव्यन्तीति देवाः, देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा।*[1479] इन दोनों व्युत्पत्तियों से देवताओं के निम्न गुणों का ज्ञान होता है, प्रथम कि देवताओं में प्रकाश होता है। वे अपने क्षेत्र विशेष को प्रकाशित भी करते हैं। देवता दान देने वाले होते हैं।

ऋग्वेद के सूक्तों में देवताओं का सांगोपांग उल्लेख मिलता है, जैसे इन्द्र सूक्त में इन्द्र को विशाल शरीर, शीर्ष, भुजाओं वाला बताया गया है। वह भूरे वर्ण का देवता है। उसके केश और दाढ़ी भी भूरे रंग के हैं। इसी प्रकार इन देवताओं के माता पिता का भी उल्लेख मिलता है।[1480] विष्णु सूक्त में विष्णु देवता को युवक एवं विशाल शरीर वाला बताया गया है।[1481] अग्नि के घृत-पृष्ठ, घृत-लोम, मद्र-जिह्वा, शौचिषकेश आदि विशेषताओं से उसके शरीर होने का ज्ञान होता है।[1482] पुरुष सूक्त में सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं की उत्पत्ति विराट् पुरुष से बतायी गयी है।[1483] श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि रुद्र ने इन्द्र आदि देवताओं और हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया।[1484]

देवताओं की संख्या और प्रकार के विषय में मतभेद है। कुछ विद्वान सनातन धर्म में 33 करोड़ देवता मानते हैं। वे लोग 'तैंतीस कोटि' में कोटि शब्द का अर्थ करोड़ करते हैं। किन्तु यहाँ कोटि शब्द करोड़ वाचक न होकर प्रकार वाचक है। अर्थात् वैदिक देवताओं की संख्या 33 प्रकार की है। जिसमें 12 आदित्य 8 वसु 11 रुद्र 2 अश्विन कुमार (या इन्द्र

[1479] निरुक्त,7.15
[1480] ऋ.सं.2.12
[1481] वहीं,1.154
[1482] वहीं,1.1
[1483] वहीं,10.90.13
[1484] श्वे.उ.3.4.शां.भा.

और बृहस्पति) सम्मिलित हैं।[1485] बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने देवताओं की संख्या 3306, 33, 6, 3, 2, 1.5, 1 बताया है। देवताओं की प्रथम संख्या 3306 देवताओं की महिमाएँ हैं, जबकि देवताओं की वास्तविक संख्या 33 ही है। 12 आदित्य, 8 वसु, 11 रुद्र, इन्द्र और बृहस्पति। आचार्य शंकर के अनुसार 12 मास ही 12 आदित्य हैं। अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, द्युलोक, आदित्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि 8 वसु हैं; क्योंकि ये सभी जगत् को अपने में बसाये हुए हैं।[1486] शरीर में 10 इन्द्रियाँ और आत्मा ये 11 रुद्र हैं; क्योंकि मृत्यु के समय ये लोगों को रुलाते हैं।[1487] आचार्य शंकर के मत में विद्युत् ही इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है। इस प्रकार कुल 33 देवता हैं।

आचार्य शंकर ने छ: देवताओं का उल्लेख करते हुए बताया है। अग्नि, पृथ्वी वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य द्युलोक ये छ: देवता हैं। जिसमें 33 देवताओं का अन्तर्भाव हो जाता है। 3 देव के अन्तर्गत उन्होंने 3 लोक को रखा है। जिनमें पृथ्वी और अग्नि मिलाकर एक देव हैं। अन्तरिक्ष और वायु मिलाकर दूसरे देव है, द्युलोक आदित्य मिलाकर तीसरे देव है।[1488] अन्न और प्राण को दो देवों के अन्तर्गत रखा है। इन्हीं दो में अन्य सभी देवों का अन्तर्भाव है। वायु को डेढ़ देव के अन्तर्गत रखा है। जबकि प्राण को एक देव माना है; क्योंकि यह प्राण ही ब्रह्म है। इस ब्रह्म में सबका अन्तर्भाव हो जाता है।[1489]

वैदिक ऋषियों ने मानव देह को अनेक देवताओं का निवास स्थान बताया है। इस कारण इसे दिव्यनगर या देवपुरी कहा जाता है।[1490] यह मानव देह देवताओं का आयतन है।

[1485] भग.गी.सा.सं.टी., 1056

[1486] कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्योश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं सर्वं हितमिति तस्माद् वसव इति। -बृ.उ.3.9.3

[1487] कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति। - वहीं,3.9.4

[1488] पृथिवीमग्निं चैकीकृत्यैको देव: अन्तरिक्षं वायुं चैकीकृत्य द्वितीय:, दिवमादित्यं चैकीकृत्य तृतीय: ते एव त्रयो देवा: इति। - वहीं,3.9.8, शां.भा.

[1489] एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते। - वहीं,3.9.9

[1490] अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्यमय: कोश: स्वर्गो ज्योतिषावृत्त:- अथर्व.सं.10.2.31

ऐतरेय उपनिषद् में उल्लिखित है कि देवताओं ने मानव देह के भिन्न-भिन्न अंगों में प्रवेश किया।[1491]

द्विज की भाँति देवताओं का भी वेदविद्या में अधिकार होता है। किन्तु उन्हें उपनयन आदि संस्कारों की जरूरत नहीं होती है। उन्हें स्वभावत: वेदों का ज्ञान होता है। पूर्व जन्म में किये गये सुकर्मों से उन्हें वेदों का स्वत: भान रहता है।[1492] देवताओं का ब्रह्मविद्या में भी अधिकार होता है; क्योंकि वे भी कामना और शरीर रूप सामर्थ्य से युक्त होते हैं। इतिहास पुराण आदि से देवताओं के शरीर होने का ज्ञान होता है। इस कारण भी देवताओं का ब्रह्मविद्या में अधिकार सिद्ध होता है।[1493] देवताओं का कर्म में भी अधिकार होता है। यास्क के मत में कार्यों की भिन्नता के आधार पर देवताओं के अनेक नाम होते हैं। याज्ञवल्क्य ने देवताओं की 3306 महिमाओं का उल्लेख किया है। ये महिमाएँ भी कर्म पर आधारित है।[1494]

देव शब्द द्योतनार्थक दिव् धातु से बना है, जिसका अर्थ है सत्त्व प्रधान इन्द्रिय वृत्तियाँ। दूसरा इसके विरोधी वृत्तियाँ- *'असुषु रमन्ते इति असुरा: अथवा स्वेष्वेवासुषु रमणात् सुरेभ्यो वा देवेभ्योऽन्यत्वात्'।*[1495] इन्द्रिय सुखात्मक वृत्तियाँ तमोगुण प्रधान होती हैं। ये दोनों परस्पर विरोधी स्वभाव वाली होने से एक दूसरे को पराभूत करने वाली होती हैं। प्रत्येक प्राणी में ये दोनों वृत्तियाँ विद्यमान् होती हैं। परिस्थितिवश इन दोनों वृत्तियों का परस्पर उद्भव और पराभव होता रहता है, जिसे देवासुर संग्राम के नाम से जाना जाता है।[1496]

श्रीमद्भगवद्गीता के 16वें अध्याय में दैवीय सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति का उल्लेख हुआ है। दैवीय सम्पत्ति मुक्ति के लिए होती है, जबकि आसुरी सम्पत्ति बन्धन देने वाली होती

[1491] ऐ.उ.1.2.4
[1492] ब्र.सू.शां.भा.पृ.729
[1493] देवादीनामपि ब्रह्मविद्यामधिकार:- वहीं,पृ.728
[1494] महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा:-बृ.उ.3.9.1-2
[1495] वहीं,1.3.1,शां.भा.
[1496] वहीं,1.3.1,शां.भा.

है।[1497] आचार्य शंकर लिखते हैं कि *'दैवी सम्पद् या सा विमोक्षाय संसार बन्धनात्, निबन्धाय नियतोबन्धो निबन्धः तदर्थं आसुरी सम्पद्।*[1498]

तैत्तिरीय उपनिषद् के मंगलाचरण में दिन, रात्रि, नेत्र, सूर्य आदि के अभिमानी देवताओं का उल्लेख हुआ है।[1499] जैसे-

मित्र (सूर्यदेव)	प्राणवृत्ति और दिन
वरुण देव	अपानवृत्ति और रात्रि
अर्यमा	नेत्र और सूर्य
इन्द्र	बल का अभिमानी
बृहस्पति	वाक् और बुद्धि
विष्णु	पादाभिमानी

इससे ज्ञात होता है कि प्राणवृत्ति और दिन ही मित्र देव का शरीर है। रात्रि और अपान वृत्ति वरुण देव का शरीर है। नेत्र और सूर्य अर्यमा का शरीर है, बल इन्द्र का शरीर है। और ये सभी देव राजा के समान अपने उन क्षेत्रों को प्रकाशित करते हैं, पोषण करते हैं और धारण करते हैं। परमात्मा ने इन देवों के अधिकार क्षेत्र को निश्चित किया है। इन अधिकार क्षेत्रों में रहकर ही देवता अपना कार्य करते हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म के भय से वायु चलता है। इसी के भय से सूर्य उदित होता है। इस ब्रह्म के भय से अग्नि, इन्द्र और मृत्यु भी प्रकृति के नियमों का पालन करते हुए देखे जाते हैं।[1500] ब्रह्म के भय से प्रकृति के नियमों का पालन करते हुए देखकर अनुमान होता है कि देवताओं को आत्मज्ञान नहीं होता है। भय द्वैत होने पर होता है। अद्वैत भय से मुक्त होता है। देवता ब्रह्म से भयभीत होते हैं। जैसे सेवक अपने स्वामी से भयभीत होता है। वैसे देवता भी ब्रह्म से भयभीत होते हैं। भय का कारण है आत्मज्ञान

[1497] दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता। मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ भग.गी.16.5

[1498] वहीं,16.5, शां.भा.

[1499] ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्यर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। -तै.उ.शांति मन्त्र, शां.भा.

[1500] भीष्माद्वातः पवते । भीषोदेति सूर्यः । भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्धावति पञ्चम इति। - वहीं,2.8.1

का अभाव। जिसे ब्रह्म के साथ अभेद की स्थिति नहीं प्राप्त होती है, उसे भय की प्राप्ति होती है।[1501]

अग्नि को प्रकाश और ऊष्णता के लिए जाना जाता है।[1502] यह अग्नि परमात्मतत्त्व का भी प्रतिनिधित्व करता है; क्योंकि अग्नि के समान परमात्मा भी अविद्या और उसके कार्यों का दाह करने वाला होता है। अविद्या और उसके कार्यों का हनन करने के कारण परमात्मा को हंस भी कहते हैं।[1503] अपने ज्योतिर्मय स्वभाव के कारण अग्नि पुरुष के व्यवहार का कारण बनता है। सूर्य और चन्द्रमा के अस्त हो जाने के उपरान्त पुरुष अग्नि की ज्योति में उठना, बैठना, कर्म करना आदि क्रियाएँ सम्पन्न करता है।[1504] उपनिषद् में सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया के सन्दर्भ में अग्निविस्फुलिंग का दृष्टांत दिया गया है। इस दृष्टांत के द्वारा यह बताया गया है कि जिस प्रकार विस्फुलिंग अग्नि से भिन्न नहीं होती हैं, अपितु अग्नि ही होती हैं। उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म से पृथक् होते हुए भी ब्रह्म रूप ही है।[1505] केवल उपाधि की दृष्टि से ही भेद दिखायी देता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार अग्नि तत्त्व अपने आश्रयों में विद्यमान् रहती है। किन्तु इन्द्रियों से उसका दर्शन नहीं होता है। माध्यम की अनुकूलता में अपने आश्रय से अग्नि की अभिव्यक्ति होती है।[1506] अग्नि की वाक् में विशेष स्थिति बतायी गयी है। अग्नि और वाक् में एक ही देवता का निवास है और वह देवता तेजोमय, अमृत स्वरूप वाला है। यह पुरुष ही आत्मा है और यही ब्रह्म है।[1507]

बृहदारण्यक उपनिषद् में अग्नि के विराट् रूप की कल्पना की गयी है। जिसमें विराट् अग्नि को एक ऐसे लेटे हुए पुरुष के रूप में बताया गया है, जो पृष्ठ भाग को ऊपर करके पूर्व दिशा में सिर करके लेटा हुआ है। ऐसे विराट् अग्नि का पूर्व दिशा सिर है। ईशान्या और आग्नेया दिशाएँ उसकी भुजाओं के समान हैं। पश्चिमा दिशा पुच्छ भाग है। वायव्या और

[1501] अथ सोऽभयं गतो भवति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य। - वहीं,2.7.1

[1502] भूताग्नेरौष्ण्यप्रकाशमात्रात्मकस्य-ब्र.सू,1.2.27,शां.भा.,पृ.523

[1503] एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः-श्वे.उ.6.15

[1504] अग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीत्यग्निनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते- बृ.उ.4.3.4 फु.6

[1505] मु.उ.2.1.1शां.भा.

[1506] वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिः न दृश्यते नैव च लिंगनाशः। -श्वे.उ. 1.13

[1507] अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः। - बृ.उ.2.5.3

नैऋत्या दिशाएँ जंघाओं के समान हैं। दक्षिणा और उत्तरा दिशाएँ पार्श्वभाग हैं। द्युलोक उस विराट् अग्नि का पृष्ठ भाग है। अन्तरिक्ष उदर तथा पृथिवी उसका हृदय है।[1508]

मुण्डकोपनिषद् में अग्नि की सात जिह्वाओं का वर्णन करते हुए बताया गया है कि काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिंगिनी और विश्वरूची ये अग्नि की लपलपाती हुई सात जिह्वाएँ हैं।[1509] इन सात जिह्वाओं से युक्त अग्नि में जो पुरुष यथा समय हवि देता है, उसे ये आहुतियाँ सूर्य की किरण बनकर सूर्यलोक को ले जाती हैं।[1510]

प्रस्थानत्रयी में अग्नि के अनेक भेदों की चर्चा हुई है, जैसे-

वैश्वानर अग्नि : वैश्वानर शब्द का प्रयोग अग्नि के आध्यात्मिक (जठराग्नि)[1511], आधिभौतिक (भूताग्नि)[1512] तथा आधिदैविक (अग्नि के अधिष्ठातृ देवता)[1513] तीनों रूपों के लिए प्रयोग हुआ है। वैश्वानर शब्द का प्रयोग परमात्मा के लिए भी हुआ है।[1514] सदानन्द योगीन्द्र ने भी वैश्वानर शब्द का प्रयोग परमात्मा के लिए किया है; क्योंकि वैश्वानर आत्मा (परमात्मा) ही स्थूल शरीरों की समष्टि की आत्मा है और स्थूल शरीरों की समष्टि वैश्वानर आत्मा का स्थूल शरीर है।[1515]

एकर्षि अग्नि- मुण्डकोपनिषद् में एकर्षि अग्नि की चर्चा हुई है। इस अग्नि का अनुष्ठान करने से चित्त शुद्धि होती है।[1516] क्योंकि शुद्ध चित्त वाला पुरुष ही ब्रह्मविद्या का अधिकारी होता है।

[1508] स त्रेधात्मानं व्यकुरुतादित्यं तृतीयं वायु तृतीयं स एष प्राणस्त्रेधा विहितः। तस्य प्राची दिक्शिरोऽसौ चासौ चेमौ। अथास्य प्रतीची दिक्पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ।दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षम् उदरमियमुरः । स एषोऽप्सु: प्रतिष्ठितो यत्र क्व चैति तदेव प्रतिष्ठित्येवं विद्वान्। - वहीं,1.2.3

[1509] काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा स्फुलिंगिनी विश्वरूची च देवी लेलायमाना इति सप्तजिह्वा:-मु.उ.1.2.4

[1510] वहीं,1.2.5

[1511] अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते। -बृ.उ. 5.9.1

[1512] ऋ.सं.10.88.12

[1513] वहीं,1.98.1

[1514] तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः। -ब्र.सू.शां.भा.पृ.512

[1515] एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विरादित्युच्यते सर्वनराभिमानित्वाद् विविधं राजमानत्वाच्च।- वे.सा.32

[1516] मु.उ.3.2.10

द्युलोक अग्नि- प्रवाहण ऋषि का कहना है कि द्युलोक को अग्नि की दृष्टि से देखना चाहिए। प्रकाशित करने के कारण आदित्य द्युलोक अग्नि के ईंधन के समान है। किरणें ही धूम हैं। प्रकाश में समानता के कारण दिन ही ज्वाला के समान है। उपशम में समानता के कारण दिशाएँ अंगारों के समान हैं। बिखराव में समानता के कारण अवान्तर दिशाएँ विस्फुलिंग हैं। यह द्युलोक अग्नि देवताओं की है। इसमें देवता लोग हवन करते हैं।[1517]

पर्जन्य अग्नि- प्रवाहण ऋषि के मत में पर्जन्य को भी अग्नि की दृष्टि से देखना चाहिए। छः ऋतुओं वाला संवत्सर ही इस पर्जन्य अग्नि का ईंधन है; क्योंकि इन छः ऋतुओं से ही पर्जन्य अग्नि प्रदीप्त होती है। धूम से समानता के कारण बादल ही धूम हैं। विद्युत् इस अग्नि की ज्वाला है। इन्द्र का वज्र ही अंगार है। मेघ गर्जन विस्फुलिंग के समान है। देवता लोग जब इस पर्जन्य रूप अग्नि में हवन करते हैं, तो वृष्टि होती है।[1518]

इहलोक अग्नि- प्रवाहण ऋषि के मत में इहलोक को भी अग्नि की दृष्टि से देखना चाहिए। जिसमें पृथ्वी इहलोक अग्नि का समिध् है। भूताग्नि इसका धूम है। रात्रि ज्वाला है। चन्द्रमा अंगार है। नक्षत्र विस्फुलिंग है। देवता लोग इस अग्नि में वृष्टि से हवन करते हैं, जिससे अन्न उत्पन्न होता है।[1519]

पुरुष अग्नि- पुरुष के भी अग्नि की दृष्टि से देखना चाहिए। खुला हुआ मुख ही ईंधन है। बहिर्गमन रूप वायु ही उस समिध का धूम है। प्रकाशित करने में समानता रखने के कारण वाक् ही ज्वाला के समान है। नेत्र ही अंगारे हैं और श्रोत्र ही विस्फुलिंग है। देवता लोग जब पुरुष रूप अग्नि में अन्न की आहुति देते हैं, तो वीर्य बनता है।[1520]

योषाग्नि- प्रवाहण ऋषि के मत में स्त्री को भी अग्नि की दृष्टि से देखना चाहिए। जिसका उपस्थ ईंधन है। लोम धूम के समान हैं। योनि ही ज्वाला है। अन्तर्दिक मैथुन व्यापार ही

[1517] असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तर दिशो विस्फुलिंगास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा: श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा सम्भवति। -बृ.उ.6.2.9

[1518] पर्जन्यो वा अग्निर्गौतम तस्य संवत्सर एव समिदभ्राणि धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गाराह्राहुनयो विस्फुलिंगास्तस्मिन्ने तस्मिन्नग्नौ देवा सोमं राजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टि: संभवति। - वहीं,6.2.10

[1519] अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्य पृथिव्येव समिदग्निर्धूमो रात्रिरर्चिश्चन्द्रमा अंगारा नक्षत्राणि विस्फुलिंगास्तस्मिन्नेतस्मिन्नगौ देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नं संभवति। - वहीं,6.2.11

[1520] पुरुषो वा अग्निर्गौतम तस्य व्यात्तमेव समित् प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गारा: श्रोत्रं विस्फुलिंगास्तस्मिन्नेतस्मिन् अग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुत्यै रेत: संभवति। - वहीं,6.2.12

अंगार है। क्षुद्रत्व की समानता के कारण क्षणिक आनन्द ही विस्फुलिंग है। देवगण जब योषाग्नि में वीर्य का हवन करते हैं, तो पुरुष उत्पन्न होता है।[1521]

अतिथि अग्नि- कठोपनिषद् में अतिथि अग्नि की चर्चा हुई है। ब्राह्मण पुरुष जब अतिथि के रूप में घर आता है, तो वह अग्नि के समान तेजस्वी होता है। यदि उसे आतिथ्य से प्रसन्न न किया जाये तो अग्नि की भाँति धन, वैभव, शील, सदाचार आदि का नाश करने वाला होता है। अग्नि तो सिर्फ स्थूल वस्तुओं को जलाती है, जबकि अतिथि रूप अग्नि समस्त पुण्यकर्मों को भी जला देने वाला होता है। अग्नि के समान अतिथि अग्नि को भी सेवा सत्कार से शान्त करना पड़ता है।[1522]

ज्ञानाग्नि- श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञान को अग्नि के समान बताया गया है; क्योंकि अग्नि के समान ज्ञान भी संचित कर्मों को दग्ध कर देता है।[1523] ज्ञानाग्नि की उपमा अग्नि से देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि काष्ठादि ईंधन को जलाकर नष्ट कर देती है। उसी प्रकार ज्ञानाग्नि भी सभी कर्मों को भस्म कर देती है।[1524]

ब्रह्माग्नि – अद्वैतवेदान्त में एक मात्र ब्रह्म की सत्ता स्वीकार की गयी है। ब्रह्म सत्य है और यह जगत् प्रपंच सीपी में दिखायी देने वाले रजत् के समान भ्रम मात्र है। ब्रह्मविद् पुरुष यज्ञ के समय अग्नि, हवि आदि समस्त वस्तुओं को ब्रह्ममय देखता है। इसी सन्दर्भ में श्रीमद्भगवद्गीता में ब्रह्माग्नि की चर्चा आयी है।[1525]

संयम अग्नि- श्रीमद्भगवद्गीता में संयम को भी एक प्रकार की अग्नि बताया गया है; क्योंकि योगी पुरुष संयम रूप अग्नि में इन्द्रियों का हवन किया करते हैं। अन्य लोग शब्दादि विषयों को इन्द्रियों में हवन करते हैं। इसलिए इन्द्रियाँ भी अग्नि हैं।[1526]

[1521] योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः ...। - वहीं,6.2.13

[1522] वैश्वानरोऽग्निरेव साक्षात् प्रविशत्यतिथिः सन्ब्राह्मणो गृहान्दहन्निव तस्य दाहं शमयन्त। - कठ.उ.1.1.7, शां.भा.

[1523] कर्मादौ अकर्मादिदर्शनं ज्ञानं तद् एव अग्निः तेन ज्ञान अग्निना दग्धानि शुभाशुभलक्षणानि। -भग.गी. 4.19, शां.भा.

[1524] वहीं,4.37

[1525] वहीं,4.24

[1526] वहीं,4.26

आयुर्वेद के अनुसार मानव शरीर अनेक प्रकार की अग्नियों का समूह है; क्योंकि इस शरीर में 13 प्रकार की अग्नियाँ पायी जाती हैं।

जठराग्नि- यह अग्नि केवल एक प्रकार की होती है। इसे पाचक अग्नि या कायाग्नि के नाम से भी जाना जाता है।[1527] इसका स्थान आमाशय और पक्वाशय के बीच नाभि प्रदेश में बताया गया है। यह अग्नि खाये गये अन्न को पचाने का काम करती है। अन्न को पचाकर शरीर के अनुकूल बनाती है। जठराग्नि पाक क्रिया द्वारा भोजन में आरम्भिक परिवर्तन करती है और आयु, वर्ण, स्वर, बल, ऊर्जा, शारीरिक वृद्धि, उत्साह, ओज, शारीरिक ताप और अन्य अग्नियों को क्रियाशील बनाये रखने में सहायता करती है।[1528] जठराग्नि की निम्नलिखित चार अवस्थायें हो सकती हैं: 1- विषमाग्नि 2- तीक्ष्णाग्नि 3- मन्दाग्नि 4- समाग्नि

धात्वग्नियाँ– धातु अग्नियों की संख्या सात है। जठराग्नि और भूताग्नि की सहायता से पंचभूतात्मक रूप को प्राप्त हुआ अन्नरस जब धात्वाशय में पहुँचता है। तो धात्वाग्नियाँ पुन: उसका पाचन करती हैं, जिससे अन्नरस, रसरक्त, आदि धातुओं में बदल जाता है। सात धातुओं की संख्या के अनुसार अग्नियाँ भी सात बतायी गयी हैं। 1- रसाग्नि 2- रक्ताग्नि 3- मांसाग्नि 4- मेदोऽग्नि 5- अस्थि अग्नि 6- मज्जाग्नि 7- शुक्राग्नि।[1529]

भूताग्नि- भूताग्नि का स्थान यकृत में बताया गया है। महाभूतों की संख्या के अनुसार इनकी संख्या भी पाँच है- भौमाग्नि, आप्याग्नि, आग्नेयाग्नि, वाय्वाग्नि, आकाशाग्नि।[1530]

कठोपनिषद् में दो अरणियों के बीच स्थित अग्नि को जातवेदस् कहा गया है।[1531] आचार्य शंकर ने इसे ही अग्नि का अधिदैवत रूप माना है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में मुख से अग्नि

[1527] अष्टांग हृदय सूत्र स्थान- प्रमुख उपनिषदों में शरीर और इन्द्रिय की अवधारणा, मेघराज मीना, लघुशोधप्रबन्ध, पृ.44

[1528] आयुर्बल स्थितिरिति अन्नपाचकाग्नि स्थितौ आयुर्बलास्थित्या अत्येऽप्यातिप्रेया वर्णादयो लक्षणीया:- चक्रपाणि, प्रमुख उपनिषदों में शरीर और इन्द्रिय की अवधारणा, मेघराज मीना, लघुशोधप्रबन्ध, पृ.45

[1529] सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुन: । यथा स्वमग्निभि: पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत् –च.चि. चरकचिकित्सास्थान,15.15, प्रमुख उपनिषदों में शरीर और इन्द्रिय की अवधारणा, मेघराज मीना, लघुशोधप्रबन्ध, पृ.45

[1530] भौमाप्याग्नेयवायव्या: पंचमोष्माण: सनाभसा:-च.चि.15.13, प्रमुख उपनिषदों में शरीर और इन्द्रिय की अवधारणा, मेघराज मीणा, लघुशोधप्रबन्ध,पृ. 45

की उत्पत्ति बतायी गयी है। इसलिए मुख में स्थित वाक् ही अग्नि का आध्यात्मिक रूप है। केनोपनिषद् के तृतीय खण्ड में अग्नि के देवत्व स्वरूप का उल्लेख हुआ है। जिसमें दिखाया गया है कि अग्नि देवता में अपनी दाहकत्व शक्ति के कारण अहंकार आ जाता है। चूँकि अहंकार ही पुरुष के पतन का कारण होता है। अत: अग्नि को पतन से बचाने के लिए ब्रह्म देव ने निश्चय किया। ब्रह्म देव ने यक्ष का रूप धारण करके अग्नि के सम्मुख प्रकट होकर पूछा कि हे अग्नि ! तुम्हारी सामर्थ्य क्या है? तब अग्नि ने कहा कि पृथ्वी पर जो कुछ है, उसे मैं जला सकता हूँ। तब ब्रह्मदेव ने अग्नि के सम्मुख एक तिनका रख दिया और कहा कि इसे जलाओ। अग्नि ने अनेक बार तिनके को जलाने का प्रयास किया। किन्तु जला नहीं सका और लज्जित होकर वापस चला गया।[1532]

प्रश्नोपनिषद् में सूर्य के स्वरूप पर विचार करते हुए कहा गया है कि सूर्य सर्वरूप है। किरणों वाला या रश्मियों वाला है। ज्ञान सम्पन्न है। यह सभी प्राणियों को आश्रय देने वाला है। ज्योतिस्वरूप है।[1533] मनु आदि आचार्यों के मत में सूर्य की किरणें वर्षा कराने में सहायक होती हैं। इन किरणों पर यज्ञीय धूम का प्रभाव पड़ता है। यज्ञीय धूम से सूर्य की किरणें पुष्ट होती हैं। फिर इन्हीं किरणों से वर्षा होती है।[1534] श्रीमद्भगवद्गीता में बताया गया है कि यह सूर्य भी परमात्मा का ही रूप है। सूर्य में कई प्रकार की रश्मियाँ होती हैं। उनमें से कुछ रश्मियाँ ताप देने वाली होती हैं। कुछ रश्मियाँ वर्षा करने वाली होती हैं तो कुछ ऐसी भी होती हैं जो जल को अवशोषित करती हैं।[1535] अमरकोश में उल्लिखित सूर्य के 37 नामों से सूर्य के 37 गुणों और कार्यों का अनुमान होता है, यथा सूर्य, अर्यमन्, आदित्य, दिवाकर, भास्कर, अहस्कर, प्रभाकर, विभाकर, भास्वत्, विवस्वत्, सप्ताश्व, हरिदश्व, ऊष्णरश्मि, अर्क, अरुण, पूषन्, द्युमणि, सहस्रांशु, तपन, सवितृ, रवि आदि।[1536]

पृथिवी पर सभी प्राणियों के जीवन का आधार सूर्य है। इसलिए सूर्य को जगत् की आत्मा कहा गया है।[1537] आत्मा अर्थात् इस स्थावर जंगम जगत् का सार तत्त्व है; क्योंकि इस

[1531] अरण्योर्निहितो जातवेदा। -कठ.उ.2.1.8

[1532] केन.उ.3.3-6

[1533] प्रश्न.उ.1.8

[1534] अग्नौ प्रास्ताहुति: सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं तत: प्रजा:। -मनु.3.76

[1535] तापाम्यहमहं वर्षं निगृह्लाम्युत्सृजामि च। अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ -भग.गी.9.19,शां.भा.

[1536] अ.को.अभिमन्यु ,पृ.16

[1537] सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। -ऋ.सं.1.8.7

लोक में सूर्य से ही सभी प्राणी प्रवृत्त होते हैं। सूर्य से ही सभी प्राणी ऊर्जा ग्रहण करते हैं और सूर्य ही इनका पोषक है।

प्रश्नोपनिषद् के अनुसार सूर्य जिस दिशा में गमन करता है। उस दिशा के प्राणों को अपनी किरणों में धारण करता है।[1538] इससे पता चलता है कि सूर्य की किरणों का प्राण पर प्रभाव पड़ता है। जीवात्मा जब शुक्लमार्ग से ऊर्ध्वगमन करता है, तो सूर्यलोक से होकर जाता है। सूर्य प्रसन्न होकर जीवात्मा को मार्ग देता है। इस प्रकार जीवात्मा सूर्य की मदद से ब्रह्मलोक में प्रविष्ट होता है।[1539]

श्रुति के अनुसार सूर्य और नेत्र में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऐतरेय आरण्यक में उल्लेख मिलता है कि सूर्य चक्षु इन्द्रिय होकर नेत्र गोलक में प्रवेश किया।[1540] इससे सूर्य के अधिदैवत रूप का ज्ञान होता है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार नेत्र गोलक में देखने पर जो चेतन, अमृत, अभय रूप की अनुभूति होती है, वह ब्रह्म रूप ही है।[1541] बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार सूर्य अपनी रश्मियों के द्वारा चक्षु में स्थित होता है।[1542] यह भी एक दृष्टि से उचित प्रतीत होता है; क्योंकि रश्मियाँ ही रूप का ग्रहण करके नेत्र में प्रवेश करती हैं, जिससे रूप का ज्ञान होता है।

सूर्य को आदित्य शब्द से भी कहा गया है। छान्दोग्योपनिषद् में देवताओं के मधु के रूप में आदित्य का वर्णन प्राप्त होता है। आदित्य रूपी मधु अन्तरिक्ष रूपी छत्ते में विद्यमान् रहता है। इस अन्तरिक्ष रूपी छत्ते का आधार द्युलोक है। अन्तरिक्ष में फैलने वाली किरणें ही मधुमक्खियाँ हैं।[1543] सभी दिशाएँ उस छत्ते के छिद्र हैं। पूर्व दिशा की किरणें पूर्व दिशा के छिद्र हैं। दक्षिण दिशा की किरणें दक्षिण दिशा के छिद्र हैं, जिसमें मधु विद्यमान् होता है। आदित्य का लोहित रूप ही उसका रस है।[1544]

दिशा	छिद्र/नाड़ी	मधु	मधुकर	पुष्प

[1538] प्रश्न.उ.1.6
[1539] बृ.उ.5.10.1
[1540] आदित्यः चक्षु भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्। -ऐ.आ.2.4.2
[1541] य एषो अक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच एतदमृताभयमेतदब्रह्म। -छा.उ.4.15.1
[1542] रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः। -बृ.उ.5.5.2
[1543] असौ वा आदित्यो देव मधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवँशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचय: पुत्राः। -छा.उ. 3.1.1
[1544] वहीं,3.1.4

उत्तर	किरणें	अतिकृष्ण	अथर्व-मन्त्र	इतिहास,पुराण
पूर्व	किरणें	रोहित	ऋक्-मन्त्र	ऋग्वेद
दक्षिण	किरणें	शुक्लरूप	यजुस्-मन्त्र	यजुर्वेद
पश्चिम	रश्मियाँ	कृष्णतेज	साम-मन्त्र	सामवेद

उपनिषद् में आदित्य और दक्षिण नेत्र के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाया गया है। आदित्य में दिखायी देने वाला पुरुष और दक्षिण नेत्र में दिखायी देने वाला पुरुष दोनों एक ही हैं। दोनों एक दूसरे में प्रतिष्ठित हैं। आदित्य पुरुष अपनी रश्मियों से नेत्र में प्रतिष्ठित है। चाक्षुष पुरुष प्राणों द्वारा आदित्य में प्रतिष्ठित है।[1545] इस प्रकार दोनों ही एक दूसरे के उपकारक होते हैं। आदित्य को गायत्री के चतुर्थ पाद के रूप में दिखाया गया है। गायत्री का प्रथम पाद- भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौ, द्वितीय पाद- ऋक्, यजुस्, साम, तृतीय पाद- प्राण, अपान, व्यान है। गायत्री का चतुर्थ पाद तुरीय है, जो प्रकाशित होने वाला है। यह तपनशील तथा सभी लोकों के ऊपर रहकर प्रकाशित होने वाला है।[1546]

कठोपनिषद् में सूर्योदय और सूर्यास्त के विषय में कहा गया है कि सूर्य प्राणात्मा से उदित होता है। सायंकाल में फिर प्राणात्मा में अस्त हो जाता है।[1547] यह प्राणात्मा कोई अन्य तत्त्व नहीं अपितु ब्रह्म तत्त्व ही है।

भौतिक विज्ञान में भले ही सूर्य को प्रकाश और ऊष्मा से निर्मित अचेतन पिण्ड स्वीकार किया गया हो, किन्तु भारतीय मनीषियों ने सदैव से सूर्य को चेतन रूप ही माना है। वैशेषिक सूत्रकार कणाद के मत में पृथिवी लोक के समान सूर्य भी एक लोक है, जहाँ पर अनेक प्राणी निवास करते हैं। वहाँ के प्राणियों का शरीर अग्निमय होता है।[1548] आचार्य शंकर ने श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य में सूर्य को नित्य, चेतन, प्रकाशमय वर्ण वाला बताया

[1545] तद् यत्तत् सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठित: प्राणैरयममुष्मिन् स यदोत्क्रमिष्यन् भवति शुद्धमेवैतन्मण्डले पश्यति नैनमेते रश्मय: प्रायन्ति। -बृ.उ. 5.5.2

[1546] एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति यद् वै चतुर्थं तत् तुरीयं...ह्येवैष रज उपर्युपरि तपत्येवं हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद'। - वहीं,5.14.3

[1547] यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति। -कठ.उ.2.1.9एवं शां.भा.

[1548] वै.सू.तेजस् प्रकरण

गया है।[1549] एक अन्य श्लोक के भाष्य में सूर्य, चन्द्र, अग्नि के प्रकाश को चेतनता से युक्त बताया है।[1550]

छान्दोग्य उपनिषद् में आदित्य के लोहित, शुक्ल, कृष्ण, अत्यंत कृष्ण, अधिदैवत आदि पांच रूप बताये गये हैं

लोहित रूप- सूर्य में लोहित रूप विद्यमान् होता है। जो पुरुष सूर्य के इस लोहित रूप की उपासना करते हैं, वे वसुओं के आधिपत्य में होकर स्वराज्य को प्राप्त करते हैं। इस स्वराज्य के समय को बताते हुए ऋषि कहते हैं कि जब तक आदित्य पूर्व दिशा में उदित होता है और पश्चिम दिशा में अस्त होता है, तब तक विद्वान् वसुओं के आधिपत्य में बना रहता है।[1551]

शुक्ल रूप- आदित्य में विद्यमान् अमृत का दूसरा रूप शुक्ल रूप है। जिसके अधिष्ठातृ देवता रुद्र हैं। जो पुरुष आदित्य के शुक्लरूप की उपासना करता है, वह रुद्र के आधिपत्य में होकर स्वराज्य को प्राप्त करता है। इस स्वराज्य के समय को बताते हुए ऋषि कहते हैं कि जितने समय तक सूर्य पूर्व दिशा से उदित होता है और पश्चिम दिशा में अस्त होता है। उससे दुगने समय तक दक्षिण दिशा में उदित होता है और उत्तर दिशा में अस्त होता है। इस दुगने समय तक पुरुष रुद्र के आधिपत्य में स्वराज्य को प्राप्त करता है।[1552]

कृष्ण रूप- आदित्य के अन्तर्गत विद्यमान् अमृत का तीसरा रूप कृष्ण रूप है। इसका अधिष्ठातृ देवता वरुण है। जो पुरुष कृष्ण रूप की उपासना करते हैं। वे वरुण देवता के आधिपत्य में स्वराज्य को प्राप्त होते हैं। इस स्वराज्य का समय बताते हुए कहा गया है कि जितने समय तक सूर्य दक्षिण दिशा में उदित होता है और उत्तर दिशा में अस्त होता है उससे दुगने समय तक पश्चिम दिशा में उदित होता है और पूर्व दिशा में अस्त होता है। इस दुगने समय तक पुरुष वरुण के आधिपत्य में स्वराज्य को प्राप्त होते हैं।[1553]

[1549] आदित्यस्य इव नित्यचैतन्यप्रकाशो वर्णो यस्य तम् आदित्यवर्णं। - भग.गी.8.9, शां.भा.

[1550] यद् आदित्यगतं तेज: चैतन्यात्मकं ज्योति:।- वहीं,15.12शां.भा.

[1551] स यावदादित्य: पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमता वसूनामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता। -छा.उ. 3.6.4

[1552] वहीं,3.7.4

[1553] छा.उ. 3.8.4

अत्यंत कृष्ण- आदित्य का चौथा रूप अत्यंत कृष्ण है। सोम की प्रधानता से मरुद्गण इसके अधिष्ठातृ देवता है। जो पुरुष आदित्य के इस रूप की उपासना करते है। वे मरुद्गण के आधिपत्य में स्वराज्य को प्राप्त करते हैं। जितने समय तक सूर्य उत्तर दिशा में उदित होता है और दक्षिण दिशा में अस्त होता है। उतने समय तक पुरुष स्वराज्य को प्राप्त करता है।[1554]

अधिदैवत रूप- आदित्य का पाँचवा अधिदैवत रूप है। जिसका अधिष्ठातृ देव ब्रह्मा है। पुरुष ब्रह्मा के आश्रय में स्वराज्य को प्राप्त करते हैं। इस स्वराज्य का समय सूर्य के ऊपर उदित होने से नीचे अस्त होने तक रहता है।[1555] अर्थात् चारों दिशाओं को मिलाकर सूर्य जितने समय तक ऊपर को उदित होता है और नीचे की ओर अस्त होता है, उतने समय तक पुरुष स्वराज्य को प्राप्त होते हैं।

कई स्थानों पर सूर्य के अधिदैवत रूप की भी चर्चा मिलती है। सूर्य देवता का एक नाम विवस्वत है।[1556] कठोपनिषद् में यमराज को वैवस्वत कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि यमराज सूर्य पुत्र थे और अधिदैवत देवताओं के पुत्र भी होते थे।[1557] ईशावास्योपनिषद् में सूर्य को एक देवता मानकर उनके लिए अनेक विशेषणों का प्रयोग किया गया है, जैसे- पूषन्, एकर्षे, यम, सूर्य, प्राजापत्य, आदित्य आदि।[1558] ऋषियों ने तप के बल से आदित्य के अधिदैवत रूप का भी दर्शन किया। उन्होंने देखा कि ज्योतिर्मय सूर्यमण्डल में एक हिरण्यमय चेतन पुरुष विद्यमान् है। वह पुरुष सुवर्णमय शरीर और इन्द्रियों से युक्त है। उसकी दाढ़ी और मूँछें भी सुवर्णमय हैं। केश भी सुवर्णमय हैं। उसकी आंखें पुण्डरीक के समान लाल वर्ण की हैं।[1559] इस आदित्य का आध्यात्मिक रूप पुरुष के नेत्र में स्थित होता है।[1560]

[1554] वहीं,3.9.4
[1555] वहीं,3.10.4
[1556] अ.को.पृ.16
[1557] मृत्येव वैवस्वताय त्वां ददामीति। -कठ.उ.1.1.4, शां.भा.
[1558] ईशा.उ.15-16
[1559] तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी। -छा.उ.1.6.7
[1560] अथाऽध्यात्मम् अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते। - वहीं,1.7.1-5

शरीर को अध्यात्म कहते हैं।[1561] इसलिए शरीर के अंगभूत नेत्र में स्थित पुरुष को आदित्य का आध्यात्मिक रूप कहते हैं। आचार्य शंकर पुरुष के आध्यात्मिक और आधिदैविक दोनों ही रूपों को परमात्मा का रूप माना है। किन्तु स्थान भेद से उसे आध्यात्मिक और आधिदैविक कहा जाता है। संसारी पुरुष को आकाश में दिखायी देने वाले ज्योतिर्मय पिण्ड को आदित्य का भौतिक रूप कहते हैं। जो पृथ्वी पर स्थित सभी प्राणियों को प्रकाश और ऊर्जा देता है।

तैत्तिरीय आरण्यक में आदित्यमण्डल को तीन भागों में विभाजित कर प्रत्येक भाग के अभिमानी देवता का भी उल्लेख हुआ है। सूर्य के मध्यभाग में ऋक् तथा ऋक् अभिमानी देवता का वास होता है। बाह्य भाग भास्वर वर्ण का है, जिसमें सामाभिमानी देवता का वास होता है। मण्डल और भास्वर तेज के बीच भी एक देवता का वास होता है। जिसे यजुस् अभिमानी देवता कहा जाता है।[1562]

आदित्य के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीन रूप होते हैं। आदित्य के इन तीनों रूपों में एक देव निवास करता है, जिसे परब्रह्म कहते हैं। उस देव को आदित्य भी नहीं जानता है। आदित्य तो उसका शरीर मात्र है। वह देव ही आदित्य पर शासन करता है। उसे अन्तर्यामी और अमृत के रूप में जाना जाता है।[1563]

आचार्य शंकर ने लोक शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है- *'ते लोका: कर्मफलानि लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्त इति जन्मानि'*[1564] अर्थात् जिसमें कर्मफलों का लोकन, दर्शन या भोग होता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार लोक शब्द का दो अर्थ हो सकता है- प्रथम स्थान विशेष अर्थ, जैसे चतुर्दश लोक। दूसरा अर्थ शरीर है; क्योंकि शरीर के द्वारा भी कर्म का प्रकाशन होता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में लोक शब्द का अर्थ भोग भी किया गया है। जैसे नित्यकर्म करने वाला गृहस्थ सभी प्राणियों का लोक या भोग्य होता है। हवन यज्ञ करने वाला गृहस्थ

[1561] भग.गी.8.3,शां.भा.

[1562] आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति तत्र ता ऋच्। -तै.आ.10.13

[1563] य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्याऽदित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमथत्येष त आत्मान्तर्याम्य मृतः। -बृ.उ.3.7.9

[1564] ईशा.उ.3,शां.भा.

देवताओं का लोक होता है। स्वाध्याय करने वाला ऋषियों का लोक होता है। पिण्डदान करने वाला पितरों का लोक होता है। जो पशुओं को तृण जल आदि देता है, वह पशुओं का लोक होता है।[1565] वस्तुत: यहाँ भोग्य का अर्थ सेवक है; क्योंकि जो सेवक होता है, वह दूसरों का हितकारी होने से भोग्य ही कहा जा सकता है। लोक शब्द का एक अर्थ कर्मफल भी है, जैसे स्वप्नलोक। यह स्वप्न जीवात्मा का कर्मफल रूप होता है।[1566]

योगानन्द जी के अनुसार ऊर्ध्व और निम्न सभी लोक जीवन-विद्युत् (चेतना) के सूक्ष्मप्रकाश और ऊर्जा से बना है।[1567] योगी आनन्द जी ने लिखा है कि चतुर्दश लोक पाताल लोक, रसातल लोक, महातल लोक, तलातल लोक, सुतल लोक, वितल लोक, अतल लोक, भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्ग लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक, ब्रह्मलोक आदि लोकों का विभाजन उनके घनत्व के आधार पर किया गया है।[1568]

कठोपनिषद् में कहा गया है कि दर्पण और निर्मल बुद्धि में आत्मदर्शन एक जैसा होता है। स्वप्न में पुरुष अपने को जिस प्रकार देखता है, उसी प्रकार वह पितृलोक में अपने को देखता है। इसी प्रकार गन्धर्वलोक और जल में आत्मदर्शन समान होता है। किन्तु ब्रह्मलोक में होने वाला आत्मदर्शन इन सबसे भिन्न होता है। धूप और छाया के समान स्पष्ट और पृथक् होता है।[1569]

आचार्य शंकर जगत् के विषय में लिखते हैं कि 'जगतो नाम रूप क्रियाकारक फलजातस्य'।[1570] अर्थात् समस्त नाम, रूप, क्रिया, कारक और उनके फल जगत् के अन्तर्गत आते हैं। फिर आचार्य ने जगत् को चर अचर के रूप में विभाजित किया है। प्राणियों के शरीर चर तथा पंचभूतों से निर्मित पर्वत, नदी आदि अचर जगत् हैं। श्रुतियों में ईक्षण से जगत् की उत्पत्ति बतयी गयी है। ईक्षण से ही लोक, देवता, इन्द्रियाँ शरीर

[1565] बृ.उ.1.4.16
[1566] स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो भवत्युतेव। - वहीं,2.1.18
[1567] मा.खो.पृ.72
[1568] त.ज्ञा.,पृ.56
[1569] कठ.उ.2.3.5
[1570] ब्र.सू.शां.भा.1.3.22

आदि उत्पन्न होते हैं।[1571] आचार्य शंकर के मत में सृष्टि की उत्पत्ति में रजस् गुण कारण बनता है; क्योंकि यह रजस् गुण ही क्रियाशील होता है।[1572]

अद्वैतवेदान्त में स्वप्न जगत् के समान भौतिक जगत् का भी मिथ्यात्व प्रतिपादित किया गया है। गौडपाद ने माण्डूक्य कारिका में जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादित करने के लिए अनेक तर्क दिये हैं। जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए आचार्य गौडपाद ने अनुमान प्रमाण का सहयोग लिया है, जैसे

प्रतिज्ञा – जाग्रत अवस्था में देखे गये पदार्थ मिथ्या हैं

हेतु – दृश्य होने के कारण

दृष्टांत – स्वप्न में देखे गये पदार्थों के समान

उपनय- जिस प्रकार स्वप्न में देखे हुए पदार्थ मिथ्या हैं, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में देखे जा रहे पदार्थ भी मिथ्या हैं।

निगमन- अत: जाग्रत अवस्था के पदार्थ भी मिथ्या हैं।

जगत् के मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिए एक और कारण दिया जाता है कि जो वस्तु आदि और अन्त में नहीं रहती है, वह वस्तु वर्तमान में भी नहीं हो सकती है। वर्तमान में दिखायी देने वाले पदार्थ केवल आभास मात्र हैं। असत् होकर भी सत् के समान भासित होते हैं।[1573] जैसे स्वप्न मन का प्रकाश होता है। वह सम्पूर्ण स्वप्न जगत् मन ही होता है। उसी प्रकार यह भौतिक जगत् भी आत्मा का प्रकाश है। अपनी शक्ति से स्वयं पदार्थ बन

[1571] ऐ.उ.1-12

[1572] वि.चू.113

[1573] आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। वितथै: सदृशा: सन्तोऽवितथा इव लक्षिता: -मा.उ.2.6

जाता है।[1574] वस्तुत: स्वप्न की तरह यह जगत् आत्मा ही है *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'*।[1575] आचार्य शंकर ने भी इस जगत् को मिथ्या माना है *'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या'*।[1576]

उत्पत्ति और लय रूपी गुणधर्म की समानता के कारण भी जगत् आत्मा का प्रकाश सिद्ध होता है। प्रश्नोपनिषद् के अनुसार सुषुप्ति काल में सभी कुछ आत्मा में विलीन हो जाता है। पुरुष के जागने पर पुन: इनकी अभिव्यक्ति होती है।[1577] इस प्रकार प्रकाश के समान सभी पदार्थ आत्मा से निकलते हैं और पुन: उसी में विलीन हो जाते हैं। इससे यह जगत् आत्मा का प्रकाश सिद्ध होता है।

यह जगत् यदि सत् होता तो उस जगत् की विद्यमानता के लिए अवकाश की जरूरत होती। किन्तु ब्रह्म निरवकाश है। निरवकाश ब्रह्म में अवकाश की अपेक्षा रखने वाले जगत् की विद्यमानता कैसे हो सकती है। इससे भी जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होता है; क्योंकि मिथ्या वस्तु को अपनी विद्यमानता के लिए अवकाश की जरूरत नहीं होती। मिथ्या प्रतीति कभी भी और कहीं भी हो सकती है।[1578]

एक प्रश्न बनता है कि यह जगत् स्वयं में आत्मा का प्रकाश है अथवा पूर्व विद्यमान् जगत् आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होता है। ब्रह्मसूत्र में बताया गया है कि जगत् स्वयं में प्रकाश नहीं है, अपितु पूर्व विद्यमान् जगत् की आत्मा के प्रकाश में अभिव्यक्ति होती है।[1579] इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्म ज्योति से नाम, रूप, क्रिया, कारक, फल समुदाय आदि की अभिव्यक्ति होती है। जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् में भी कहा गया है कि *'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते'*।[1580] अर्थात् आत्मरूप ज्योति से ही यह प्रकाशित होता है।

[1574] कल्पयति-आत्मना-आत्मानम्-आत्मा देव: स्वमायया। स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्त निश्चय:॥- वहीं,2.12

[1575] छा.उ.3.14.1

[1576] वि.चू.20

[1577] प्रश्न.उ. 4.8

[1578] मा.उ. 4.33

[1579] सर्वस्यैवास्य नामरूपक्रियाकारकफलजातस्य याभिव्यक्ति: सा ब्रह्मज्योति: सत्तानिमित्ता। यथा सूर्यादिज्योति: सत्ता निमित्ता सर्वस्य रूपजातस्याभिव्यक्ति: तद्वत्। -ब्र.सू.शां.भा.पृ. 646

[1580] बृ.उ. 4.3.6

श्रीमद्भगवद्गीता में जगत् को जो अश्वत्थ वृक्ष कहा गया है।[1581] सम्भवत: इसी का उदाहरण है जैसे बीज में वृक्ष पहले से विद्यमान् होता है उसका प्रकाशन होता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में वायु और उसके आश्रय अन्तरिक्ष को अमूर्त एवं अमृत रूप बताया गया है। इनका एक अधिष्ठातृ देवता है। यह देवता ही इनका सार तत्त्व है।[1582] वायु को मातरिश्वा भी कहते हैं; क्योंकि यह अन्तरिक्ष में गमन करता है। यह वायु क्रिया रूप भी है। इस वायु के अधीन ही समस्त इन्द्रियाँ और शरीर हैं। इस वायु में सभी कुछ विद्यमान् है। क्रिया रूप होने के कारण यह वायु ही अग्नि, सूर्य, मेघ आदि को उनके कर्मों ज्वलन, प्रकाशन, वर्षण क्रिया के आधार पर विभक्त करता है।[1583] ईशावास्योपनिषद् में 'अनिलम्' शब्द का विशेषण अमृतं देकर वायु के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है। यहाँ 'अमृतमनिलम्' शब्द का अर्थ परब्रह्म है।[1584] छान्दोग्य उपनिषद् में प्राण को ब्रह्म का चतुर्थ पाद कहा गया है, जो कि वायु रूप ज्योति से प्रकाशित होता है और तपता है।[1585] यहाँ वायु को भी एक ज्योति कहा गया है, जिससे प्राण प्रकाशित होता है और तपता है।

केनोपनिषद् के तृतीय खण्ड में यक्ष उपाख्यान के अन्तर्गत वायु का देवत्व प्रतिपादित किया गया है। देवताओं ने वायु से कहा कि तुन जाकर देखो कि यह यक्ष कौन है? वायु देवता यक्ष के पास जाकर पूछा कि तुम कौन हो? वायु ने कहा कि मैं वायु हूँ। मुझे लोग मातरिश्वा कहते हैं। यक्ष ने कहा कि तुम्हारी सामर्थ्य क्या है? वायु ने कहा कि मैं पृथ्वी पर जो कुछ है उन सभी को मैं ग्रहण कर सकता हूँ। यक्ष ने वायु के सम्मुख एक तिनका रख दिया और कहा कि इसे ग्रहण करो। वायु ने अनेक बार तिनके को ग्रहण करने का प्रयत्न किया किन्तु ग्रहण नहीं कर सका और लज्जित होकर वापस लौट गया।[1586]

[1581] भग.गी.15.1

[1582] बृ.उ. 2.3.3

[1583] यदाश्रयाणि कार्यकरण जातानि यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च यत्सूत्रसंज्ञकं सर्वस्य जगतो विधारयितृ स मातरिश्वा अपः कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि अग्न्यादित्य पर्जन्यादीनां ज्वलनदहनप्रकाशाभिवर्षणादिलक्षणानि दधाति विभजति इत्यर्थः। -ईशा.उ. 4,शां.भा.

[1584] ईशा.उ.17

[1585] प्राण एव ब्राह्मणश्चतुर्थ: पाद:। स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च।-छा.उ.3.18.4

[1586] केन.उ.3.7-10

आकाश की गणना पंचमहाभूतों में होती है। वर्तमान् में आकाश को ईथर के रूप में जाना जाता है। उपनिषद् में वायु आदि महाभूतों के समान आकाश की भी उत्पत्ति बतायी गयी है। आकाश का उपादान कारण माया तथा निमित्त कारण ब्रह्म है। उपनिषद् में इस आकाश को भी ज्योतिस्वरूप बताया गया है। अपने ज्योति रूप और विभुत्व गुण की समानता के कारण इस आकाश को ब्रह्म के प्रतीक के रूप में जाना जाता है।[1587] आकाश रूपी आत्मा से सभी भूतों की उत्पत्ति होने से उपनिषद् में कहीं-कहीं आकाश शब्द को आत्मा का वाचक भी बताया गया है।[1588] एक अन्य मन्त्र में आकाश को ही सभी नाम रूपों का निर्माण करने वाला भी बताया गया है।[1589] अद्वैतवेदान्त में उपाधि की दृष्टि से आकाश के भेद भी किये गये हैं जैसे- घटाकाश, मठाकाश, हृदयाकाश, भूताकाश, ब्रह्माकाश आदि। छान्दोग्य उपनिषद् में हृदयाकाश का विशेष उल्लेख प्राप्त होता है। इस हृदयाकाश को आत्मा के समकक्ष बताया गया है। इस हृदयाकाश में पाँच छिद्र हैं। जिसे पाँच देवसुषि के नाम से जाना जाता है। इन पाँच छिद्रों के अधिष्ठातृ देवता का भी उल्लेख मिलता है।[1590]

जिसमें से पूर्व दिशा के छिद्र का अधिष्ठातृ देवता प्राण संज्ञक ब्रह्म, दक्षिण दिशा के छिद्र का अधिष्ठातृ देवता व्यान संज्ञक ब्रह्म, पश्चिम दिशावर्ती छिद्र का अधिष्ठातृ देवता अपान संज्ञक ब्रह्म, उत्तर दिशावर्ती छिद्र का अधिष्ठातृ देवता समान संज्ञक ब्रह्म तथा ऊर्ध्ववर्ती छिद्र का देवता उदान संज्ञक ब्रह्म है। इससे ज्ञात होता है कि हृदयाकाश में पाँच छिद्र होते हैं। और उन अलग-अलग छिद्रों पर पंचवायु का अलग-अलग प्रभाव होता है। आकाश के भी आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक तीन रूप होते हैं। शरीर में स्थित हृदय आध्यात्मिक रूप है। हृदयाकाश आधिदैविक तथा भूताकाश आधिभौतिक रूप है। किन्तु इन तीनों में एक ही देवता निवास करता है, जिसे ब्रह्म कहते हैं।[1591]

भौतिक विज्ञान में चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह है। इसलिए उसका अपना प्रकाश नहीं है। चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है। किन्तु याज्ञवल्क्य ऋषि के मत में चन्द्रमा

[1587] आ समन्तात् काशते दीप्यत् इति स्वयं ज्योतिषि ब्रह्मण्या काशशब्दस्य विभुत्व गुण्तो वा प्रसिद्धिः प्रयोग प्राचुर्यम्। -ब्र.सू.614

[1588] छा.उ.1.9.1

[1589] आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता। - वहीं,8.14.1

[1590] वहीं,3.13.1, शां.भा.

[1591] बृ.उ. 2.1.5

एक ज्योति है। जिसे चन्द्रज्योति कहा जाता है। आदित्य के अस्त हो जाने के बाद पुरुष चन्द्रज्योति वाला होता है और चन्द्रज्योति में ही अपना व्यवहार करता है।[1592] ब्रह्मलोक गमन के सन्दर्भ में उल्लिखित शुक्लमार्ग में चन्द्रलोक का भी उल्लेख मिलता है। यह चन्द्रलोक आदित्यलोक से ऊपर स्थित है। चन्द्रलोक के ठीक ऊपर ब्रह्मलोक की स्थिति बतायी गयी है।[1593] चन्द्रमा और मन के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है; क्योंकि चन्द्रमा विराट् पुरुष के मन से उत्पन्न हुआ बताया गया है।[1594] चन्द्रमा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण मनुष्य शरीर में स्थित मन पर चन्द्रमा का प्रभाव समझा जा सकता है। मन और चन्द्रमा में एक ही देवता का वास बताया गया है और वह देवता तेजोमय अमृतस्वरूप आत्मा ही है।[1595] इससे मन और चन्द्रमा के चेतन होने का ज्ञान होता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में जल और ज्योति के बीच एक प्रकार का सम्बन्ध बताया गया है। वह इस प्रकार कि जल में ज्योति प्रतिष्ठित है और ज्योति में जल प्रतिष्ठित है।[1596] इस प्रकार जल और ज्योति में परस्पर आधार-आधेय भाव सम्बन्ध है। जल का आध्यात्मिक रूप रेतस् है। इन दोनों में एक ही अमृत तेजोमय पुरुष का वास होता है।[1597] इससे जल के आधिदैविक रूप के अमृत तेजोमय स्वरूप का ज्ञान होता है।

भौतिक जल ही जल देवता का शरीर है। कूप, तडाग, नदी, आदि में जल देवता की विशेष स्थिति बतायी गयी है। बुद्धि ही इस देवता की दर्शन शक्ति है और मन ज्योति है। याज्ञवल्क्य ने जल के अधिष्ठातृ देवता और वरुण देवता में भेद किया है; क्योंकि वरुण देवता जल देवता का भी शासक है।[1598]

[1592] चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवतीति चन्द्रमसैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते। - वहीं,4.3.3

[1593] वहीं,5.10.1

[1594] चन्द्रमा मनसोजात: चक्षो: सूर्योऽजायत्।-ऋ.सं.10.90.13

[1595] अयं चन्द्र: सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन् चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमय: पुरुषो इत्यादि। -बृ.उ. 2.5.7

[1596] ज्योतिरन्नादम् । अप्सु ज्योति: प्रतिष्ठितम् । ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिता:। -तै.उ.3.8.1

[1597] इमा: आप: सर्वेषां भूतानां मध्वासामपां सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमय: पुरुषो यश्चायमध्यात्मं रेतसस्तेजोमयोऽमृतमय:। -बृ.उ. 2.5.2

[1598] आप एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मन: परायणं स वै वेदिता स्यात् । तस्य का देवता इति वरुण इति होवाच। - वहीं,3.9.16

व्यवहारिक जगत् में विद्युत् एक ऐसी शक्ति है, जिसका परिणाम प्रकाश, कार्य आदि अनेक रूपों में देखा जाता है। उपनिषद् में विद्युत् शब्द का प्रयोग बादलों के बीच जलीय विद्युत् के लिए हुआ है। इस भौतिक विद्युत् का आध्यात्मिक रूप त्वक् के तेज में रहने वाला तैजस् पुरुष है। तेजस् और विद्युत् में एक ही देवता का वास बताया गया है, जो तेजोमय अमृत स्वरूप है।[1599] आचार्य शंकर ने विद्युत्, त्वक् और हृदय में एक ही देवता का वास माना है।[1600] इससे त्वक् और विद्युत् के बीच सम्बन्ध का ज्ञान होता है।

याज्ञवल्क्य ने प्रत्येक दिशा के अधिष्ठातृ देवता का उल्लेख किया है। जैसे पूर्व दिशा का देवता आदित्य है। यह आदित्य चक्षु में प्रतिष्ठित है। चक्षु रूप में और रूप हृदय(बुद्धि) में प्रतिष्ठित है।[1601]

पूर्वादिक्	आदित्य	चक्षु	रूप	हृदय
दक्षिणादिक्	यम	यज्ञ	दक्षिणा	श्रद्धा/बुद्धि/हृदय
पश्चिमादिक्	वरुण	जल	वीर्य	हृदय
उत्तरादिक्	सोम	दीक्षा	सत्य	हृदय
ध्रुवा(ऊर्ध्व)	अग्नि	वाक्	....	हृदय

आचार्य शंकर के मत में श्रोत्र दिशाओं के अध्यात्म परिणाम है- *'दिशां श्रोत्रमध्यात्मम्'*[1602] श्रोत्र और दिक् में एक ही तेजोमय अमृतस्वरूप देवता का वास होता है।

अष्टाध्यायी के अनुसार इन्द्र शब्द में घ (ईय) प्रत्यय जोड़कर इन्द्रिय शब्द बनाया गया है।[1603] जिसका अर्थ इन्द्र का ज्ञापक किया गया है। इन्द्र शब्द का अर्थ यदि आत्मा किया जाय तो इन्द्रिय शब्द का अर्थ आत्मा का ज्ञापक होता है। केशवमिश्र के अनुसार *'शरीर संयुक्तं ज्ञानकरणमतीन्द्रियम् इन्द्रियम्'* अर्थात् जो शरीर से संयुक्त होकर ज्ञान का करण

[1599] यश्चायमस्यां विद्युति तेजोमयोऽमृतमय: पुरुषो यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोमयोऽमृतमय: पुरुषो इत्यादि। - वहीं,2.5.8 एवं शां.भा.

[1600] वहीं,2.1.4, शां.भा.

[1601] वहीं,3.9.20-24, शां.भा.

[1602] वहीं,2.5.6,शां.भा.

[1603] अष्टा.5.2.93

हो और अतीन्द्रिय हो उसका नाम इन्द्रिय है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार जिसकी अभिव्यक्ति में सात्त्विक अहंकार उपादान कारण हो, वह इन्द्रिय है।[1604] इस प्रकार मन, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ इन्द्र या पुरुष के ज्ञापक होने के कारण इन्द्रियाँ कहलाती हैं।[1605]

इन्द्रियों के स्वरूप पर विचार करते हुए यह शंका होती है कि ये इन्द्रियाँ अणु रूप हैं अथवा व्यापक हैं। इस विषय में सांख्य आचार्य अहंकार के कार्य रूप में इन्द्रियों को व्यापक मानते हैं। तत्तत्देहों में कार्यवश परिच्छिन्न वृत्ति का लाभ होता है। विभु होने से इन्द्रियों की उत्क्रान्ति आदि नहीं होती है। इस विषय में ब्रह्मसूत्रकार इन्द्रियों को अणुरूप मानते हैं।[1606] प्राण (इन्द्रियाँ) अणु सूक्ष्म हैं; क्योंकि इन्द्रियों से अग्राह्य हैं। आचार्य शंकर का कहना है कि इन प्राणों का स्वरूप अणुत्व, सूक्ष्मत्व और अल्पत्व है। परमाणु तुल्य नहीं। यदि इन्द्रियों को परमाणु तुल्य माना जायेगा तो त्वक् इन्द्रिय के विषय में अनुपपत्ति होगी, जो कि शरीरव्यापी है। अत: इन्द्रियों को स्वरूपत: अल्प रूप ही माना जाना चाहिए।

उपनिषद् में इन्द्रियों की संख्या कहीं सात[1607] कहीं नव[1608] तो कहीं ग्यारह बतायी गयी है। आचार्य शंकर ने विवेकचूड़ामणि में इन्द्रियों की संख्या दश बतायी है।[1609] ग्यारहवीं इन्द्रिय मन है। जो भीतर रहने के कारण अन्त:इन्द्रिय कहलाती है। अद्वैतवेदान्त और सांख्य दर्शन में इन्द्रियों की संख्या विषयक मत समान है। सांख्य दर्शन में इन्द्रियों की संख्या एकादश बतायी गयी है। आचार्य शंकर भी एकादश इन्द्रियों को मान्यता देते हैं। किन्तु अन्त:करण के विषय में किञ्चित मतभेद है। सांख्य दर्शन में अन्त:करण के तीन भेद किये गये हैं- मन, बुद्धि, अहंकार। अद्वैतवेदान्त में चित्त को मिलाकर अन्त:करण के चार

[1604] सात्त्विकाहंकारोपादानकत्वम् इन्द्रियत्वम्। इन्द्रस्यात्मनश्चिन्हत्वात् इन्द्रियमुच्यते। -सां.त.कौ.25.

[1605] इन्द्रस्यात्मनश्चिन्हत्वात् इन्द्रियमुच्यते- सां.त.कौ.25

[1606] अणवश्च-ब्र.सू.2.4.7।

[1607] सप्तप्राणा:-मु.उ.2.1.8

[1608] नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहि:-श्वे.उ.3.18

[1609] बुद्धीन्द्रियाणि श्रवणं त्वगक्षि घ्राणं च जिह्वा विषयावबोधनात्। वाक्पाणिपादं गुदमप्युपस्थ: कर्मेन्द्रियाणि प्रवणेन कर्मसु-वि.चू.94

प्रकार बताये हैं। आचार्य शंकर कहते हैं कि अन्त:करण यद्यपि एक ही है। किन्तु कार्य भेद से वह चार प्रकार का है।[1610]

ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि गति की दृष्टि से देव भी ब्रह्म को नहीं प्राप्त कर सके। इस मन्त्र 'नैनद्देवाप्नुवनपूर्वमर्षत्' पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने देव शब्द का अर्थ इन्द्रियाँ किया है; क्योंकि ये इन्द्रियाँ भी अपने विषय को प्रकाशित करने वाली होती हैं।[1611] विषयों को प्रकाशित करने के कारण इन इन्द्रियों को देव कहते हैं। इन्द्रियों में एक प्रकार का प्रकाश होता है। ये प्रकाश ही अपने अपने विषय के पास जाकर उन्हें प्रकाशित करता है। इन सभी इन्द्रियों का अपना पृथक् प्रकाश होता है। जो अपने ही विषय को प्रकाशित कर सकती हैं।

कठोपनिषद् में इन्द्रिय तेज की चर्चा हुई है। जिसमें कहा गया है कि विषय इन्द्रियों के तेज को नष्ट कर देते हैं।[1612] इन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति के साधन हैं। इनसे विषयों का ज्ञान होता है। सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय का मापन करती हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में इन्द्रियों के लिए मात्रा शब्द का प्रयोग किया गया है। आचार्य शंकर ने मात्रा शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है- *'मात्रा अभिमीयन्ते शब्दादयः इत्रि श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि'।*[1613] इन इन्द्रियों का अपने विषयों से संयोग होने पर सुख-दु:ख की उत्पत्ति होती है।

प्रश्नोपनिषद् में आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, मन वागादि कर्मेन्द्रियों चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों को शरीर को धारण करने वाले देव कहा गया है।[1614] शरीर धारण करने के सन्दर्भ में इन्द्रिय देवताओं में अभिमान भी देखा जाता है।[1615]

ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार इन्द्रियों और इन्द्रिय देवताओं की उत्पत्ति विराट् पुरुष से हुई थी। जैसे विराट् पुरुष के मुख से वागिन्द्रिय, वागिन्द्रिय से अग्नि की उत्पत्ति हुई। नाशिकारन्ध्र से प्राण एवं प्राण से वायु प्रकट हुआ। नेत्र से चक्षुरिन्द्रिय एवं चक्षुरिन्द्रिय से आदित्य प्रकट हुआ। कान से श्रोत्रेन्द्रिय फिर श्रोत्रेन्द्रिय से दिशायें प्रकट हुई। त्वक् से लोम

[1610] वहीं,95,96
[1611] द्योतनाद्देवाश्चक्षुरादीनीन्द्रियाण्येतत्प्रकृतमात्मतत्त्वं-ईशा.उ.4,शां.भा.
[1612] सवेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।-कठ.उ.1.1.26
[1613] भग.गी.2.14, शा.भा
[1614] एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। -प्रश्न.उ.2.1
[1615] वहीं,2.4

एवं लोम से वनस्पति एवं इन्द्रियाँ। हृदय से मन एवं मन से चन्द्रमा। नाभि से अपान एवं अपान से मृत्यु। शिश्न से रेतस् एवं रेतस् से आप् उत्पन्न हुआ।

मुख	वागिन्द्रिय	अग्नि
नासिकारन्ध्र	प्राण	वायु
नेत्र	चक्षुरिन्द्रिय	आदित्य
कान	श्रोत्रेन्द्रिय	दिशाएँ
त्वक्	लोम	वनस्पति और इन्द्रियाँ
हृदय	मन	चन्द्रमा
नाभि	अपान	मृत्यु
शिश्न	रेतस्	आप्

ये सभी देवता उत्पन्न होने के अनन्तर परमात्मा से आश्रय की मांग करने लगे। तब परमात्मा ने पुरुषाकार शरीर की रचना की। और सभी देवता इन्द्रिय बनकर अपने निश्चित स्थानों में प्रवेश किया। इस प्रकार निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पुरुषाकार शरीर और विराट् पुरुष में एक प्रकार का सम्बन्ध है। वह यह कि सभी इन्द्रिय देवता विराट् पुरुष के शरीर से उत्पन्न होकर पुरुष के शरीर में प्रवेश कर गये।

देवताओं को प्रकाशक माना गया है *'द्योतनात् देवाः'* अर्थात् प्रकाशित होने के कारण उन्हें देवता कहा जाता है। देवता होने से इन्द्रिय देवताओं का भी प्रकाश होनी चाहिए। श्वेताश्वतर उपनिषद् के भाष्य में आचार्य शंकर कहते है कि इन्द्रियों में अपने विषय को प्रकाशित करने की सामर्थ्य जो देखी जाती है, वह सामर्थ्य ही तत्तत् इन्द्रियनिष्ठ देवताओं का प्रकाश होता है। 'अग्नेर्ज्योतिः' अर्थात् अग्नि का प्रकाश पर भाष्य करते हुए आचार्य ने लिखा है कि इन्द्रिय अनुग्राहक अग्नि आदि देवताओं की जो समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करने की शक्ति है, उस सबको हमारी वागादि इन्द्रियों में स्थापित करें।[1616] इससे ज्ञात होता है कि इन्द्रिय देवताओं का प्रकाश विषय प्रकाशन की सामर्थ्य रूप होता है। विषय प्रकाशन की सामर्थ्य जितनी अधिक होगी, उस इन्द्रिय देवता का प्रकाश भी उतना अधिक होगा।

[1616] मम मनो बाह्यविषय ज्ञानादुपसंहृत्य परमात्मन्येव संयोजयितुमनुग्राहकदेवतात्मनाम् अग्न्यादीनां यत्सर्ववस्तुप्रकाशनसामर्थ्यं। -श्वे.उ.2.1, शां.भा.

प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि प्राण ही अग्नि के रूप में तपता है। प्राण ही सूर्य होकर प्रकाशित होता है। प्राण ही मेघ के रूप में वर्षा करता है। प्राण ही इन्द्र के रूप में प्रजाओं का पालन करता है और असुरों का वध भी करता है। प्राण ही पृथ्वी और चन्द्रमा के रूप में सम्पूर्ण जगत् का धारक एवं पोषक भी है।[1617] प्राण का अधिदैवत रूप सूर्य है। जो व्यक्ति प्राण की उपासना सूर्य के रूप में करना चाहता है। उसे सूर्य को निम्नरूपों में देखना चाहिए। जैसे यह प्राण ही सूर्य के रूप में तपता है। उदित होकर अन्धकार और भय का नाश करता है। इस प्रकार सूर्य के रूप में प्राण की उपासना करने वाला व्यक्ति अज्ञान रूप अन्धकार का नाश करके जन्म-मरण रूप भय को दूर करता है।[1618] ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में प्राण को बल कहा गया है।[1619] बल का देवता इन्द्र है। इसलिए प्राण का देवता इन्द्र है ऐसा समझना चाहिए।

देवताओं में ब्रह्मा की उत्पत्ति सर्वप्रथम बताया गया है। ब्रह्मा विश्व का रचयिता एवं त्रिभुवन का रक्षक था। आचार्य शंकर ने ब्रह्मा शब्द का अर्थ परमात्मा किया है। ब्रह्मा शब्द का अर्थ उन्होंने परिवृढ किया है अर्थात् जो धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि में सबसे आगे है वही ब्रह्मा है। प्रकाशयुक्त होने के कारण ब्रह्मा भी देवताओं की श्रेणी में परिगणित है।[1620] बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रजापति को सृष्टि का आरम्भक देवता माना गया है। प्रजापति ने ही सर्वप्रथम वेदों का सृजन किया। इन वेदों से ही सृष्टि हुई। स्वयं उत्पन्न होने से प्रजापति स्वयंभू हैं।[1621] ब्रह्मा एक देवता का नाम है। जो ब्रह्म की सर्जनकारी शक्ति का अभिमानी देवता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में उल्लिखित है कि निर्गुण ब्रह्म ने सर्वप्रथम ब्रह्मा को उत्पन्न किया। उत्पत्ति काल में ब्रह्मा को सृष्टि का ज्ञान नहीं था। फिर ब्रह्म ने ब्रह्मा देवता को वेदों का ज्ञान दिया। तब ब्रह्मा ने उन वेदों के आधार पर सृष्टि की रचना कर सके।[1622] इससे ज्ञात होता है कि वेद सृष्टि विज्ञान है।

[1617] प्रश्न.उ.2.5, शां.भा.

[1618] छा.उ.1.3.1

[1619] प्राणो वै बलम्। -ब्र.सू.शां.भा.380

[1620] ब्रह्मा परिवृढो महान्धर्मज्ञान वैराग्यैश्वर्यैः सर्वानन्यानतिशेते इति। देवानां द्योतनवताम् इन्द्रादीनां। -मु.उ.1.1.1,शां.भा.

[1621] स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्। -बृ.उ.1.2.4

[1622] यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै देवतात्मबुद्धिप्रकाशं।। -श्वे.उ.6.18

जिसके आधार पर वर्तमान सृष्टि की रचना हुई है। *'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत'*[1623] मन्त्र से ज्ञात होता है कि पूर्व की सृष्टियों में भी वेदों की सत्ता थी।

सामान्यत: हम सभी ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव को त्रिदेव के रूप में जानते हैं। इन शक्तियों के उपासकों ने अपने देवता को ही सर्वोत्कृष्ट सत्ता के रूप में मान्यता दी है। उपनिषद् के अनुसार तीनों ही शक्ति ब्रह्म की तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं। तीन प्रकार के कार्यों के अधिष्ठातृ देवता हैं। ब्रह्म की सर्जनकारी शक्ति के देवता ब्रह्मा, स्थितिकारी शक्ति के देवता विष्णु और संहारकारी शक्ति के देवता शिव हैं।[1624] इन तीन देवताओं की तीन गुणों से समानता भी दिखायी गयी है। क्रियाशीलता की समानता के कारण रजोगुण ब्रह्मा से समानता रखता है। सत्त्वगुण प्रकाशक है। प्रकाशन शब्द अस्तित्त्व अर्थ में भी लिया जाता है। अस्तित्त्व की समानता के कारण सत्त्वगुण विष्णु से समानता रखती है। इसी प्रकार विनाशकारी गुण की समानता से तमोगुण शिव से समानता रखता है।[1625]

कौषीतकि उपनिषद् में एक इन्द्र प्रतर्दन आख्यायिका का उल्लेख हुआ है। जिसमें इन्द्र कहता है- *'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व'।*[1626] अर्थात् मैं प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा हूँ, मेरी आयुष् और अमृत रूप से उपासना करो। श्रीमद्भगवद्गीता में इन्द्र को वर्षा का देवता कहा गया है। इन्द्र और यज्ञ के बीच परस्पर सम्बन्ध होता है। यज्ञ से इन्द्र की वृद्धि होती है। अर्थात् यज्ञ से वर्षा होती है।[1627]

केनोपनिषद् में उल्लिखित यक्षोपाख्यान में विद्या की अधिष्ठातृ देवी का उल्लेख हुआ है। विद्या की अधिष्ठातृ देवी इन्द्र के सम्मुख एक सुन्दर स्त्री के रूप में अवतरित हुई थी। जो हिमालय की पुत्री पार्वती के समान दिखायी दे रही थी।[1628] विद्या की देवी के लिए दो विशेषणों का प्रयोग हुआ है- बहुशोभामाना और हेमवती। आचार्य ने हेमवती शब्द का अर्थ सुवर्ण आभूषणों वाली किया है।

[1623] ऋ.सं.10/190/3

[1624] देवस्य परमेश्वरस्यात्मभूतां जगदुदयस्थितिलयहेतुभूतां ब्रह्माविष्णुशिवात्मिकां शक्तिमित।। - श्वे.उ.1.3, शां.भा.

[1625] सत्त्वेन विष्णु रजसा ब्रह्मा तमसा महेश्वरः। - वहीं,1.3,शां.भा.

[1626] कौषीतकि उपनिषद्

[1627] देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। -भग.गी.3.11

[1628] विद्या उमारूपिणी प्रादुर्भूत्स्त्रीरूपा। -केन.उ.3.11,शां.भा.

उपनिषद् में ज्ञान से मुक्ति स्वीकार की गयी है न कि कर्मों से। इसलिए जो व्यक्ति कर्म की उपासना करता है। वह कृष्णमार्ग का अनुसरण करता हुआ मनुष्य जन्म को प्राप्त होता है। कृष्णमार्ग में अनेक देवताओं की स्थिति होती है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार कर्म की उपासना करने वाला व्यक्ति मृत्यु के उपरान्त सर्वप्रथम धूममार्ग के अभिमानी देवता को प्राप्त होता है। फिर रात्रि देवता, कृष्णपक्ष के देवता, दक्षिणायन के देवता, पितृलोक के देवता, फिर चन्द्रमा के अभिमानी देवता को प्राप्त होता है। चन्द्रलोक में वे पुरुष यथा समय रहकर फिर अन्न को प्राप्त हो जाते हैं। देवगण अन्न का भक्षण करते हैं। फिर वे आकाश, वायु, वृष्टि, पृथ्वी को प्राप्त होते हुए पुन: पुरुष के रूप में उत्पन्न होते हैं।[1629]

ईशावास्योपनिषद् में एक सुपथा शब्द का प्रयोग हुआ है। विद्वानों ने सुपथा शब्द का अर्थ सुन्दरमार्ग किया है। आचार्य शंकर के मत में सुन्दरमार्ग का तात्पर्य दक्षिणमार्ग की निवृत्ति तथा एक ऐसा मार्ग जो शुभ और मोक्षदायक हो। इस प्रकार शुक्ल मार्ग से जाने वाला व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त होता है।[1630] श्रीमद्भगवद्गीता में शुक्लमार्ग का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि अग्नि के देवता, ज्योति के देवता, दिन के देवता, शुक्लपक्ष के देवता, उत्तरायण के देवता, आदि प्रकाशमार्ग के देवता हैं। प्रकाश का मार्ग इन्हीं देवताओं के अधिकार में है।[1631] प्रकाश मार्ग से जाने वाला पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होता है। कठोपनिषद् में जीवात्मा को पुरातन देवता कहा गया है। इस देवता को अध्यात्मयोग के द्वारा ही जाना जा सकता है।[1632] कठोपनिषद् में एक देवतामयी अदिति का उल्लेख हुआ है। यह अदिति बुद्धिरूपी गुफा में रहने वाली है।[1633]

बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि पृथ्वी देवता पृथ्वी की एक अधिष्ठातृ देवी हैं। भौतिक पृथ्वी ही उस देवी का शरीर है। अग्नि पृथ्वी देवता की दर्शनशक्ति है। पृथ्वी देवता ज्योति स्वरूप मन के द्वारा संकल्प-विकल्प करती है।[1634] पृथ्वी के अधिष्ठातृ देवता

[1629] बृ.उ.6.2.16

[1630] सुपथेति विशेषणं दक्षिणमार्ग निवृत्त्यर्थम्। -ईशा.उ.18, शां.भा.

[1631] भग.गी. 8.24

[1632] गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं। -कठ.उ.1.2.12

[1633] या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी।। - वहीं,2.1.7

[1634] पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मन: परायणं स वै वेदिता स्यात् ...तस्य का देवता इत्यमृतमिति। -बृ.उ.3.9.10

का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि यह देवता चिन्मात्र प्रकाश वाला है, अमरणधर्मा है।[1635] इस पृथ्वी देवता का भी नियमन करने वाला परमात्मा है। जिसे आत्मा, अन्तर्यामी, अमृत, ब्रह्म के नाम से कहा जाता है। इस तत्त्व को पृथ्वी भी नहीं जानती है। जैसे मनुष्य अपने स्वरूप को नहीं जानता है। वैसे पृथ्वी भी अपने भीतर अमृततत्त्व को नहीं जानती है।[1636]

भौतिक आकाश इस देवता का आयतन है। श्रोत्र रूपी दर्शनशक्ति से अवलोकन करता है। मन रूप ज्योति से संकल्प-विकल्प करता है। दिशाएँ इस देवता को उत्पन्न करती हैं।[1637]

श्वेताश्वतर उपनिषद् में परमात्मा के लिए रुद्र शब्द का प्रयोग करते हुए हे रुद्र ! हे गिरिशन्त ! सम्बोधन का प्रयोग किया गया है। इस रुद्र देवता की दो मूर्तियाँ हैं। एक घोरारूप और दूसरी मंगलमयी मूर्ति।[1638] इसकी मंगलमयी मूर्ति को शान्त और पुण्यप्रकाशिनी कहा गया है।[1639] गिरिशन्त की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है कि 'गिरौ स्थित्वा शं सुखं तनोतीति' अर्थात् पर्वतों पर रहकर जो सुख का विस्तार करने वाला है। इससे ज्ञात होता है कि परमात्मा का रुद्र रूप पर्वतों की रक्षा करने वाला होता है। वह अपने हाथ में बाण भी धारण करता है। जिस जीव से पर्वतों को भय होता है उस जीव की ओर अपने बाण को छोड़ता है। जिससे पर्वत निर्भय हो जाते हैं।[1640] श्वेताश्वतर उपनिषद् में रुद्रदेवता के दक्षिण मुख की चर्चा हुई है। रुद्र देवता का यह मुख प्राणियों की रक्षा करने वाला है।[1641]

[1635] अस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमय: पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमय: पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा इदममृतं इदं ब्रह्मेदं सर्वम्। - वहीं,2.5.1

[1636] य: पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं य: पृथिवीमन्तरो यमत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत:। - वहीं,3.7.3

[1637] आकाश एव यस्य आयतनं श्रोत्रं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मन: परायणं स वै वेदिता स्यात्। ...तस्य का देवता इति दिश इति होवाच। - वहीं,3.9.13

[1638] तस्यैते तनुवौ घोरान्या शिवान्या। -श्वे.उ.3.5, शां.भा.

[1639] या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी। तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि। - वहीं,3.5

[1640] यामिषु गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे। शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसी: पुरुषं जगत्॥। - वहीं,3.6

[1641] वहीं,4.21,शां.भा.

सनातन धर्म में मानव समाज के ब्राह्मण आदि चार वर्णों का उल्लेख मिलता है। सनातन धर्म के वर्ण विभाजन के समान ही देवताओं को भी क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णों में वर्गीकृत किया गया है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में क्षत्रिय देवताओं की श्रेणी में इन्द्र, वरुण, सोम, मेघ, यम, मृत्यु तथा ईशान को रखते हुए इनकी उत्पत्ति ब्रह्म से बतायी गयी है। ब्रह्म ने सर्वप्रथम क्षत्रिय देवताओं को उत्पन्न किया। क्षत्रिय देवताओं की विशिष्टता का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इन्द्र देवताओं का राजा है। वरुण जलचरों का अधिपति है। सोम ब्राह्मणों का राजा है। रुद्र पशुपति हैं। मेघ, विद्युत् आदि का नेतृत्व करने वाला है। यम पितरों का राजा है। मृत्यु रोगादि का स्वामी है। इसी प्रकार ईशान प्रकाशों का स्वामी है।[1642] अर्थात् प्रत्येक क्षत्रिय देवता अपनी जाति के जीवों में श्रेष्ठ होने के कारण स्वामी होता है।

ब्रह्म जब ब्राह्मण क्षत्रिय देवताओं की रचना करने के बाद भी विभूति सम्पन्न नहीं हुआ तो उसने वैश्य जातीय देवताओं को उत्पन्न किया। वैश्य जातीय देवताओं में वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव, और मरुत आते हैं।[1643]

ब्रह्म जब तीनों वर्णों को उत्पन्न करने के बाद भी विभूति युक्त नहीं हुआ, तो उसने शूद्र वर्णीय पूषा को उत्पन्न किया। पृथ्वी को ही पूषा देवता कहते हैं; क्योंकि वही सबका पोषण करती है।[1644]

छान्दोग्योपनिषद् में स्वरादिवर्णों को तीन भागों में विभाजित करते हुए उनके देवताओं का उल्लेख है। जिसमें से प्रथम स्वर वर्ण हैं। सभी स्वर इन्द्र की आत्मा होने से इन्द्र स्वरूप ही हैं। ऊष्मवर्ण प्रजापति की आत्मा होने से प्रजापति के समान हैं। स्पर्श वर्ण मृत्यु की आत्मा होने से मृत्यु के समान हैं।[1645] ऋषि के मत में वर्णों का दोषयुक्त उच्चारण करने पर तत्तत् देवताओं के दण्ड का भागी होना पड़ता है।

[1642] इन्द्रो देवानां राजा, वरुणो यादसाम्, सोमो ब्राह्मणानां, रुद्र: पशूनाम्, पर्जन्यो विद्युतादीनाम्, यम: पितृणाम्, मृत्यु: रोगादीनाम्, ईशानो भासाम्, इत्येवमादीनि देवेषु क्षत्राणि। -बृ.उ.1.4.11, शां.भा.

[1643] स नैव व्यभवत्स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति। - वहीं,1.4.12

[1644] स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च। - वहीं,1.4.13

[1645] छा.उ.2.22.3

वाक् के अधिदैवत् रूप को दो रूपों में देखा जा सकता है। प्रथम प्रकाशात्मक रूप, जो कि अग्नि है। दूसरा अप्रकाशात्मक रूप जिसे पृथ्वी कहते हैं। अग्नि और पृथ्वी से युक्त होकर यह दैवी वाक् पुरुष में प्रवेश करती है। वाक् का अधिदैवत् रूप अनृत आदि दोषों से रहित होती है। वाक् के अधिदैवत् रूप से युक्त पुरुष जो कुछ भी कहता है, वही हो जाता है।[1646] जहाँ जिस मात्रा में वाक् है, उतनी ही मात्रा में अग्नि है और उतनी ही मात्रा में पृथ्वी भी है।[1647]

बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने वाणी को भी ज्योतिस्वरूप बताया है। राजा जनक ने पूछा कि अग्नि ज्योति के बुझ जाने पर पुरुष के लिए क्या ज्योति होती ह? अर्थात् अग्नि के बुझ जाने पर पुरुष कैसे व्यवहार करता है। तब याज्ञवल्क्य ने वाक् को पुरुष की ज्योति के रूप में उल्लेख किया।[1648] इस वाक् रूप ज्योति से बैठता है, इधर उधर जाता है, कर्म करता है और लौट आता है। इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं कि शब्द के द्वारा ही श्रोत्रेन्द्रिय दीप्त होती है। श्रोत्रेन्द्रिय के दीप्त होने पर मन में विवेक उत्पन्न होता है और पुरुष शब्द होने की दिशा में ही चेष्टा करता है।[1649]

याज्ञवल्क्य के अनुसार काम ही काम देवता का शरीर है। बुद्धि द्वारा देखने के कारण हृदय ही जिसकी दर्शनशक्ति के समान है, जो ज्योति रूप मन के द्वारा संकल्प-विकल्प करता है। काम देवता स्त्री से उद्दीपन को प्राप्त होता है। अत: स्त्री उसका भी देवता है।[1650]

ऋषि याज्ञवल्क्य ने इसी क्रम में रूप के अधिष्ठातृ देवता, तमस् के अधिष्ठातृ देवता, वीर्य के अधिष्ठातृ देवता का भी उल्लेख किया है। इन सभी देवताओं में देखने के लिए एक दर्शन शक्ति है तथा संकल्प के लिए ज्योति स्वरूप मन है।

[1646] पृथिव्यै चैनमग्नेयश्च दैवी वागाविशति सा वै देवी वाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति। - बृ.उ.1.5.18

[1647] तस्यै वाच: पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निस्तद्यावत्येव वक्तावती पृथिवी तावानयमग्नि:। - वहीं,1.5.11

[1648] वाचैवायं ज्योतिषास्ते। - वहीं,4.3.5

[1649] वागेवास्य ज्योतिर्भवतीति वाचैवायं ज्योतिषास्ते पल्यते कर्म कुरुते विपल्येतीति। - वहीं,4.3.5,शां.भा.

[1650] काम एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्....तस्य का देवता इति स्त्रिय:। - वहीं,3.9.11

कठोपनिषद् में मृत्यु के अधिष्ठातृ देवता यमराज का उल्लेख आया है। जिनके लिए नचिकेता ने हे मृत्यो: ! सम्बोधन का प्रयोग किया है।[1651]

कठोपनिषद् में विद्या और अविद्या के बीच भेद करते हुए कहा गया है कि ये दोनों दो विपरीत दिशाओं में जाने वाले मार्ग के समान है।[1652] उनमें से विद्या को कल्याण करने वाली एवं कटु औषधि के समान बताया गया है। जबकि अविद्या को कल्याण रहित एवं प्रिय बताया गया है। अविद्या संसार में आसक्ति पैदा करती है, तो विद्या परमात्मा की ओर उन्मुख करती है।

विद्या से किसी वस्तु की सत्ता का ज्ञान होता है। सत्ता का ज्ञान कराना प्रकाश की एक विशेषता है। इस विशेषता के कारण विद्या को भी प्रकाश की श्रेणी में रखा जा सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में ब्रह्मविद्या को सभी विद्याओं का राजा कहा गया है। आचार्य शंकर ने इस पर भाष्य करते हुए लिखा है- *'राजविद्या विद्यानां राजा दीप्यतिशयत्वात् दीप्यते हि इयमतिशयेन ब्रह्मविद्या सर्वविद्यानाम्'।*[1653] अर्थात् अतिशय प्रकाशयुक्त होने के कारण समस्त विद्याओं का राजा है। इससे ज्ञात होता है कि सभी विद्याओं में कुछ न कुछ प्रकाश होता है, जो अपने विषयों को प्रकाशित करता है। सभी विद्याओं का प्रकाश एक समान नहीं होता है। कुछ में ज्यादा प्रकाश होता है। कुछ में कम प्रकाश होता है। उन सभी विद्याओं में ब्रह्मविद्या ऐसी है कि जिसमें सर्वाधिक प्रकाश होता है। इसलिए उसे सभी विद्याओं का राजा कहते हैं।

विद्या को चित्तशुद्धि का साधन भी बताया गया है। विद्या अविद्याजन्य कर्तृत्व, भोक्तृत्व, राग, द्वेष आदि दोषों को दूर करके परमात्मा के स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाली होती है।[1654] ईशावास्योपनिषद् में विद्या और अविद्या के फल का भी कथन किया गया है, जिसमें अविद्या के उपासक को पितृलोक तथा विद्या के उपासक को देवलोक की प्राप्ति बताया गया है। आचार्य ने यहाँ अविद्या का अर्थ अग्निहोत्र आदि कर्म तथा विद्या का अर्थ देवता सम्बन्धी ज्ञान किया है।[1655] बृहदारण्यक उपनिषद् में भी कहा गया है कि कर्म से

[1651] कठ.उ.1.1.10
[1652] दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येतिज्ञात। - वहीं,1.2.4
[1653] भग.गी.9.2,शां.भा.
[1654] ब्र.सू.शां.भा.पृ.634
[1655] ईशा.उ.9,शां.भा.

पितृलोक तथा विद्या से देवलोक की प्राप्ति होती है।[1656] विद्या को भी दो रूपों में देखा जा सकता है। प्रथम पराविद्या द्वितीय अपराविद्या। पराविद्या को ब्रह्मविद्या कहते हैं; क्योंकि ब्रह्म ही सबसे पर है। उससे पर कुछ भी नहीं है। आचार्य शंकर ने उपनिषद् के पराविद्यात्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि उपनिषद् वेद्य अक्षर विषयक विज्ञान ही पराविद्या है। उपनिषद् की शब्दराशि नहीं।[1657] मुण्डकोपनिषद् में शिष्य ने गुरु से प्रश्न किया कि ऐसा क्या है, जिसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है। फिर जानने के लिए कुछ शेष नहीं रहता है।[1658] अपराविद्या का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, आदि समस्त विद्यायें अपराविद्या के अन्तर्गत आती हैं।[1659]

प्रथम विद्या के दो भेद- परा(ब्रह्म) अपरा। अपरा के अनेक भेद हैं। विभिन्न विषयों से सम्बन्धित विद्याओं को अलग-अलग नामों से जाना जाता है। जो विद्या जिस विषय से सम्बन्धित होती है। उस विद्या को उसी नाम से जाना जाता है। जैसे-

जिस विद्या से अश्वमेध यज्ञ का ज्ञान होता है। उसे अश्वमेध विद्या कहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में अश्वमेध विद्या का उल्लेख हुआ है।[1660] कठोपनिषद् में अग्नि के एक ऐसे प्रकार की चर्चा हुई है जो स्वर्ग को प्राप्त कराने वाली है। यमराज ने उस स्वर्ग के साधनभूत अग्नि का नचिकेताग्नि नाम दिया है। उसके विषय में किञ्चित उल्लेख करते हुए लिखा गया है कि उसका तीन बार अनुष्ठान करना होता है। आचार्य ने तीन बार अनुष्ठान करने का अर्थ ज्ञान अध्ययन अनुष्ठान किया है।[1661] बृहदारण्यक उपनिषद् में पञ्चाग्निविद्या का उल्लेख हुआ है, जिसमें द्युलोकाग्नि, पर्जन्याग्नि, इहलोकाग्नि, पुरुषाग्नि, योषाग्नि की गणना की गयी है।[1662]

[1656] ...सोऽयं मनुष्यलोक: पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको। - बृ.उ.1.5.16

[1657] उपनिषद् वेद्याक्षरविषयं हि विज्ञानमिह परा विद्येति प्राधान्येन विवक्षितं नोपनिषच्छब्दराशि - मु.उ.1.1.5,शां.भा.

[1658] कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।- मु.उ.1.1.3

[1659] वहीं,1.1.5

[1660] बृ.उ.१.१.१

[1661] कठ.उ.1.1.13

[1662] बृ.उ.6.2.9-13

ब्रह्मसूत्र के भाष्य में आचार्य शंकर ने अविद्या को परमात्मा की शक्ति कहा है, जो कि परमात्मा के आश्रित होकर रहती है। अविद्या को जीवों की महासुषुप्ति अवस्था कहते हैं। महाप्रलय में सभी जीव इसी अविद्या में सोते हैं। बीज सदृश्य होने के कारण इसे बीज शक्ति भी कहते हैं।[1663] भाष्यकार ने अविद्या के लिए माया एवं अव्यक्त शब्द का भी प्रयोग किया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में योगमाया का उल्लेख करते हुए उसे ईश्वर ज्ञान में बाधक बताया गया है। योगमाया के कारण ही जीव ईश्वर को नहीं देख पाता है। योगमाया शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए भाष्यकार ने लिखा है- *'योगो गुणानां युक्तिः घटनं सा एव माया'*[1664] अर्थात् सत्त्व रजस् और तमस् गुणों का मिश्रण ही योग है और वही माया है।

सांख्य आचार्यों ने अविद्या के लिए प्रकृति शब्द का प्रयोग किया है। सांख्य में प्रकृति स्वतंत्र तथा एक है, जबकि शंकराचार्य प्रकृति को ब्रह्म की अविद्या शक्ति मानते हैं।[1665] यह अविद्या शक्ति जीव सापेक्ष होने से अनेक है।[1666] शांकरभाष्य में माया के लिए प्रज्ञा शब्द का प्रयोग किया गया है- *'इन्द्रः परमेश्वरो मायाभिः प्रज्ञाभिः'* अर्थात् ईश्वर अपनी प्रज्ञा से अनेक रूपों में हो जाता है।[1667] इस प्रज्ञा शब्द से भी माया का शुद्ध सत्त्व प्रधान होने का ज्ञान होता है। माया की अनिर्वचनीयता का उल्लेख करते हुए विवेकचूड़ामणि में कहा गया है-

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिः अनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।

कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते॥[1668]

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।

[1663] विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात्। अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महा सुषुप्तिः यस्यां स्वरूप प्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः। -ब्र.सू.शां.भा.पृ.790

[1664] भग.गी.7.25

[1665] अजडस्य बोधात्मनः स्वप्रकाशस्य तिरर्सकया आवरणं तदात्मिका जगद् विक्षेपोपादानं प्रकृतिः – संक्षे.शा. 1.136, सु.टी.

[1666] आवरणशक्तिस्तावदल्पोपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलोकयितृ.....।- वे.सा.16

[1667] बृ.उ.2.5.19, शां.भा.

[1668] वि.चू.110

सांगाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा॥[1669]

इतिहास, पुराण में माया के लिए जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है, उसका समाहार पद्मपाद ने एक स्थान पर कर दिया है- प्रकृति, अव्याकृति, नाम-रूप, अविद्या, माया, अग्रहण, अव्यक्त, तम, कारण, लय, शक्ति, महासुषुप्ति, निद्रा, अक्षर, आकाश शब्दों का प्रयोग माया के लिए हुआ है।[1670] शंकराचार्य और पद्मपादाचार्य तक के आचार्यों ने इन सभी शब्दों को एक ही अर्थ में लिया है। किन्तु बाद के आचार्यों ने ईश्वर और जीव में भेद करने के लिए माया और अविद्या में भेद कर दिया है।

शांकरवेदान्त में अध्यास का अत्यधिक महत्त्व है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र का प्रारम्भ अध्यास के निरूपण से किया है। अध्यास अज्ञान या भ्रम का पर्यायवाची शब्द है।[1671] अध्यास की अवस्था में दो वस्तुओं में एक प्रकार का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, जिसमें एक का धर्म दूसरे में और दूसरे का धर्म पहले में प्रतीत होने लगता है। आचार्य ने अध्यास को समझाने के लिए तप्तलौहपिण्ड का उदाहरण दिया है।[1672] तप्तलौहपिण्ड में अग्नि के धर्मों का लौह पर और लौह के धर्मों का अग्नि पर अध्यास हो जाता है; क्योंकि अग्नि का कोई आकार प्रकार न होने पर भी गोल दिखायी देता है। इसी प्रकार लौहपिण्ड में अग्नि के धर्मों का और लौह के धर्मों का अग्नि पर अध्यास हो जाता है; क्योंकि अग्नि का कोई आकार प्रकार न होने पर भी गोल दिखाई देता है। इसी प्रकार लौहपिण्ड शीतल काला होने पर भी गर्म लाल दिखायी देता है। इसी प्रकार का अध्यास आत्मा और शरीर में भी होता है।[1673] एक के धर्म का दूसरे में अध्यास हो जाता है।

शांकर वेदान्त में दिये गये अध्यास के उदाहरण जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति, शुक्ति में रजत् की प्रतीति, मरुस्थल में जल की प्रतीति, पाण्डुरोग में वस्तु का पीला दिखायी देना आदि उदाहरणों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है[1674] कि अध्यास भी प्रकाश रूप होता

[1669] वहीं,111

[1670] येयं श्रुतिस्मृतिइतिहासपुराणेषु नामरूपमव्याकृतमविद्यामायाप्रकृति: अग्रहणम् अव्यक्तं तम: कारणं लय: शक्ति महासुषुप्ति: निद्राक्षरं आकाश इति च तत्र तत्र बहुधा गीयते। -पं.पा.वि.पृ.18

[1671] अद्वै.ऐ.वि.103

[1672] प्रतप्तायसपिण्डवत्।– आ.बो.62

[1673] अद्वै.ऐ.वि.पृ.104

[1674] वहीं,पृ.105

है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि जैसे प्रोजेक्टर पर प्रकाश के प्रक्षेपण से आकृति दिखायी देती है, उसी प्रकार अध्यास में भी प्रकाश का प्रक्षेपण होता है। अध्यास की व्युत्पत्ति अधि उपसर्ग पूर्वक् क्षेपणार्थक असु धातु से घञ् करने पर बनता है। इसमें भी क्षेपणार्थक असु धातु से प्रकाश के प्रक्षेपित होने का ज्ञान होता है।

आचार्य शंकर ने अध्यास का लक्षण देते हुए लिखा है, *'स्मृतिरूप: परत्रपूर्व दृष्टावभास:'*[1675] अर्थात् पूर्वकाल में देखी गयी किसी वस्तु का दूसरी जगह भासित होना अध्यास है। यह अध्यास स्मृतिरूप होता है। इस लक्षण में भी चमकने के अर्थ में भास् धातु का प्रयोग हुआ है। अवभास से आशय अव+बाधित+भास् अर्थात् यह ज्ञान कालान्तर में रज्जुज्ञान से बाधित हो जाता है। आचार्य शंकर इस जगत् को भी अध्यास रूप मानते हैं। इस जगत् की स्मृति नहीं होती है, अपितु स्मृतिरूप मात्र है।[1676] इस अध्यास का कारण अज्ञान है; क्योंकि अज्ञान के कारण ही सत् वस्तु के धर्म असत् वस्तु में और असत् वस्तु के धर्म सत् वस्तु में दिखायी देते हैं।

अध्यास को ठीक प्रकार से समझने के लिए भाष्यकार ने उसकी कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया है- *'अयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूप: कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तक: सर्वलोकप्रत्यक्ष:'*[1677] अर्थात् यह अध्यास अनादि, अनन्त, नैसर्गिक, मिथ्याज्ञानरूप, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, आदि का प्रवर्तक सर्वलोक प्रत्यक्ष है।

श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य में आचार्य शंकर ने ज्ञान और विज्ञान शब्द का अर्थ बताते हुए लिखा है- *'ज्ञानं शास्त्रत: आचार्यत: च आत्मादीनाम् अवबोध:, विज्ञानं विशेषत: तदनुभव:'।*[1678] ज्ञान को दो रूपों में देखा जा सकता है- सात्त्विकज्ञान एवं तामसिक ज्ञान। तामसिकज्ञान को अविद्या शब्द से कहा जाता है। सात्त्विकज्ञान को विद्या शब्द से कहा जाता है। यह विद्या भी दो प्रकार की होती है- पराविद्या और अपराविद्या। सात्त्विकज्ञान को अपराविद्या में परिगणित किया गया है, इसकी विशेषता है कि यह कल्याणकारी और निर्गुण ब्रह्म की ओर उन्मुख करने वाली होती है। ब्रह्मज्ञान स्वरूप होने से पराविद्या को त्रिगुणातीत ज्ञान कहते हैं।

[1675] ब्र.सू.1.1.1,शां.भा.पृ.32
[1676] अद्वै.ऐ.वि.105
[1677] ब्र.सू.1.1.1, शां.भा.पृ.56
[1678] भग.गी.3.41,शां.भा.

सत्त्वगुण प्रधान ज्ञान सात्त्विक ज्ञान है। सत्त्वगुण को प्रकाशक एवं हल्का बताया गया है। सात्त्विक ज्ञान बुद्धि का पर्याय है, जो निश्चयात्मिका वृत्ति से युक्त होती है। सत्त्वगुण प्रकृति या अज्ञान का अंश होने से अचेतन है। वह स्वयं प्रकाश नहीं है, अपितु सत्त्वगुण भी ब्रह्म के प्रकाश से प्रकाशित होता है। किन्तु ब्रह्म *'स्वयंज्योति'*[1679] होने से किसी से प्रकाशित नहीं होता है। सात्त्विक बुद्धि स्पन्दनयुक्त तथा ब्रह्मज्ञान से प्रेरित है, जबकि ब्रह्मज्ञान स्पन्दन रहित अवस्था है।

सात्त्विक ज्ञान से योग्यता आती है और ब्रह्मज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। केनोपनिषद् के अनुसार विद्या से सामर्थ्य प्राप्त होती है और आत्मा के ज्ञान से अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है।[1680] कठोपनिषद् में भी इस बात की पुष्टि की गयी है। कि ब्रह्म की इच्छा से ही मुक्ति सम्भव है।[1681] इसे सरल शब्दों में समझने के लिए ओशो की पंक्ति को उद्धृत किया जा सकता है- 'उपाय बुद्धत्व नहीं देते हैं, वे तुम्हें बुद्धत्व झेलने के योग्य बनाते हैं, वे तुम्हें क्षमता और बल देते हैं, कि तुम बुद्धत्व को झेल सको'।[1682]

योगानन्द ने अन्तर्ज्ञान को भी प्रमाण की कोटि में रखा है। श्रीमद्भगवद्गीता में इस अन्तर्ज्ञान को *'अन्तर्ज्योति'*[1683] शब्द से कहा गया है। आचार्य शंकर ने इस पर भाष्य करते हुए लिखा है कि *'अन्तरात्मा एव ज्योति: प्रकाशो यस्य सा अन्तर्ज्योति:'।*[1684] अन्य प्रमाणों से कुछ सीमित वस्तुओं को ही जाना जा सकता है। किन्तु अन्तर्ज्योति के द्वारा सभी ज्ञेय वस्तु के बारे में जाना जा सकता है; क्योंकि आत्मा के लिए कोई देशकाल अवच्छेदक नहीं होता। अन्तर्ज्ञान किसी विलक्षण सामंजस्य द्वारा अन्तिम सत्य को सम्पूर्णता में देखता है, जबकि विचार उसे अंशों में काट कर देखता है।[1685]

श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञान की तुलना एक दीपक से करते हुए ज्ञान दीपक के विभिन्न अवयवों को भी बताया गया है। जिस प्रकार तेल बत्ती और अग्नि से बना हुआ दीपक

[1679] यानि ह्येव जाग्रत पश्यति तानि सुप्त इत्यत्रायं पुरुष: स्वयं ज्योति: भवति। -बृ.उ.4.3.14
[1680] आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्। -केन.उ.2.4
[1681] यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्। -कठ.उ.1.2.23
[1682] तं.वि.,पृ.134
[1683] भग.गी.5.24
[1684] वहीं,5.24,शां.भा.
[1685] धर्मविज्ञान, पृ.70

अन्धकार को दूर करता है उसी प्रकार ज्ञान भी अज्ञान को दूर करने वाला होता है। अत: अज्ञान को दूर करके प्रकाश फैलाने की दृष्टि से ज्ञान और दीपक में समानता दिखायी देती है। ज्ञान दीपक के विभिन्न अवयवों का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि ज्ञान दीपक में भक्ति का प्रसाद ही घृत है। ज्ञान दीपक परमात्मा स्वरूप की भावना के अभिनिवेश रूप वायु की सहायता से प्रज्वलित होता है। जिसमें ब्रह्मचर्यादि साधनों के संस्कारों से युक्त बुद्धि ही बत्ती है। आसक्ति रहित अन्त:करण जिसका आधार है। जो विषयों से हटे हुए और राग द्वेष रूप कालुष्य से रहित हुए चित्त रूप वायु रहित अपवारक में स्थित है। जो निरंतर अभ्यास किए हुए एकाग्रता रूप ध्यान जनित पूर्ण ज्ञान स्वरूप प्रकाश से युक्त है। उस ज्ञान दीपक द्वारा मैं मोह का नाश कर देता हूँ।[1686]

भाष्यकार ने बुद्धि शब्द का प्रयोग ज्ञान के अर्थ में किया है।[1687] किन्तु यहाँ बुद्धि शब्द का अर्थ सात्त्विक ज्ञान से है न कि निर्गुण ज्ञान से। आचार्य ने बुद्धि का लक्षण करते हुए कहा है कि बुद्धि: अन्त:करणस्य सूक्ष्माद्यर्थावबोधन सामर्थ्यं तद्वन्तं बुद्धिमान् इति हि वदन्ति' अर्थात् सूक्ष्म से सूक्ष्मतर आदि पदार्थों को समझने वाली अन्त:करण की ज्ञानशक्ति का नाम बुद्धि है। ज्ञान का लक्षण आचार्य ने इस प्रकार दिया है- *'ज्ञानमात्मादि पदार्थानां अवबोध:'।*[1688] अवबोध और बुद्धि शब्द दोनों में एक ही धातु का प्रयोग होने से एक दूसरे के पर्यायवाची सिद्ध होते हैं।

उपनिषद् में ज्ञानमार्ग को सूक्ष्म, विस्तीर्ण और पुरातन बताया है। ऋषि इस मार्ग को शुक्लवर्ण, नीलवर्ण, पिंगलवर्ण, हरितवर्ण एवं लोहितवर्ण का बताते हैं। आचार्य शंकर के मत में ऋषियों के द्वारा ज्ञानमार्ग के विभिन्न वर्णों का उल्लेख केवल दृष्टिकोण मात्र है। वस्तुत: शुक्ल, नील, पीत, आदि श्लेष्मादि रस से परिपूर्ण शुषुम्ना आदि नाड़ियाँ ही हैं।[1689] इस मार्ग को अत्यधिक तेजस्वी कहा गया है; क्योंकि अत्यधिक तेज स्वरूप इन नाड़ियों से परमात्म तेज स्वरूप ब्रह्मवेत्ता के जाने का उल्लेख मिलता है।

[1686] तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तम:। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ -भग.गी.10.11, शां.भा.

[1687] बुद्धि: अन्त:करणस्य सूक्ष्माद्यर्थावबोधन सामर्थ्यं- वहीं,10.4, शां.भा.

[1688] वहीं,10.4, शां.भा.

[1689] तस्मिन् शुक्लमुत नीलमाहु: पिङ्गलं हरितं लोहितं च। -बृ.उ.4.4.9

शांकर वेदान्त में मन को अन्त:करण का संकल्प-विकल्पात्मक व्यापार कहा गया है। ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय का सहायक होने से यह उभयेन्द्रिय भी है। उपनिषद् में मन को दिव्यचक्षु कहा गया है।[1690] दिव्यचक्षु कहे जाने से यह भी संभव है कि मन चक्षु की सहायता के बिना भी देखने में समर्थ है। यह मन स्थूल या सूक्ष्म शरीर का नेत्र न होकर आत्मा का चक्षु कहा गया है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि यह आत्मा मन रूप दिव्य नेत्रों से ब्रह्मलोक के समस्त भोगों को देखता हुआ रमण करता है।[1691] इससे स्पष्ट होता है कि ब्रह्मलोक में निवास करने वाले पुरुष को संकल्प मात्र से सभी भोगों की प्राप्ति होती है। तैत्तिरीय उपनिषद् में मन को ज्योतिरूप बताया गया है और यह भी बताया गया है कि घृत आदि का सेवन करने वाले पुरुष का मन तेजस्वी होता है।[1692] शिवसंकल्प सूक्त में दूरगामी ज्योतियों में अद्वितीय ज्योतिरूप मन को शुभसंकल्प से युक्त होने के लिए प्रार्थना की गयी है।[1693] यहाँ भी मन को ज्योतिरूप बताया गया है।

प्रश्नोपनिषद् के अनुसार स्वप्न के समय मन में स्थित वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है। वही मन जब नाड़ी में रहने वाले पित्त नामक सौरतेज से अभिभूत होने लगता है। तब वह स्वप्नावस्था से सुषुप्तावस्था में पहुँचता है। सुषुप्तावस्था में वह पूर्णत: पित्त के तेज से अभिभूत हो जाता है। तब सभी इन्द्रियाँ मन में उसी प्रकार लीन हो जाती हैं, जैसे सूर्यास्त के समय सूर्य की किरणें सूर्य में लीन हो जाती हैं।[1694]

जीवात्मा के सूक्ष्म शरीर को तैजस् शरीर भी कहते हैं। तैजस् होने के कारण उसकी अपनी ऊष्मा होती है। इस तैजस् शरीर की ऊष्मा के कारण ही स्थूल शरीर गर्म प्रतीत होता है। सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से जब पृथक् होता है तब स्थूल शरीर में शीतलता आ जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि स्थूल शरीर में विद्यमान् ऊष्मा सूक्ष्म शरीर की ऊष्मा होती है।[1695] सदानन्द योगीन्द्र जी लिखते हैं कि *'एतद्-व्यष्टि-उपहितं चैतन्यं तैजसो*

[1690] छा.उ. 8.12.5-6
[1691] वहीं,8.12.5-6
[1692] मनो ज्योतिर्जुषताम्। -तै.उ.1.6.3.3
[1693] शु.य.वा.सं.34.1
[1694] प्रश्न.उ.4.6, शां.भा.
[1695] अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा। -ब्र.सू.4.2.11

भवति, तेजोमयान्त:करणोपहितत्वात्'[1696] अर्थात् एक-एक सूक्ष्म शरीर से उपहित चैतन्य तेजोमय अन्त:करण की उपाधि से विशिष्ट होने के कारण तैजस् कहलाता है।

प्राण तत्त्व के भी लौकिक और पार्मार्थिक दो रूप हैं। लौकिक रूप से प्राण को हम पंचवायु के रूप में जानते हैं। पारमार्थिक रूप से प्राण चेतन ब्रह्म तत्त्व ही है। केनोपनिषद् में प्राण के पारमार्थिक रूप के लिए *'प्राणस्य प्राण:'*[1697] शब्द का प्रयोग किया गया है। कौषीतकि उपनिषद् में प्राण के लिए प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर, अमृत शब्द का प्रयोग किया गया है।[1698] आचार्य शंकर ने इन विशेषताओं के आधार पर प्राण शब्द का अर्थ परमात्मा किया है।[1699] योगानन्द जी ने प्राण के लिए प्राणधारा और जीवनविद्युत् शब्द का भी प्रयोग किया है, *'अणु से सूक्ष्म वह मेधावी ऊर्जा (प्राण) जो शरीर में जीवन को सक्रिय बनाती है और कायम रखती है'।*[1700]

प्राण तत्त्व शरीर को नियन्त्रित करने का काम करता है। शरीर यदि शयन कर रहा है तो वह शयन ही करता रहे, जागता क्यों है? भूमि पर पड़ा हुआ शरीर उठता कैसे है? रूका हुआ पुरुष गतिशील कैसे होता है? इन प्रश्नों के समाधान के रूप में आचार्य कौषीतकि उपनिषद् के मन्त्र को उद्धृत करते हैं, जिसमें कहा गया है कि प्रज्ञात्मा प्राण शरीर को शयन तथा आसन से उठाता है। कौषीतकि उपनिषद् में कहा गया है कि अहं और ममत्व के कारण ही प्राण शरीर को शयन तथा आसन आदि से उठाता है।[1701]

प्राण और वायु के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध बताया गया है। शंकराचार्य कहते हैं कि जब तक शरीर में प्राण है, तभी तक आयु रहती है।[1702] ब्रह्मसूत्र के भाष्य में आचार्य एक मन्त्र उद्धृत करते हैं-

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।

[1696] वे.सा.27
[1697] केन.उ.1.2
[1698] स एष प्राण एवं प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः। -कौ.उ.3.8
[1699] ब्र.सू.1.1.28, शां.भा.
[1700] धर्म विज्ञान, पृ.55
[1701] अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति। -कौ.उ.1.2.3
[1702] यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणों वसति तावदायुः। -ब्र.सू.शां.भा.पृ.381

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतौ उपाश्रितौ॥[1703]

इससे स्पष्ट होता है कि यहाँ प्राण का अर्थ जीवात्मा है। इस जीवात्मा रूप मुख्य प्राण से ही प्राणी जीवित रहते हैं।

प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान आदि जाग्रत अवस्था में मुख्य प्राण के भेद हैं। सुषुप्तावस्था में इन पंचप्राणों के नाम भेद हो जाते हैं। सभी इन्द्रियों के सो जाने पर भी प्राणाग्नि शरीर रूपी पुर में प्रज्वलित होती रहती है। इस अवस्था में अपान वायु को गार्हपत्य अग्नि के नाम से जाना जाता है, व्यान वायु अन्वाहार्यपचन अग्नि, प्रणयन के कारण प्राण को आह्वनीय अग्नि कहा जाता है।[1704] प्राण का सर्वाश्रयत्व प्रतिपादित करते हुए लिखा गया है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, यज्ञ, क्षत्रिय, ब्राह्मण, आदि सभी कुछ प्राण में ही स्थित हैं। उसी प्रकार जैसे रथ की नाभि में तीलियाँ प्रतिष्ठित होती हैं।[1705]

मृत्यु को दूर करने वाला होने से मुख्य प्राण का एक नाम दूर भी है। असुरों के द्वारा पाप से विद्ध होने के कारण वाक्, चक्षु, प्राण आदि भी मृत्यु से युक्त हो गये थे। तब प्राण ने वागादि से मृत्यु को दूर करके उनके देवत्व भाव को प्राप्त करा दिया। इस मुख्य प्राण ने सर्व प्रथम वाक् देवता को मृत्यु से मुक्त कर दिया। यह वाक् जिस समय मृत्यु से मुक्त हुई, उस समय यह अपने देवत्व भाव अग्नि को प्राप्त हो गयी। इसीलिए अग्नि को मृत्यु से रहित देखा जाता है।[1706] इसी प्रकार मुख्य प्राण ने घ्राण को मृत्यु से मुक्त कर दिया तो घ्राण अपने देवत्व भाव वायु को प्राप्त हो गया। अत: वायु को मृत्यु स्पर्श नहीं करती है।[1707] फिर मुख्य प्राण ने चक्षु को मृत्यु से मुक्त कर दिया तो चक्षु अपने देवत्व भाव आदित्य को प्राप्त हो गयी। अत: आदित्य मृत्यु से परे होकर तपता है।[1708] फिर प्राण ने श्रोत्र को मृत्यु से मुक्त कर दिया तो श्रोत्र दिक् होकर मृत्यु से परे होकर दीप्तिमान् रहती है।[1709] फिर

[1703] वहीं,पृ.391
[1704] प्रश्न.उ.4.3
[1705] वहीं,2.6
[1706] बृ.उ.1.3.12
[1707] बृ.उ.1.3.13
[1708] वहीं,1.3.14
[1709] वहीं,1.3.15

मुख्यप्राण ने मन को मृत्यु से मुक्त कर दिया। तब यह मन चन्द्रमा भाव को प्राप्त हो गया । अत: चन्द्रमा मृत्यु से परे होकर प्रकाशमान् रहता है।[1710] उपनिषद् पुरुष के स्वरूप का वर्णन करती हुई कहती है कि इस पुरुष का रूप हल्दी में रंगे गये वस्त्र के समान है। सफेद ऊनी वस्त्र भी इससे समानता रखता है। इन्द्र गोप के समान लाल वर्ण का है। यह पुरुष वर्ण में अग्नि की ज्वाला, श्वेत कमल और बिजली की समानता रखता है।[1711]

केनोपनिषद् में शिष्य गुरु से इन्द्रियों के अधिष्ठान के विषय में प्रश्न करता है कि मन, चक्षु, श्रोत्र, वाक्, प्राणादि क्या स्वयं अपना कार्य करते हैं या इनको प्रेरित करने वाला कोई है?[1712]

कठोपनिषद् में नचिकेता ने यमराज से आत्मा के अस्तित्त्व के विषय में प्रश्न किया है कि जीवात्मा मृत्यु के बाद रहता है या नहीं।[1713]

प्रश्नोपनिषद् के छ: प्रश्नों में भी दार्शनिक प्रश्न किया गया है। पिप्पलाद मुनि के पास छ: शिष्य आते हैं। सभी शिष्य एक-एक करके प्रश्न करते हैं और पिप्पलाद मुनि उसका उत्तर देते हैं। छ: शिष्य कबन्धी, भार्गव, कौसल्य, गार्ग्य, सत्यकाम और सुकेशा।

मुण्डकोपनिषद् में शौनक ऋषि ने अंगिरा से प्रश्न किया कि किस तत्त्व को जान लेने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है। अर्थात् इस स्थावर जंगात्मक सम्पूर्ण जगत् का अन्तिम कारण क्या है।[1714]

माण्डूक्य उपनिषद् में प्रश्न किया गया है कि इस जगत् को जानने वाला कौन है? इसकी कल्पना कौन करता है।[1715]

[1710] वहीं,1.3.16

[1711] तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम्। यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं रथा सकृद्विद्युतं सकृद्विद्युत्तेवं। - वहीं,2.3.6

[1712] केन.उ.1.1

[1713] कठ.उ.1.1.20

[1714] मु.उ.1.1.3

[1715] मा.उ.वै.प्र.11

तैत्तिरीय उपनिषद् के भृगुवल्ली में भृगु अपने पिता वरुण के पास जाकर ब्रह्म का उपदेश करने के लिए निवेदन करता है। तब पिता वरुण ने क्रमश: अन्न, प्राण, मन, विज्ञान एवं आनन्द को ब्रह्म के रूप में उपदेश किया।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रथम प्रश्न में ही जगत् के कारण विषयक प्रश्न किया गया है कि

किं कारणं ब्रह्म कुत: स्म जाता, जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा:।

अधिष्ठिता: केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥'[1716]

श्वेताश्वतर उपनिषद् काल में जगत् के मूल कारण के विषय में कुल छ: मत प्रचलित थे। कुछ लोग काल को जगत् का कारण मानते थे, कुछ स्वभाव को जगत् का कारण मानने के पक्ष में थे। इसी प्रकार कुछ लोग नियति, यदृच्छा, भूत तथा पुरुष को जगत् का कारण मानने के पक्षधर थे।[1717]

छान्दोग्य उपनिषद् में उल्लिखित आरुणि और श्वेतकेतु का संवाद प्रसिद्ध है। इसमें जगत् के मूल कारण का उपदेश सुन्दर शैली में उपस्थापित किया गया है। आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु 12 वर्ष में ही गुरु से सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन कर स्वयं को बुद्धिमान् पण्डित समझते हुए अविनीत स्वभाव से पिता के सम्मुख उपस्थित हुआ। तब पिता आरुणि ने पूछा कि क्या तुमने उस आदेश को सुना जिसे जान लेने के बाद कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। जिसके जानने से न सुना हुआ भी सुने हुए के समान हो जाता है और अज्ञात भी ज्ञात हो जाता है।[1718]

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी मैत्रेयी ने अमृतत्त्व के साधन के रूप में याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया। तब ऋषि याज्ञवल्क्य ने अमृतत्त्व के साधन के रूप में ब्रह्म का उपदेश किया।[1719]

गीता में अर्जुन ने पूछा कि जिस योगी का मन अन्तकाल में योग से चलायमान हो जाता है। उसकी क्या गति होती है?[1720] अर्जुन का ब्रह्म से सम्बन्धित प्रश्न है कि वह ब्रह्मतत्त्व क्या है? अध्यात्म क्या है? अधिभूत किसको कहते है? अधिदैव किसको कहते हैं?[1721]

[1716] श्वे.उ.1.1
[1717] वहीं,1.2
[1718] छा.उ.7.1.1-5
[1719] बृ.उ.2.4.3

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रस्थानत्रयी में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप में जगत् के मौलिक कारण के विषय में प्रश्न किया गया है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में एक मन्त्र आया है जिसमें असत् को जगत् का मूल कारण बताया गया है 'असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत्। तदात्मानं स्वयं अकुरुत'।[1722]। नासदीय सूक्त में भी जगत् के मूल कारण को सत् असत् रूप होने से इनकार किया गया है।[1723] इन दो मन्त्रों के आधार पर नास्तिक लोग जगत् के मूल कारण को सत् रूप नहीं मानते हैं। किन्तु आचार्य शंकर ने यहाँ असत् शब्द का अर्थ पूर्ण अभाव न करके 'नाम रूप से रहित ब्रह्म' ऐसा अर्थ किया है; क्योंकि ब्रह्म अपने मूल रूप में नाम रूप से रहित है। अत: नाम रूप से रहित ब्रह्म को असत् कहा गया है।

इन्द्रियों के कारण का उल्लेख करते हुए केनोपनिषद् में कहा गया है कि वह तत्त्व मन का भी मन है।[1724] अर्थात् मन से भी श्रेष्ठ है। श्रोत्र का श्रोत्र है। चक्षु का चक्षु है, वाक् का वाक् है। अर्थात् वह तत्त्व इन सभी इन्द्रियों से श्रेष्ठ है। उस तत्त्व की प्रेरणा से सभी इन्द्रियाँ अपने कार्य में प्रेरित होती हैं।

विश्व के सभी पदार्थ परमात्मा के अंश हैं। उनमें से कुछ पदार्थ परमात्मा के तेज अंश से उत्पन्न हुए हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि संसार में जो भी पदार्थ विभूतिमान् है, श्रीमान् हैं, शक्तिमान् हैं, उन सबको तुम मेरे तेज अंश से उत्पन्न जानो। जैसे 12 आदित्यों में विष्णु नामक आदित्य ईश्वर के तेज अंश से उत्पन्न हुए हैं। ज्योतियों में सूर्य ईश्वर के तेज अंश से उत्पन्न हुआ है। अनेक वायुवीय देवताओं में मरीचि देवता ईश्वर के तेज अंश से उत्पन्न हुए हैं। नक्षत्रों में चन्द्रमा परमात्मा के तेज अंश से उत्पन्न हुआ है। वेदों में सामवेद, देवताओं में इन्द्र, इन्द्रियों में मन, एकादश रुद्रों में शंकर, यक्षों में कुबेर, आठ वसुओं में अग्नि[1725], वाणी के अनेक भेदों में एक पदात्मक ओम्, यज्ञों में

[1720] भग.गी.6.37
[1721] वहीं,8.1-2
[1722] तै.उ.2.7.1
[1723] ऋ.सं.10.129.1
[1724] श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्। -केन.उ.2
[1725] भग.गी.10.22-23

जप यज्ञ, जल से सम्बन्धित देवताओं में वरुण[1726], विद्याओं में अध्यात्म विद्या, वर्णों में अकार, तेजस्वी पुरुषों में तेज, गुणों में सात्त्विक गुण परमात्मा का स्वरूप है।[1727] परमात्मा के तेज से उत्पन्न हुए पदार्थों के अतरिक्त अन्य सभी चर अचर पदार्थ जिनकी सत्ता है वह सब परमात्मा का ही स्वरूप है। परमात्मा के बिना कोई पदार्थ नहीं रह सकता है।[1728] प्राणियों में जो चेतना दिखायी देती है। वह चेतना परमात्मा ही है। यह परमात्मा ही सभी प्राणियों में एक देवता के रूप में स्थित होकर शरीर को प्रकाशित होता है।[1729] बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि प्राणियों में यह आत्मा विज्ञान स्वरूप एवं ज्योति स्वरूप है।[1730]

ब्रह्म के प्रकाश को देखने के लिए पुरुष की योग्यता का कथन करते हुए छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि जिस पुरुष की इन्द्रियाँ विषयों से निवृत्त हो गयी हैं, और निष्काम आदि कर्मों के द्वारा जिसका चित्त शुद्ध हो गया है। ऐसा पुरुष सब ओर ब्रह्म का ही प्रकाश देखता है। उस ब्रह्म के प्रकाश से ही सूर्य का प्रकाश है, उसी प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है। विद्युत् चमकती है आदि सर्वत्र उसी का प्रकाश दिखायी दे रहा है।[1731]

यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मा की कल्पना है। जैसे पुरुष अनेक पदार्थों की कल्पना करता है उसी प्रकार यह जगत् परमात्मा के बुद्धि की कल्पना मात्र है। माण्डूक्य उपनिषद् में कहा गया है कि परमात्मा सर्वप्रथम जीव की कल्पना करता है फिर अनेक प्रकार के बाह्य एवं आन्तरिक पदार्थों की कल्पना करता है।[1732]

कठोपनिषद् में आत्मा के लिए देव शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया है कि यह देव गतियुक्त और गतिरहित दोनों है। यह एक जगह स्थिर होकर भी सब जगह पहुँचने वाला

[1726] वहीं,10.29
[1727] वहीं,10.36
[1728] वहीं,10.39
[1729] एको देव: सर्वभूतेषु गूढ: सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्ष: सर्वभूताधिवास: साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ -श्वे.उ.6.1 1
[1730] बृ.उ.4.3.7
[1731] निवृत्तचक्षुषो ब्रह्मविदो ब्रह्मचर्यादिनिवृत्तिसाधनै: शुद्धान्त:करणा आसमन्ततो ज्योति: पश्यन्तीत्यर्थ:॥ -छा.उ.3.17.7, शां.भा.
[1732] मा.उ.2.16

है।[1733] आत्मा किसी प्रकाश से प्रकाशित नहीं किया जा सकता है। सूर्य, दीपक, चन्द्रमा, तारे, नक्षत्र इन सबमें प्रकाश होता है। इनके प्रकाश से वस्तुएँ प्रकाशित होकर हमारे ज्ञान का विषय बनती हैं। किन्तु इनके प्रकाश से आत्मा प्रकाशित नहीं हो सकता है। जबकि ये सभी प्रकाश स्रोत आत्मा के प्रकाश से ही प्रकाशित हो रहे हैं। आत्मा के प्रकाश से सर्व प्रथम सूर्य, चन्द्र, अग्नि को प्रकाश मिलता है। फिर ये सभी प्रकाश स्रोत प्रकाश देते हैं।[1734]

'तस्माद्वा एतस्मात् आत्मनः आकाशः सम्भूतः'[1735] इस श्रुति के अनुसार आत्मा से सर्व प्रथम आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु आदि। इस प्रकार ये सभी आत्मा से उत्पन्न होने पर भी तमोगुण की प्रधानता के कारण अचेतन एवं जड़ रूप दिखायी देते हैं। किन्तु इन सब में आत्मा की उपस्थिति है. क्योंकि आत्मा को सर्वव्यापक एवं सबका कारण कहा गया है। कठोपनिषद् के अनुसार यह आत्मा सभी भूतों में छिपा होने पर भी प्रकाशित नहीं होता है- *'एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते'*[1736] इसका अर्थ है कि आत्मा का प्रकाश सभी भूतों में होता है। किन्तु अज्ञानता के कारण वह प्रकाश दिखायी नहीं देता है।

भिन्न-भिन्न पदार्थों में परमात्मा किस रूप में विद्यमान् है इसका कथन करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि जल में रस, प्रकाश स्रोतों जैसे सूर्य चन्द्रमा तारे नक्षत्र इत्यादि में प्रकाश, वेदों में ओम्, आकाश में शब्द, पुरुष में पौरुष तत्त्व, पृथ्वी में गन्ध, अग्नि में प्रकाश, प्राणियों में जीवन, तपस्वियों में तप, बुद्धिमानों की बुद्धि, तेजस्वियों में तेज, बलवानों का बल, धार्मिकों में धर्म, परमात्मा का स्वरूप है। अर्थात् जिससे किसी वस्तु की सत्ता है, वह परमात्मा है। किसी वस्तु का सार तत्त्व परमात्मा ही है। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी इसी प्रकार का उद्धरण प्राप्त होता है, जिसमें कहा गया है कि ब्रह्म वाणी में क्षेम रूप से उपस्थित है। प्राण और अपान में योगक्षेम के रूप में, हाथों में कर्म के रूप में, चरणों में गति के रूप में, वृष्टि में तृप्ति रूप से, विद्युत् में बल के रूप में,

---

[1733] असीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति। - कठ.उ.1.2.21
[1734] वहीं,2.2.15
[1735] तै.उ.2.1.1
[1736] कठ.उ.1.3.12

नक्षत्रों में प्रकाश के रूप में, उपस्थ में आनन्द रूप से, आकाश में व्यापकत्व रूप से ब्रह्म का चिन्तन करना चाहिए।[1737]

लौकिक दृष्टि से जीव के स्वरूप पर विचार करते हुए आचार्य शंकर लिखते हैं कि दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान ये जीव के स्वरूप हैं।[1738] अर्थात् शरीराभिमानी जीव में देखना, सुनना, सोचना, विचारना, स्मरण करना, जानना आदि विशेषतायें देखी जाने से ये लक्षण जीव के स्वरूप को निर्धारित करते हैं। पारमार्थिक रूप से आचार्य शंकर जीव को परमात्मा का ही स्वरूप मानते हैं- *'जीवो ब्रह्मैव नापरः'।*[1739] श्वेताश्वतर उपनिषद् में जीवात्मा के बारे में कहा गया है कि यह जीवात्मा कर्ता, भोक्ता तथा त्रिगुणमय है।[1740] यह जीवात्मा शरीर के धर्मों के आरोप से स्त्री पुरुष के रूप में जाना जाता है। वस्तुत: यह जीवात्मा स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि के धर्मों से रहित है।[1741] शरीर रूपी पुर में शयन करने के कारण इसे पुरुष कहा जाता है- *'पुरि शेते इति पुरुष: या पुरुष: पूर्णात्'।*[1742] ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में आचार्य ने जीव की परिभाषा इस प्रकार दी है- *'जीवो बुद्ध्याद्युपाधि परिच्छेदाभिमानी'।*[1743]

ब्रह्म से जीवोत्पत्ति के सम्बन्ध में दो प्रकार की श्रुति प्राप्ति होती है। जिसमें एक अग्नि विस्फुलिंग का सिद्धांत है।[1744] जबकि माण्डूक्य उपनिषद् के अनुसार जैसे महाकाश से घटाकाश बन जाता है, उसी प्रकार आत्मा से जीवात्मा बन जाता है।[1745] अर्थात् यह जीवात्मा शरीर के आश्रय से दिखायी देता है। शांकर वेदान्त में उत्पत्ति विनाश को केवल आभास मात्र माना गया है। अत: जीव का भी जन्म नहीं होता है। केवल व्यवहारिक दृष्टि

[1737] य एवं वेद। क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयो:। कर्मेति हस्तयो:। गतिरिति पादयो:। विमुक्तिरिति पायौ। अथ दैवी:। तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमिति विद्युति। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थे। सर्वमित्याकाशे। -तै.उ.3.10.3

[1738] दृष्टि श्रुतिमतिविज्ञातयो हि जीवस्य स्वरूपम्। -ब्र.सू.पृ.627

[1739] वि.चू., अद्वैत आश्रम, मुख्यपृष्ठ

[1740] गुणान्वयो य: फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्रणाधिप: संचरति स्वकर्मभि:। -श्वे.उ.3.7

[1741] वहीं,5.10

[1742] भग.गी.8.4.शां.भा.

[1743] ब्र.सू.1.3.28,शां.भा.

[1744] बृ.उ.2.1.20

[1745] मा.उ.3.3

से जीव होता है। परमार्थ की दृष्टि से यह जीव ब्रह्म ही है।[1746] उपनिषद् में जीवात्मा को अणु परिमाण वाला बताया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि केश के अग्रभाग के 100वें भाग के बराबर जीव का परिमाण समझना चाहिए।[1747] वहीं फिर कहा गया है कि जीव को आरे के अग्रभाग के परिमाण वाला देखा गया है।[1748] यह जीवात्मा सूर्य के समान प्रकाशित होने वाला संकल्प, अहंकार, बुद्धि तथा शरीर के गुणों से युक्त अंगुष्ठ परिमाण वाला है।[1749] बृहदारण्यक उपनिषद् में इस जीवात्मा की प्रकाशरूपता, मनोमयत्व का उल्लेख करते हुए उसे ब्रीहि और जौ के परिमाण वाला बताया गया है।[1750]

मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा इस शरीर के भीतर ही रहता है।[1751] छान्दोग्य उपनिषद् के मन्त्र में जीवात्मा को *'भारूप:'*[1752] बताया गया है। अत: कहा जा सकता है कि जीवात्मा भी ज्योतिस्वरूप ही है।

आचार्य शंकर यद्यपि जीव और ब्रह्म में अभेद स्वीकार करते हैं। फिर भी जीवात्मा को अनुभूत होने वाले कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दु:खित्व आदि की व्याख्या करने के लिए जगह-जगह अवच्छेद, प्रतिबिंब, आभास आदि शब्दों का प्रयोग किया है। आचार्य शंकर के अनुयायियों ने इन्हीं शब्दों को लेकर अलग-अलग सिद्धांत को जन्म दिया।

अवच्छेदवाद- वाचस्पति मिश्र जीव ब्रह्म के सम्बन्ध के विषय में अवच्छेदवाद को स्वीकार करते हैं। अवच्छेदवाद को समझाने के लिए वे घटाकाश का उदाहरण देते हैं।[1753]

[1746] ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः। -वि.चू.,अद्वैत आश्रम, मुख्यपृष्ठ

[1747] वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीव: स विज्ञेय: स चानन्त्याय कल्पते। -श्वे.उ.5.9

[1748] आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्ट:। - वहीं,5.8

[1749] वहीं,5.8

[1750] बृ.उ.5.6.1

[1751] अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयों हिशुभ्रो। -मु.उ.3.1.5

[1752] छा.उ.14.1.2

[1753] बुध्यादिकृतमस्य जीवत्वमिति बुद्धेरन्त:करणस्याणुतया सोऽप्यणुदेशभागभवति नभ इव कारकोपहितं। -भा.टी.2.3.29

प्रतिबिंबवाद- प्रकाशात्मयति जीव ब्रह्म के सम्बन्ध के विषय में प्रतिबिंबवाद को स्वीकार करते हैं। अर्थात् जीव ब्रह्म का प्रतिबिंब है। जैसे सूर्य दर्पण, मणि, कृपाण, जल आदि उपाधियों में भिन्न-भिन्न दिखायी देता है।[1754] उसी प्रकार एक परमात्मा ही भिन्न-भिन्न अन्त:करण में प्रतिबिंबित होकर जीव बन जाता है।

आभासवाद- सुरेश्वराचार्य ने आभासवाद का सिद्धांत दिया है। अपने सिद्धांत की पुष्टि के लिए शांकरभाष्य की निम्न पंक्तियों को उद्धृत करते हैं।[1755]

शांकर वेदान्त में अज्ञान को त्रिगुणात्मक माना गया है।[1756] *'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां'*[1757] के भाष्य में आचार्य शंकर अजा शब्द का अर्थ माया करते हैं। लोहित, शुक्ल, कृष्ण का अर्थ क्रमश: तेज, जल और अन्न करते हैं।[1758] क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद् में तेज, जल, अन्न को परमात्मा से उत्पन्न बताया गया है।[1759]

सत्त्वगुण को प्रकाश करने वाला कहा गया है।[1760] किन्तु सत्त्वगुण का अपना प्रकाश नहीं है। यह भी परमात्मा के प्रकाश से प्रकाशित होता है। साधक संजीवनीकार ने सत्त्व, रजस् को प्रकाश्य माना है। अर्थात् परमात्मा के प्रकाश से प्रकाश प्राप्त करते हैं। जबकि आत्मा स्वत: प्रकाश है।[1761]

आचार्य शंकर के मत में मूल सत्ता अद्वैतरूप है। यह दृश्यमान् जगत् अद्वैत सत्ता का विवर्त मात्र है। इसलिए आचार्य उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता का भाष्य अद्वैत के सन्दर्भ में करते हैं। उन्होंने इन प्रस्थानत्रयी ग्रन्थों का भाष्य करके यह सिद्ध कर दिया है कि जगत् का मूल कारण अद्वैत रूप है, और वह ब्रह्म है। प्रस्थानत्रयी भाष्य में इस ब्रह्मतत्त्व को कहीं प्रत्यक्ष रूप से तो कहीं अप्रत्यक्ष रूप में जगत् के मौलिक कारण के रूप में निरूपित किया गया है। इस तत्त्व को मनीषियों ने मौलिक प्रकाश के रूप में निरूपित

[1754] पं.पा.वि.पृ.289
[1755] आभास एव चैष जीव: परमात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्य:।
[1756] वे.सा.11
[1757] श्वे.उ.4.5
[1758] परमेश्वरादुत्पन्ना ज्योति: प्रमुखा तेजोबन्नलक्षणा चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य। -ब्र.सू.पृ.819
[1759] मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। -श्वे.उ.4.10
[1760] सां.का.13,वि.चू.119,भग.गी.14.6
[1761] भग.गी.सा.सं.टी.पृ.1113

किया है। प्रकाश के सन्दर्भ में इस मौलिक प्रकाश पर विचार करना अनिवार्य है। प्रस्थानत्रयी में इस मौलिक प्रकाश को अनेक रूपों में निरूपित किया गया है, जैसे जगत् के मौलिक कारण के रूप में, इन्द्रियों के अधिष्ठान के रूप में, ब्रह्म, ओंकार, ईश्वर, परमात्मा, आत्मा, प्रतीक रूप में, जीवात्मा, पुरुष आदि।

वैदिक परम्परा में प्रत्येक वस्तु का अधिष्ठातृ देवता माना गया है; क्योंकि कोई वस्तु अपने आप में स्वतंत्र नहीं है। वस्तु स्वयमेव अपने अस्तित्त्व का धारक नहीं हो सकती है। प्रत्येक वस्तु का एक आधार भूत तत्त्व है। जिसके सहारे वह वस्तु टिकी हुई है। प्रस्थानत्रयी में उस वस्तु को चेतन तत्त्व बताया गया है। पर्वत, वृक्ष, नदी, आकाश, बादल, वायु, अग्नि, पृथिवी, आंधी आदि को धारण करने वाला एक तत्त्व है। वह अधिष्ठातृ चेतन तत्त्व ही वस्तु के अस्तित्त्व को बनाये रखता है अर्थात् प्रकाशित करता है।

शंकराचार्य ने ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है, *'बृहत्तमत्त्वात्ब्रह्म'* अर्थात् जो सबसे बड़ा है, वही ब्रह्म है। उपनिषद् में वर्णित ब्रह्म के स्वरूप लक्षणों को दो रूपों में देखा जा सकता है- प्रथम स्वरूप लक्षण, द्वितीय तटस्थ लक्षण। तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म का स्वरूप बताते हुए उसे सत्य स्वरूप, ज्ञान स्वरूप और अनन्त स्वरूप बताया गया है।[1762] बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म को विज्ञान और आनन्द स्वरूप बताया गया है।[1763] तैत्तिरीय उपनिषद् में एक स्थान पर ब्रह्म के प्रकाश की तुलना सूर्य के प्रकाश से की गयी है।[1764]

कठोपनिषद् में ब्रह्म का सर्वशासकत्व प्रतिपादित किया गया है। ऋषि कहते हैं कि ब्रह्म के भय से ही अग्नि सबको ताप देता है। ब्रह्म के भय से सूर्य सबको गर्मी और प्रकाश देता है। इन्द्र वर्षा करते हैं। वायु सबको प्राण देता है।[1765]

उपनिषद् ऋषियों ने सभी प्राकृतिक देवताओं की आत्मा के रूप में परमात्मा को माना है। सबका नियन्त्रक होने से उसे अन्तर्यामी कहा जाता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म के अन्तर्यामी होने का उल्लेख हुआ है।[1766]

[1762] तै.उ.2.1.1

[1763] विज्ञानमानन्दं ब्रह्म-बृ.उ.3.9.28

[1764] आदित्य इव सकृद्विभातमस्मदीयं ज्योतीर्ज्योति: प्रकाश इत्यर्थ:। -तै.उ.3.10.6, शां.भा.

[1765] कठ.उ.2.33

चेतन होने से ब्रह्म को ईक्षण करने वाला बताया गया है। ब्रह्म अपनी इच्छा शक्ति से सृष्टि को उत्पन्न करता है। इच्छा करके ब्रह्म ने सर्वप्रथम प्राण को उत्पन्न किया। फिर प्राण से श्रद्धा, फिर आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन और अन्न को उत्पन्न किया। फिर अन्न से वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक, फिर नाम को उत्पन्न किया। इस प्रकार इन सोलह तत्त्वों को ब्रह्म ने अपनी इच्छा शक्ति से उत्पन्न किया।[1767]

ब्रह्म परम ज्योति है; क्योंकि उससे पर कुछ भी नहीं है। ब्रह्म ज्योति ही सभी प्रकार की ज्योतियों का कारण है। सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि आदि जितनी भी ज्योतियाँ हमारे प्रत्यक्ष अनुभव में है और जितनी मन, इन्द्रियाँ आदि अप्रत्यक्ष ज्योतियाँ हैं। उन सबका कारण ब्रह्म ज्योति है।[1768] निरुपाधिक ब्रह्मज्योति सबसे पृथक् है। किन्तु सोपाधिक ब्रह्मज्योति विज्ञानमय कोश से आवृत्त रहती है। बुद्धि में ब्रह्म का प्रकाश दिखायी देता है। इसलिए बुद्धि भी प्रकाश युक्त रहती है। ज्ञानेन्द्रियों से युक्त बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहा जाता है।[1769] जीवभाव को प्राप्त हुआ ब्रह्म इसी विज्ञानमय कोश में रहता है। दोनों की अत्यधिक समीपता के कारण यह कोश ब्रह्मज्योति से सदैव प्रकाशित रहता है।[1770] ऋषि कहते हैं कि ब्रह्म ही सभी ज्योतियों का प्रकाश है। सभी ज्योतियाँ इसी ब्रह्मज्योति से प्रकाशित होती हैं। अत: ब्रह्मज्योति ही सभी ज्योतिपुंजों की आत्मा है। ऐसा समझा जा सकता है।[1771] मुण्डकोपनिषद् में एक स्थान पर ब्रह्म की प्रकाशरूपता को दिखाने के लिए 'आवि:' शब्द का प्रयोग मिलता है। आचार्य शंकर के मत में वाक् आदि उपाधियाँ ही उस ब्रह्म की ज्वालाएँ हैं। प्राण, इन्द्रिय आदि उपाधियों से ब्रह्म प्रज्वलित होता रहता है।[1772] एक अन्य मन्त्र में 'अर्चि' शब्द का प्रयोग मिलता है। इस अर्चि शब्द का अर्थ भी दीप्तिमान् ही है।[1773]

[1766] तै.उ.2.8
[1767] प्रश्न.उ.6.4
[1768] बृ.उ.3.7.3-22
[1769] वे.सा.21
[1770] मु.उ.2.2.9,वे.सा.27
[1771] वहीं,2.2.10
[1772] वहीं,2.2.1
[1773] वहीं,2.2.2

ईशावास्योपनिषद् के एक मन्त्र में ब्रह्म के लिए *'शुक्रं'*[1774] शब्द का प्रयोग हुआ है। आचार्य ने शुक्रं का अर्थ चमकीला किया है। ब्रह्म के प्रकाश भाव को प्रकट करने के लिए माण्डूक्योपनिषद् में *'सकृद्विभातं'*[1775] शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् वह एक ही बार प्रकाशित हुआ कि नित्य रूप से प्रकाशमान् बना हुआ है। इसका प्रकाश कभी अस्त नहीं हुआ।

केनोपनिषद् के यक्ष उपाख्यान के अनुसार अग्नि, वायु, इन्द्र आदि देवताओं के सम्मुख ब्रह्म यक्ष के रूप में प्रकट हुए थे। यहाँ यक्ष का रूप धारण करना ही ब्रह्म का अधिदैवत रूप है। ब्रह्म के अधिदैवत स्वरूप का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि ब्रह्म बिजली के समान चमक लेकर प्रकट हुआ। फिर क्षणभर में अन्तर्धान हो गया।[1776]

स्पन्दन युक्त विज्ञान ही यह जगत् है और स्पन्दन रहित हो जाने पर यह विज्ञान ही ब्रह्म स्वरूप है। अनुभवी पुरुषों ने इस जगत् को विज्ञान का स्पन्दन बताया है। स्पन्दन, स्फुरण, तरंगित होना, आदि पर्यायवाची शब्द हैं। माण्डूक्य उपनिषद् में कहा गया है कि यह जगत् मन का स्पन्दन मात्र है।[1777] मन में जिस प्रकार का स्पन्दन उत्पन्न होता है। संसार हमें उसी रूप में दिखायी देता है। दिखायी देने वाली सभी वस्तुएँ मन का स्पन्दन मात्र हैं। मन के स्पन्दन में अन्तर होने से वस्तुओं में भेद दिखायी देता है। माण्डूक्य उपनिषद् में कहा गया है कि विज्ञान का स्फुरण ही ग्रहण और ग्राहक आदि रूपों में भासमान हो रहा है।[1778] वस्तुत: यह विज्ञान स्वभावत: स्पन्दन रहित है, अज और आभासशून्य है। फिर भी माया के कारण उसमें स्पन्दन दिखायी देता है। शंकराचार्य ने इस स्पन्दन के प्रति अविद्या को कारण माना है।[1779]

योगानन्द जी के अनुसार ओम् ब्रह्माण्डीय स्पन्दन है। इस ओम् को सृष्टि का प्रथम शब्द मानते हैं। ओम् शब्द ईश्वर की रचनात्मक ध्वनि है। अर्थात् ईश्वर जब भी कोई रचना करता है, तो ओम् ध्वनि उत्पन्न होती है। योगानन्द जी इस समस्त ब्रह्माण्ड हो स्पन्दन

[1774] ईशा.उ.8,शां.भा.
[1775] मा.उ.3.36
[1776] तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युत्रदा इतीन्यमीमिषदा इत्यधिदैवतम्। -केन.उ.4.4
[1777] चित्तस्पन्दितमेवेदं...। - मा.उ.4.72
[1778] ग्रहण ग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा। - वहीं,4.47
[1779] स्पन्दितामव स्पन्दितमविद्यया। - वहीं,4.47, शां.भा.

रूप मानते है- *'स्थूल पदार्थ ईश्वर के प्रबुद्ध ब्रह्माण्डीय स्पन्दन से उत्पन्न और पोषित होता है, जो कि विश्व का सूक्ष्म निर्माण पदार्थ है। इस स्पन्दन का मूल गुण प्रकाश और ध्वनि है। ओम् ईश्वर की रचनात्मक स्पन्दन की ध्वनि है'।*[1780] पतञ्जलि ने ओम् को ईश्वर का वाचक बताया है- *'तस्य वाचक: प्रणव:'।*[1781] इससे स्पष्ट होता है कि माया से उपहित चैतन्य रूप ईश्वर भी स्पन्दन रूप है। कठोपनिषद् में ओम् को परब्रह्म और अपरब्रह्म दोनों का वाचक बताया गया है।[1782]

ब्रह्म को चार पादों वाला बताया गया है, जिसमें प्रथम पाद प्रकाशवान्, द्वितीयपाद अनन्तवान्, तृतीयपाद ज्योतिष्मान् एवं चतुर्थपाद आयतनवान् नाम वाला है। प्रत्येक पाद की चार कलाओं का भी उल्लेख है। यथा- पूर्वादिक्कला, पश्चिमादिक्कला, दक्षिणादिक्कला, उत्तरादिक्कला ये प्रकाशवान् नामक पाद की कलाएँ हैं।[1783] पृथिवीकला, अन्तरिक्षकला, द्युलोक कला और समुंद्र कला ये अनन्तवान् नामक पाद की चार कलायें हैं।[1784] अग्निकला, सूर्यकला, चन्द्रकला, विद्युत्कला ये ज्योतिष्मान् नामक पाद की चार कलाएँ हैं।[1785] प्राणकला, चक्षुकला, श्रोत्रकला, मनकला ये आयतनवान् नामक पाद की चार कलाएँ हैं।[1786] अत: कहा जा सकता है कि ब्रह्म के प्रकाशवान् और ज्योतिष्मान् नामक पाद प्रकाश से युक्त हैं।

प्रश्नोपनिषद् में ब्रह्म की 16 कलाओं का उल्लेख हुआ है। वे कलाएँ हैं- प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक, नाम इन सबको कला इसलिए कहते हैं; क्योंकि इनसे ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप ढ़का हुआ है। आचार्य शंकर ने कला शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है- *'कं ब्रह्म लीयते आच्छाद्यते*

[1780] मा.खो.64

[1781] यो.सू.1.27

[1782] कठ.उ.1.2.16

[1783] प्राची दिक्कला,प्रतीची दिक्कला, दक्षिणा दिक्कला उदीची दिक्कला एष वै सोम्य चतुष्कल: पादो ब्रह्मण: प्रकाशवान्नाम। -छा.उ.4.5.2

[1784] पृथिवी कलान्तरिक्षं कला द्यौ: कला समुद्र कला एष वै सोम्य चतुष्कल: पादो ब्राह्मणो अनन्तवाननाम। - वहीं,4.6.3

[1785] अग्नि: कला सूर्य: कला चन्द्र: कला विद्युत् कलैष वै सौम्य चतुष्कल: पादो ब्रह्मणो ग्योतिषान्नाम्॥ - वहीं,4.7.3

[1786] प्राण: कला चक्षु: कला श्रोत्रं कला मन: कलैष वै सौम्य चतुष्कला: पादो ब्राह्मण आयतनवान्नाम। - वहीं,4.8.3

यया सा कला'।[1787] अर्थात् जिसके द्वारा ब्रह्म लीन अर्थात् ढ़का हुआ है, उसे कला कहते हैं।

प्रस्थानत्रयी में मौलिक सत्ता की उपासना विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से की गयी है। ब्रह्मसूत्र में बताया गया है कि उस ब्रह्म को प्रतीकों के माध्यम से नहीं जाना जा सकता है- *'न प्रतीके न हि स:'*[1788] ब्रह्म के किसी गुण धर्म विशेष की उपस्थिति के कारण उस वस्तु को ब्रह्म के प्रतीक के रूप में मान लिया जाता है। प्रतीक उपासना का फल चित्त-एकाग्रता बताया गया है।[1789] मन ही ब्रह्म है, आकाश ही ब्रह्म है, आदि तत्त्वों तथा पदार्थों को ब्रह्म के रूप में उपासना करने का जो उपदेश दिया गया है, उसे ही प्रतीक उपासना के रूप में जाना जाता है। ये वस्तुएँ ब्रह्म के किसी गुण विशेष से समानता रखती हैं। गुणधर्म समानता के कारण प्रतीक रूप में ग्रहण की जाने योग्य होती हैं। प्रतीक उपासना से ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता है। आंशिक धर्म समानता होने पर भी ब्रह्म का अंशमात्र भी ज्ञान नहीं होता। ब्रह्म तो अखण्ड होने से अंशों में विभक्त नहीं होता। उसका पूर्णज्ञान ही होता है। प्रतीक साधक की आत्मा नहीं है। इसलिए उसमें आत्मभाव नहीं करना चाहिए। प्रतीक में जिसकी उपासना की जाती है। उसके साथ आत्मभाव करने का विधान किया गया है। उसी की उपासना करनी चाहिए।[1790] उपनिषद् में ब्रह्म के लिए अनेक प्रतीकों का भी प्रयोग किया गया है। इन प्रतीकों को आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक रूप से तीन रूपों में देखा जा सकता है-

प्राण[1791], *हृदय*[1792], *प्रत्यगात्मा*[1793], *मन*[1794], *चक्षु*[1795], *वाक्*[1796] आदि आध्यात्मिक तत्त्वों को ब्रह्म के प्रतीक के रूप में बताया गया है। ब्रह्म के प्रतीक के रूप में इनकी उपासना करने पर चित्तशुद्धता होती है। श्रीमद्भगवद्गीता के विभूतियोग नामक एकादश

[1787] श्वे.उ.1.4, शां.भा.
[1788] ब्र.सू.4.1.4
[1789] वे.सा.7
[1790] वे.द.गीताप्रेस.पृ.390
[1791] छा.उ.4.10.4, बृ.उ. 3.9.9
[1792] बृ.उ.5.3.1, 4.1.7
[1793] केन.उ.2.4, वहीं,4.6 बृ.उ.3.4.1,शां.भा.
[1794] बृ.उ.1.4.7, छा.उ.3.18.1, वहीं,7.3.2
[1795] बृ.उ.4.1.4, वहीं,1.4.7, छा.उ. 4.8.3
[1796] बृ.उ.1.2.11, वहीं,1.3.12, तै.उ.3.10.1

अध्याय में निम्नलिखित तत्त्वों को परमात्मा का प्रतीक बताया गया है, जैसे मन, बुद्धिवृत्ति आदि।

आधिभौतिक तत्त्वों में *अग्नि*[1797], *द्युलोक*[1798], *विद्युत्*[1799], *आदित्य*[1800], *चन्द्रमा*[1801] को ब्रह्म के प्रतीक के रूप में बताया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता के विभूतियोग नामक एकादश अध्याय में निम्नलिखित भौतिक तत्त्वों को परमात्मा का प्रतीक बताया गया है, जैसे सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, सुमेरु पर्वत, सरोवरों में समुंद्र, हिमालय पर्वत, पीपल वृक्ष, वायु, जाह्नवी-गंगा आदि।

कुछ देवताओं को भी जैसे *इन्द्र*[1802], *वसु-देवता*[1803], *पूषा- देवता*[1804], *साम-वेद*[1805], *आदित्य देवता*[1806], *नेत्रस्थ पुरुष*[1807], प्रत्यगात्म रूप *वैश्वानरात्मा*[1808] को ब्रह्म के प्रतीक के रूप में दिखाया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता के विभूतियोग नामक एकादश अध्याय में निम्नलिखित देवताओं को परमात्मा का प्रतीक बताया गया है, जैसे विष्णु, मरीचि देवता, शंकर, कुबेर, देव पुरोहित बृहस्पति, सेनापतियों में कार्तिकेय, जलीय देवताओं में वरुण देवता, यमराज, आदि।

उपर्युक्त वर्गीकरण से अतिरिक्त कुछ अन्य प्रतीक है, जैसे *ओम्*[1809], *सत्य*[1810], *गायत्री*[1811], *कर्म-ब्रह्म का प्रतीक*[1812] आदि। श्रीमद्भगवद्गीता के विभूतियोग नामक

[1797] बृ.उ.1.2.3, वहीं,1.4.6, वहीं,12,15 कठ.उ.2.1.8, छा.उ.4.7.3
[1798] छा.उ.5.12.1, मु.उ. 2.1.4
[1799] तै.उ.3.10.1, बृ.उ.5.7.1, वहीं,5.8.1
[1800] छा.उ.3.19.1, वहीं,3.19.4
[1801] तै.उ.1.5.1, छा.उ.4.7.3, मु.उ.2.1.4
[1802] ऐ.उ.3.1.3, बृ.उ.4.2.2, वहीं,1.4.6-11, के.उ.3.1

[1803] बृ.उ.3.9.3, छा.उ.3.16.1, कठ.उ.2.2.2
[1804] बृ.उ.1.4.13
[1805] बृ.उ.1.4.6, वहीं,3.1.6, मु.उ.2.2.2, वहीं,2.1.6, कठ.उ.2.2.2, छा.उ.1.6.4

[1806]छा.उ.1.3.1-2,मु.उ.2.2.2,बृ.उ.3.1.4,कठ.उ.2.2.1, वहीं,2.1.9, ईशा.उ.16

[1807] छा.उ.4.15.1-4, वहीं,8.7.4
[1808] छा.उ. 5.12.2-8, बृ.उ. 3.4.1
[1809] छा.उ.1.1.3, तै.उ. 1.4.1, बृ.उ. 5.1.1, मु.उ. 2.2.6, प्र.उ. 5.2, कठ.उ.1.2.15,

एकादश अध्याय में निम्नलिखित तत्त्वों को परमात्मा का प्रतीक बताया गया है, जैसे सामवेद, ओम्, जपयज्ञ, अध्यात्म विद्या, अ वर्ण, गायत्री छन्द, वसन्त ऋतु, तेजस्वियों का तेज, सत्त्वगुण, ज्ञानवानों का ज्ञान आदि।

अन्तिम निष्कर्ष के रूप में हम परमहंस योगानन्द के वचनों को उद्धृत कर सकते हैं- स्थूल पदार्थ ईश्वर के प्रबुद्ध ब्रह्माण्डीय स्पन्दन से उत्पन्न और पोषित होते हैं, जो कि विश्व का सूक्ष्म निर्माण पदार्थ है। इस स्पन्दन का मूल गुण प्रकाश और ध्वनि है।[1813] भ्रूमध्य में आध्यात्मिक नेत्र का प्रकाश है, नेत्र शरीर का प्रकाश है।[1814] प्रत्येक भौतिक प्राणी और वस्तु एवं स्पन्दन में उसका एक सूक्ष्म प्रकाशमय प्रतिरूप होता है जो कि ज्योतिर्मय प्राणिक अणु ऊर्जा से बना होता है।[1815] प्रत्येक भौतिक वस्तु के पीछे रंगीन प्रकाश का एक सूक्ष्म प्रारूप होता है।[1816] सूक्ष्म जगत् में मृत्यु के उपरान्त जीवन के स्वर्ग अथवा नर्क को बनाने वाले अनेक लोक अथवा ब्रह्माण्ड हैं। पृथिवी पर रहते हुए एक अच्छा व्यवहार करने वाला व्यक्ति प्रकाश शांति और आनन्द के उच्चतर क्षेत्र में जाता है। बुरे कार्य व्यक्ति को निचले अन्धकारमय क्षेत्र की ओर आकर्षित करते हैं।[1817]

[1810] छा.उ.8.3.4, तै.उ.2.1.1, मु.उ.2.2.2, बृ.उ.5.4.1
[1811] छा.उ.3.12.6, वहीं,3.12.1,
[1812] मु.उ.2.1.10, तै.उ.3.10.1
[1813] मा.खो.65
[1814] मा.खो.261
[1815] मा.खो.288
[1816] मा.खो.201
[1817] मा.खो.307

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. **प्राथमिक स्रोत**

A. **प्रत्यक्षस्रोत**

ईशादि नौ उपनिषद्, शाङ्करभाष्यार्थ, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2068.

बृहदारण्यकोपनिषद्, सानुवाद शांकरभाष्यसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2068.

छान्दोग्योपनिषद्, सानुवाद शांकरभाष्यसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2068.

ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य, भाग(**1-3**) रत्नप्रभाटीका-भाषा टीकाकार, यतिवर श्रीभोलेबाबा, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, **2006.**

श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्करभाष्य हिन्दी-अनुवाद सहित, अनु. हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रेस गोरखपुर, संवत 2067.

B. **परोक्ष स्रोत : प्रस्थानत्रयी अन्यभाष्य व टीकायें**

Achintya Swami, *The Principal Eleven Upanisad,* Nirnayasagar Prss, Bombay, 1910.

Chinmayananda Swami, *The Holy Gita*, Central Chinmaya Mission Trust, 2001.

Chinmayananda, **Swami, *Discourses on Mondukya Upanishad with Gaudapada's Karika,* Upanishad Gyana Yagna, 1953.**

Chinmayananda, Swami, ***Discourses on Taittiriya Upanishad,*** **Chinmaya Publication Trust, 1962.**

Eight Upanishads Vol**(1),** शाङ्करभाष्य, **(**अंग्रेजी अनु.स्वामी गम्भीरानन्द), अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 1989.

ISADI-ASTOTTARASATOPANISADA, **(Compiled & edited by Shri Vasudev Lakshman Panashikar),CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN, VARANASI, 2002.**

Mukunda A.P., ***Unto Brahma Consciousness,*** **Om Publications , Faridabad, 1997.**

Nikhilananda Swami, ***The Upnisads,*** **Phoenix House, London,1951.**

Ojha Vidyavacaspati Madhusudan, ***Brahma Vidya Rahasyam*** **: A Scientific Exposition of Brahmavada according to vadic Tradition, 2002, Rajsthan Patrika, Jaipur.**

Sharma, **D.S.,** ***The Upanishads(tra.),*** **Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1961.**

Sivanand, **Swami,** ***Principale Upaisads*****(Vol.1)(Eng.Tra. Notes and Comm.), Yoga Vedant Forest University, Divine Life Society, Rishikesh, 1950.**

Thagswami, R., ***Advaita Vedanta Literature- A Bibliographical Survey,*** **University of Madras, 1980.**

The Bhagavadgita or The Song Divine(Eng. Tra.), Gita Press, Gorakhpur, 2003.

अग्निपुराणस्य विषयानुक्रमणी, रामशंकरभट्टाचार्य, भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी, 1963.

अग्निमहापुराण, नागपब्लिशर्स, जवाहरनगर, दिल्ली, 1985.

अथर्ववेद संहिता, दयानन्द संस्थान, दिल्ली।

अद्वैतदीपिका (भागत्रयात्मिका), श्रीनृसिंहाश्रम, **(**संपा.श्री एस. सुब्रह्मण्यशास्त्री**)**, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1982.

*अपरोक्षानुभूति***,** शंकराचार्य, गीताप्रेस, गोरखपुर।

आगमशास्त्रम्, संपा.द्वारिकादास शास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी, 1992.

*इष्टसिद्धि***,** विमुक्तात्मयतिकृत**,** संपा.एम**.** हिरियन्ना**,** ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट**,** गायकवाड**,** बडौदा**,** 1993.

ईशा-उपनिषद्, अरविन्दो, श्री अरविन्दो आश्रम, पॉण्डिचेरी, 2006.

ईशोपनिषद्, शांकरभाष्य, अनु. तारणीश झा, रामनारायणलाल एण्ड कं., इलाहाबाद।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग-1), रामचन्द्र द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1986.

उपदेश सहस्री, गजानन शास्त्री मुसलगॉवकर, महेश अनुसन्धान संस्थान, वाराणसी,1988.

उपनिषदों के निर्वचन, वेदवती वैदिक, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, सं. **2003.**

ऋग्वेद (प्रथम व द्वितीय भाग), महर्षि दयानन्द सरस्वती, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली।

ऋग्वेद संहिता, वैदिक संसोधन मण्डल, पूना, 1946.

ऐतरेय आरण्यक, अनु.ए.बी.कीथ, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

ऐतरेय ब्राह्मण, (सुखप्रदाख्यवृत्ति सहितम्) **V-3,** नाग प्रकाशक, दिल्ली, सं.**1991.**

कठोपनिषद् , अनु., गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2059.

कठोपनिषद्, व्या.आद्याप्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008.

कठोपनिषद्, शाङ्करभाष्य, व्या.वीरेन्द्रकुमार वर्मा, जमुना पाठक, वाराणसी,1974.

कल्किपुराणम्, अशोक चटर्जी शास्त्री(सम्पादक:), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 2002.

काठकोपनिषद्, संशो.वैजनाथशर्मा, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, ख्रिस्ताब्दी, 1977.

काशिकावृत्ति, जयादित्य वामन**, (**न्यास- पदमञ्जरी सहित संम्पा**.** श्रीनारायण मिश्र**),** रत्ना पब्लिकेशन्स**,** वाराणसी**,** 1985.

केनोपनिषद्, शाङ्करभाष्य,हिन्दी अनु., रामकृष्ण मठ, नागपुर।

खण्डनखण्डखाद्यम्, आचार्य श्री हर्षप्रणीतम्, **(**आचार्य श्री ब्रह्मदत्त द्विवेदी**)**, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ख्यातिवाद:, पुरुषोत्तमचरण, श्री वल्लभविद्यापीठ, कोल्हापुर।

गीतार्थसंग्रह, श्रीराघवेन्द्रयतिकृत्, (निघण्टु द्वितीय भाग, संपा.वी.आर.पञ्चमुखी**)**, अमरग्रन्थ पब्लिकेशन्स, दिल्ली।

गूढार्थदीपिका, धनपतिसूरि, चौखम्भा संस्कृत बुक डिपो, वाराणसी, 1907.

चतु:सूत्री शांकरभाष्य, अनु.आचार्य विश्वेश्वर सिद्धांतशिरोमणि, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2005.

छान्दोग्योपनिषद्, (नित्यानन्दकृत् मिताक्षरा व्याख्या), आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि:, ख्रिस्ताब्दा:, 1915.

जीवन मुक्ति विवेक, (विद्यारण्यस्वामी प्रणीत), महाप्रभुलाल गोस्वामी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, 1984.

तत्त्वप्रकाशिका, (चित्सुखाचार्यकृत), नयनप्रसादिनी व्या.संवलिता संपा.स्वामीयोगीन्द्रानन्द, उदासीन संस्कृत विश्वविद्यालय ढुण्ढिराज, वाराणसी।

तत्त्वमसि, स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, इन्टरनेशनल आर्यन फाउन्डेशन, बम्बई।

तत्त्वार्थदीप निबन्ध:, महाप्रभुवल्लभाचार्य, श्रीवल्लभविद्यापीठ, कोल्हापुर, महारष्ट्र, वि.सं.2039.

तन्त्रालोक (अभिनवगुप्तप्रणीत:), जयरथकृत विवेकव्याख्योपेत:(भाग-7), संपा.:- आर.सी.द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

तर्क संग्रह:, (अन्नमभट्टप्रणीत:), व्या.दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, सं. 2005.

तैत्तिरीयोपनिषद्, संपा.जोशी किरीट, शुभ्रकेतु फाउन्डेशन, नई दिल्ली, 2009.

देवी भागवत, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, वि.1988.

धातुपाठ, (पाणिनि), रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, 2000.

ध्वन्यालोक, (आनन्दवर्धन), चौखम्भा संस्कृत सिरीज ऑफिस वाराणसी, 1979.

नवीन वैदिक सञ्चयनम्, जमुना पाठक, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी।

निरुक्त शास्त्रम, (यास्क मुनि), व्या.पण्डित भवदत्त, रामलाल कपूर ट्रस्ट रेवती, सोनीपत, संस्करण, 2004.

निरूक्त- शास्त्रम्, (यास्कमुनि), व्या.पण्डित भवदत्त, रामलाल कपूर ट्रस्ट रेवती, सोनीपत, सं. 2004.

निरूक्तम्, (यास्कप्रणीतं), पण्डित सीताराम शास्त्री, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, सं. 2002.

नैष्कर्म्यसिद्धि, ज्ञानोत्तम मिश्र कृत चन्द्रिका सहित, संपा. कर्नल जी.ए.जैकोब, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सं.1992.

नैष्कर्म्यसिद्धिः, सुरेश्वराचार्यकृत, चन्द्रिका टीकोपेता, आचार्य श्रीकृष्णानन्द सागर, सर्वदर्शनाचार्यश्री कृष्नानन्द सागर।

न्यायकुसुमाञ्जली, उदयनाचार्य, संपा.महाप्रभुलाल गोस्वामी, दरभंगा, संस्करण,1972.

न्यायदर्शनम्, (वात्स्यायनभाष्यसहितम्), श्रीमन्महर्षिगौतमप्रणीतं, व्या.ढुण्ढिराजशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी, सं. 2064.

न्यायभाष्य, व्या.सुदर्शनाचार्य, गुजराती प्रेस, बम्बई, ख्रि.1922.

न्यायभाष्य, संपा.पं. विन्धेश्वरी प्रसाद देवीदीन, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1986.

न्यायमञ्जरी, (जयन्तभट्ट कृत), संपा.सूर्यनारायण शुक्ल, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, सं.1936.

न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका, वाचस्पति मिश्र, काशी संस्कृत सिरीज, विद्याविलास प्रेस काशी, प्र.सं. 1925.

पंचपादिका विवरण, (प्रकाशात्मयति कृत), अनु.किशोरीलाल स्वामी, रामतीर्थ मिशन, देहरादून, सं. 2001.

पंचपादिका विवरण, प्रकाशात्मयति कृत, इ.जे. लाजरस कम्पनी, बनारस, सं.1998.

पंचपादिका, (आचार्य पद्मपाद कृत), प्रकाशात्मयति कृत विवरण पर चित्सुखी की तात्पर्यदीपिका एवं नृसिंहाश्रम की भावप्रकाशिका टीकाओं सहित, संपा.टी. चन्द्रशेखरन तथा श्रीराम शास्त्री), मद्रास गवर्नमेन्टल ओरियण्टल सीरीज, मद्रास, सं. 1950.

पंचपादिका, (पद्मपाद कृत), अनु.किशोरीलाल स्वामी, रामतीर्थ मिशन, देहरादून, सं.2001.

पञ्चदशी, (विद्यारण्यकृत), नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, 1931.

पञ्चदशी, (विद्यारण्यकृत), रमाकान्त शुक्ल, न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली, 2003.

पञ्चदशी, विद्यारण्यमुनि,चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।

पञ्चीकरण, अनु.कामेश्वर नाथ मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी संस्कृत ग्रन्थमाला,1983.

पञ्चीकरण, बद्रीप्रसाद मिश्र, न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली।

पदचंद्रिका, अनन्तदेवपण्डित, वाणीविलास यन्त्रालय, श्री रंगम, सं. 1911.

परमार्थसारं, श्रीकृष्णानन्द सागर, प्रत्यभिज्ञा प्रकाशन, वाराणसी, 1987.

पाणिनि शिक्षा, मनमोहन घोष, कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस, सं.1938.

पाणिनीय शब्दानुशासन, संपा.सत्यानन्द वेद वागीश, सत्यानन्द वेद वागीश, अलवर, वि. 2043.

पाणिनीय शिक्षा, (पाणिनिप्रणीता), सत्यप्रकाश दुबे, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, सं. 2004.

पाणिनीयशिक्षा, (पाणिनि), व्या.शिवराज, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2011.

प्रकरण पञ्चिका, श्री शालिकनाथ मिश्र, संपा.श्रीसुब्रह्मण्यशास्त्री, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1961.

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (क्षेमराज), अनु.व्या.जयदेव सिंह, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, **2007.**

बुद्धियोगपरीक्षा (उत्तरखण्ड), मोतीलाल शास्त्री, राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, जयपुर।

बृहत्संहिता, वराहमिहिराचार्य (द्वितीयभाग), संपा.कृष्णचन्द्र द्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, द्वितीय संस्करण।

बृहदारण्यक उपनिषद्, नित्य चैतन्य यति, डी.के. प्रिंट वर्ड, नई दिल्ली, 1996.

बृहदारण्यक उपनिषद्, शिवनन्द, द डिवाइन लाइफ सोसाइटी, गढ़वाल, 2002.

बृहदारण्यकोपनिषद्, शाङ्करभाष्य, संशो.काशीनाथ शास्त्री, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि:, ख्रिस्ताब्दा,1982.

ब्रह्मसिद्धि, (मण्डन मिश्र), संपा.कुप्पु स्वामी शास्त्री, गवर्नमेन्ट प्रेस, मद्रास, 1937.

ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य, सत्यानन्दी हिन्दी टीका, गोविन्दमठ, वाराणसी, विक्रम् संवत् 2040.

ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्यम् (भाग-1&2), (भामती-कल्पतरु-परिमल सहित, संपा.कन्हैयालाल जोशी), परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली।

ब्रह्मसूत्र-विद्योदय भाष्यम्, उदयवीर शास्त्री, विजय कुमार गोविन्दराम हासानन्द, नई दिल्ली।

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, गोविन्दानन्दकृत भाष्यरत्नप्रभा टीका, वाचस्पति मिश्र भामती टीका, आनन्दगिरि न्यायनिर्णय टीका सहित, संपा.जे. एल. शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सं. 1988.

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, भामती टीका**,** संपा.रामचन्द्र शास्त्री, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, शकसंवत् 1930.

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, वाचस्पति मिश्र कृत भामती टीका**,** व्या.स्वामी योगेन्द्रानन्द**,** चौखम्बा विद्याभवन**,** वाराणसी, सं**.**200**0**.

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, संपा.रामचन्द्र शास्त्री, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, शक संवत् 1830.

मनुस्मृति, कुलुकाभट्टटीका सहित, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1997.

मनुस्मृति, संपा. राजवीर शास्त्री**,** आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, **2000.**

महाभारत (भीष्म पर्व), अनु. गंगा प्रसाद शास्त्री, दिल्ली, वि. 1976.

महाभारत (शांति पर्व), श्रीपाद दामोदर।

महाभाष्य, पतञ्जलि**,** व्या. एवं संपा.जयशंकरलाल त्रिपाठी**,** चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सं.1989.

महाभाष्य, पतञ्जलि**,** व्या.युधिष्ठिर मीमांसक**,** रामलाल कपूर ट्रस्ट**,** सोनीपत**,** 1992.

*महाभाष्यदीपिका-विमर्श***,** सविता पाठक**,** नाग पब्लिशर्स**,** जवाहरनगर दिल्ली**,** 1997.

माध्यमिक कारिका (नागार्जुन), संपा.पुसे पीटर्स वर्ग, 1903.

मीमांसा न्यायप्रकाश, आपदेव, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, सं. 1943.

मीमांसा शाबरभाष्य, व्या.युधिष्ठिर मीमांसक, बहालगढ़ सोनीपत हरियाणा, वि. 2034.

मीमांसाश्लोकवार्तिक, (कुमारिलभट्टविरचिता), व्या.दुर्गाधर झा, कामेश्वरसिंह-दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, विहार, 1979.

मुक्तावली, धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1953.

यजुर्वेद, महर्षि दयानन्द सरस्वती, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली।

युक्तदीपिका, संपा.रामचन्द्र पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास, सं.1967.

योग प्रदीपिका, बलदेव मिश्र, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, सं.1987.

योगवशिष्ठ, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, 2005.

योगवार्तिक, (विज्ञानभिक्षु कृत), संपा.दामोदर शास्त्री, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, सं.1935.

योगवासिष्ठ: (वाल्मीकि महर्षि प्रणीत:), डॉ कान्ता गुप्ता, नाग प्रकाशक **Voll-2**, सं.**1998.**

योगसार संग्रह, (विज्ञानभिक्षु कृत), संपा.स्वामी सनातन देव, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 2014.

योगसिद्धान्त चन्द्रिका, नारायण तीर्थ कृत, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 2014.

राज मार्तण्डवृत्ति, (भोजराज कृत), संपा.रामशंकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 2001.

लघुसिद्धान्तकौमुदी, **(**वरदराजविरचिता), भाग-**2**, व्या.गिरिजाशंकर शास्त्री, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, सं. 2008.

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी, (श्रीमद्वरदराजाचार्यप्रणीता), भैमीव्याख्या, भीमसेन शास्त्री**,** भैमी प्रकाशन, सं. 1989.

वराहश्रौतसूत्र, रघुवीर, मेहरचन्द लक्ष्मण दास, दिल्ली, 1971.

वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्ड), (भर्तृहरि), व्या.शिवशङ्कर अवस्थी, चौखम्बा विद्याभवन,वाराणसी, सं. 1997.

वाक्यपदीयम्, (भर्तृहरि), व्या. रघुनाथ शर्मा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 2000.

वाक्यपदीयम्, (भर्तृहरि), व्या.रामगोविन्द शुक्ल, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1999.

वाक्यपदीयम्, (भर्तृहरि), संपा.के.वी.अभ्यंकर, यूनिवर्सिटी ऑफ पूना संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरीज **(II),** सं. 1995.

वाधूलश्रौतसूत्रम्, ब्रजविहारी चौबे, कात्यायन वैदिक साहित्य प्रकाशन, होशियारपुर, 1993.

विज्ञानामृत भाष्य, संपा.मुकुन्दशास्त्री, विद्याविलास प्रेस, वाराणसी, 1901.

विवरण प्रमेय संग्रह, (विद्यारण्यकृत), सर्वदर्शनाचार्य श्री कृष्णानन्द सागर, श्री माधवानन्दाश्रम, गुजरात।

विवरणप्रमेय संग्रह, (विद्यारण्यमुनिकृत), संपा.कृष्णपन्त शास्त्री, अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय काशी, 1906.

विवेकज्योति, (सच्चितीर्थ), व्या.ददन उपाध्याय, सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी।

वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, केशव काश्मीरि भट्ट**,** संपा.विजयनारायण मिश्र**,** सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी**,** 1992.

वेदान्त छन्दामृत, भावेश नाथ पाठक, ईस्टर्न बुक लिन्टर्स, दिल्ली।

वेदान्त सिद्धान्तमुक्तावली, (प्रकाशानन्द)**,** व्या.लक्ष्मीश्वर झा**,** नागप्रकाशन, दिल्ली।

वेदान्तकल्पतरुपरिमल, (अप्पयदीक्षित)**,** रमाशास्त्री तैलंग, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली।

वेदान्त-दर्शन (ब्रह्मसूत्र), व्या.हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रेस गोरखपुर, सं.**2066**.

*वेदान्त-दर्शन(ब्रह्मसूत्र)***,** व्या.हरिकृष्ण दास गोयन्दका**,** गीताप्रेस**,** गोरखपुर**,** सं**.** 2066.

वेदान्तपरिभाषा (धर्मराजाध्वरीन्द्र), सानुवाद-विमर्शिकाटीकोपेता, व्या.केशवलाल शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, सं.**2009.**

वेदान्तपरिभाषा, (धर्मराजाध्वरीन्द्र)**,** अंग्रेजी अनु**.** स्वामी माधवानन्द, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 2004.

वेदान्तपरिभाषा, (धर्मराजाध्वरीन्द्र)**,** संपा.गजाननशास्त्री मुसलगावकर**,** अनु**.** श्रीराम शास्त्री मुसलगावकर**,** चौखम्भा विद्याभवन**,** वाराणसी**,** 1983.

वेदान्तपरिभाषा, गजाननशास्त्री मुसलगावकर, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी।

वेदान्तसार, (श्रीसदानन्दप्रणीत) व्या.कृष्णकान्त त्रिपाठी, साहित्य भंडार, मेरठ, 1986.

वेदान्तसार, (श्रीसदानन्दप्रणीत), व्या.आद्याप्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2007.

वेदान्तसार, (सदानन्द योगीन्द्र), अनु. एवं व्या.लम्बोदर मिश्र, राष्ट्रीय संस्कृत साहित्य, जयपुर।

वेदान्तसार:, (श्रीसदानन्दप्रणीत:), आचार्यबदरीनाथशुक्ल,मोतीलाल बनारसीदास,दिल्ली,1993.

वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, प्रकाशानन्द कृत, अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय काशी,1936.

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितविरचिता, व्या.गोपालदत्तपाण्डेय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, सं. 2009.

व्याकरण महाभाष्य, (पतञ्जलि) चारुदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सं. 1968.

व्याकरण महाभाष्यम्, (पतञ्जलि), नवाह्निक, प्रदीप उद्योत टीका सहित, व्या.श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1954.

शतपथ ब्राह्मण, संपा.पं.चिन स्वामी शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, वि. 2040.

शाङ्करदर्शनमर्मप्रकाश:, पण्डित प्रवर कृष्ण ज्योतिस, राष्ट्रीयसंस्कृत विद्यापीठ, तिरूपति, 1996.

श्रीमद् भगवद्गीता यथारूप, ए.सी.भक्ति वेदान्त, भक्ति वेदान्त बुकट्रस्ट, मुम्बई।

श्रीमद्भगवद्गीता (तृतीय भाग), शास्त्री गजानन शम्भु साधले, परिमल प्रकाशन, दिल्ली, **2008**.

श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य, बाल गंगाधर तिलक, अपोलो प्रकाशन, जयपुर, **2007**.

श्रीमद्भगवद्गीता, आद्या प्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, **2009**.

श्रीमद्भगवद्गीता, शंकरानन्द भाष्य, अनु. भोले बाबा, वि.**1981**.

श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीधर भाष्य, अनु. विश्वानन्द गदाधर नारायण, दिल्ली, 1976.

श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीधराचार्य- प्रणीता, सुबोधिनी- व्याख्यया विभूषिता, डॉ राजदेव मिश्र, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृत गूढार्थदीपिकाव्याख्योपेता, समीक्षात्मकभूमिका-प्रतिव्याख्यहिन्दीभाष्यानुवाद-विमर्शाख्यव्याख्यात्मकटिप्पणीविविधानुक्रमणिकायुक्ता, भाग-2 और भाग-**2,** हिन्दीभाष्यानुवादकारः- मदनमोहन अग्रवाल, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।

श्रीमद्भगवद्गीताशांकरभाष्यायेकादश टीकोपेता,(तृतीय षट्कम्), गजानन शर्मा, दिल्ली**,1985.**

श्रीमद्भगवद्गीते निम्बार्क- वेदान्तस्य समन्वयः, द्वारकादासः सुखचार**,** काठियाबाबाश्रम।

श्रीमद्भवद्गीता, श्री धराचार्य प्रणीता, सुबोधनी व्याख्यया विभूषिता, हिन्दी अनु.राजदेव मिश्र, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

श्रीमद्भागवते निम्बार्क वेदान्तस्य समन्वयः, स्वामी द्वारकादासः, सुखचार काठियाबाबाश्रम।

श्रीमद्भागवत् तत्त्वबिन्दुः, विन्धेश्वरी प्रसाद मिश्र, न्यू भारतीय कारपोरेशन, दिल्ली, 2003.

श्रीमद्भागवत् पुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर।

श्रीमद्भागवत् पुराण, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी।

संक्षेपशारीरक, (सर्वज्ञातमुनि)**,** संपा.वझेभाउ शास्त्री**,** चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सं.1992.

सर्वदर्शन संग्रह, उमाशंकर शर्मा ऋषि, चौखम्भा विद्याभवन,दिल्ली. श्रीभागवत-सुधासागर(सुख सागर) गीताप्रेस, गोरखपुर।

सांख्य सूत्र, राम शंकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1977.

सांख्यतत्त्वकौमुदी सहिता सांख्यकारिका, रामकृष्ण आचार्य, साहित्यभण्डार, मेरठ, 1987-88.

सांख्यतत्त्वकौमुदी-प्रभा, आद्याप्रसाद मिश्र, प्रेमप्रकाशन बलराम हाउस, इलाहाबाद, 1973.

सांख्यदर्शनम्, विज्ञानभिक्षुविरचित सांख्यप्रवचन भाष्यसहित, गजाननशास्त्री मुसलगॉवकर, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी,1987.

सामवेद, महर्षि दयानन्द सरस्वती, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली।

सिद्धान्तकौमुदी, कारक प्रकरण, (भट्टोजि-कृत), आनन्दकुमार श्रीवास्तव, अनुराग प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2005.

सिद्धान्तलेश संग्रह, (अप्पयदीक्षित), संपा.भाऊ शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, वि.सं.2064.

2. **द्वितीयक स्रोत**

द्वितीयक स्रोत को हम निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैं

(A)स्वतंत्र ग्रन्थ (**B**) शोधप्रबन्ध/लघु शोधप्रबन्ध (**C**) शोध पत्र/पत्रिकायें (**D**) कोश ग्रन्थ (**E**) अन्तर्जालीय स्रोत

(A) **स्वतंत्र ग्रन्थ**

Aleaz, K.P., ***Jesus in New Vedanta : A Meeting of Hinduism and Christianity*****, Delhi Kant.**

Andrew, Front, ***Jivanmukti in Transformation : Embodies Liberation In Advaita and Neo Vedanta,*** **State University of New Yark Press, Albanny, 1978.**

Beakley, Brian, *Philosophy of Mind*

Bobde, P.V., ***Philosophy of the Gita,*** **Intellectual, 1995.**

Capra, Fritjof, *The Tao of Physics*, Flamingo Publication, London,1991.

Capra, Fritjof, *The Turning Point*, Flamingo Publication, London, 1982

Capra, Fritjof, *The Web of Life*, Shambhala Publisher, 2010.

Chattopadhyaya, D.A.D.Pusalkar. ***Bhas-A Study*****, Indian Philosophy, People & Publishing House, Delhi, 1969.**

Chinmayanand, Swami, ***The Art of Man Making,*** **Central Chinmaya Mission Trust,Mumbai.**

Chinmayananda, **Swami,** ***The Holy Geeta,*** **Central Chinmaya Mission Trust, Mumbai.**

Dasgupta, S.N., ***History of Indian Philosophy*** **(Vol. 1), Motilal Banarsidass, Delhi, 1975.**

Date, V.H., ***Brahma Yoga of the Gita,*** **Munsiram Manoharlal, 1971.**

Dr. Winternitz, ***A History of Indian Literature,*** **Calcutta University, Calcutta, 1927.**

George, **William Brown,** ***The Human Body in the Upanishads,*** **The Christian Mission Press. Ori Diss- John Hopkins University, 1921.**

Goodman, Robert M., *The Philosophy of Life,* Georgia,1868.

Gupta, S.N.Das, *History of Indian Philosophy* (Five voll), Motilal Banarsidas, 1975.

Kumar, Narinder, *Comprehensive Physics -12,* Laxmi Publication, 2010.

Maheshwari, H., ***The Gita`s Gospel in Sri Aurobindo`s Light,*** **Sri Aurovindo Ashram, Pondicherry.**

Majumdar, Sridhar, ***Vedanta Philosophy,*** **Bharatiya Kala Prakashana, 2007.**

Max Muller, *Six Systems of Indian Philosophy,* Chokhamba Sanskrit Series,Varanasi,1971.

Nair, P.K. Sasidharan, ***Revealing Advaita Vedanta,*** **New Bharatiya Book Corporation, 2004.**

Nikhilananda, Swami, ***Vedanta Sar of Sadananda,*** **Advaita Ashrama, Calcutta.**

Pargiter, F.E., ***Ancient Indian Historical Tradition,*** **Oxford, 1982.**

Ranade, R.D., *Vedant Explained,* Munshi Ram Manoharlal Publisher

Sahu, **Sukharajan,** ***Study in Advaita Vedanta : Towards on Advaita Theory of Consciousness,*** **Jadavapur University, Kolkata, 2004.**

Sarasvati, Madhusudana, ***Bhagavad Gita with Gudhartha Dipika,*** **Swami Gambhirananda, Advaita Ashrama, Culcutta.**

Saxena, Pravesh, *Aditya from the Regveda to the Upanishad,* Parimal Publication, Delhi, India, 1992.

Shailaja, Bupat, *Study of Vedant in the Light of Brahmasutras*, New Bhartiya Book Corporation, New Delhi, 2004.

Sharma, Arvind, *Philosophy of Religion of Advaita Vedanta : A Comparative Study in Religion and Reason,* Pennsylvania State University, Pennsylvania, 1995.

Sharma, Arvind, *Rope and Snake : A Metaphorical Exploration of Advaita Vedanta,* Manohar Publisher, New Delhi, 1997.

Sharma, Ram Murti, *Encyclopaedia of Vedanta,* Estern Book Linkers, Delhi, 1996.

Sharma, Ram Murti, *Veda and Vedanta,* Estern Book Linkers, Delhi,1996.

Shastri, Vaman, *Advaita Brahma Siddhi of Sadananda,* Parimal Publication, Delhi, 1981.

Sithamparanathan, J., *Ramana Maharshi – Philosophy of Existence and Modern Science,* Motilal Banarasi Das Delhi, 2008.

Urquhant, WS, *Vedanta and Modern Thought,* Gian, Delhi, 1986.

***Vivekachudamani,* Sri Shankaracharya's, translated by Swami Madhavananda.**

Warrier, A.G. Krishna, *God in Advaita,* Indian Institute of Advanced Study, Simla.

Wilson, H.H., ***Analysis of Puranas,*** **Nag Publishers, Delhi.**

अवस्थी, शशि, *प्राचीन भारतीय समाज,* हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1981.

आर्य, सतीस, *कर्मन् एवं कर्मफल मीमांसा,* आर्य प्रकाशन, नई दिल्ली।

उपाध्याय, बलदेव, *पुराणविमर्श,* चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1965.

उपाध्याय, बलदेव, *बौद्ध दर्शन मीमांसा,* चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1999.

उपाध्याय, बलदेव, *भारतीय दर्शन,* शारदा मन्दिर, वाराणसी, 1966.

उपाध्याय, बलदेव, *भारतीय धर्म एवं दर्शन,* चौखम्बा ओरियण्टल, दिल्ली, 1977.

उपाध्याय, बलदेव, *श्रीशंकराचार्य,* काशी, प्रथम संस्करण, **1950.**

उपाध्याय, भरतसिंह, *पालि साहित्य का इतिहास,* हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, इलाहाबाद, 2000.

उपैति, थानेशचन्द्र, *सांख्य कारिका,* दिल्ली, बड़ौदा, वि.1981.

एस. राधाकृष्णन्, *भगवद्गीता,* राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1962.

कवडीकर, वैद्य दिनकर यशवन्त, *आयुतत्त्व विमर्श,* इन्दौर, 1984.

काणे, पी.वी., *धर्मशास्त्र का इतिहास,* भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूने,1953.

कार्य कारण भाव मीमांसा- विद्वत्परिचर्चा, श्री बल्लभाचार्य ट्रस्ट, गुजरात, 2006.

कुमार, शशिप्रभा, *भारतीय संस्कृति के विविध आयाम,* विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, 2005.

कृष्णचन्द्र, *भारतीय संस्कृति,* सूर्यभारती प्रकाशन, दिल्ली, 1992.

कोसम्बी, धर्मानन्द, *भगवान् बुद्ध जीवन और दर्शन,* साहित्य अकादमी-लोकभारती पेपरबैक्स, दिल्ली, 2009.

कौसल्यायन, भदन्त आनन्द, *दर्शन: वेद से मार्क्स तक,* सिद्धार्थ बुक्स, दिल्ली, 1988.

खाँ, मुहम्मद इसराइल, *संस्कृत शोध लेखमाला,* क्रीसेण्ट पब्लिशिंग हाउस, गाजियाबाद, **1985**.

गिरि, श्रीयुक्तेश्वर, *कैवल्य दर्शनम्,* योगदा सत्संग सोसायटी ऑफ इन्डिया, हिन्दी संस्करण, 2007.

गुप्त, शिवकुमार, *भारतीय संस्कृति के मूलाधार,* राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2002.

गुप्ता, एस.के., *मधुसूदन सरस्वती ऑन दी भगवद्गीता,* दिल्ली, 1977.

गैरोला, वाचस्पति, *भारतीय दर्शन,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 196**6**.

गोयन्दका, जयदयाल, *श्रीमद्भगवद्गीता तत्त्व विवेचनी,* हिन्दी टीका सहित, गीताप्रेस गोरखपुर।

गौड़, ललित कुमार, *वेदान्त सिद्धान्तमुक्तावली का समीक्षात्मक अध्ययन,* निर्मल पब्लिकेशन, दिल्ली,1994.

चट्टोपाध्याय, देवीप्रसाद, *प्राचीन भारत में विज्ञान और समाज,* ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2001.

चतुर्वेदी, गिरिधर शर्मा, *श्री गीता प्रवचन माला (भाग-2),* वाराणसी, प्रथम संस्करण।

चतुर्वेदी, गिरिधरशर्मा, *पुराणपरिशीलन,* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1970.

चातक, गोविन्द, *संस्कृति : समस्या और समाधान,* तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1994.

जाटव, थानसिंह, *बुद्ध धर्म की प्रासंगिकता,* सामाजिक अनुसंधान एवं पुनर्रचना संस्थान, जयपुर, 2009.

जैन, सुधा, *अद्वैत तत्त्वमीमांसा,* प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली,1986.

झा, वीणा, *शंकर का अद्वैत वेदान्त,* बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1988.

तिलक, लोकमान्य गंगाधर, *गीता रहस्य,* पूना, 1976.

त्रिपाठी, चन्द्रबली, *उपनिषद् रहस्य,* एन. डी. नेशनल पब्लिकेशन हाउस, 1986.

त्रिपाठी, राम प्रताप, *वायु पुराण,* दिल्ली. वि. 2007.

दत्त एवं चटर्जी, *भारतीय दर्शन,* पुस्तकभंडार पब्लिशिंग हाउस, पटना, 1999.

दिनकर, रामधारी सिंह, *संस्कृति के चार अध्याय,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962.

दीपंकर, आचार्य, *कौटल्य कालीन भारत,* उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2003.

दुबे, राजदेव, *स्मृतिकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति* (याज्ञवल्क्य स्मृति के विशेष संदर्भ में), प्रतिभा प्रकाशन, 1988.

देव, भूमित्र, *मानव चेतना स्वरूप और विकास,* अनामिका प्रकाशन, दिल्ली।

द्विवेदी, जवाहरलाल, *सर्वपल्ली राधाकृष्णन,* हिन्दी अनुवाद, साहित्य अकाडमी, 2002.

द्विवेदी, व्रजवल्लभ, *भारतीय संस्कृति के नये आयाम,* श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, 1997.

द्विवेदी, शिवप्रसाद, *श्रीमद्भगवद्गीता,* चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1992.

नौटियाल, जगदीश, *भगवद्गीता का योग,* दिल्ली, 1937.

पाण्डेय, राम सुरेश, *महाभारत और पुराणों में सांख्य दर्शन,* दिल्ली, 1972.

पाण्डेय, शम्भुनाथ, *भारतीय जीवन और संस्कृति,* केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, 1977.

पाण्डेय, शशिकान्त, *अद्वैत वेदान्त में मायावाद,* विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, 2006.

बन्दिष्टे एवं शर्मा, *भारतीय दार्शनिक निबन्ध,* मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 2008.

बाशम, ए.एल., *अद्भुत भारत,* शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, 2001.

बृहद्देवता, शौनक, संपा.व अनुवादक: रामकुमार राय, चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी, वि.स. 2066.

भण्डारी, डी. आर., *भारतीय दार्शनिक चिन्तन,* अखिल भारतीय दर्शन परिषद, नई दिल्ली।

मानव की निरन्तर खोज, परमहंस योगानन्द के संभाषण पर आधारित, योगदा सत्संग सोसायटी आफ़ इण्डिया।

मित्तल, केवलकृष्ण, *देवात्मा दर्शन: बहुविध विवेचन,* भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली।

यास्क, निरुक्त, *प्रथम-द्वितीय अध्याय,* संपा.: उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2004.

योगानन्द, परमहंस, *योगी कथामृत,* योगदा सत्संग सोसायटी आफ़ इण्डिया, 1977.

राधाकृष्णन, सर्वपल्ली, *भारतीय दर्शन (भाग-1),* राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1973.

रानाडे, रामचन्द्र दत्तात्रेय, *उपनिषद्-दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण,* राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,जयपुर, 2011.

रानी, आशा, *महावाक्य स्वरूप विचार: अद्वैत वेदान्त के सन्दर्भ में,* लघु शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1980.

रामकृष्ण, *ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन,* विनोद कुमार मन्दिर, आगरा, 1960.

राय, विमला देवी, *वेदकालीन समाज और संस्कृति,* कला प्रकाशन, वाराणसी, 2001.

लाड, अशोक कुमार, *भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन,* भोपाल, **1973.**

लाल, मुनिवर, *विवेकचूडामणि,* हिन्दी अनुवाद, गीताप्रेस।

वर्मा, साँवलिया बिहारी लाल, *भारत में प्रतीक पूजा का आरम्भ और विकास,* बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1989.

विद्यालंकार, कृष्ण स्वरूप, *गीता मर्म,* कानपुर, 1951.

वैद्य, लालचन्द, *अष्टांग हृदय,* मोतीलाल बनारसीदास, पटना, वि.सं. 2020.

शर्मा, गजानन, *श्रीमद्भगवद्गीता,* दिल्ली,1981.

शर्मा, गणेश दत्त, *ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व,* विमल प्रकाशन, गाजियाबाद, 1977.

शर्मा, चन्द्रधर, *भारतीयदर्शन: आलोचक एवं अनुशीलन,* मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली,1996.

शर्मा, प्रियदत्त, *चरक संहिता,* चौखम्भा ओरियंटालिया, 1983.

शर्मा, राममूर्ति, *अद्वैत वेदान्त : इतिहास तथा सिद्धान्त,* ईस्टर्न बुक लिंकर्स, 1998.

शर्मा, रामविलास, *भक्ति और वेदान्त,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

शर्मा,राममूर्ति, *अद्वैत वेदान्त,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

शल्य,यशदेव, *चित् विमर्श,* दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर।

शास्त्री, उदयवीर, *सांख्य सिद्धान्त,* गाजियाबाद, वि. 2019.

शास्त्री, श्री निवास, *तर्कभाषा,* साहित्य भण्डार (शिक्षा साहित्य प्रकाशक), मेरठ, 1972.

शास्त्री, हेमराज, *संक्षिप्त संकरी : उपनिषद् भाष्यार्थ सार संग्रह,* हेमराज शास्त्री कुवालालम्पुर, 1992.

शिवानन्द, गीता रसामृत, वाराणसी, 1984.

शुक्ला, शंकरप्रसाद, *आत्मज्ञानप्रकाश,* विश्वेश्वर कुलकर्णीकृत, राजकपूर प्रिन्टर्स, जयपुर।

श्री निवास, जे., *अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका,* किताब महल, इलाहाबाद, 1978.

श्रीवास्तव, जगदीश सहाय, अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका, किताब महल, इलाहाबाद,1978.

सहाय, हीरा राजवंश, *संस्कृत साहित्य का बृहद् इतिहास,* वाराणसी, 1978.

सांकृत्यायन, राहुल, *दर्शन दिग्दर्शन,* किताब महल, इलाहाबाद, 1943.

सांकृत्यायन, राहुल, *बौद्ध दर्शन,* किताब महल, इलाहाबाद, प्रस्तुत संस्करण, 2001.

सातवलेकर, दामोदर, *श्रीमद्भगवद्गीता,* पुरुषार्थ बोधिनी टीका, बलसाड, 1963.

सिंह, सुनील कुमार, लूसेंट सामान्य ज्ञान, लूसेंट पब्लिकेशन, पटना, 2009.

सिन्हा, सच्चिदानन्द, *संस्कृति और समाजवाद,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, **2004.**

सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद, *भारतीय दर्शन की रूपरेखा,* मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2008.

स्वामी अपूर्वानन्द, *आचार्य शंकर*, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 2006.

A. शोधप्रबन्ध / लघु शोधप्रबन्ध

अग्निहोत्री, सीमा, *प्रश्नोपनिषद् में रयि और प्राण का स्वरूप,* लघुशोधप्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय,1992.

अयंगार, विश्वनाथ, *क्रिटिकल स्टडी इन फिलॉस्फिकल टर्म्स इन ईशावास्योपनिषद् विद् रिफरेन्स टु शंकर एण्ड रामानुज,* दिल्ली, 1974.

कन्सल, साधना, *विज्ञानभिक्षु के वेदान्तसिद्धान्तों का समीक्षात्मक अध्ययन,* शोधप्रबन्ध, वनस्थली विश्वविद्यालय, संस्कृत विभाग, 1989.

कल्पना, *ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य में पंचभूत निरूपण,* लघु शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1991.

कुमारिया, अमिता, *श्रीमद्भगवद्गीता में मोह का स्वरूप,* लघुशोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1986.

कुशुमलता, *बृहदारण्यकोपनिषद् में मोक्ष का स्वरूप,* लघुशोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1981.

गम्भीर, संगीता, *कॉन्सेप्ट ऑफ आत्मन् इन द बृहदारण्यक उपनिषद्,* दिल्ली, 1977.

गुप्ता, अञ्जु, *मुख्य उपनिषदों में ब्रह्म के प्रतीकों की समीक्षा,* शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1998.

गौतम, कपिल, *आचार्य शंकरकृत ब्रह्मसूत्र अध्यासभाष्य : एक अध्ययन* (भामती तथा विवरण टीकाओं के विशेष सन्दर्भ में), लघु शोधप्रबन्ध, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 2012.

गौतम, कु.भुवनेश, *आचार्य शंकर के अनुसार पञ्चकोश,* लघुशोधप्रबन्ध, 1981.

जोधराम, *भगवद्गीता दर्शन की समकालीन प्रासंगिकता,* शोधप्रबन्ध, कुरुक्षेत्र।

झा, गंगाधर, *भगवद्गीता का शास्त्रीय समीक्षात्मक अध्ययन,* शोधप्रबन्ध, मिथिला, 1986.

झा, परमानन्द, *उपनिषद् ब्रह्मकारणत्ववाद-समीक्षात्मक अध्ययन,* दरभंगा, 1978.

झा, राम नाथ, *ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में प्रमाण मीमांसा का स्वरूप,* लघु शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, **1995.**

झा, लक्ष्मीश्वर, *वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली एक अध्ययन,* शोधप्रबन्ध, 1984.

झा, सुभद्रा, *ब्रह्मसूत्र के भाष्यों और आगमों में प्रतिपादित पानरात्र **(Paanrattra)** मत का तुलनात्मक अध्ययन,* शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, **2009.**

ठाकुर, विमलेश कुमार, *मध्यवेदान्त में ब्रह्म और जीव के स्वरूप की दार्शनिक समीक्षा : भगवद्गीता के सन्दर्भ में,* शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2002.

डिमरी, भगवती प्रसाद, *भारतीय दर्शन की परम्परागत पद्धतियों में ख्यातिवाद का अनुशीलन,* शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1978.

त्रिपाठी, विशाल प्रसाद, *कश्मीर शैवदर्शन तथा वेदान्त के अनुसार माया का स्वरूप,* शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 197**9.**

त्रिवेदी, सुधा, *भगवद्गीता एवं भागवत में कर्म की अवधारणा : एक तुलनात्मक अध्ययन,* शोधप्रबन्ध, जबलपुर।

नाथ, भोला, *उपनिषद्-शाङ्करभाष्य में प्रकाश का स्वरूप, लघु शोधप्रबन्ध,* विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 2013.

पाठक, नरेन्द्र मणि, *ब्रह्मसूत्र में प्रतिपादित बोध सिद्धान्तों की समीक्षा,* शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1991.

पाण्डेय, केदारानाथ, *शांकर भाष्य तथा श्रीरामानुज भाष्य के आधार पर श्रीमद्भगवद्गीता का समीक्षात्मक अध्ययन,* शोधप्रबन्ध, साकेत स्नात्कोत्तर महाविद्यालय, राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद, 2005.

पाण्डेय, शशिकान्त, *अद्वैतवेदान्त में अनिर्वचनीयता का सिद्धान्त,* शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, **2000.**

पाल, बबलू, *केनोपनिषद् का दार्शनिक अनुशीलन,* लघु शोधप्रबन्ध, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 2**0**11.

भटनागर, राका, *उपनिषद् मोक्ष तथा मिलिन्दप्रश्न का निर्वाण,* लघुशोधप्रबन्ध, बौद्ध संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1982.

मनोचा, अंजली, *गीता में प्रतिपादित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार,* लघुशोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1987.

महोलिया, रामकिशोर, *प्रस्थानत्रयी शांकरभाष्य में सांख्य सिद्धान्त समीक्षा,* लघु शोधप्रबन्ध, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 2008.

मिश्र, घनश्याम, *ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में पाणिनीय व्याकरण का उपयोग,* लघु शोधप्रबन्ध, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 2013.

मिश्रा, मिन्टी, *श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित जीवन दर्शन,* शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, 2006.

मीणा, मेघराज, *प्रमुख उपनिषदों में शरीर और इन्द्रिय की अवधारणा : आधुनिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में,* लघु शोधप्रबन्ध, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 2013.

मेहता, रीटा, *उपनिषदों के आधार पर ब्रह्म का स्वरूप,* आगरा, 1979.

यादव, महेन्द्र, *श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य में भक्ति का स्वरूप,* लघु शोधप्रबन्ध, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 2013.

यादव, शशि, *वेदान्त कौमुदी में ज्ञान तत्त्व विवेचन,* शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, एन. ए. एस. डिग्री कॉलेज, चौधरी चरण सिंह यूनिवर्सिटी, 2008.

रानी, आशा, *महावाक्य स्वरूप विचार: अद्वैत वेदान्त के सन्दर्भ में,* लघु शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1980.

रानी, वीना, *उपनिषदों में प्राप्त निर्वचनों का अध्ययन,* शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1982.

रौटेला, विजय लक्ष्मी, *भारतीय दर्शन में अन्त:करण का स्वरूप,* लघुशोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय,1988.

वर्मा, नीना, *श्वेताश्वतर उपनिषद् में देवात्म शक्ति,* लघुशोधप्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1992.

शर्मा, उमा, *ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य में साधन चतुष्टय,* लघु शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2001.

शर्मा, उषा, *श्रीमद्भगवद्गीता एवं उसकी अद्वैतपरक संस्कृत टीकाओं में मोक्ष का स्वरूप,* शोधप्रबन्ध, आगरा, 1989.

शर्मा, श्रीमती सावित्री, *श्रीमद्भगवद्गीता में त्रिगुण स्वरूप,* लघु शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1986.

श्रीवास्तव, रुपाली, *भारतीय दर्शन में कर्मवाद,* शोधप्रबन्ध, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, 2005.

सक्सेना, प्रवेश, *आदित्य फ्राम द ऋग्वेद टु द उपनिषद्,* दिल्ली, 1974.

सतेली, विजय लक्ष्मी, *छान्दोग्योपनिषद् में अन्त:करण का स्वरूप,* लघुशोधप्रबन्ध, 1982.

सिंह, राम निवास, *भारतीय दर्शन में आत्मा का स्वरूप,* शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2000.

स्वरूप, शान्ति, *श्रीमद्भगवद्गीता तथा प्रमुख उपनिषदों का तुलनात्मक अध्ययन,* शोधप्रबन्ध, आगरा, 1989.

स्वामी, अनिता, *योगसूत्र व्यासभाष्य में ज्ञान प्रक्रिया का स्वरूप,* लघु शोधप्रबन्ध, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 2006.

Bhatia, Manjeet, *Freedom and the Individual,* Theses, Department of Philosophy, Delhi University, 2002.

Borah, Surjya Kamal, *Epistemology in Kathopanisad,* Special Centre for Sanskrit Studies, 2006.

Deussen Poul, *System of The Veanta,* Oriental Publishers, Delhi,1972.

Jha, Dr. Ram Nath, *An Epistemological Study of Sankarabhasyas on Prasthanatray,* Thesis, Department of Sanskrit, University of Delhi, 1999.

Jha, Rajesh Kumar, *Concept of Devotion in the Prasthantraya Bhasyas of Shamkara in the light of his Saundarya Lahari,* Theses, Department of Philosophy, Delhi University, 2002.

Roy, Vinod Kumar, *Means of Self Realization in Bhakti Vedant Philosophy,* Theses, Department of Sanskrit, University of Delhi, 2001.

Sharma, Dr. B.R., *The Concept of Atman in the Principal Upanishad,* Dinesh Publication, Delhi, 1972.

Sharma, Shashi, *Study of the Ultimate Principal in Shunyavad and Advait Vedant,* Thesis, Department of Buddhist Study, Delhi University, 1988.

Singh, Prachi, *Analytical Study of the Structure and Meaning of the Brahma Sutras with Special Reference to Samanvayadhyaya,* Theses, Department of Sanskrit, Delhi University, 2010.

Swaminathan, C. R., *Comprative Study of the interpretation of Gita by Shankara,* Ramanuja and Madhava, Theses, Department of Sanskrit, University of Delhi, 1974.

B. शोध पत्र व पत्रिकायें :

Bhattacharya, Umeshchanra, `*The Teaching of the Upanishad'*, Kolkata Review, Vol.3, Page 51-6.

Bhattacharya, umeshchanra, '*The Home of the Upanishad*' Indian Antiquary, 1928, Vol.57, Page. 166-185.

Bodas, M.R., *A Brief Survey of the Upanishads,* Journalof the Bombay, Branch of the Royal Asiatic Society, 1908, Vol.22, Page 67-80.

Chaturvedi, Girdharilal, *The Concept of Self-Luminosity of Knowledge in Advait Vedant,* Adarsha Prakashan, Aligarh, 1982.

Jha, R.N. `*The upanisads Schopenhauer's Solace of life and Death,* Understanding SchopenhauerThrough the Prism of Indian Culture, Edit. Arti Burua, MichaelGerhard, MatthiasKosller, Walter de Gruyter, 2013

Jha, R.N. *The Philisophy of Upanishad and Taoism'* Prevailing in Korean Culturein the 8th Pacific and asia Conference on Korean Studies Organized by Jawaharlal Nehru university, New Delhi from 15-17 Dec., 2006.

Jha, R.N., *Modeling Consciousness in Upanisads,* Centre in Advance Study Pune University, 2012.

Jha, R.N., *The Philosophy of Upanishads and Taoism,* Prevailing in Korean Culture in the 8th Pacific and Asia Conference on Korean Studies Organized by Jawaharlal Nehru University, New Dilhi from 15-17 Dec. 2006.

Jha, R.N., *The Upanisads Schopenhauer's Solace of Life and Death,* Understanding Schopenhauer throught the Prism of Indian Culture, Edit. Arti Burua, Michael Gerhard, Matthias Kosller, Walter De Gruyter, 2013.

Jha, R.N., *Upanisadic Science of Child Conception,* in World Sanskrit Conference held from 5th to 9th April 2001 at Vigyan Bhawan, New Delhi, (ed.) Vachaspati Upadhyaya, Published by S.L.B.S.R.S.,Vidyapeeth, 2007.

Jha. R.N. `*Upanishadic Science of child Conception*' in world Sanskrit conference held from 5th to 9th April 2001 at vijyan bhavan, New Delhi, (ed.) Vachaspati Upadhyaya, Published By S.L.B.S.R.S. Vidyapeeth, 2007.

Kumar, Shashiprabha, `*Sankara on Kena Upanisad*', journal of the indian council of philosophical research, 17(1), pp.133-126,Delhi,1999.

Nanda, Jyotir Maya, *The Mystery of the Soul : Kathopanisad,* 1976.

Narahari, H.G., *On The origin of the upanisadic Thought,* Puna Orientalist, Vol.6(1941), Page 139-148.

कुमार, शशिप्रभा, `*उपनिषत्सु नैतिक-शिक्षाया: स्वरूपं महत्त्वं च*' सागरिका, प्रकाशक सागर विश्वविद्यालय, (1) पृ.सं 13-21 (2) 32.3,1995.

कुमार, शशिप्रभा, '*उपनिषदों में पञ्चमहाभूत, इन्द्रियाँ और प्राण' वैदिक अनुशीलन,'* विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, 1998.

कुमार, शशिप्रभा, '*वैदिक जीवन-दर्शन*' श्रुति नैवेद्यम्, संपा.प्रवेश सक्सेना, जे.पी. पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2006.

योग एवं चैतन्य विज्ञान, संपा. राम नाथ झा, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, **2015.**

वैदिक, वेदवती, '*उपनिषदों में मनस् तत्त्व: उपनिषद् वाङ्मय: विविध आयाम,* नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1997.

सरस्वती सुषमा, अनुसंधानविभाग: सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय:, वाराणसी.

सागरिका, संस्कृतपरिषद् संस्कृतविभाग, वाराणसी.

सातवलेकर, दामोदर, *'अपने शरीर में देवताओं का निवास और उनकी सहायता से निरोगता की प्राप्ति'* वैदिक व्याख्यानमाला- 38वाँ व्याख्यान, स्वाध्याय मण्डल, पारडी (सूरत)।

सातवलेकर, दामोदर, *वैदिक देवताओं की व्यवस्था,* वैदिक व्याख्यान माला 32वाँ व्याख्यान, स्वाध्याय मण्डल, पारडी (सूरत)।

C. **कोश ग्रन्थ :**

***Oxford English-Hindi Dictionary*, Ed. S.K. Verma, R.N. Sahai, Oxford University Press, New Delhi, 2003**

Potter, Karl H., *Encyclopedia of Indian philosophy,* Bibliography [vol.1 (section 1&2)] Motilal Banarsidas Publishers Private Limited, Delhi, Edition-Third, 1995.

Williams, Monier, *English-Sanskrit Dictionary*, Munsi Ram Manohar Lal,Delhi,1976.

अमरकोश:, अमरसिंह:, श्रीमन्नालाल अभिमन्यु(भाषा टीका), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2012.

अवस्थी, बच्चूलाल, *भारतीय दर्शन बृहत्कोश,* शारदा पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2005.

आप्टे, वामन शिवराम, *संस्कृत-हिन्दी कोश,* नाग पब्लिशर्स, आठवां संस्करण, 2002.

इन्दुशर्मा, *महाभारत पदानुक्रम कोश(सभाखण्ड)*, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, 2003.

देव,राजाराधाकान्त, *शब्दकल्पद्रुम:,* राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली।

पाण्डेय, मुरलीधर, *शाङ्कर वेदान्त कोश,* सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1978.

बाहरी, हरदेव, *राजपाल हिन्दी शब्दकोश,* राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 2011.

बाहरी, हरदेव, *राजपाल हिन्दी-इंग्लिश शब्दकोश,* राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 2009.

ब्लूमफिल्ड**,** मोरिस**,** *वैदिक पदानुक्रम कोश,* संपा : ओमनाथ बिमली, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2004.

वर्णेकर, श्रीधर भास्कर**,** *संस्कृत वाङ्मय कोश,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2001.

वाचस्पत्यम् (छः भाग), चौखम्भा संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्र.सं. 94, वाराणसी, 1969.

शर्मा, ईश्वर चन्द्र, *पारिजात कोश* (संस्कृत हिन्दी शब्दार्थ कोश), परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, **2005**.

शास्त्री, ज्ञानप्रकाश, *प्रस्थानत्रयी पदानुक्रम कोश,* परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली।

श्री बसुबन्धु, *अभिधर्म कोश,* काशी विद्यापीठ बनारस, सं.1988.

D. **अन्तर्जालीय स्रोत**

www.wikipedia.com

www.britannica.com

www.hindunet.com

www.thecatalyst.org

www.jstor.org